विषय सूची

पाठ्यक्रम परिचय

एम ए हिन्दू अध्ययन प्रथम वर्ष के द्वितीय पाठ्यक्रम में आपका स्वागत है। प्रथम पाठ्यक्रम में अपने हिन्दू अध्ययन की अवधारणा एवं उसके स्वरूप का अध्ययन कर लिया है। वेद, पुराण, वेदांग, सूत्र साहित्य, आगम एवं संगम साहित्य, प्रमुख कवियों द्वारा रचित नाटक एवं काव्य साहित्य, जैन, बौद्ध एवं क्षेत्रीय भाषा साहित्य, पुरातात्विक साक्ष्य एवं अभिलेख के आधार पर इस पाठ्यक्रम की अध्ययन सामग्री का निर्धारिण किया गया है। वेद सभी विद्या के स्रोत हैं। वैदिक साहित्य का विस्तृत विभाग है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में केवल धर्म और आध्यत्म की बात नहीं है, बल्कि विभिन्न प्रकार की विद्याएं भी वैदिक साहित्य में प्राप्त हैं। पुराणों को केवल जीवनी अथवा कथा के रूप में नही देखा जाता पुराण का साहित्य भारतीय ज्ञान परम्परा का संवर्धन करता है। इसी आलोक में इस पाठ्यक्रम में मूल स्रोत के रूप में भागवत पुराण और अग्नि पुराण को रखा गया है। शास्त्र का प्रयोजन ही वेद के अर्थ का अनुशीलन करना है। पहले यह परम्परा सीमित थी। कालान्तर में शास्त्र के रूप में शिक्षा, कल्प,निरूक्त ,छन्द , व्याकरण, ज्योतिष के अतिरिक्त भी अन्य विधाओं का ग्रहण हुआ है। जिसमें पुराण भी ग्रहण किये गये हैं। गीता को भी शास्त्र के रूप में लिया गया है।

साहित्य के अन्य अनेक ग्रन्थ इसी आलोक में ग्रहण किये जाते हैं। इसी क्रम में हिन्दू अध्ययन के मूल स्रोतों के अध्ययन हेतु द्वितीय पाठ्यक्रम की उपस्थापना है। यह पाठ्यक्रम कुल 8 खण्डों में विभाजित है। 30 इकाइयों में विषय वस्तु का समावेश किया गया है। अध्ययन के रूप में वैदिक स्रोत को प्रथम खण्ड के लिए चुना गया है। इस खण्ड में आप वैदिक संहिताओं,ब्राह्मण ग के अध्ययन के साथ-साथ आरण्यक साहित्य की विषय वस्तु भी जानेंगे। इस खण्ड के अध्ययन का समापन उपनिषद के ज्ञान से होगा। उपनिषद साहित्य का परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात पूरे खण्ड में आपको वैदिक साहित्य के स्वरूप का बोध हो सकेगा। इसी क्रम में द्वितीय खण्ड का नाम पौराणिक स्रोत है। पुराणों के अध्ययन के क्रम में आप पुराणों की विषयवस्तु एवं ऐतिहासिकता से परिचित होकर भागवत महापुराण और अग्निपुराण का परिचय प्राप्त करेंगे। पुराण के पश्चात तृतीय खण्ड में वेदांगों का वर्णन प्रस्तुत है। इस खण्ड में आप शिक्षा, कल्प, निरुक्त ,व्याकरण, छंद और ज्योतिष के प्रयोजन और प्रतिपाद्य से परिचित होंगे। अध्ययन के मूल स्रोतों के इस क्रम में चतुर्थ खण्ड में सूत्र साहित्य का वर्णन किया गया है जिसमें तीन इकाइयों के विषय के रूप में श्रौत सूत्र , गृह्यसूत्र,धर्मसूत्र,शुल्बसुत्र के वर्णन के साथ-साथ षड्दर्शन एवं अन्य सूत्रों का वर्णन भी प्रस्तुत है। पांचवें खण्ड में आगम एवं संगम साहित्य का वर्णन किया गया है। इस खण्ड में आप आगम और संगम साहित्य का अध्ययन करेंगे। भारतीय ज्ञान परंपरा में कवियों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी के दृष्टिगत छठे खण्ड में प्रमुख कवियों का अध्ययन कराया गया है। इन कवियों में भास एवं कालिदास के साथ-साथ राज्यतरंगिणी और चंद्रवरदाई का अध्ययन भी आप करेंगे। इस पाठ्यक्रम का सातवां खण्ड जैन बौद्ध एवं क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य का है। इस खण्ड से आपको जैन बौद्ध एवं क्षेत्रीय भाषाओं की ज्ञान संपदा का परिचय प्राप्त होगा। अंतिम और आठवें खण्ड को पुरातात्विक साक्ष्य एवं अभिलेख के रूप में रखा गया है। इस खण्ड में नवीन पुरातात्विक उत्खनन और मृदभांडों के प्रतीक के अध्ययन के साथ-साथ आपको अभिलेख एवं मुद्रा संबंधी जानकारियां प्राप्त होगी। इस प्रकार आप हिन्दू अध्ययन के मूल स्रोत के रूप में इन तथ्यों का अध्ययन करेंगे जिनका वर्णन प्रस्तुत पाठ्यक्रम की तीस इकाइयों में समाहित है।

खण्ड 1

वैदिक-स्रोत

खण्ड 1 परिचय

हिन्दू अध्ययन के प्रथम वर्ष के द्वितीय पाठ्यक्रम के प्रथम खण्ड में आपका स्वागत है। भारतीय ज्ञान परंपरा में सभी विधाओं के मूल में वेद को ही रखा जाता है। इसी के दृष्टिगत प्रस्तुत खण्ड में वैदिक स्रोत का अध्ययन प्रेरित है। इस खण्ड में कुल पांच इकाइयां है। वेद का परिचय प्राप्त करने के बाद दूसरी इकाई में आप कर संहिताओं का और सामगान प्रविधि अध्ययन करेंगे। तीसरी इकाई में ब्राह्मण ग्रंथों के स्वरूप एवं प्रतिपाद्य की जानकारी दी गई है। चौथी इकाई आरण्यक साहित्य से सम्बन्धित है। जिसमें आरण्यकों के स्वरूप एवं विषयवस्तु का बोध कराया गया है। उपनिषद साहित्य का वर्णन इस खण्ड की अंतिम इकाई में प्रस्तुत है। वेद से लेकर उपनिषद तक के वर्णनों का अध्ययन करने के पश्चात आप वैदिक ज्ञान राशि की व्याख्या करने में सक्षम हो सकेंगे। यह खण्ड द्वितीय पाठ्यक्रम का प्रथम खण्ड है। ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद के साथ-साथ अथर्ववेद संहिता का परिचय प्राप्त करते हुए आपको वैदिक मनीषा की मौलिक जानकारी मिलेगी। इस खण्ड में पांच इकाइयां है।

इकाई 1 वेद-परिचय

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

वैदिक साहित्य से सम्बद्ध इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- वैदिक साहित्य का परिचय दे सकेंगे।
- वेद शब्द के अर्थ तथा उसके विभिन्न पर्यायों की व्याख्या कर सकेंगे।
- वैदिक साहित्य के वर्गीकरण को व्यवस्थित रूप से समझ सकेंगे।
- वैदिक साहित्य के सन्दर्भ में ऋषितत्त्व की भूमिका को जान सकेंगे।
- वैदिक शाखाओं के स्वरूप तथा उपलब्ध वैदिक शाखाओं के बारे में जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

वेद विश्वसाहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वे भारतवर्ष सहित सम्पूर्ण विश्व की अमूल्य निधि हैं। वेद विश्व के प्राचीनतम साहित्य के रूप में ज्ञान-विज्ञान-कला-साहित्य-दर्शन-आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों के प्रामाणिक तथा मुख्य स्रोत हैं। भारतीय संस्कृति को वैदिक संस्कृति होने का गौरव प्राप्त है। वेदों में ही भारतीय संस्कृति की आत्मा निहित है। वेदों का सर्वाधिक महत्त्व धार्मिक दृष्टि से है। वे सनातन धर्म के आधारभूत ग्रन्थ हैं। वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है। भारतीय परम्परा वेदों को अपौरुषेय मानती है – तदनुसार वेद वह ईश्वरीय ज्ञान है जो प्राचीनतम ऋषियों को अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से साक्षात्कार के द्वारा प्राप्त हुआ। इस ज्ञानराशि को याज्ञिक उपयोग

की दृष्टि से चार रूपों में वर्गीकृत किया गया – 1. ऋग्वेद 2. यजुर्वेद 3. सामवेद तथा 4. अथर्ववेद। वेद को परम प्रमाण माना गया है। वेद के सन्दर्भ में यह मान्यता है कि जिन तत्त्वों का ज्ञान अन्य सांसारिक उपायों से सम्भव नहीं है, उसका ज्ञान वेद से सम्भव है –

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

प्राचीन भारतीय परम्परा वेद का स्वरूप मन्त्र-ब्राह्मणात्मक मानती है – **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'**।

(आपस्तम्बकृत-यज्ञपरिभाषा 34) 'मन्त्र' उसे कहते हैं जिसका उच्चारण करके यज्ञ में देवताओं की स्तुति की जाती है तथा यज्ञ का अनुष्ठान सम्पादित किया जाता है। वैदिक मन्त्रों का संग्रह 'संहिता' कहलाता है। यज्ञ के विधानों एवं उनके प्रयोजनों की व्याख्या करने वाले वेद-भाग को 'ब्राह्मण' कहते हैं। वैदिक साहित्य में 'ब्राह्मण' यह वर्णवाची न होकर ग्रन्थ का वाचक है। ब्राह्मण के अन्तर्गत तीन भागों का समावेश है – 1.ब्राह्मण 2.आरण्यक तथा 3.उपनिषद्। इस प्रकार अध्ययन की दृष्टि से वैदिक साहित्य को चार भागों में वर्गीकृत किया गया है – 1. संहिता 2. ब्राह्मण 3. आरण्यक तथा 4. उपनिषद्। अरण्य (वन) में होने वाले शास्त्रीय अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा आध्यात्मिक विषयों के संकलनात्मक वैदिक ग्रन्थों को 'आरण्यक' कहते हैं। उपनिषद् का अर्थ है - तत्त्वज्ञान के लिए गुरु के समीप सविनय बैठना। आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वों की समीक्षा करने वाले वैदिक ग्रन्थों को 'उपनिषद्' कहा गया है। वेदों के अन्तिम भाग होने के कारण इन्हें 'वेदान्त' भी कहा जाता है।

वैदिक साहित्य को संहिता आदि चार भागों में वर्गीकृत करने का एक विशेष कारण भी है। भारतीय संस्कृति के अनुसार सम्पूर्ण जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है –1. ब्रह्मचर्य 2. गृहस्थ 3. वानप्रस्थ एवं 4. संन्यास। इन आश्रमों का वर्ष विभाजन भी किया गया है। तदनुसार संहिता भाग का सम्बन्ध ब्रह्मचर्याश्रम से माना गया। इसमें संहिता ग्रन्थों के पठन का विधान है। ब्राह्मण भाग का सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से माना गया। इसमें ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए यज्ञ करने का विधान है। आरण्यक भाग का सम्बन्ध वानप्रस्थाश्रम से है। इनमें वानप्रस्थ आश्रम के क्रिया-कलापों का वर्णन है। उपनिषद् भाग का सम्बन्ध संन्यासाश्रम से है। इसमें संन्यासाश्रम ग्रहण करके जीवन के अन्तिम काल में गुरु की सन्निधि में उपनिषदों में निहित आध्यात्मिक विषयों के अध्ययन, मनन, चिन्तन आदि वर्णन है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से भी वैदिक साहित्य को दो भागों में विभक्त किया गया है – 1. कर्मकाण्ड तथा 2. ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ तथा ज्ञानकाण्ड में आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों का समावेश है।

1.2 वेद शब्द के विभिन्न अर्थ एवं तात्पर्य

वेद शब्द का अर्थ है –ज्ञान। यह शब्द ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से घञ् (अ) प्रत्यय करने पर बनता है। ऋषियों ने जो दिव्य ज्ञान अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्राप्त किया था, उसका संग्रह वेदों में है। अतः वेद को 'ज्ञान-राशि' कहते हैं। वेदों के प्राचीन भाष्यकार आचार्य सायण ने वेद का लक्षण करते हुए कहा है – **'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति, स वेदः'**। (सायणाचार्यकृत-तैत्तिरीय संहिता-भाष्यभूमिका) अर्थात् इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवारण के अलौकिक उपाय बतलाने वाले ग्रन्थ को वेद कहते हैं।

ऋक्प्रातिशाख्य के व्याख्याकार आचार्य विष्णुमित्र ने वेदों को पुरुषार्थ-चतुष्टय की समग्रतया विवेचना करनेवाले ग्रन्थ के रूप में निरूपित किया है – **'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः'**। (विष्णुमित्रकृत ऋक्प्रातिशाख्य की टीका)। व्याकरणशास्त्र के विद्वान् वेद शब्द का अर्थ ज्ञान के साधन के रूप में करते हैं – **'विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः'** अर्थात् जिसके द्वारा किसी ज्ञान की प्राप्ति हो वही वेद है। आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में वेद वह शब्दराशि है जो भारतीय महर्षियों के द्वारा सर्वप्रथम प्रकट हुई तथा जिसे याज्ञिक उपयोग की दृष्टि से कालान्तर में संहिता बद्ध किया गया।

1.2.1 वेद शब्द के विविध पर्याय

भारतीय परम्परा में वेद शब्द के पर्याय के रूप में अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है। जिससे भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठित वेद के स्वरूप को सरलता से समझा जा सकता है। इन पर्यायों में श्रुति, निगम, आगम, त्रयी, छन्दस्,आम्नाय तथा स्वाध्याय विशेष प्रचलित हैं।

1. **श्रुति** – वेद शब्द का एक प्रमुख तथा प्रसिद्ध पर्याय श्रुति है। प्राचीनकाल में वेद का अध्ययन गुरुपरम्परा से सुनकर ही किया जाता था, इसलिये उसे **'श्रुति'** कहते हैं। इसके द्वारा ही वेदों को आजतक अविकल रूप से संरक्षित रखा गया है। वेद को **'अनुश्रव'** भी कहा जाता है,यह नाम भी श्रुति पर ही आधारित है। **'गुरुमुखानुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः'** (सांख्यतत्त्वकौमुदी)।

2. **निगम** – 'निगम' शब्द का अर्थ है – सार्थक या अर्थबोधक। वेदों को सुसंगत, अभिप्राय से युक्त तथा गम्भीर अर्थ का निरूपण करने के कारण **'निगम'** कहा जाता था। आचार्य यास्क ने वेदों से जो मन्त्र निरक्त में उद्धृत किये हैं उनके लिये सर्वत्र 'निगम' शब्द का प्रयोग किया है।

3. **आगम** – वेद और शास्त्र दोनों के लिए आगम शब्द का प्रयोग होता है। महर्षि पतञ्जलि, आचार्य कुमारिलभट्ट तथा ईश्वरकृष्ण आदि ने विद्वानों ने वेद के लिये अनेक स्थलों पर **'आगम'** शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द वेदों के धर्मग्रन्थत्व का निरूपण करता है। परवर्ती परम्परा में आगम शब्द तन्त्र-ग्रन्थों के लिये प्रचलित हो गया, क्योंकि उन ग्रन्थों की मान्यता उन उन सम्प्रदायों में वेद के समान ही थी।

4. **त्रयी** – वेद के लिये 'त्रयी' शब्द का प्रयोग होता है। त्रयी का अर्थ है तीन का समूह ; मीमांसाशास्त्र में त्रयी शब्द तीन प्रकार की रचना का द्योतक है। (मीमांसासूत्र 2.1.35, 37) वेदों में तीन प्रकार के मन्त्रों का संग्रह है **-1.ऋक् 2.साम** तथा **3.यजुष्**। स्तुतिपरक मन्त्र **'ऋक्'**, गानपरक मन्त्र **'साम'** तथा गद्यात्मक मन्त्र **'यजुष्'** कहलाते हैं। इस प्रकार त्रयी शब्द तीन प्रकार के मन्त्रों का बोधक है।

   पाश्चात्त्य विद्वानों की यह धारणा है कि पहले ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद नाम के तीन की वेद थे। अथर्ववेद नहीं था, अतः ऋग्, यजुः तथा साम के लिये ही त्रयी शब्द का प्रयोग है। यह मत पूर्णतया निराधार है। क्योंकि त्रयी शब्द का प्रयोग त्रिविध मन्त्रात्मक संहिताओं के लिये हुआ है। जिसमें अथर्ववेद संहिता भी सम्मिलित है।

5. **छन्दस्** – छन्दोमय रचना होने के कारण वेदों के लिए 'छन्दस् शब्द' का प्रयोग होता है। साहित्य में अनेक स्थलों पर वेद के लिये **'छन्दस्'** शब्द का भी प्रयोग मिलता है।

आचार्य यास्क (निरुक्त 1.1.3) और महर्षि पाणिनि (अष्टाध्यायी 2.4.73) ने वेद के लिये 'छन्दस्' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द आच्छादन तथा वाणी के नियमन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (मैत्रायणी संहिता 3.4.7, 5.6.6.1; जैमिनीय ब्राह्मण 1.284; छान्दोग्य उपनिषद् 1.4.2)। मुख्यतया यह शब्द वर्णों के नियमन की प्रवृत्ति का संकेत करता है।

ब्राह्मण साहित्य तथा निरुक्त के सन्दर्भों से यह ज्ञात होता है कि –

i) मृत्यु से भयभीत देवताओं ने त्रयीविद्या में प्रवेश किया और उन्होंने स्वयं को छन्दों में आच्छादित कर लिया अर्थात् छिपा लिया। इसलिये वेद के लिये छन्दस् शब्द का प्रयोग किया जाता है।

ii) पहले वाणी अव्याकृत अर्थात् अनियन्त्रित थी, बाद में व्याकृत अर्थात् नियमित हुई। वाणी का यह नियमन अथवा नियन्त्रण पद्य, गद्य और गीति के रूप में हुआ। इसलिये ऋक्, यजुष् और सामरूपात्मक जितनी रचनाएँ थीं, सभी के लिये सामूहिक रूप से 'छन्दस्' शब्द का प्रयोग किया जाता था।

6. **आम्नाय** – वेदों के अर्थ में आम्नाय शब्द का भी प्रयोग होता है। यह वेदों के नित्य अभ्यास अथवा स्वाध्याय पर बल देता है। श्रुतिपरम्परा में वेदों का यथावत् संरक्षण निरन्तर अभ्यास द्वारा ही किया गया है। शिष्य जब वेदों को गुरुमुख से सुनता था तो उसका उसी रूप में अभ्यास करता था। वेदों के लिये प्रयुक्त यह आम्नाय शब्द इसी सतत अभ्यास के भाव को दर्शाता है।

7. **स्वाध्याय** – ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा सूत्र साहित्य में वेद के लिये **'स्वाध्याय'** शब्द का प्रयोग हुआ है। **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** (शतपथ ब्राह्मण 11.5.6.3) अर्थात् वेदों का अध्ययन करना चाहिए। उपनिषदों में भी वेदों के अर्थ में स्वाध्याय शब्द का प्रयोग है।**'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'** (तैत्तिरीयोपनिषत् 1.11.1) अर्थात् वेदों के स्वाध्याय (अध्ययन) एवं प्रचार में प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय शब्द वेदों के अध्ययन की अनिवार्यता को दर्शाता है।

वस्तुतः वेद के ये सभी नाम वेदविषयक विभिन्न दृष्टियों की ओर संकेत करते हैं। यही कारण है कि वेद के लिये इन पर्यायों का प्रयोग बहुलता से हुआ है।

1.3 ऋषि तत्त्व का स्वरूप

वैदिक साहित्य और संस्कृति के सन्दर्भ में ऋषितत्त्व का महत्त्व सर्वोपरि है। ऋषि ही वैदिक साहित्य के आधार तथा वैदिक संस्कृति के प्रवर्तक हैं। **'ऋषि'** शब्द गत्यर्थक **'ऋष्'** धातु से बना है। **'ऋषि'** से आशय ऐसे तपस्वी, तेजस्वी, मनस्वी तथा परमज्ञानसम्पन्न महापुरुषों से है, जिन्होंने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से मन्त्रों का साक्षात्कार किया तथा जिन्हें लौकिक तथा अलौकिक सभी विषयों को देखने का सामर्थ्य प्राप्त था। (**ऋषति प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान् ज्ञानेन पश्यति संसारपारं वा इति ऋषिः– शब्दकल्पद्रुम**) उनका ज्ञान तथा उपदेश निर्भ्रान्त थे। भारतीय परम्परा की यह मान्यता है कि वेद अपौरुषेय है। इसका आशय यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने जिस प्रकार समस्त प्राकृतिक तत्त्वों को उत्पन्न किया, उसी प्रकार मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए वेदरूपी दिव्य ईश्वरीय ज्ञान प्राचीन ऋषियों को प्रदान किया। जो उन्हें अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से साक्षात्कार के द्वारा प्राप्त हुआ। ये ऋषि ही वेदमन्त्रों के द्रष्टा माने गये।

इन्हीं के माध्यम से परम्परा से सुरक्षित वेदमन्त्र प्रकाश में आये। अतः ऋषियों को कहीं-कहीं 'मन्त्रकृत्' (वेदमन्त्रों का कर्ता) भी कहा गया है। इसका आशय भी मन्त्रद्रष्टा ही समझना चाहिए। क्योंकि भारतीय परम्परा ऋषियों को मन्त्रों के कर्ता के रूप में नहीं अपितु मन्त्रद्रष्टा के रूप में ही स्वीकार करती है। (**साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः** – निरुक्त 1.20) वेद उन्हीं परम तपस्वी ऋषियों के साक्षात्कार सुफलित रूप है। इन्हीं के द्वारा वेद मन्त्रों का संकलन तथा सम्पादन कार्य सम्पन्न हुआ।

1.3.1 मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की परम्परा

वैदिक साहित्य के इतिहास का अवलोकन करने पर यह तथ्य ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के विविध सम्प्रदाय, आश्रम तथा शाखाएँ आदि विद्यमान थी। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में अनेक ऋषियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है, केवल ऋग्वेद में ही 350 से अधिक ऋषियों का उल्लेख है। चरकतन्त्र के व्याख्याकार भट्टारक हरिश्चन्द्र ने मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के भेदों को निरूपित किया है – **'मुनीनां चतुर्विधो भेदः ऋषयः, ऋषिका, ऋषिपुत्राः, महर्षयः'** (चरकतन्त्र - सूत्रस्थान 1.7)। तदनुसार मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के चार भेद हैं – 1.महर्षि 2.ऋषि 3.ऋषिपुत्र तथा 4.ऋषिका।

1. **महर्षि** – महर्षि से आशय उस सर्वोत्कृष्ट विद्वान् से है। जिसे ज्ञान का एकमात्र अधिकारी, अभिभावक तथा अनन्त विभूतियों से सम्पन्न माना जाता है। महर्षियों ने ही सर्वप्रथम ईश्वरीय ज्ञान का साक्षात्कार किया। उन्होंने ही सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञान का प्रचार प्रसार किया। मनुस्मृति में इनकी संख्या 10 कही गई है –

   मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
   प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ (मनुस्मृति 1.35)

2. **ऋषि** – महर्षियों के उपरान्त ऋषियों का क्रम आता है। ये पूर्वोक्त दस महर्षियों के शिष्य अथवा पुत्र हैं। जिन्होंने अत्यन्त कठिन तपश्चर्या करके मन्त्रों का साक्षात्कार किया। इनकी संख्या 13 कही गई है – उशना, बृहस्पति, कश्यप, च्यवन, उत्तथ्य, वामदेव, अगस्त्य, उशिक्, कर्दम, विश्रवा, शक्ति, बालखिल्य तथा अर्वत।

3. **ऋषिपुत्र** – महर्षि तथा ऋषियों के पश्चात् ऋषिपुत्रों का क्रम आता है। जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है कि ऋषियों की जो संतानें हुईं उन्हें यह दाय उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की परम्परा में ऐसे ऋषिपुत्र भी अनेक हुए हैं।

4. **ऋषिका** – मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की परम्परा में महर्षि, ऋषि तथा ऋषिपुत्रों के बाद ऋषिकाओं का स्थान है। इन मनस्वी ऋषिकाओं ने महर्षि, ऋषि तथा ऋषिपुत्रों की वंश परम्परा के अतिरिक्त अपने कठोर परिश्रम से दिव्य ज्ञान का साक्षात्कार किया। इन ऋषिकाओं को एक प्रकार से ऋषि-पुत्रों की शिष्य-शाखाओं से सम्बद्ध माना जाता हैं, जो कालान्तर में ऋषि-पुत्रों के उत्तरवर्ती वंशजों से इस प्रकार मिलकर एकाकार हो गये कि उनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता है। परम्परा में ऋषिकाओं की संख्या भी बहुतायत में है। इन्होंने भी ज्ञान परम्परा के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। भृगुकुल, अंगिराकुल, कश्यपकुल, अत्रिकुल, वशिष्ठकुल, अगस्त्यकुल आदि अनेक विद्या-वंशों की स्थापना की।

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की यह परम्परा ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त अव्यवस्थित प्रतीत होती है। प्रायः सभी मन्त्र-संहिताओं में उपलब्ध ऋषियों की नामावली में भी ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अन्तर है। ऐतरेय, गोपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर महर्षि विश्वामित्र को वेदमन्त्रों का सर्वप्रथम द्रष्टा माना जाता है। तत्पश्चात् उनके दीक्षित पुत्र या शिष्य ऋषि वामदेव ने मन्त्रों का दर्शन किया तथा उनके द्वारा अनेक ऋषियों को वेद मन्त्र दृष्ट हुए। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की यह परम्परा अत्यन्त समृद्ध रही है। जिनमें ऊर्व, आत्रेय, गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, वशिष्ठ, जमदग्नि, मधुच्छन्दा, दीर्घतमा, भरद्वाज, लोपामुद्रा, मेधातिथि, कण्व, कक्षीवान्, अगस्त्य, दमा, गौतम, श्यावाश्व, कुत्स, पराशर, बृहस्पति,अपाला तथा कुशिक आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार यह विदित होता है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने उस दिव्य ईश्वरीय ज्ञानराशि का दर्शन किया, सहस्रों वर्षों के चिन्तन-मनन द्वारा याज्ञिक उपयोग को दृष्टिगत रखते हुए उन्हें संहिताओं में संकलित तथा संपादित किया। भारतवर्ष की इस गौरवशाली अमूर्त, दिव्य, ज्ञान-राशि को आगामी पीढ़ियों तक पहुँचाने का सम्पूर्ण श्रेय इन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की परम्परा को है।

1.4 वैदिक शाखाओं का आविर्भाव तथा विकास

भारतीय परम्परागत मान्यता के अनुसार महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने एक मूल वेद का विस्तार ऋग्वेद आदि चार संहिताओं के रूप में किया। पहले ये मन्त्र विभिन्न ऋषिकुलों में बिखरे हुए थे जिन्हें याज्ञिक उपयोग की दृष्टि से संकलित तथा वैज्ञानिक व्यवस्था से एकत्रित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने किया। इसीलिये उन्हें 'वेदव्यास' कहा जाता है। निश्चित रूप से मन्त्रों के इस संकलनात्मक स्वरूप का निर्माण उद्देश्य विशेष से मन्त्रों के आविर्भाव-काल के बहुत समय बाद में हुआ। मूल वेद मन्त्रों को अलग-अलग वर्गों में विभाजित कर उनके जो सङ्कलन बने उन्हें ही 'संहिता' कहा गया। महर्षि वेदव्यास ने अपने द्वारा सङ्कलित संहिताओं का अध्ययन अपने चार शिष्यों को कराया। उन्होंने क्रमशः पैल को ऋग्वेद-संहिता, वैशम्पायन को यजुर्वेद-संहिता, जैमिनि को सामवेद-संहिता तथा सुमन्तु को अथर्ववेद-संहिता का ज्ञान प्रदान किया। ये ही चार संहिताएँ ऋग्वेद आदि के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

पैल आदि चारों व्यास शिष्यों ने इन चारों संहिताओं का अध्ययन अपने अनेक शिष्यों को कराया और उन शिष्यों ने अपने शिष्यों को। इस प्रकार गुरुशिष्यपरम्परा से इनका अध्ययन-अध्यापन मौखिक रूप से चलता रहा तथा इनका पर्याप्त प्रचार हुआ। चूँकि श्रुति परम्परा से संरक्षित संहिताओं को अभी तक लिखित स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। इसलिये धीरे-धीरे कालान्तर में उनके मन्त्रों के क्रम, उच्चारण तथा विनियोग में अन्तर होने लगा। एक मूल संहिता अनेक स्वरूपों में विभक्त हो गयी। इन्हें ही 'शाखा' अथवा 'शाखा-संहिता' कहा जाता है। जिन आचार्यों ने इन विशिष्ट संहिताओं का प्रवचन किया, उन्होंने ही उनमें मन्त्र-सङ्ख्या, क्रम-भेद तथा उच्चारणगत भेदों का भी निर्धारण किया। इन शाखा-संहिताओं का अध्ययन करनेवाले व्यक्तियों के समुदाय को 'चरण' के नाम से जाना जाता है। इस शब्द का प्रयोग शाखा के पर्याय के रूप में भी किया जाता है। वस्तुतः चरण से आशय एक प्रकार की शिक्षा संस्था से है, जिसमें वेद की एक शाखा का अध्ययन शिष्य समुदाय करता था। शाखा का मूल प्रवर्तक ही चरण का संस्थापक आचार्य होता था। इन्हीं शाखाओं अथवा चरणों के द्वारा वैदिक ज्ञान के अध्ययन की परम्परा आगे बढ़ी साथ ही विशिष्ट संहिता के प्रवचनकर्ता के नाम पर वह शाखा या संहिता प्रसिद्ध हुई। उदाहरणार्थ ऋग्वेद की आचार्य शाकल ने ऋग्वेद की अपनी

जिस शाखा का उपदेश किया वह 'शाकल शाखा' कहलायी। इसी प्रकार तित्तिरि, कुथुमि तथा शौनक आदि शाखा प्रवर्तक आचार्यों के नाम से 'तैत्तिरीय', 'कौथुम' तथा 'शौनकीय' आदि नाम से वैदिक शाखाएँ प्रसिद्ध हुईं।

1.4.1 वैदिक शाखाओं की सङ्ख्या

वैदिक संहिताओं के सङ्कलन के उपरान्त मन्त्रों के संकलन, ग्रहणाग्रहण तथा उच्चारण से सम्बद्ध भेदों के कारण वेदों की अनेक शाखाएँ विकसित हुईं। इनका उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों, वेदाङ्गों, मीमांसासूत्रों, व्याकरण-महाभाष्य, चरणव्यूह, अनुक्रमणियों, पुराणों तथा भाष्य-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। किन्तु वैदिक शाखाओं की सङ्ख्या के सन्दर्भ में इन ग्रन्थों में उपलब्ध मत भिन्न भिन्न हैं। महर्षि पतञ्जलि (150 ई.पू.) ने अपने महाभाष्य नामक ग्रन्थ में वैदिक शाखाओं का निर्देश किया है तदनुसार - ऋग्वेद की 21 शाखाएँ, यजुर्वेद की 101 शाखाएँ, सामवेद के 1000 शाखाएँ तथा अथर्ववेद की 9 शाखाएँ थीं - **'चत्वारो वेदाः साङ्गा सरहस्या बहुधा भिन्नाः एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेदः'।** (व्याकरण महाभाष्य - पस्पशाह्निक) इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक वैदिक शाखा के अपने संहिता, ब्राह्मण आदि ग्रन्थ भी थे। किन्तु वर्तमान में कुछ ही वैदिक शाखाओं के सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। अधिसंख्यक वैदिक शाखाएँ सर्वथा लुप्त हो गयी हैं जिनके नाममात्र शेष रह गये हैं।

1.4.2 श्रुति परम्परा

वेद को सहस्रों वर्षों तक गुरु-शिष्य परम्परा में सुन-सुन कर तथा कण्ठस्थ करके अविकल रूप से सुरक्षित रखा गया, इसलिये वेदों को 'श्रुति' भी कहा जाता है। वेदों के संरक्षण की यही पद्धति 'श्रुति परम्परा' कहलाती है। चारों वेदों की संहिताओं में विद्यमान दस हजार से भी अधिक मन्त्रों का यथावत् संरक्षण वैदिक विद्वानों ने अनेक सहस्राब्दियों तक केवल मौखिक रूप में किया है। भारतवर्ष के अतिरिक्त विश्व के किसी अन्य देश के इतिहास में प्राचीन वाङ्मय को इतनी श्रद्धा से सहस्रों वर्षों तक सुरक्षित रखने का एक भी उदाहरण प्राप्त नहीं होता है। कालान्तर में लिपि के आविष्कार हो जाने पर वेदों को लिपिबद्ध किया गया। वाचिक परम्परा में मन्त्रों को यथावत् स्मरण, सस्वर अविकल उच्चारण तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखने के लिए पाठ की विशिष्ट विधियाँ का विकास हुआ। वेदों के आजतक अत्यन्त विशुद्ध रूप में संरक्षण तथा संवर्धन हेतु वैदिक विद्वानों द्वारा किये गए कष्टसाध्य निःस्वार्थ प्रयासों के प्रति सम्पूर्ण समाज उनके प्रति सदैव ऋणी है।

1.4.3 प्रमुख वैदिक शाखाएँ

वैदिक संहिताओं के सङ्कलन के उपरान्त मन्त्रों के संकलन, ग्रहणाग्रहण तथा उच्चारण से सम्बद्ध भेदों के कारण वेदों की अनेक शाखाएँ विकसित हुईं। किन्तु वर्तमान में कुछ ही वैदिक शाखाओं के सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रमुख वैदिक शाखाएँ अधोलिखित हैं –

क्र.	वैदिक शाखाएँ	
1.	ऋग्वेदीय शाखाएँ	1. शाकल, 2. बाष्कल, 3.आश्वलायन, 4. शांखायन, 5. माण्डूकायन।
2.	शुक्ल यजुर्वेदीय शाखाएँ	1.माध्यन्दिन (वाजसनेय), 2. काण्व।
3.	कृष्ण यजुर्वेदीय शाखाएँ	1.तैत्तिरीय, 2. मैत्रायणीय, 3. कठ (काठक), 4. कपिष्ठल-कठ।
4.	सामवेदीय शाखाएँ	1. कौथुम, 2. राणायनीय, 3, जैमिनीय।
5.	अथर्ववेदीय शाखाएँ	1. शौनक, 2. पैप्पलाद।

I. **ऋग्वेदीय शाखाएँ** – महर्षि पतञ्जलि ने ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं का उल्लेख किया है – **'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्'** (महाभाष्य पस्पशाह्निक)। वर्तमान में इन इक्कीस शाखाओं में से केवल पाँच शाखाओं के नाम ज्ञात होते हैं – **1. शाकल, 2. बाष्कल, 3. शाङ्खायन, 4.माण्डूकायन तथा 5. आश्वलायन।** इनमें भी केवल शाकल शाखा ही संहिता आदि ग्रन्थों सहित उपलब्ध है। शाकल शाखा की संहिता में 10 मण्डल, 85अनुवाक (कात्यायनसर्वानुक्रमणी के अनुसार), 1028 सूक्त (1117 +11बालखिल्य सूक्तों सहित) और 10,552 मन्त्र हैं।

II. **यजुर्वेदीय शाखाएँ** – महर्षि पतञ्जलि ने यजुर्वेद की 101 शाखाओं की ओर सङ्केत किया है **'एकशतमध्वर्युशाखा'** (महाभाष्य पस्पशाह्निक)। आचार्य शौनक ने अपने 'चरणव्यूह' नामक ग्रन्थ में यजुर्वेद की 86 शाखाओं का उल्लेख किया है, जिनमें शुक्ल यजुर्वेद की 17 शाखाएँ तथा 69 कृष्ण यजुर्वेद की हैं। कालान्तर में ये शाखाएँ लुप्त होती गईं। वर्तमान में यजुर्वेद की केवल 6 शाखाएँ ही प्राप्त होती हैं – **शुक्ल यजुर्वेद** की **2** तथा **कृष्ण यजुर्वेद** की **4**।

शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा की संहिता में 40 अध्याय,303 अनुवाक तथा 1975 मन्त्र हैं। माध्यन्दिन शाखा का प्रचार उत्तर भारत में अधिक है। काण्व शाखा की संहिता में 40 अध्याय, 328 अनुवाक तथा 2086 मन्त्र हैं। वर्तमान में काण्व शाखा का प्रचार महाराष्ट्र प्रान्त में है।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा की संहिता में 7 काण्ड, 44 प्रपाठक, 631 अनुवाक तथा 2998 मन्त्र हैं। तैत्तिरीय शाखा सर्वाङ्गपूर्ण है क्योंकि इसकी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्रग्रन्थ (श्रौत, गृह्य धर्म तथा शुल्ब भी) ये सभी उपलब्ध हैं। तैत्तिरीय संहिता का विशेष प्रचार महाराष्ट्र, आंध्र और दक्षिण भारत में है। कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा की संहिता में 4 काण्ड, 54 प्रपाठक तथा 2144 मन्त्र हैं। कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा की संहिता में 5 खण्डों में स्थानक 40, वचन 13 = 53 उपखण्ड, अनुवाक 843 और 3028 मन्त्र हैं। मन्त्र और ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या 18 हजार है। कृष्ण यजुर्वेद की कपिष्ठल-कठ शाखा की संहिता के केवल 6 अष्टक उपलब्ध हैं। इसके 6 अष्टकों में 48 अध्याय हैं किन्तु अध्याय 9 से 24, 32, 33 तथा 43 सर्वथा खण्डित हैं।

III. **सामवेदीय शाखाएँ** – महर्षि पतञ्जलि ने सामवेद की 1000 शाखाओं का उल्लेख किया है **'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'** (महाभाष्य पस्पशाह्निक)। वर्तमान में सामवेद की केवल तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं – **1.कौथुम 2.जैमिनीय** तथा **3.राणायनीय**। ये तीनों शाखाएँ क्रमश: गुजरात, कर्णाटक तथा महाराष्ट्र राज्यों में प्रचलित हैं। इनमें कौथुमीय शाखा सर्वाधिक लोकप्रिय है। कौथुमीय शाखा प्रायः राणायणीय शाखा के समान ही है। इन दोनों शाखाओं की संहिताओं में मन्त्रों का क्रम समान है, केवल गणना-पद्धति में भेद है। कौथुमीय संहिता में जहाँ अध्याय, खण्ड और मन्त्र के रूप में विभाजन है, वहाँ राणायणीय संहिता में प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, दशति के रूप में विभाजन प्राप्त होता है। कौथुम तथा राणायनीय संहिताओं में 1875 तथा जैमिनीय संहिता में 1687 मन्त्र हैं।

IV. **अथर्ववेदीय शाखाएँ** – महर्षि पतञ्जलि ने अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है **'नवधाथर्वणो वेदः'** (महाभाष्य -पस्पशाह्निक)। विभिन्न ग्रन्थों में उनके नाम भिन्न-भिन्न प्राप्त होते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर इनके नाम पैप्पलाद, तौद, मोद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श तथा चारणवैद्य – ये निश्चित किये जा सकते हैं। वर्तमान में अथर्ववेद की केवल दो शाखाओं (शौनकीय तथा पैप्पलाद) की ही संहिताएँ उपलब्ध होती हैं। इनमें शौनकीय शाखा सर्वाधिक प्रचलित है। शौनकीय या शौनक शाखा की संहिता में 20 काण्ड, 730 सूक्त और 5987 मन्त्र हैं। पैप्पलाद शाखा की संहिता अपूर्ण ही प्राप्त है। प्रपञ्चहृदयकार ने इसे 20 काण्डों में विभक्त माना है।

1.5 सारांश

वेद विश्व के प्राचीनतम साहित्य के रूप में आदि-संस्कृति के ज्ञान-विज्ञान-कला-आदि विविध विषयों के प्रमुख स्रोत हैं। वेद चार हैं – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। भारतीय परम्परा वेदों को अपौरुषेय मानती है – तदनुसार वेद वह ईश्वरीय ज्ञान है, जो प्राचीन ऋषियों को अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से साक्षात्कार के द्वारा प्राप्त हुआ। वैदिक साहित्य और संस्कृति के सन्दर्भ में ऋषितत्त्व का महत्त्व सर्वोपरि है। ऋषि ही वैदिक साहित्य के आधार तथा वैदिक संस्कृति के प्रवर्तक हैं। ऋषि ही वेदमन्त्रों के द्रष्टा माने गये। इन्हीं के माध्यम से परम्परा से सुरक्षित वेदमन्त्र प्रकाश में आये। इन्हीं के द्वारा वेद मन्त्रों का संकलन तथा सम्पादन कार्य सम्पन्न हुआ। प्राचीन काल में इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के विविध सम्प्रदाय, आश्रम तथा शाखाएँ आदि विद्यमान थी। परम्परा में ऋषियों के चार भेद माने गये हैं – 1.महर्षि 2.ऋषि 3.ऋषिपुत्र तथा 4.ऋषिका। महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने मन्त्रों को याज्ञिक उपयोग की दृष्टि से संकलित कर एक मूल वेद का विस्तार ऋग्वेद आदि चार संहिताओं के रूप में किया। भारतीय परम्परा में वेद शब्द के अनेक पर्याय मिलते हैं। इनमें श्रुति, निगम, आगम, त्रयी, छन्दस्,आम्नाय तथा स्वाध्याय विशेष प्रचलित हैं।

वैदिक संहिताओं के सङ्कलन के उपरान्त मन्त्रों के संकलन, ग्रहणाग्रहण तथा उच्चारण से सम्बद्ध भेदों के कारण वेदों की अनेक शाखाएँ विकसित हुई। महर्षि पतञ्जलि ने ऋग्वेद की 21, यजुर्वेद की 101, सामवेद की 1000 तथा 9 शाखाओं का उल्लेख किया है। किन्तु वर्तमान में कुछ ही वैदिक शाखाओं के सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

1.6 शब्दावली

1. अपौरुषेय – जो किसी साधारण व्यक्ति की रचना नहीं है।
2. श्रुति – प्राचीनकाल में वेदाध्ययन गुरुपरम्परा से सुनकर ही किया जाता था, अतः उसे 'श्रुति' कहते हैं।
3. संहिता – वैदिक मन्त्रों का संग्रह 'संहिता' कहलाता है।
4. ब्राह्मण – यज्ञ के विधानों एवं उनके प्रयोजनों की व्याख्या करनेवाले वेद-भाग को 'ब्राह्मण' कहते हैं।
5. आरण्यक – अरण्य अर्थात् वन में होने वाले शास्त्रीय अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा आध्यात्मिक विषयों के संकलनात्मक वैदिक ग्रन्थों को 'आरण्यक' कहते हैं।
6. उपनिषद् – आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वों की समीक्षा करने वाले वैदिक ग्रन्थों को 'उपनिषद्' कहा गया है। 'उपनिषद्'शब्द का अर्थ है - तत्त्वज्ञान के लिए गुरु के पास सविनय बैठना।
7. ऋषि – मन्त्रों का साक्षात्कार करनेवाले विद्वान् ऋषि कहलाते हैं।
8. शाखा — वेद का किसी एक परम्परा में विशिष्ट पद्धति से होने वाला अध्ययन-अध्यापन 'शाखा' कहलाता है। प्राचीन काल में ऋषि-कुलों में वेद मन्त्रों की विविध पाठ पद्धतियाँ रहीं हैं, जिनके कारण वेदों की अनेक शाखाओं का विकास हुआ।
9. चरण — किसी विशेष शाखा के अध्ययन में लगे हुए लोगों का समूह को 'चरण' कहते हैं।

1.7 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. ऋग्वेदभाष्यभूमिका – आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1990
2. नवीन वैदिक संचयनम् – डॉ. जमुना पाठक एवं डॉ. उमेश प्रसाद सिंह, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2005
3. निरुक्त – यास्क, व्या०विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2008
4. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – आचार्य बलदेव उपाध्याय शारदा संस्थान, वाराणसी, 1990
5. वैदिक साहित्य का इतिहास – डॉ. गजानन शास्त्री एवं डॉ. राजेश्वर शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2018
6. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2008
7. वैदिक वाङ्मय का इतिहास – पण्डित भगवद्दत्त, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, विक्रम संवत् 2013
8. शब्दकल्पद्रुम – राधाकान्तदेव बहादुर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, विक्रम संवत् 2024
9. संस्कृतवाङ्मयम् – डॉ.हरिकृष्ण शास्त्री दातार, कीर्तिसौरभप्रकाशन, वाराणसी,1989

10. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास – वेद खण्ड – प्रो. व्रज बिहारी चौबे, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 2012
11. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ. उमाशंकर ऋषि शर्मा, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2012
12. संस्कृत साहित्य तथा संस्कृति – वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
13. संस्कृत साहित्य का इतिहास – ए.बी. कीथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2011
14. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास – डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2013
15. History of Classical Sanskrit literature – M. Krishnamachariar, Motilal Banarasidass Publishers, Dehli 2016.

1.8 बोध प्रश्न

1. वेद शब्द के विभिन्न अर्थ एवं तात्पर्य को स्पष्ट कीजिए?
2. वेद शब्द के विविध पर्यायों की विवेचना कीजिए?
3. वैदिक साहित्य के विकास में ऋषि तत्त्व की भूमिका पर प्रकाश डालिए?
4. मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की परम्परा का परिचय दीजिए?
5. वैदिक शाखाओं का आविर्भाव तथा विकास पर प्रकाश डालिए?

इकाई 2 संहिता परिचय : ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, सामगान प्रविधि, एवं अथर्ववेद संहिता

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

वैदिक संहिता से सम्बद्ध इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- वैदिक संहिताओं के स्वरूप का परिचय दे सकेंगे।
- वैदिक संहिताओं के वर्गीकरण को जान सकेंगे।
- वैदिक यज्ञों के पुरोहितों के कार्यों से परिचित हो सकेंगे।
- ऋग्वेद आदि संहिता ग्रन्थों के स्वरूप को व्यवस्थित रूप से समझ सकेंगे।

- सामगान की प्रविधि से परिचित हो सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

वैदिक साहित्य को अध्ययन की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया गया है – **1. संहिता 2. ब्राह्मण 3. आरण्यक** तथा **4. उपनिषद्**। जिसमें संहिता-भाग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें वैदिक मन्त्रों का संग्रह है। इन मन्त्रों का साक्षात्कार महर्षियों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा किया। भारतीय जनमानस में वेदों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा का कारण उनका धार्मिक महत्त्व से परिपूर्ण होना है। भारतीय सनातन संस्कृति वैदिक संस्कृति है। इसमें यज्ञानुष्ठान का सर्वाधिक महत्त्व है। यज्ञों के सम्पादन में मन्त्रों का प्रयोग होता है। यज्ञ में मन्त्रों के द्वारा ही देवताओं की स्तुति की जाती है तथा उनको आहुति प्रदान की जाती है। वस्तुतः मन्त्र ही यज्ञ संस्था के मूल आधार हैं। धार्मिक कर्मकाण्ड के समस्त विधि-विधानों की संकल्पना मन्त्रों के बिना की ही नहीं जा सकती। उनके धार्मिक महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय वैदिक परम्परा ने उनके आविर्भावकाल से आजतक सतत उनका श्रद्धापूर्वक निःस्वार्थभाव से अविकल संरक्षण किया है।

संहिता शब्द का अर्थ है – संग्रह अथवा संकलन। वैदिक साहित्य के सन्दर्भ में यह मन्त्रों के संकलन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार वेदमन्त्रों के संग्रह को **'संहिता'** अथवा **'वैदिक संहिता'** कहा जाता है। वेदसंहिताएँ चार हैं – **1.ऋग्वेद-संहिता 2.यजुर्वेद-संहिता 3.सामवेद-संहिता तथा 4.अथर्ववेद-संहिता**। पौराणिक मान्यता के अनुसार प्राचीन काल में वेद एक ही था। महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने यज्ञ के अनुष्ठान को दृष्टिगत रखते हुए ऋत्विजों के उपयोग के लिए वेद को चार भागों में वर्गीकृत किया। यज्ञ में देवताओं की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों (ऋचाओं) का संकलन ऋग्वेदसंहिता में किया गया है। यज्ञ में इसका प्रयोग 'होता' नामक ऋत्विज् के द्वारा होता है। यज्ञानुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले गद्यात्मक मन्त्र 'यजुष्' कहलाते हैं। इनका संकलन यजुर्वेद-संहिता में किया गया है। ये मन्त्र 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विज् के लिए उपयोगी हैं। यज्ञ में गाये जाने वाले मन्त्र 'साम' कहलाते हैं। इन सामों का संकलन सामवेद-संहिता में किया गया है। यज्ञ में 'उद्गाता' नामक ऋत्विज् इनका गान करता है। इनके अतिरिक्त शान्तिक -पौष्टिक कार्यों से सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन अथर्ववेद-संहिता में किया गया है। यज्ञ में इन मन्त्रों का प्रयोग 'ब्रह्मा' ऋत्विज् के द्वारा किया जाता है। महर्षि वेदव्यास ने वेद के चार संकलन करके इन्हें अपने शिष्यों को पढ़ाया। जिसमें उन्होंने आचार्य पैल, आचार्य वैशम्यायन, आचार्य सुमन्तु तथा आचार्य जैमिनि को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का अध्यापन कराया। कालान्तर इन्हीं की गुरुशिष्य परम्परा के द्वारा वेदों का संरक्षण तथा संवर्धन हुआ।

2.2 संहिता का स्वरूप

वैदिक मन्त्रों का संग्रह 'संहिता' कहलाता है। इन मन्त्रों के मौलिक रूप में वैदिक पदों का परस्पर अधिकतम सन्निकर्ष है। इसीलिए पाणिनि ने **'संहिता'** का अर्थ किया है **'परः सन्निकर्षः संहिता'** (अष्टाध्यायी1.4.109)। वस्तुतः वैदिक संहिताओं में परस्पर सन्धिबद्ध मन्त्रों का संकलन है। ये मन्त्र पहले विभिन्न ऋषिकुलों में बिखरे हुए थे जिन्हें संकलित किया गया, वैज्ञानिक व्यवस्था से एकत्र किया गया। स्पष्टतः यह संकलन, उद्देश्य विशेष से, मन्त्रों के आविर्भाव-काल के बहुत समय बाद में हुआ। पौराणिक मान्यता के अनुसार प्राचीन काल में

वेद एक ही था। महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने यज्ञ के अनुष्ठान को दृष्टिगत रखते हुए ऋत्विजों के उपयोग के लिए वेद को चार भागों में वर्गीकृत किया। मन्त्रों की इन संज्ञाओं का अर्थ स्पष्ट करते हुए मीमांसासूत्र के प्रणेता महर्षि जैमिनि कहते हैं कि जिन मन्त्रों में अर्थ के आधार पर पादों अथवा चरणों की व्यवस्था हो, वे 'ऋक्' कहलाते हैं – **'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'** (मीमांसासूत्र 2.1.35)। ये मन्त्र पद्यात्मक हैं। गाये जाने वाले मन्त्र 'साम' कहलाते हैं – **'गीतिषु सामाख्या'** (मीमांसासूत्र 2.1.36)। ये मन्त्र गीतिपरक हैं। इन दोनों के अतिरिक्त शेष बचे मन्त्र 'यजुष्' कहे जाते हैं – **'शेषे यजुः शब्दः'** (मीमांसासूत्र 2. 1.37)। ये मन्त्र गद्यात्मक हैं। इस प्रकार पद्य, गीति एवं गद्य की प्रधानता के आधार पर क्रमशः ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद ये तीन वेद संहिताएँ संकलित हुई। इनके अतिरिक्त अथर्वा तथा आंगिरस ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों के संकलन को उन्हीं के नाम से 'अथर्ववेद संहिता' या 'अथर्वाङ्गिरस् संहिता' के नाम से जाना जाता है।

2.3 संहिताओं के वर्गीकरण का आधार

वैदिक संहिताएँ मुख्यत: चार हैं – ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता तथा अथर्ववेद संहिता। इन संहिताओं का पारस्परिक पार्थक्य यज्ञों में उपयोग के लिए संकलित मन्त्रों के परस्पर भेद के कारण था। सामान्य वैदिक यज्ञ (श्रौतयाग) में जो व्यक्ति पुरोहित के रूप में अनुष्ठान कराते थे, उन्हें 'ऋत्विज्' कहा जाता था। यह वैदिक युग के पुरोहितों की संस्था के रूप में प्रसिद्ध था जिसके चार वर्ग थे – 1.होता 2.अध्वर्यु 3.उद्गाता तथा 4.ब्रह्मा।

1. **होता** – 'होता' नामक पुरोहित ऋग्वेद का प्रतिनिधित्व करता है। इसका कार्य यज्ञों में देवताओं का आवाहन करना होता है। यज्ञ में ऋचाएँ देवताओं के अर्चन की मुख्य साधन हैं। **'ऋच्'** अथवा **'ऋक्'** का अर्थ है स्तुतिपरक मन्त्र – **'ऋच्यते स्तूयतेऽनया इति ऋक्'।** अर्थात् जिन मन्त्रों के द्वारा देवों की स्तुति की जाती है, उन्हें 'ऋक्' अथवा 'ऋचा' कहते हैं। ऋग्वेद में विभिन्न देवों की स्तुतिवाले मन्त्र हैं। इन मन्त्रों का प्रयोग होता के द्वारा देवताओं के आह्वान के लिये किया जाता है। अतः ऋग्वेद को 'होतृवेद' भी कहा जाता है। होता के प्रयोगार्थ ही ऋचाओं का संकलन किया गया है। इसी संकलन को 'ऋग्वेद-संहिता' के नाम से जाना जाता है।

2. **अध्वर्यु** – 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विज् का सम्बन्ध यजुर्वेद से है। यह यज्ञ का प्रमुख ऋत्विज् है जो यज्ञानुष्ठान के विविध कर्मों का सम्पूर्ण भार वहन करता है **'अध्वरं युनक्ति इत्यध्वर्युः**, **'अध्वरं कामयते वा'** (निरुक्त)। अध्वर्यु का महत्त्व इसी से ज्ञात होता है कि यज्ञ में इसी के कार्य में प्रवृत्त होने पर अन्य ऋत्विजों का कार्य आरम्भ होता है। अतः यजुर्वेद को 'अध्वर्युवेद' अथवा 'आध्वर्यववेद' कहा जाता है। यज्ञ के साधक मन्त्र 'यजुष्' कहलाते हैं। यजुष् गद्यात्मक है, इसीलिए कहा गया है – **'अनियताक्षरावसानं यजुः'।** अध्वर्यु के प्रयोगार्थ ही यज्ञ-संचालन के लिए उपयोगी यजुषों (मन्त्रों) का संकलन हुआ। इसे ही 'यजुर्वेद-संहिता' कहा जाता है।

3. **उद्गाता** – 'उद्गाता' नामक ऋत्विज् सामवेद का प्रतिनिधित्व करता है। ऋचा और गान के समन्वय को ही 'साम' अथवा 'सामन्' कहते हैं। अर्थात् ऋचाओं पर आश्रित होकर जो गान किया जाता है, वही 'साम' है **'ऋचि अध्यूढं साम'** (छान्दोग्योपनिषद् 1.6.1)। अतः सामवेद को गान-प्रधान वेद भी कहा जाता है। उद्गाता का कार्य यज्ञों में सामवेद के

मन्त्रों का गान करके देवताओं को प्रसन्न करना होता है। इसीलिए सामवेद को 'उद्गातृवेद' अथवा 'औद्गात्रवेद' भी कहते हैं। उद्गाता के उपयोग के लिये ही संगीतात्मक ऋचाओं का संकलन किया गया। इसे ही 'सामवेद संहिता' कहा जाता है। सामवेद में ये ऋचाएँ ऋग्वेद के अष्टम तथा नवम मण्डलों से ही संकलित हैं जिनका गान सोमयाग के अवसर पर किया जाता है।

4. **ब्रह्मा** – 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज् अथर्ववेद का प्रतिनिधित्व करता है। अतः अथर्ववेद को 'ब्रह्मवेद' भी कहा जाता है। ब्रह्मा यज्ञ का अधिष्ठाता और संचालक होता है। इसका मुख्य कार्य यज्ञ की समस्त क्रियाओं का निरीक्षण करना होता है। इसके निर्देशानुसार ही अन्य ऋत्विज् कार्य करते हैं। उसे 'सर्वविद्' कहा गया है। अर्थात् वह तीनों वेदों में निपुण होता है। यह यज्ञ के विधान की त्रुटियों का परिमार्जन, भ्रम का समाधान, यज्ञिय विधि का निर्देशन, व्याख्या आदि अनेक कार्य करता है। ब्रह्मा के प्रयोगार्थ ही समस्त याज्ञिक क्रियाओं से सम्बद्ध मन्त्रों का संकलन जिसमें हुआ है। उसे ही 'अथर्ववेद संहिता' कहते हैं। इस प्रकार संहिताओं के वर्गीकरण के आधार होता आदि ऋत्विजों के कार्यों का विभाजन ही था।

2.4 ऋग्वेद का स्वरूप

जिन मन्त्रों के द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती है, उन्हें 'ऋक्' अथवा 'ऋचा' कहते हैं। ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं की स्तुतिपरक मन्त्र हैं, अतः इसे ऋग्वेद कहा जाता है। इन मन्त्रों के द्वारा देवों का आह्वान किया जाता है। ऐसी ऋचाओं के संग्रह के कारण इसे 'ऋग्वेद-संहिता' कहते हैं। ऋग्वेद विश्वसाहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। वैदिक संहिताओं में भी महत्त्व की दृष्टि से ऋग्वेद संहिता का सर्वप्रथम स्थान है। अन्य संहिताओं की अपेक्षा ऋग्वेद संहिता आकार में सबसे बड़ी है, इसकी ऋचाओं का संकलन अन्य वैदिक संहिताओं में प्रचुरतया हुआ है जिनमें सामवेद तो प्रायः पूर्ण रूप से ऋग्वेद पर ही आधारित है। वैदिक तथा लौकिक सभी प्रकार के उद्धरणों में भी ऋग्वेद के सन्दर्भों को प्रमुखता से दर्शाया जाता है। अतः वैदिक साहित्य में ऋग्वेद-संहिता का अत्यधिक महत्त्व है। महर्षि पतञ्जलि ने ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं का उल्लेख किया है–**'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्'** (महाभाष्य पस्पशाह्निक)। वर्तमान में इन इक्कीस शाखाओं में से केवल पाँच शाखाओं के नाम ज्ञात होते हैं – **1. शाकल, 2. बाष्कल, 3. शाङ्खायन, 4.माण्डूकायन तथा 5. आश्वलायन।** इनमें भी केवल शाकल शाखा ही संहिता आदि ग्रन्थों सहित उपलब्ध है। इसी शाखा की संहिता को ही 'ऋग्वेद संहिता' अथवा 'ऋग्वेद' कहा जाता है।

2.4.1 ऋग्वेद संहिता का विभाजन क्रम

ऋग्वेद संहिता को दो प्रकार से विभक्त किया गया है – 1. अष्टक क्रम तथा 2. मण्डल क्रम।

1. **अष्टक क्रम** – यह पाठपरक विभाजन है। यह ऋग्वेद के पारायण की दृष्टि से निर्मित क्रम है। आज भी गुरुशिष्यपरम्परा में ऋग्वेद की पारम्परिक उच्चारण पद्धति का अध्ययन इसी क्रम से होता है। इसमें सम्पूर्ण ऋग्वेद संहिता को8समान भागों में विभक्त किया गया है, इन्हें 'अष्टक' कहते हैं। प्रत्येक अष्टक को पुनः8 अध्यायों में विभाजित किया गया है। इस प्रकार पूरे ऋग्वेद में 8 x 8 = 64 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से वर्गों में विभाजित किया गया है। जिनकी संख्या भिन्न-भिन्न है, यह संख्या 25 से

49 तक है। प्रत्येक वर्ग में मन्त्र-समूह हैं जिनमें 1 से लेकर 9 तक मन्त्र हैं। अष्टकों में वर्गों की संख्या भी अलग-अलग है। यह 221 से लेकर 313 तक है। ऋग्वेद में कुल वर्गों की संख्या 2024 है। इस प्रकार अष्टक क्रम – **'अष्टक -अध्याय-वर्ग-मन्त्र'** के रूप में विभक्त है। तदनुसार 11बालखिल्य सूक्तों को भी ऋक् संहिता में सम्मिलित करते हुए गणना करने पर अष्टक-क्रमानुसार ऋग्वेद में 8 अष्टक 64 अध्याय, 2024 वर्ग, 1028 सूक्त (1117 + 11बालखिल्य सूक्तों सहित) तथा 10, 552 मन्त्र हैं। यह विभाजन संख्या और गणना की दृष्टि से सुव्यस्थित होने पर भी इसमें ऋषि अथवा देवता की समानता पर विचार नहीं किया गया है। आधुनिक वैदिक विद्वान् इस क्रम को ऐतिहासिक न मान कर आकृतिमूलक मानते हैं। अतः वे इस क्रम से ऋग्वेद के सन्दर्भों का निर्देश नहीं करते हैं।

2. **मण्डल क्रम** – यह विभाजन अधिक सुसंगत, उपयुक्त तथा अधिक प्रचलित है। इसमें पूरे ऋग्वेद को ऋषि और देवता के अनुसार ऋग्वेद संहिता को 10 मण्डलों में विभक्त किया गया है, प्रत्येक मण्डल अनुवाकों में तथा अनुवाक पुनः सूक्तों में विभक्त हैं। सूक्तों में ऋचाओं का संकलन है। इस प्रकार मण्डल क्रम – **'मण्डल-अनुवाक-सूक्त-मन्त्र'** के रूप में विभक्त है। तदनुसार ऋग्वेद में 10 मण्डल, 85अनुवाक (कात्यायनसर्वानुक्रमणी के अनुसार), 1028 सूक्त (1117 +11बालखिल्य सूक्तों सहित) और 10,552 मन्त्र हैं। ऋग्वेद के मन्त्र का निर्देश करने के लिए इसी क्रम का अनुसरण किया जाता है किन्तु सन्दर्भ-निर्देश में अनुवाक की संख्या छोड़ दी जाती है। सन्दर्भ में क्रमश: मण्डल / सूक्त/ मन्त्र की संख्या का ही उल्लेख होता है। जैसे – 'अग्निमीळे पुरोहितं॰'(ऋग्वेद 1.1.1)

आधुनिक विद्वानों का मत है कि द्वितीय से सप्तम मण्डल तक का भाग ऋग्वेद का प्राचीनतम अंश है जिसमें प्रत्येक मण्डल किसी ऋषि अथवा उसके वंश से सम्बद्ध मन्त्रों का संग्रह है। ये ऋषि क्रमशः इस प्रकार हैं–गृत्समद (द्वितीय मण्डल), विश्वामित्र (तृतीय मण्डल), वामदेव (चतुर्थ मण्डल), अत्रि (पञ्चम मण्डल), भरद्वाज (षष्ठ मण्डल) तथा वसिष्ठ (सप्तम मण्डल)। वंश विशेष से सम्बद्ध होने के कारण इन मण्डलों को ' वंश-मण्डल' कहते हैं। इन मण्डलों में सूक्तों का संयोजन भी वैज्ञानिक क्रम से किया गया है अर्थात् जिन ऋषियों के सूक्तों की संख्या अधिक है, उन्हें मण्डलों में क्रमशः उत्तरोत्तर बाद में संयोजित किया गया है। इस प्रकार वंश मण्डल में क्रमशः 43, 62, 58, 87, 75, 104 सूक्त हैं। अष्टम मण्डल में संकलित मन्त्रों के ऋषि कण्व और अङ्गिरस के वंशज हैं। द्वितीय से सप्तम मण्डल पर्यन्त सोम विषयक कोई सूक्त स्वतन्त्र रूप से नहीं है। अतः नवम मण्डल की विशिष्टता केवल सोम-देवता की स्तुति है। सोम का एक नाम 'पवमान' होने से इस मण्डल को 'पवमान-मण्डल' भी कहा जाता है। प्रथम तथा दशम मण्डल में भिन्न-भिन्न ऋषियों के सूक्त संकलित हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इन मण्डलों के संकलित हो जाने पर इनके आदि और अन्त में एक-एक मण्डल (प्रत्येक में 191 सूक्त) जोड़ दिये गये जिससे ऋग्वेद 10 मण्डलोंवाला बन गया। इनके मत का निष्कर्ष है कि ऋग्वेद में प्रथम, अष्टम, नवम और दशम मण्डल कालान्तर में जोड़े गये। इन चारों परवर्ती मण्डलों में भी भाषा, छन्द, नवीन देवताओं की कल्पनाओं तथा नूतन दार्शनिक चिन्तन होने के कारण दशम मण्डल अन्य मण्डलों की अपेक्षा अर्वाचीन है। अतः उन्होने मण्डल-क्रम को ऐतिहासिक माना है। किन्तु भारतीय परम्परा उनके इस मत का समर्थन नहीं करती अपितु प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण ऋग्वेद को **'दशतयी श्रुतिः'** (निरुक्त) कहकर सम्बोधित करती है तथा एककाल की ही रचना मानती है। वेदों की भाष्य-परम्परा में भी मण्डल क्रम का अनुसरण किया गया है। चारों वेदों के भाष्यकार आचार्य सायण ने अपने भाष्यों में भी मण्डल क्रमानुसार ऋषि-देवता-छन्द आदि का निर्देश किया है।

2.5 यजुर्वेद का स्वरूप एवं विभाग

जिस वेद में यजुषों का सङ्कलन किया गया है उसे 'यजुर्वेद' कहते हैं। **'यजुष्'** शब्द – यज्ञ, पूजा, श्रद्धा, आदर आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः यज्ञ के साधक मन्त्र 'यजुष्' कहलाते हैं। यजुष् गद्यात्मक है, इसीलिए कहा गया है – **'गद्यात्मको यजुः'**। इसमें उन मन्त्रों का संकलन किया गया, जिनके प्रयोग यज्ञ में अध्वर्यु के द्वारा किया जाता है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड-प्रधान वेद है।

यजुर्वेद के दो भाग हैं – **1. शुक्ल यजुर्वेद** तथा **2. कृष्ण यजुर्वेद**।

1. **शुक्ल यजुर्वेद** – शुक्ल यजुर्वेद में याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त होनेवाले केवल मन्त्रों का ही संकलन है। इसमें मन्त्रों की व्याख्या (ब्राह्मण भाग) का समावेश नहीं है। अतः मन्त्र तथा ब्राह्मण के सम्मिश्रण से रहित विशुद्ध मन्त्रों के ही संग्रह होने के कारण यजुर्वेद का यह रूप 'शुक्ल यजुर्वेद' के नाम से जाना जाता है। शुक्ल यजुर्वेद का सम्बन्ध आदित्य सम्प्रदाय से है। क्योंकि इसका उपदेश भगवान् आदित्य (सूर्य) के द्वारा महर्षि याज्ञवल्क्य को प्रदान किया गया था **'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते'** (शतपथ ब्राह्मण 14.9.5.33)।

2. **कृष्ण यजुर्वेद** – कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ गद्य में व्याख्या (ब्राह्मण भाग) भी सम्मिलित है। अतः मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग के सम्मिश्रण होने के कारण यजुर्वेद का यह भेद 'कृष्ण यजुर्वेद' कहलाता है। यह ब्रह्म सम्प्रदाय का प्रतिनिधि वेद है।

   महर्षि पतञ्जलि ने यजुर्वेद की 101 शाखाओं की ओर सङ्केत किया है **'एकशतमध्वर्युशाखा'** (महाभाष्य पस्पशाह्निक)। आचार्य शौनक ने अपने 'चरणव्यूह' नामक ग्रन्थ में यजुर्वेद की 86 शाखाओं का उल्लेख किया है, जिनमें शुक्ल यजुर्वेद की 17 शाखाएँ तथा 69 कृष्ण यजुर्वेद की हैं। कालान्तर में ये शाखाएँ लुप्त होती गई। वर्तमान में यजुर्वेद की केवल 6 शाखाएँ ही प्राप्त होती हैं – शुक्ल यजुर्वेद की 2 तथा कृष्ण यजुर्वेद की 4।

2.5.1 शुक्ल यजुर्वेद की संहिताएँ

वर्तमान में शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन तथा काण्व ये दो शाखाएँ प्राप्त होती हैं। उनकी एक-एक संहिताएँ उपलब्ध हैं।

1. **माध्यन्दिन संहिता**–पारम्परिक मान्यता के अनुसार सूर्य के मध्य दिन में द्वारा इसका ज्ञान याज्ञवल्क्य को दिये जाने के कारण इसे माध्यन्दिन-संहिता कहा जाता है। इसे वाजसनेय संहिता भी कहते हैं। इसमें 40 अध्याय,303 अनुवाक तथा 1975 मन्त्र हैं। माध्यन्दिन शाखा का प्रचार उत्तर भारत में अधिक है।

2. **काण्व संहिता**–इसमें भी 40 अध्याय हैं और मन्त्र संख्या 2086 हैं, अर्थात् वाजसनेय शाखा से इसमें 111 मन्त्र अधिक हैं। इसका विभाजन अध्याय, अनुवाक और मन्त्र के रूप हुआ है। अतः इसमें 40 अध्याय, 328 अनुवाक तथा 2086 मन्त्र हैं। इसमें मन्त्रों के क्रम में भी अन्तर मिलता है। वर्तमान में काण्व शाखा का प्रचार महाराष्ट्र प्रान्त में ही है,परन्तु प्राचीन काल में काण्व शाखा का अपना प्रदेश उत्तर भारत ही था। ऐसा संहिता

गत सन्दर्भों से ज्ञात होता है (काण्व संहिता 11.11)। वस्तुतः माध्यन्दिन तथा काण्व एक ही मूल संहिता के दो रूप जान पड़ते हैं। दोनों में अध्यायों की संख्या तथा विषयवस्तु समान ही है।

2.5.2 कृष्णयजुर्वेद की संहिताएँ

कृष्णयजुर्वेद की चार शाखाओं की चार संहिताएँ उपलब्ध हैं ये हैं – 1. तैत्तिरीय 2. मैत्रायणी 3. कठ (काठक) तथा 4. कपिष्ठल-कठ शाखा।

1. **तैत्तिरीय संहिता** – यह कृष्ण यजुर्वेद की उपलब्ध संहिताओं में महत्त्व तथा प्रचार की दृष्टि से प्रमुख है। यह तैत्तिरीय शाखा की संहिता है और कृष्ण यजुर्वेद की सबसे प्रमुख संहिता है। इसमें 7 काण्ड, 44 प्रपाठक, 631 अनुवाक,अनुवाकों के भी उपभेद (खण्ड) किए गए हैं। तथा 2998 मन्त्र हैं। तैत्तिरीय शाखा सर्वाङ्गपूर्ण है क्योंकि इसकी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्रग्रन्थ (श्रौत, गृह्य धर्म तथा शुल्ब भी) ये सभी उपलब्ध हैं। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध होने के कारण तैत्तिरीय संहिता में मन्त्रों के साथ विनियोग (व्याख्या) भी मिश्रित हैं। शुक्ल यजुर्वेद के समान इसमें भी विविध यज्ञों का वर्णन है। तैत्तिरीय संहिता का विशेष प्रचार महाराष्ट्र, आंध्र और दक्षिण भारत में है। सायणाचार्य ने वेदभाष्यों का आरम्भ इसी पर भाष्य लिखकर किया था। वे इसी शाखा के अध्येता थे। आचार्य सायण से पूर्ववर्ती भट्ट भास्कर मिश्र (11वीं शती ई.) ने भी इस पर 'ज्ञानयज्ञ' नामक भाष्य का लेखन किया था।

2. **मैत्रायणी संहिता** – यह कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा की संहिता है। इसमें भी तैत्तिरीय संहिता के समान मन्त्र और विनियोग (व्याख्या–ब्राह्मण या गद्यभाग) सम्मिश्रित हैं। इसमें मन्त्रों का स्वराङ्कन नहीं है यद्यपि ये मन्त्र ऋग्वेद के मुख्यत: प्रथम, षष्ठ तथा दशम मण्डलों से संकलित हैं। इस संहिता में 4 काण्ड, 54 प्रपाठक तथा 2144 मन्त्र हैं। इस शाखा को ही 'कलाप' या 'कालापक' भी कहते थे। इस शाखा के प्रवर्तक का नाम हरिवंशपुराण के आधार पर मैत्रायण या मैत्रेय माना जाता है।

3. **कठ संहिता** – महर्षि पतञ्जलि के अनुसार इसका काठक और कलाप-शाखा का प्रत्येक ग्राम में प्रचार था **'ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते'** (महाभाष्य 4.3.101)। आजकल यह शाखा प्राय: लुप्त हो चुकी है। इस संहिता में 5 खण्डों में स्थानक 40, वचन 13 = 53 उपखण्ड, अनुवाक 843 और 3028 मन्त्र हैं। मन्त्र और ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या 18 हजार है। इस संहिता की यह विशेषता है कि इसमें केवल उदात्त अक्षर के ऊपर ही ऊर्ध्व रेखा (स्वरित जैसा चिह्न) का चिह्न प्राप्त होता है। अनुदात्त और स्वरित पर चिह्न नहीं है।

4. **कपिष्ठल-कठ-संहिता** – यह कपिष्ठल-कठ शाखा की संहिता है। प्राचीन काल में कठों की अनेक शाखाएँ प्रचलित थीं, जैसे कठ, प्राच्य कठ और कपिष्ठल कठ। इस शाखा के प्रवर्तक कपिष्ठल ऋषि थे। विद्वानों का अनुमान है कि कुरुक्षेत्र के पास ' कैथल' ग्राम कपिष्ठल का ही अपभ्रंश है और यह कपिष्टल ऋषि का निवास स्थान था।

यह संहिता अपूर्ण रूप से मिली है। यह ऋग्वेद के तुल्य अष्टकों और अध्यायों में विभक्त है। इसकी स्वराङ्कन पद्धति भी काठक संहिता के तुल्य है। इसके केवल 6 अष्टक उपलब्ध हैं। इसके 6 अष्टकों में 48 अध्याय हैं किन्तु अध्याय 9 से 24, 32, 33 तथा 43 सर्वथा खण्डित हैं।

2.6 सामवेद का स्वरूप

सामवेद गानप्रधान वेद है। अतः साम का गीतियुक्त होना अनिवार्य है **'गीतिषु सामाख्या'** (मीमांसा सूत्र 2.1.36)।

साम का अर्थ है गीतियुक्त मन्त्र अर्थात् कुछ विशिष्ट प्रकार से ऋचाओं के गान को साम कहते हैं **'विशिष्टा काचिद् गीतिः सामेत्युच्यते'** (मीमांसा सूत्र 2.1.37)। ऋग्वेद और सामवेद का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। गीतियुक्त ऋचा साम हो जाती है। अतः सामवेद में अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद से संकलित हैं। सामवेद में कुल मन्त्र 1875 हैं। इनमें ऋग्वेद से 1771 ऋचाएँ संकलित की गयी हैं। अतः सामवेद में केवल 104 मन्त्र ही नवीन हैं। ऋग्वेद के 1771 मन्त्रों में 267 पुनरुक्त हैं तथा सामवेद के 5 मन्त्र भी पुनरुक्त हैं।

श्रौतयज्ञ के अवसर पर उद्गाता के द्वारा साम मन्त्रों का गायन किया जाता था। उन्हीं गानपरक मन्त्रों का संकलन जिस संहिता में किया गया है। उसे "सामवेद संहिता" अथवा "सामवेद" कहते हैं। यह वेद गान के लिए उपादेय होने के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। अतः प्राचीन काल में इसकी अनेक शाखाएँ विकसित हुई। महर्षि पतञ्जलि ने सामवेद की 1000 शाखाओं का उल्लेख किया है **'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'** (महाभाष्य पस्पशाह्निक)। वर्तमान में सामवेद की केवल तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं –1.कौथुम 2.जैमिनीय तथा 3.राणायनीय। ये तीनों शाखाएँ क्रमश: गुजरात, कर्णाटक तथा महाराष्ट्र राज्यों में प्रचलित हैं। इनमें कौथुमीय शाखा सर्वाधिक लोकप्रिय है।

कौथुमीय शाखा प्रायः राणायणीय शाखा के समान ही है। इन दोनों शाखाओं की संहिताओं में मन्त्रों का क्रम समान है, केवल गणना-पद्धति में भेद है। कौथुमीय संहिता में जहाँ अध्याय, खण्ड और मन्त्र के रूप में विभाजन है, वहाँ राणायणीय संहिता में प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, दशति के रूप में विभाजन प्राप्त होता है। कौथुम तथा राणायनीय संहिताओं में 1875 तथा जैमिनीय संहिता में 1687 मन्त्र हैं।

2.6.1 सामवेद संहिता

सामवेद संहिता के दो मुख्य भाग हैं – **1. पूर्वार्चिक** तथा **2. उत्तरार्चिक**। 'आर्चिक' शब्द का अर्थ है – ऋचाओं का संकलन अथवा समूह। पूर्वार्चिक में 650 तथा उत्तरार्चिक में 1225 मन्त्र हैं। इस प्रकार सामवेद में कुल मन्त्र 1875 हैं।

1. **पूर्वार्चिक** – पूर्वार्चिक को 'छन्दस्', ' छन्दसी' अथवा 'छन्दसिका' भी कहते हैं। इसमें चार काण्ड हैं – 1.आग्नेय, 2. ऐन्द्र 3. पावमान 4.आरण्य काण्ड तथा परिशिष्ट के रूप में महानाम्नी आर्चिक। पूर्वार्चिक को 6 अध्यायों / प्रपाठकों के रूप में भी वर्गीकृत किया गया है। अध्यायों / प्रपाठकों को खण्डों में विभक्त किया गया है। इन्हें 'दशति' कहा जाता है। दशति का अर्थ 10 ऋचाएँ हैं, परन्तु प्रत्येक दशति में दस संख्या का प्रतिबन्ध नहीं है, इसमें न्यूनाधिक्य दिखायी देता है। पूर्वार्चिक के प्रत्येक प्रपाठक में दस-दस मन्त्रों वाले दस सूक्त हैं, केवल अन्तिम प्रपाठक में नौ सूक्त हैं। इन प्रपाठकों में क्रमशः प्रथम में अग्नि, द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठक में इन्द्र तथा पञ्चम प्रपाठक में पवमान (सोम) से सम्बन्धित मन्त्रों का समावेश है। अतः अध्याय 1 'आग्नेय काण्ड', अध्याय 2 से 4 तक 'ऐन्द्र काण्ड' तथा अध्याय 5 'पावमान काण्ड' कहलाता है। इन काण्डों के मन्त्रों को

'ग्रामगान' भी कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि इनका गान ग्रामों में होता था। षष्ठ प्रपाठक के मन्त्रों का गायन अरण्य अथवा वन में किये जाने का विधान होने से इन्हें 'अरण्यगान' भी कहते हैं। अतः अध्याय 6 को 'आरण्यकाण्ड' कहा जाता है। इसी का परिशिष्ट महानाम्नी आर्चिक (10 मन्त्र) है।

2. **उत्तरार्चिक** – यह 21 अध्यायों अथवा 9 प्रपाठकों में विभक्त है। उत्तरार्चिक में कुल 400 सूक्त हैं। उत्तरार्चिक के मन्त्रों का गान का आधार पूर्वार्चिक के मन्त्र हैं। अतः पूर्वार्चिक के मन्त्रों को 'सामयोनिमन्त्र'अथवा 'सामयोनि' कहते हैं। उत्तरार्चिक में उन्हीं के लयों पर गाने योग्य तृच तथा प्रगाथों का संग्रह है। उत्तरार्चिक के मन्त्रों पर आश्रित गान उत्तर-गान कहलाता है। उत्तरार्चिक के अधिकांश त्रिक, चतुष्क आदि का प्रथम मन्त्र (सामयोनिमन्त्र) पूर्वार्चिक का होता है, उसी की लय पर वह पूरा सूक्त (त्रिक या चतुष्क आदि) का गान किया जाता है। यज्ञों के समय भक्ति-भावना तथा श्रद्धा जागृत करने के लिए उद्गाता इन मन्त्रों का गान करता है। सामवेदीय संगीत के रूप में यह देवोपासना होती है।

2.6.2 सामगान प्रविधि

गानप्रधान वेद होने के कारण सामवेद के मन्त्रों के गान पर पर्याप्त साहित्य रचा गया। भारतीय संगीतशास्त्र का मूल भी यही सामगान है। सामगान से सम्बद्ध कतिपय आवश्यक तत्त्वों का निर्देश नारदीयशिक्षा में किया गया है। जिससे उसके सिद्धान्त तथा व्यवहार पक्ष के महत्त्व को सरलता से समझा जा सकता है। नारदीय शिक्षा के अनुसार सामगान के स्वरमण्डल अर्थात् स्वरों के विस्तार में 7 स्वर, 3 ग्राम, 21 मूर्च्छनाएँ तथा 49 तानें होती हैं –

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।
ताना एकोनपञ्चाशदित्येतत्स्वरमण्डलम् ॥ (नारदीय शिक्षा)

1. **स्वर** – सामवेद में सात स्वर होते हैं। 1.षड्ज (स), 2.ऋषभ (रे), 3.गान्धार (ग), 4.मध्यम (म), 5.पञ्चम (प), 6.धैवत (ध) तथा 7.निषाद (नि) ये सात स्वर हैं। नारदीय शिक्षा, पाणिनीय शिक्षा तथा याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार इन लौकिक स्वरों का विकास उदात्त,अनुदात्त तथा स्वरित इन तीन मूल स्वरों से हुआ है।

उदात्ते निषादगान्धारौ अनुदात्ते ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥ (पाणिनीय शिक्षा-12)

इन स्वरों को प्रदर्शित करने हेतु सामवेदीय मन्त्रों के ऊपर 1,2,3 संख्याएँ दी जाती हैं। इनका अर्थ है 1 = उदात्त, 2 = स्वरित 3 = अनुदात्त। इसी प्रकार 1,2,3 आदि अंक क्रमशः मध्यम, गान्धार, ऋषभ आदि (म ग रे सा नि ध प के क्रम से) सप्त स्वरों को प्रदर्शित किया जाता है। उसके अनुसार सामगान होता है।

सामगान के सप्त स्वरों में और लौकिकशास्त्रीय संगीत के सप्तस्वरों में मौलिक भेद यह है कि साम का स्वरसप्तक 'अवरोहारोह' क्रम में है और लौकिक गान का स्वरसप्तक 'आरोहावरोह' क्रम में होता है।

2. **ग्राम** – ग्राम तीन हैं – 1.मन्द्र (निम्न), 2.मध्य (मध्यम), 3.तीव्र (उच्च)। इन्हें ही 'त्रि-सप्तक' भी कहा जाता है। इनका प्रयोग गायक के द्वारा क्रमशः निम्न, मध्यम अथवा तीव्र ध्वनियों के उच्चारण लिये होता है।

3. **मूर्च्छनाएँ** – प्रत्येक सप्तक के एक-एक स्वर से निकलने वाली ध्वनि को मूर्च्छना कहते हैं। इनका निर्माण स्वरों तथा ग्रामों के परस्पर योग से होता है। स्वरों तथा ग्रामों के भेद से मूर्च्छनाओं की संख्या 21 हो जाती हैं।

4. **तान** – सात स्वरों के परस्पर के योग को तान कहते हैं। एक-दूसरे के मिश्रण से तानों की संख्या 49 हो जाती हैं।

   क्रुष्ट स्वर – सामगान के सात स्वरों में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र (निम्न स्वर) तथा अतिस्वर या अतिस्वार्य (अतिनिम्न स्वर) के अतिरिक्त क्रुष्ट स्वर का भी उल्लेख मिलता है। क्रुष्ट स्वर से अभिप्राय किसी स्वर को खींचकर ऊपर स्थापित करने से है।

2.6.3 सामगान के प्रकार

सामगान के ग्रन्थों की रचना पूर्वार्चिक मन्त्रों के आधार पर हुई है। ये गान चार प्रकार के हैं – **1. ग्रामगान 2. आरण्यकगान 3. ऊहगान तथा 4. ऊह्यगान** (रहस्यगान)। इनमें ग्राम तथा आरण्य-गान प्रकृतिगान (योनिगान) हैं, तथा ऊह और ऊह्य विकृति-गान कहे जाते हैं।

1. **ग्रामगान** – यह पूर्वार्चिक के आग्नेय, ऐन्द्र तथा पावमान काण्ड के मन्त्रों पर आधारित होता है। यह ग्राम अथवा सार्वजनिक स्थानों पर गाया जाता था। अतः इसे 'ग्रामगेयगान','प्रकृतिगान' और 'वेयगान' भी कहते हैं।

2. **आरण्यगान** – यह पूर्वार्चिक के आरण्यकाण्ड के मन्त्रों पर होता है। यह वनों अथवा पवित्र स्थानों पर ही गाया जाता था। अतः इसे 'आरण्यकगेयगान','रहस्यगान' भी कहा जाता है।

3. **ऊहगान** –'ऊह' से आशय विचारपूर्वक विन्यास करने से है। जब किसी अवसरविशेष पर साम-मन्त्रों में समयानुसार परिवर्तन करके गाया जाता है तो उसे ऊहगान कहते हैं। यह पूर्वार्चिक के आग्नेय आदि काण्डों के मन्त्रों पर आश्रित है। ऊहगान को विकृतिगान माना जाता है। ऊह की प्रकृति या आधार ग्रामगेयगान है। अर्थात् ग्रामगेयगान में प्रयुक्त स्वरराग आदि का आश्रय लेकर ऊहगान का निर्माण होता है। इसका प्रयोग सोमयाग तथा विशिष्ट धार्मिक अवसरों पर ही होता था।

4. **ऊह्यगान** – ऊहगान के समान ऊह्यगान भी मौलिक न होने के कारण विकृति-गान माना जाते है। ऊह्य की प्रकृति आरण्य-गान है। अर्थात् आरण्यगान के स्वररागादि के आधार पर ही ऊह्यगान की रचना हुई है। आरण्यगान के समान रहस्यात्मक होने के कारण इसे 'रहस्यगान' भी कहा जाता है। अतः सर्वसाधारण के समक्ष इसका गान निषिद्ध माना जाता है।

2.6.4 सामविकार

सामवेद के पूर्वार्चिक के मन्त्रों को गान का स्वरूप प्रदान करने के लिए उनमें कुछ वर्ण कम अथवा अधिक किये जाते हैं। ऋचा में किये गये गान के अनुकूल इस शाब्दिक परिवर्तन को 'सामविकार' कहा जाता है। ये 6 प्रकार के होते हैं – **1. विकार 2. विश्लेष 3. विकर्षण 4. अभ्यास 5. विराम** तथा **6. स्तोभ**।

1. **विकार** – मन्त्र में विद्यमान शब्द के स्थान पर गान की दृष्टि से कुछ परिवर्तन करके किसी अन्य गान शब्द का उच्चारण करना 'विकार' कहलाता है। जैसे – **'अग्ने'** के स्थान पर **'ओग्नायि'** उच्चारण करना।

2. **विश्लेषण** – मन्त्र में पठित एक पद को आश्यकतानुसार दो अथवा अधिक खण्डों में विच्छेद करके कहना ही 'विश्लेष' कहलाता है। जैसे – **'वीतये'** के स्थान पर **'वो यि तोया २ यि'** उच्चारण करना।

3. **विकर्षण** – मन्त्र में प्रयुक्त ह्रस्व स्वर (1 = ह्रस्व) के स्थान पर दीर्घ स्वर (२ = दीर्घ) का उच्चारण और दीर्घ स्वर के स्थान पर प्लुत स्वर (३ = प्लुत) का उच्चारण करना 'विकर्षण' कहलाता है। जैसे –'ये' को 'या २ ३ यि' अर्थात् दीर्घ तथा प्लुत तक लम्बा खींच कर उच्चारण करना।

4. **अभ्यास** – मन्त्र में आये हुए किसी पद का दो या अधिक बार उच्चारण करना 'अभ्यास' कहा जाता है। जैसे – **'तो या २ यि'**,**'तो या २ यि'** ऐसा दो बार उच्चारण करना।

5. **विराम** – सामगान के समय गान की सुविधा की दृष्टि से मन्त्र में आये हुए किसी पद के मध्य में ही कुछ क्षण रुक जाना ही 'विराम' कहलाता है। जैसे – **'गृणानो हव्यदातये'** का **'गृणानो ह व्यदातये'** के रूप में उच्चारण करना। अर्थात् उच्चारण करते समय पद के मध्य में आये हुए **'ह'** अक्षर पर ही थोड़ा रुक जाया जाता है।

6. **स्तोभ** – ऋचा को गान का स्व रूप प्रदान के लिए कुछ अतिरिक्त **'औहोवा'**, **'हाउ'** आदि गानानुकूल पद मन्त्र के साथ सम्मिलित कर दिए जाते हैं। इन्हें **'स्तोभ'** कहा जाता हैं। सामविकारों में ये मुख्य हैं। इन्हें सामगान का अलंकरण माना गया है। इनका प्रयोग मन्त्र में आलाप के लिए होता है, जिससे मन्त्र की शोभा बढ़ जाती है। शाखाभेद से स्तोभ के पदों में भी अन्तर होता है। जैसे – कौथुमीय शाखा के वैदिक **'हाउ'**, **'राइ'** आदि तथा राणायनीय शाखा के वैदिक – **'हावु'**, **'रायि'** आदि जोड़ते हैं।

2.6.5 सामगान के विभाग

साधारणतया सामगान के पाँच भाग होते हैं। इन्हें ही सामगान की भक्तियाँ कहा जाता है – **1. प्रस्ताव 2. उद्गीथ 3. प्रतिहार 4. उपद्रव तथा 5. निधन**। मन्त्र का गान प्रस्तोता, उद्गाता, तथा प्रतिहर्ता नामक ऋत्विज् मिलकर करते हैं। गान के समय में इन तीनों के अलग अलग कर्तव्य होते हैं।

1. **प्रस्ताव –** यह मन्त्र का आरम्भिक भाग है जो **'हुँ'** से प्रारम्भ होता है। इसका गान प्रस्तोता नामक ऋत्विज् करता है। जैसे – **'हुँ ओग्नाइ'**।

2. **उद्गीथ –** उद्गीथ का अर्थ ॐ होता है। उद्गीथ में मन्त्र के पहले **'ॐ'** लगाया जाता है। इसका गान साम का मुख्य ऋत्विज् उद्गाता करता है। जैसे – **'ॐ आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये'**।

3. **प्रतीहार –** प्रतीहार का अर्थ है – दो अंशों को जोड़नेवाला। जैसे – '**नि होता सत्सि बर्हिषि** ॐ'**।** कभी कभी प्रतिहारवाले अंश के दो भाग कर दिये जाते हैं। ये हैं –1. उपद्रव तथा २. निधन।

4. **उपद्रव** – प्रथम भाग को 'उपद्रव' कहते हैं ; जैसे – **'नि होता सत्सि ब'**। इसका गान उद्गाता करता है।
5. **निधन** – शेष भाग को 'निधन' कहते हैं ; जैसे – **'हिंषि ॐ'**। इसका गान प्रस्तोता, उद्गाता तथा प्रतिहर्ता तीनों मिलकर करते हैं। इनमें हिंकार और ओंकार को और जोड़ देने से सामगान के ७ भेद हो जाते हैं।

2.6.6 सामगानों की संख्या तथा नियमन

भिन्न-भिन्न शाखाओं में इन गानों की संख्या भिन्न-भिन्न है सबसे अधिक गान जैमिनीय शाखा में उपलब्ध होते हैं। कौथुमीय और राणायनीय शाखाओं के अनुसार सामगानों की संख्या 2722 है तथा जैमिनीय शाखा के अनुसार गानों की संख्या 3681 है। सामवेदीय मन्त्रों पर सामगान निश्चित ही है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सामवेद की सभी ऋचाओं पर सामगान हो, ऐसा कोई भी विशेष नियम नहीं है। किस ऋचा पर कौन से तथा कितने सामों का गायन होगा? इसका निर्धारण वैदिक-परम्परा से होता आया है। सामगान ग्रन्थों में सामवेद की कुछ ऋचाओं (सा॰ सं॰ 1866, 1874,1849) पर किसी भी प्रकार के सामगान का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार की ऋचाएँ उत्तरार्चिक में ही पाई जाती हैं। इसी प्रकार ऐसी अनेक ऋचायें मिलती हैं जिन पर चारों प्रकार के गान होते हैं और वे भी अनेक प्रकार के मिलते हैं। जिनकी संख्या 25 (सा॰सं॰ 818) से 61 (सा॰ सं॰ 511) तक है। अतः इन विशिष्ट सामों की स्थिति तथा संख्या के नियम का आधार प्राचीन वैदिक परम्परा ही है।

2.7 अथर्ववेद संहिता

अथर्ववेद चतुर्थ वेद है। लौकिक विषयवस्तु की प्रचुरता तथा ज्ञान-विज्ञान की सामग्री की अधिकता होने के कारण अथर्ववेद की संहिताएँ अन्य वैदिक संहिताओं से विलक्षण है। महर्षि पतञ्जलि ने अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है **'नवधाथर्वणो वेदः'** (महाभाष्य -पस्पशाह्निक)। वर्तमान में अथर्ववेद की केवल दो शाखाओं (शौनकीय तथा पैप्पलाद) की ही संहिताएँ उपलब्ध होती हैं। इनमें शौनकीय शाखा सर्वाधिक प्रचलित है।

1. **शौनकीय संहिता**–यह शौनकीय या शौनक शाखा की संहिता है। इसमें 20 काण्ड, 730 सूक्त और 5987 मन्त्र हैं। अथर्ववेद का प्रायः चतुर्थांश ऋग्वेद से उद्धृत है। सूक्तों में मन्त्रों की संख्या क्रम सुनिश्चित पद्धति से निर्धारित किया गया है। यथा आरम्भिक पाँच काण्डों में प्रत्येक सूक्त में क्रमश: 4, 5, 6, 7,8 मन्त्र हैं। अथर्ववेद में भी यजुर्वेद के समान गद्य अंश है। सम्पूर्ण 15 वाँ और 16 वाँ काण्ड गद्यमय है। जिनमें 50 से अधिक सूक्त गद्यात्मक हैं। इसमें सबसे बड़ा काण्ड 20 वाँ है। इसमें 958 मन्त्र हैं। सबसे छोटा काण्ड 17 वाँ है। इसमें केवल 30 मन्त्र हैं।
2. **पैप्पलाद संहिता** – यह पैप्पलाद शाखा की संहिता है। प्रपञ्चहृदयकार ने इसे 20 काण्डों में विभक्त माना है। यह संहिता अपूर्ण ही प्राप्त है। प्रो॰ब्लूमफील्ड ने काश्मीर में शारदालिपि में प्राप्त हुई पाण्डुलिपि के आधार पर 1901 ई॰ में अंग्रेजी-अनुवाद सहित इसका प्रकाशन किया था। तत्पश्चात् डॉ. रघुवीर ने भी इस संहिता का एक संस्करण प्रकाशित कराया था। महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में जो 'शन्नो देवीरभिष्टये॰' (शौनकीय संहिता में यह मन्त्र प्रथम काण्ड के षष्ठ सूक्त का प्रथम मन्त्र है)

इस मन्त्र का अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र के रूप में निर्देश किया है वह इसी संहिता का प्रथम मन्त्र है। इससे ज्ञात होता है कि महर्षि पतञ्जलि (150 ईसा पूर्व) के काल में पैप्पलाद संहिता का प्रचलन था।

2.5 सारांश

वैदिक साहित्य को अध्ययन की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया गया है – 1. संहिता 2. ब्राह्मण 3. आरण्यक तथा 4. उपनिषद्। जिसमें संहिता-भाग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। संहिता शब्द का अर्थ है – संग्रह अथवा संकलन। वैदिक साहित्य के सन्दर्भ में यह मन्त्रों के संकलन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार वेदमन्त्रों के संग्रह को 'संहिता' अथवा 'वैदिक संहिता' कहा जाता है। महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने यज्ञ के अनुष्ठान को दृष्टिगत रखते हुए ऋत्विजों के उपयोग के लिए वेद को चार भागों में वर्गीकृत किया। वेदसंहिताएँ चार हैं – 1. ऋग्वेद-संहिता 2. यजुर्वेद-संहिता 3. सामवेद-संहिता तथा 4. अथर्ववेद-संहिता। इन संहिताओं का पारस्परिक पार्थक्य यज्ञों में उपयोग के लिए संकलित मन्त्रों के परस्पर भेद के कारण था। यह वैदिक युग के पुरोहितों की संस्था के रूप में प्रसिद्ध था जिसके चार वर्ग थे – 1.होता 2.अध्वर्यु 3.उद्गाता तथा 4.ब्रह्मा।'होता' नामक पुरोहित ऋग्वेद का प्रतिनिधित्व करता है। इसका कार्य यज्ञों में देवताओं का आवाहन करना होता है। 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विज् का सम्बन्ध यजुर्वेद से है। यह यज्ञ का प्रमुख ऋत्विज् है जो यज्ञानुष्ठान के विविध कर्मों का सम्पूर्ण भार वहन करता है। 'उद्गाता' नामक ऋत्विज् सामवेद का प्रतिनिधित्व करता है। उद्गाता का कार्य यज्ञों में सामवेद के मन्त्रों का गान करके देवताओं को प्रसन्न करना होता है। 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज् अथर्ववेद का प्रतिनिधित्व करता है। यह यज्ञ का अधिष्ठाता और संचालक होता है। ऋग्वेद विश्वसाहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। जिन मन्त्रों के द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती है, उन्हें 'ऋक्' अथवा 'ऋचा' कहते हैं। ऐसी ऋचाओं के संग्रह के कारण इसे 'ऋग्वेद-संहिता' कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं का उल्लेख किया है।

इनमें भी केवल शाकल शाखा ही संहिता आदि ग्रन्थों सहित उपलब्ध है। ऋग्वेद संहिता को दो प्रकार से विभक्त किया गया है – 1. अष्टक क्रम तथा 2. मण्डल क्रम। यजुर्वेद कर्मकाण्ड-प्रधान वेद है। यजुर्वेद के दो भाग हैं – 1. शुक्ल यजुर्वेद तथा 2. कृष्ण यजुर्वेद। महर्षि पतञ्जलि ने यजुर्वेद की 101 शाखाओं की ओर सङ्केत किया है। वर्तमान में यजुर्वेद की केवल 6 शाखाएँ ही प्राप्त होती हैं – शुक्ल यजुर्वेद की 2 तथा कृष्ण यजुर्वेद की 4। सामवेद गानप्रधान वेद है। महर्षि पतञ्जलि ने सामवेद की 1000 शाखाओं का उल्लेख किया है। वर्तमान में सामवेद की केवल तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं–1.कौथुम 2.जैमिनीय तथा 3.राणायनीय। सामवेद में कुल मन्त्र 1875 हैं। सामगान चार प्रकार का होता है – 1. ग्रामगान 2. आरण्यकगान 3. ऊहगान तथा 4. ऊह्यगान (रहस्यगान)। सामविकार 6 प्रकार के होते हैं – 1. विकार 2. विश्लेष 3. विकर्षण 4. अभ्यास 5. विराम तथा 6. स्तोभ। अथर्ववेद चतुर्थ वेद है। महर्षि पतञ्जलि ने अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है। वर्तमान में अथर्ववेद की केवल दो शाखाओं (शौनकीय तथा पैप्पलाद) की ही संहिताएँ उपलब्ध होती हैं। शौनकीय शाखा सर्वाधिक प्रचलित है। इस शाखा की संहिता में 20 काण्ड, 730 सूक्त और 5987 मन्त्र हैं। लौकिक विषयवस्तु की प्रचुरता तथा ज्ञान-विज्ञान की सामग्री की अधिकता होने के कारण अथर्ववेद की संहिताएँ अन्य वैदिक संहिताओं से विलक्षण है।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

होता – यह पुरोहित ऋग्वेद का प्रतिनिधित्व करता है। यह यज्ञों में देवताओं के आवाहन का कार्य करता है।

अध्वर्यु – यह ऋत्विज् यजुर्वेद से सम्बन्धित है। यह यज्ञ का प्रमुख ऋत्विज् है जो यज्ञानुष्ठान के विविध कर्मों का सम्पूर्ण भार वहन करता है।

उद्गाता – यह ऋत्विज् सामवेद का प्रतिनिधित्व करता है। यह यज्ञों में साम का गान करता है।

ब्रह्मा – यह ऋत्विज् अथर्ववेद का प्रतिनिधित्व करता है। ब्रह्मा यज्ञ का अधिष्ठाता और संचालक होता है। इसका मुख्य कार्य यज्ञ की समस्त क्रियाओं का निरीक्षण करना होता है।

बालखिल्य सूक्त – ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में 11 सूक्त खिल अथवा प्रक्षिप्त सूक्त प्राप्त होते हैं, जिन्हें 'बालखिल्य सूक्त' कहा जाता है। इनको स्वाध्याय के समय पढ़ने का विधान है किन्तु न तो इनका पद-पाठ उपलब्ध है न अक्षर-गणना में इनका समावेश है।

तृच – तीन ऋचाओं के समूह को 'तृच' कहते हैं। इस प्रकार की ऋचाएँ सामवेद के उत्तरार्चिक में हैं।

2.7 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. ऋग्वेदभाष्यभूमिका – आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1990
2. छान्दोग्योपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर, 2012
3. महाभाष्य – पन्तञ्जलि, व्या० युधिष्ठिर मीमांसक, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, हरियाणा, 1992
4. मीमांसासूत्र – जैमिनि, व्या० गङ्गानाथ झा, सुधीन्द्रनाथ वसु, इलाहाबाद, 1911
5. नवीन वैदिक संचयनम् – डॉ. जमुना पाठक एवं डॉ. उमेश प्रसाद सिंह, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2005
6. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – आचार्य बलदेव उपाध्याय शारदा संस्थान, वाराणसी, 1990
7. वैदिक साहित्य का इतिहास – डॉ. गजानन शास्त्री एवं डॉ. राजेश्वर शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2018
8. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2008
9. वैदिक वाङ्मय का इतिहास – पण्डित भगवद्दत्त, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, विक्रम संवत् 2013
10. संस्कृतवाङ्मयम् – डॉ.हरिकृष्ण शास्त्री दातार, कीर्तिसौरभप्रकाशन, वाराणसी,1989
11. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास – वेद खण्ड – प्रो. व्रज बिहारी चौबे, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 2012
12. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ. उमाशंकर ऋषि शर्मा, चौखम्भा भारती अकादमी,

वाराणसी, 2012

13. संस्कृत साहित्य तथा संस्कृति – वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
14. संस्कृत साहित्य का इतिहास – ए.बी. कीथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2011
15. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास – डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2013
16. History of Classical Sanskrit literature – M. Krishnamachariar, Motilal Banarasidass Publishers, Dehli 2016.

2.8 बोध प्रश्न

1. संहिता शब्द के अर्थ को व्याख्यायित करते हुए संहिताओं के वर्गीकरण की विवेचना कीजिए?
2. ऋग्वेद संहिता के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए मण्डल-क्रम तथा अष्टक-क्रम की विवेचना कीजिए?
3. यजुर्वेद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके भागों की विस्तृत विवेचना कीजिए?
4. सामवेद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए सामगान के प्रकारों की समीक्षा कीजिए?
5. अथर्ववेद संहिता के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए?

इकाई 3 ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

ब्राह्मण साहित्य से सम्बद्ध इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

- ब्राह्मण साहित्य की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।
- ब्राह्मण शब्द के अर्थ को जान सकेंगे।
- संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर को व्याख्यायित कर सकेंगे।
- ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा एवं शैली से परिचित हो सकेंगे।
- ब्राह्मण ग्रन्थों के वर्गीकरण को समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

संहिता आदि चार भागों में वर्गीकृत वैदिक साहित्य में संहिता-भाग के उपरान्त ब्राह्मण-भाग का स्थान है। मन्त्रों के व्याख्यानपरक ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। उत्तर वैदिककाल में जब संहिता-ग्रन्थ धीरे-धीरे दुर्बोध हो गए तब मन्त्रार्थ-ज्ञान की आवश्यकता गम्भीरता से प्रतीत हुई। वैदिक-यज्ञों के कर्मकाण्ड की भी यही स्थिति थी। सुदीर्घकाल से मौखिक ज्ञान के आधार पर प्रचलित यागों के अनुष्ठान में भी अनेक स्थानों पर सन्देह उत्पन्न होने लगा। इन्हीं विशेष कारणों से ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। वेद-मन्त्रों की बोधगम्य व्याख्या करने, यज्ञ के विधि-विधान के सभी पक्षों का निरूपण करने तथा तत्कालीन वैचारिक आन्दोलन को दिशा देने का उद्देश्य ब्राह्मण-साहित्य की पृष्ठभूमि बना। यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा विवरण प्रस्तुत करना ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय है। इनमें यज्ञों के आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक पक्षों की विस्तृत विवेचना की गई है। यज्ञगत कर्मकाण्डीय विधानों का जितना साङ्गोपाङ्ग विवेचन ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। उतना विश्व के किसी भी अन्य धार्मिक साहित्य में उपलब्ध नहीं है। सभी ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्यमय हैं। गद्य के प्रारम्भिक स्वरूप के दर्शन यजुर्वेद में होते हैं, परन्तु उसका परिष्कार ब्राह्मणग्रन्थों में हुआ। इनमें अनेक आख्यानों के माध्यम से यज्ञ में होने वाले कर्मकाण्डों के औचित्य को समझाने का सफलतापूर्वक प्रयास हुआ है। इन्होंने अपने प्रयोजन को सिद्ध करते हुए अनेक स्थानों पर शब्दों के निर्वचनों को भी प्रस्तुत किया है। वर्तमान में विभिन्न वैदिक शाखाओं के पृथक्-पृथक् ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ब्राह्मण साहित्य में संहिताओं से सम्बन्धित ब्राह्मण-ग्रन्थों की गणना की जाती है। इस इकाई में हम **ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य का अध्ययन करेंगे।**

3.2 ब्राह्मण शब्द का अर्थ

वैदिक ग्रन्थों का वाचक 'ब्राह्मण' शब्द नपुंसकलिंग होता है — 'ब्राह्मणम्'। यह 'ब्रह्मन्' शब्द से शब्द से अण् (अ) प्रत्यय करके बना है। 'ब्रह्मन्' शब्द अनेकार्थक है जिसका प्रयोग मन्त्र (**'ब्रह्म वै मन्त्रः'** शतपथ ब्राह्मण 7.1.1.5), यज्ञ (**'ब्रह्म यज्ञः'** शतपथ ब्राह्मण 3.1.4.15) तथा रहस्य आदि अर्थों में होता है। तदनुसार-

i. **मन्त्र** — यज्ञ के विविध कर्मों को उनके विस्तार के कारण 'ब्रह्म' कहा जाता है। अतः उन कर्मों के विनियोग तथा मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत करनेवाले ग्रन्थ को 'ब्राह्मण' कहते हैं।

ii. **यज्ञ** — यज्ञों की व्याख्या तथा विवरण प्रस्तुत करनेवाले ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' कहते हैं। उपर्युक्त इन दोनों अर्थों को लक्षित करते हुए ही तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकर्ता आचार्य भट्ट भास्कर ने याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा मन्त्रों के व्याख्यान करनेवाले ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' कहा है। (**ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां व्याख्यानग्रन्थः।** भट्टभास्कर कृत तैत्तिरीय संहिता 1.5.1 पर भाष्य)

iii. **रहस्य** — वैदिक यज्ञकर्म के भौतिक स्वरूप के साथ उसके आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक रहस्यों को उद्घाटित करनेवाले ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' कहते हैं।

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि ने मन्त्र-भाग के अतिरिक्त वेद-भाग को 'ब्राह्मण'कहा है। (**'शेषे ब्राह्मणशब्दः'** मीमांसासूत्र 2.1.33) इसका आशय यह है कि संहिता भाग में पद्य, गद्य अथवा गीति के रूप में जो मन्त्र हैं, उनके अतिरिक्त जो व्याख्यापरक भाग है वह 'ब्राह्मण' कहलाता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने ब्राह्मण ग्रन्थों को वर्ण्य विषय का निर्देश करते हुए परिभाषित किया है। (**नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्। प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते।।** वाचस्पति मिश्र) जिसका आशय यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्वचन, विधि तथा मन्त्रों के विनियोगात्मक व्याख्यान आदि याज्ञिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषयों को प्रस्तुत किया गया है।

3.3 संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में अन्तर

संहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थों के स्वरूप तथा विषयवस्तु में नितान्त अन्तर है। जिनको अधोलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता है –

1. **स्वरूपगत भेद** – अधिकांश संहिता-ग्रन्थ स्वरूप की दृष्टि से छन्दोबद्ध हैं। केवल कृष्ण यजुर्वेद संहिता तथा अथर्ववेद संहिता के कुछ अंश ही गद्यात्मक हैं। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप पूर्णतया गद्यात्मक है। इनमें छन्दोबद्धता नगण्य है। इस प्रकार संहिता ग्रन्थों का स्वरूप मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों प्रकार का है।

2. **विषयगत भेद** – विषयवस्तु की दृष्टि से भी संहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्ट अन्तर है। संहिताग्रन्थ स्तुति प्रधान हैं। ऋग्वेद संहिता में देवताओं की स्तुतियों की प्रधानता है।

   यजुर्वेद संहिता में अनेक यागों का वर्णन है। अथर्ववेद संहिता में रोगनिवारण, शत्रुनाशन आदि विषयों का निरूपण है। ब्राह्मणग्रन्थ विधि-प्रधान हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय विधि है अर्थात् यज्ञ का विधान कब तथा कहाँ किया जाए? यज्ञ के अधिकारी, यज्ञ के लिए आवश्यक साधन एवं सामग्री क्या होगी? इत्यादि ब्राह्मण-ग्रन्थों के मुख्य विवेच्य विषय हैं।

3. **भाव तथा भाषागत भेद** – भाव तथा भाषा की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर है। संहिता ग्रन्थों में जहाँ देवस्तुति के भाव की प्रधानता है, तो ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के विधानों के विवेचन की। भाषा की दृष्टि से संहिता ग्रन्थों की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा सरल, सरस तथा रोचक है। इनमें वर्ण्य विषय की दुरूहता को कम करने का प्रयास किया गया है। शब्दरूपों तथा धातुरूपों की विविधता कम हो गई है। साथ ही दीर्घ समासों, क्लिष्ट पदों आदि का भी प्रयोग नगण्य है।

3.4 ब्राह्मण ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

3.4.1 ब्राह्मण ग्रन्थों का देश-काल

ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध भौगोलिक विवरण से यह सुस्पष्ट होता है कि इन ग्रन्थों का संकलन 'कुरुपाञ्चाल प्रान्त' तथा 'सरस्वती नदी के प्रदेश' में हुआ। सामवेदीय ताण्ड्य ब्राह्मण में सारस्वत प्रदेश का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। उसमें सरस्वती नदी के लुप्त हो जाने के स्थान (विनशन) तथा उसके पुनः उद्गम के स्थान (प्लक्ष प्रास्रवण) (ताण्ड्य ब्राह्मण 25.10.21); यमुना नदी के प्रवाह-क्षेत्र 'कारपचव'(ताण्ड्य ब्राह्मण 25.10.23); सरस्वती तथा दृषद्वती

नदियों के अन्तराल-प्रदेश तथा उनके संगम का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इसी ग्रन्थ में 'कुरुक्षेत्र' को यज्ञ के प्रतीक 'प्रजापति की वेदि' कहा गया है **'एतावतो वात्र प्रजापतेर्वेदिर्यावत् कुरुक्षेत्रमिति'** (ताण्ड्य ब्राह्मण 25.13.3)। जो कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संकेत है। इसी क्षेत्र को आचार्य मनु ने दृषद्वती तथा सरस्वती नदियों के मध्य में अवस्थित देवनिर्मित 'ब्रह्मावर्त' प्रदेश कहा है (मनुस्मृति 2.22)। यही स्थान यज्ञ-प्रधान वैदिक संस्कृति का केन्द्र बना। जहाँ ब्राह्मणों की यज्ञ-प्रक्रिया का पूर्ण विकास सम्पन्न हुआ। इसी क्षेत्र की भाषा तथा आचार का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण भारतवर्ष में हुआ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के संकलन-काल का अनुमान ज्योतिषीय उल्लेखों के आधार पर किया गया है। ब्राह्मण साहित्य से उपनिषदों की रचना में लगभग एक हजार वर्ष का अन्तर स्वीकार किया जाना चाहिए। स्वरों से युक्त होने के कारण 'शतपथब्राह्मण' अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। इसके द्वितीय काण्ड में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्योतिषीय घटना का उल्लेख मिलता है। जिसके अनुसार कृत्तिका का उदय बिल्कुल पूर्व दिशा में होता है तथा वहाँ से प्रच्युत नहीं होती। इस घटना की स्थिति प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् शंकरबालकृष्ण दीक्षित के गणनानुसार विक्रमपूर्व तीन हजार वर्ष में होनी चाहिए। तदनुसार शतपथ ब्राह्मण का रचनाकाल 3000 वर्ष ई. पू. है, तथा ब्राह्मण युग 3000 ई. पू. से लेकर 2000 वर्ष ई. पू. तक मानना चाहिए। प्राचीनतम होने से शतपथ ब्राह्मण इस काल के प्रारम्भ में तथा अर्वाचीन होने से गोपथ ब्राह्मण इसके अन्त में आता है।

3.4.2 ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा एवं शैली

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में ही निबद्ध हैं। इनका गद्य बड़ा ही परिमार्जित, प्रसन्न तथा उदात्त है। जिससे इनकी भाषा एवं शैली को सहज रूप से समझा जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा सरल, सरस तथा प्रसाद गुण से सम्पन्न है। इनकी भाषा तो मन्त्रों की भाषा के समान ही है, परन्तु वह प्राचीन शब्दों तथा धातुओं के साथ नवीन शब्दों तथा शब्दरूपों को भी अपने समाहित किये है। इनमें यज्ञिय, दार्शनिक एवं रहस्यात्मक प्रसंगों को भी सरल भाषा में निबद्ध किया गया है। वर्ण्य-विषय की क्लिष्टता को कम करने की दृष्टि से दीर्घ समासों, क्लिष्ट पदों तथा अस्पष्ट अर्थवाले शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। इनकी भाषा वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत को परस्पर जोड़ने का कार्य करती है। इनमें वैदिक तथा लौकिक संस्कृत की शब्दावली का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इनमें वैदिक लेट् लकार का भी बहुत ही कम प्रयोग हुआ है। साथ ही तुमर्थक प्रत्ययों के प्राचीन रूप भी कम ही प्राप्त होते हैं। इन ग्रन्थों की शैली प्रवाहपूर्ण तथा रोचक है। विविध आख्यानों के वर्णन में इनकी शैली की रोचकता सुस्पष्ट प्रतीत होती है। छन्दों के बन्धन से रहित होने से इनमें भावों को प्रकट करने का पर्याप्त अवसर है। किन्तु कहीं-कहीं गाथा छन्दों से मिलते हुए पद्य भी इनमें संकलित हैं। ऐसे पद्यों के प्रयोग मुख्य रूप से आख्यानों में ही दृष्टिगोचर होते हैं।

3.4.3 ऋषि तथा आचार्य

ऋषि तथा आचार्य में अन्तर में स्पष्ट करते हुए आश्वलायन गृह्यसूत्र (3.3) में कहा गया है कि जो मन्त्र के द्रष्टा हैं वे ऋषि हैं तथा जो ब्राह्मणग्रन्थों के द्रष्टा हैं वे आचार्य कहलाते हैं। अतएव आश्वलायन गृह्यसूत्र में ऋषि तर्पण के साथ ही आचार्य-तर्पण का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ आचार्यों के तीन गण (वर्ग) बताए गए हैं : 1. माण्डूकेय गण, 2. शांखायन गण तथा 3. आश्वलायन गण। इसी प्रसंग में आचार्यों के नामों का भी उल्लेख किया गया है। जिनमें

कौषीतक, भरद्वाज, शांखायन, ऐतरेय, बाष्कल, शाकल, गार्ग्य, शौनक तथा आश्वलायन आदि प्रमुख हैं। इसके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि इनमें से कुछ ऋषि श्रेणी के हैं तथा अन्य आचार्य-परम्परा के। शतपथ के प्रवचनकर्ता याज्ञवल्क्य ऋषि हैं तो ऐतरेय ब्राह्मण के प्रवक्ता महिदास आचार्य माने जाते हैं।

3.5 ब्राह्मण-ग्रन्थों का वर्गीकरण

प्राचीन काल में प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखाओं के संहिता ग्रन्थों के समान ब्राह्मण ग्रन्थों का भी स्वतन्त्र रूप से संकलन हुआ था। जिससे वैदिक साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थों की विशाल परम्परा विकसित हुई। किन्तु जिस प्रकार कालक्रम से अनेक संहिता-ग्रन्थ नष्ट हुए वैसे ही वर्तमान में अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थ भी अप्राप्त हैं। फिर भी कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थ वर्तमान में प्राप्त होते हैं। जिनसे ब्राह्मण साहित्य को आसानी से समझा जा सकता है।

वर्तमान में उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों का वेदानुसार वर्गीकरण इस प्रकार है –

i. **ऋग्वेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थ** : 1. ऐतरेय ब्राह्मण, 2. शाङ्खायन (कौषीतकि) ब्राह्मण।

ii. **शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थ** : शतपथ ब्राह्मण।

iii. **कृष्ण यजुर्वेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थ** : 1. तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा 2. मैत्रायणी ब्राह्मण।

iv. **सामवेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थ** : 1. पञ्चविंश (ताण्ड्य अथवा प्रौढ) ब्राह्मण, 2. षड्विंश ब्राह्मण (अन्तिम प्रपाठक में अद्भुत ब्राह्मण), 3. सामविधान ब्राह्मण, 4. आर्षेय ब्राह्मण, 5. देवताध्याय ब्राह्मण, 6. मन्त्र (उपनिषद्) ब्राह्मण, 7. संहितोपनिषद् ब्राह्मण, 8. वंश ब्राह्मण, 9. जैमिनीय (तलवकार) ब्राह्मण, 10. जैमिनीय (आर्षेय) ब्राह्मण, 11. जैमिनीय उपनिषद् (छान्दोग्य) ब्राह्मण।

v. **अथर्ववेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थ** : गोपथ ब्राह्मण।

3.5.1 अप्राप्त ब्राह्मण-ग्रन्थ

वैदिक साहित्य समालोचकों ने अत्यन्त परिश्रम से अप्राप्त ब्राह्मण-ग्रन्थों के नाम तथा सन्दर्भों को एकत्रित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अनुपलब्ध ब्राह्मणों के नाम इस प्रकार हैं : 1. शाट्यायन 2. भाल्लवि 3. जैमिनीय (तवलकार), 4. आहरक 5. कङ्कति 6. कालबवि 7. चरक 8. छागलेय 9. जाबालि 10. पैङ्गायनि 11. माषशरावि 12. मैत्रायणीय 13. रौरुकि 14. शैलालि 15. श्वेताश्वतर 16. हारिद्रविक 17. काठक 18. खाण्डिकेय 19. औखेय 20. गालव 21. तुम्बरु 22. आरुणेय 23. सौलभ तथा 24. पराशर ब्राह्मण।

3.5.2 ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

1. **ऐतरेय ब्राह्मण** – यह ऋग्वेद की शाकल शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रन्थ है। इसके संकलनकर्ता आचार्य महीदास ऐतरेय हैं। इसमें 40 अध्याय, 8 पञ्चिकाएँ तथा 285 कण्डिकाएँ हैं। इसमें 'होता' नामक ऋत्विज् के कार्यों का विशेष वर्णन प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से 'अग्निष्टोम' नामक सोमयाग का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें अग्निहोत्र तथा राजसूय यज्ञ का भी विवेचन है। यह सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें तात्कालिक सांस्कृतिक विषयों के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य में अत्यन्त लोकप्रिय 'शुनःशेपोपाख्यान'

(हरिश्चन्द्रोपाख्यान) भी इसमें वर्णित है। इस पर आचार्य सायण का भाष्य उपलब्ध है।

2. **शांखायन ब्राह्मण** – यह ऋग्वेद का द्वितीय उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ है। इसे **'कौषीतकि ब्राह्मण'** भी कहते हैं। यह ऋग्वेद की बाष्कल शाखा से सम्बद्ध है। इसके रचयिता शांखायन ऋषि माने जाते हैं। इसमें 30 अध्याय तथा 226 खण्ड हैं। इसकी विषयवस्तु प्रायः ऐतरेय ब्राह्मण के सामान ही है, किन्तु इसका क्षेत्र उससे व्यापक है। प्रारम्भिक 6 अध्यायों में पाकयज्ञों (अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास तथा ऋतुयज्ञ) का वर्णन है। शेष अध्यायों में सोमयागों के विभिन्न प्रकारों तथा सोमयाग के अतिरिक्त सभी प्रमुख श्रौत यागों (राजसूय तथा अश्वमेध को छोड़कर) का वर्णन है। यह ऐतरेय ब्राह्मण से परवर्ती है। इसमें रुद्र को देवों में श्रेष्ठ बताते हुए शिवोपासना का संकेत प्राप्त होता है, जो देवशास्त्र के क्षेत्र में परवर्ती विकास को दर्शाता है।

3.5.3 यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

3.5.3.1 शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

शतपथ ब्राह्मण – यह शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध उपलब्ध एकमात्र ब्राह्मण ग्रन्थ है। इसके रचयिता वाजसनि के पुत्र महर्षि याज्ञवल्क्य (वाजसनेय) हैं। ब्राह्मण साहित्य में आकार की दृष्टि से यह सबसे बड़ा ग्रन्थ है। इसमें 100 अध्याय हैं। अत: इसे 'शतपथ' कहते हैं। इसके शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन तथा काण्व दोनों शाखाओं के 'शतपथ' नाम से अलग अलग संस्करण प्राप्त होते हैं। दोनों शाखाओं के शतपथ ब्राह्मण का विभाजन क्रम भिन्न है। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में 14 काण्ड, 100 अध्याय तथा 7624 कण्डिकाएँ हैं तथा काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण में 17 काण्ड, 104 अध्याय 6806 कण्डिकाएँ हैं। काण्वशाखा में 104 अध्याय हैं, फिर भी शत-संख्या के महत्त्व के कारण उसे **'शतपथ'** ही कहा जाता है। दोनों ब्राह्मणों में विषयवस्तु प्राय: वही है, किन्तु विषय प्रतिपादन के क्रम में अन्तर है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से माध्यन्दिन शतपथ अधिक व्यवस्थित है।

शतपथ ब्राह्मण में दर्शपूर्णमास, पितृपिण्ड, आग्रायण, चातुर्मास्य, सोमयाग, राजसूय, अग्निचयन,सौत्रामणि, अश्वमेध आदि यज्ञों का विस्तार से वर्णन है। इसके चौदहवें काण्ड के अन्तिम छः अध्याय ज्ञान-काण्ड से सम्बद्ध हैं जिन्हें **'बृहदारण्यकोपनिषद्'** कहते हैं। इस ग्रन्थ का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि वैदिक संहिताओं के समान स्वरचिह्नों से युक्त है। यह ब्राह्मण वैदिक संस्कृति के विविध पक्षों का वर्णन करने के कारण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें ऐसे अनेक आख्यान प्राप्त होते हैं जो संस्कृत साहित्य के काव्य, नाटक, चम्पू आदि अनेक विधाओं के मूलस्रोत हैं। जैसे – पुरूरवा उर्वशी का प्रेमाख्यान, राम-कथा, कद्रू-सुपर्णा की कथा, अश्विनीकुमारों की कथा, जलप्रलय की कथा, वाङ्मनः संवाद आदि। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य की विविध धाराओं के विकास में शतपथ ब्राह्मण का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

3.5.3.2 कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

1. **तैत्तिरीय ब्राह्मण** – यह कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का ब्राह्मण है। वर्तमान में यह कृष्णयजुर्वेद का एकमात्र स्वतन्त्र तथा सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ है। इसमें 'काठक ब्राह्मण' के भी कुछ अंश सम्मिलित हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के रचयिता तैत्तिरीय

ब्राह्मण के रचयिता वैशम्पायन के शिष्य आचार्य तित्तिरि हैं। इसमें सम्मिलित काठक-ब्राह्मण भाग के प्रवक्ता आचार्य काठक हैं। यह ब्राह्मण तीन काण्डों में विभक्त है। प्रथम तथा द्वितीय काण्ड 8-8 अध्यायों (प्रपाठकों) में विभक्त होने से 'अष्टक' भी कहलाते हैं। तृतीय काण्ड में 12 अध्याय (प्रपाठक) हैं जिनके अवान्तर विभाग 'अनुवाक' कहलाते हैं। इनकी संख्या 353 है। यह शतपथ ब्राह्मण के समान विशालकाय तथा स्वरचिह्नों से युक्त है। जो इसकी प्राचीनता को दर्शाता है। इसमें अग्न्याधान, अग्निहोत्र, गवामयन, वाजपेय, सोमयाग, नक्षत्रेष्टि,राजसूय, सौत्रामणी, वैश्वसव आदि यज्ञों का विस्तार से वर्णन है तथा इन यज्ञों के लिए उपयोगी ऋग्वेद के मन्त्रों का भी उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है। इसमें कठोपनिषद् में उल्लिखित मोक्ष प्रदान करनेवाली अग्निविद्या से सम्बद्ध नचिकेत अग्नि की वेदि तथा उपासना का विशेषरूप से वर्णन भी प्राप्त होता है। सायणाचार्य तैत्तिरीय शाखा के अध्येता थे, अतः उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वप्रथम तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही भाष्य किया।

2. **मैत्रायणी ब्राह्मण** – यह कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा का ब्राह्मण है। यह मैत्रायणी की संहिता का ही चतुर्थ अध्याय है। जो स्वयं 3 अध्यायों में विभक्त है। इसमें अनेक प्राचीन आख्यानों का समावेश किया गया है। जैसे - पंखों से युक्त पर्वत का आख्यान, रात्रि की उत्पत्ति का आख्यान आदि हैं।

3.5.4 सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

ब्राह्मण साहित्य में अन्य वेदों के ब्राह्मणों ग्रन्थों की अपेक्षा सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थ अधिक संख्या में उपलब्ध हैं। सामवेद के उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या 11 है। जिनमें कौथुम शाखा से 8 सम्बद्ध हैं : 1. ताण्ड्य ब्राह्मण (प्रौढ़, पञ्चविंश) 2. षड्विंश 3. सामविधान (सामविधि) 4. आर्षेय 5. देवताध्याय 6. उपनिषद् (मन्त्रब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद्) 7 संहितोपनिषद् 8. वंशबाह्मण। इनका उल्लेख आचार्य सायण ने किया है। सामवेद की जैमिनीय शाखा के तीन ब्राह्मण प्राप्त होते हैं। ये हैं : 1. जैमिनीय ब्राह्मण 2. जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण 3. जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण। वर्तमान में राणायनीय शाखा से सम्बद्ध कोई ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

1. **ताण्ड्य ब्राह्मण** – यह सामवेद की कौथुम शाखा का ब्राह्मण है। इसके रचयिता सामवेदीय आचार्य 'ताण्डि' माने जाते हैं। उनके नाम पर ही इसे ताण्ड्य ब्राह्मण कहा जाता है। इसमें 25 अध्याय हैं, अतः इसे 'पञ्चविंश ब्राह्मण' कहते हैं। अध्यायों का विभाजन पञ्चिकाओं में हुआ है। पञ्चिकाओं की संख्या 5 है। इसकी विशालता तथा विषय विवेचन की प्रौढ़ता के कारण इसे 'प्रौढब्राह्मण' या 'महाब्राह्मण' भी कहते हैं। इसमें सोमयागों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनमें उद्गाता के कार्यों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। व्रात्ययज्ञों का वर्णन इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। अनेक प्राचीनतम आख्यान इसमें संकलित हैं। अतः इसे सामवेद का प्रधान ब्राह्मण माना जाता है। इस पर सायणाचार्य का भाष्य प्राप्त होता है।

2. **षड्विंश ब्राह्मण** – यह कौथुम शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रन्थ है। यह पञ्चविंश (ताण्ड्य) ब्राह्मण का ही परिशिष्ट है। ताण्ड्य के पच्चीसवें अध्याय के बाद छब्बीसवाँ अध्याय जोड़ कर फिर इसमें नये अध्याय जोड़े गये हैं। इसलिए इसे 'षड्विंश ब्राह्मण' कहा जाता है। इसमें 6 अध्याय हैं। जिनका विभाजन खण्डों में हुआ है। इसके प्रथम 5

अध्यायों में ताण्ड्य ब्राह्मण में अवर्णित सोमयाग के विभिन्न विषयों का विवेचन है। अध्याय 6 (अन्तिम अध्याय) में भूकम्प आदि दैवी उत्पातों की शान्ति के उपाय, अनेक तात्कालिक लोकविश्वासों तथा अभिचारों का वर्णन होने के कारण इसे 'अद्भुत-ब्राह्मण' कहा जाता है।

3. **सामविधान ब्राह्मण** – इसे 'सामविधि ब्राह्मण' भी कहते हैं। यह भी कौथुम सम्बद्ध है। इसमें 3 प्रपाठक तथा 25 अनुवाक हैं। इस ब्राह्मण में तात्कालिक समाज को समझने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। इसकी विषय-वस्तु अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों से भिन्न है। इसमें अधिकांशतः व्रत, प्रायश्चित्त तथा काम्य-कर्म आदि धर्मशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें विभिन्न उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगान के साथ ही अनेक अनुष्ठानों के विधान भी वर्णित हैं। अनेक ऐन्द्रजालिक तथा आभिचारिक प्रयगों का वर्णन भी इसमें विशेष रूप से प्राप्त होता है। आचार्य सायण ने इस पर भी भाष्य का लेखन किया था।

4. **आर्षेय ब्राह्मण** – इस ब्राह्मण में 3 प्रपाठक हैं, जो 82 खण्डों में विभक्त है। सामगान के क्रमबद्ध अध्ययन के लिए यह ब्राह्मण विशेष उपयोगी है। इसमें सामगान के प्रवर्तक ऋषियों का महत्त्वपूर्ण विवरण प्राप्त होता है। इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ऋषियों की सूची प्राप्त होने के कारण ही इसे 'आर्षेय' कहते हैं।

5. **देवताध्याय ब्राह्मण** – इसे 'दैवत ब्राह्मण' भी कहते हैं यह सामवेद के ब्राह्मणों में आकार की दृष्टि से यह सबसे छोटा ब्राह्मण है। यह 3 खण्डों में विभक्त है। इसमें सामगानों के देवताओं का विशेषरूप से वर्णन होने के कारण इसे 'देवताध्याय ब्राह्मण' कहते हैं। इस पर भी आचार्य सायण का भाष्य प्राप्त होता है।

6. **उपनिषद् ब्राह्मण** – यह कौथुम शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण है ; जो 'छान्दोग्य ब्राह्मण' तथा 'छान्दोग्योपनिषद्' – इन दो ग्रन्थों का सम्मिलित रूप है। इसमें 1 प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक 8–8 खण्डों में विभक्त है। इसके प्रथम दो प्रपाठकों को 'छान्दोग्य ब्राह्मण' अथवा 'मन्त्र ब्राह्मण' कहते हैं। इसमें गर्भाधान, उपनयन, विवाह आदि गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्रों का संकलन है। आचार्य सायण ने इस पर भी भाष्य लिखा था। इसी ग्रन्थ के शेष 8 प्रपाठकों 'छान्दोग्य उपनिषद्' कहते हैं।

7. **संहितोपनिषद् ब्राह्मण** – यह भी कौथुम शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण है। इसमें 5 खण्ड हैं, जो सूत्रों में विभक्त हैं। इसके प्रथम खण्ड पर आचार्य सायण का भाष्य उपलब्ध होता है। इसमें सामगान के विविध प्रकार तथा विधियों का निरूपण होने के कारण यह शास्त्रीय गायन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

8. **वंश ब्राह्मण** – यह तीन खण्डों में विभक्त है। यह ब्राह्मण बहुत छोटा है। इसमें भी आर्षेय ब्राह्मण के समान सामगान के प्रवर्तक ऋषियों की सूची तथा उनकी वंशावली का वर्णन है।

9. **जैमिनीय ब्राह्मण** – यह सामवेद की जैमिनीय शाखा का ब्राह्मण ग्रन्थ है। यह शतपथ ब्राह्मण के समान आकार में विशाल तथा यज्ञानुष्ठान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें कुल पाँच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्यायों यज्ञ की विधियों का वर्णन किया गया है। इसके चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों को ही क्रमशः **10. 'उपनिषद् ब्राह्मण'** तथा **11. 'आर्षेय**

ब्राह्मण' कहा जाता है। जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण-ग्रन्थ अपनी प्राचीन वर्णनशैली तथा पुरातन आख्यानों के उल्लेख के कारण अन्य सामवेदीय ब्राह्मणों से प्राचीन माने जाते हैं।

3.5.4 अथर्ववेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

गोपथ ब्राह्मण – वर्तमान में अथर्ववेद से सम्बन्धित एकमात्र 'गोपथ ब्राह्मण' प्राप्त होता है। सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण इसकी गणना एतरेय तथा शतपथ के साथ की जाती है। यह अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का ब्राह्मण है क्योंकि पैप्पलाद शाखा की संहिता के प्रथम मन्त्र (शन्नो देवीरभिष्टये०) को यहाँ अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र कहा गया है। पहले इसे शौनकीय शाखा से सम्बद्ध समझा जाता था, क्योंकि इसमें उस शाखा के कुछ मन्त्रों के प्रतीक सङ्कलित हैं। अब यह सुनिश्चित हो गया है कि यह पैप्पलाद शाखा से सम्बद्ध है। इसके रचयिता गोपथ ऋषि हैं। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है – 1. पूर्व गोपथ तथा 2. उत्तर गोपथ। पूर्व गोपथ में 5 अध्याय तथा उत्तर गोपथ में 6 अध्याय हैं। इन अध्यायों को प्रपाठक भी कहा गया है। इस प्रकार कुल 11 प्रपाठक हैं। इनका विभाजन कण्डिकाओं में हुआ है। पूर्वभाग में 135 कण्डिकाएँ हैं तथा उत्तरभाग में 123। इस प्रकार कुल 258 कण्डिकाएँ हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इस पर 'ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों' तथा 'शतपथब्राह्मण' का पर्याप्त प्रभाव दिखलायी देता है। इस ब्राह्मण में आद्योपान्त अथर्ववेद की महिमा का वर्णन किया है। पूर्व गोपथ में क्रमश: ओम् तथा गायत्री की महिमा, ब्रह्मचारी के नियम, ऋत्विजों के क्रिया-कलाप, उनकी दीक्षा एवं प्रमुख अश्वमेध, पुरुषमेध, अग्निष्टोम आदि वैदिक यज्ञों का व्यवस्थित तथा विस्तृत रूप से वर्णन है। उत्तर गोपथ में पूर्व गोपथ में वर्णित विषयों से सम्बद्ध अनेक आख्यायिकाओं का उल्लेख है। इस ग्रन्थ को इसकी रचना शैली की नवीनता तथा इसके कुछ अंशों को यास्क द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण अर्वाचीन माना जाता है। इस दृष्टि से गोपथ ब्राह्मण का रचना-काल निश्चित ही 700 ई० पूर्व से भी पूर्व का माना जाता है।

3.6 ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय

ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप पूर्णतया गद्यात्मक है। इनमें छन्दोबद्धता नगण्य है। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विषय है विधि का विवेचन है। विधि से आशय यज्ञ से सम्बन्धित समस्त आवश्यक विधान का निर्देश करने से है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के विधि-विधानों की व्याख्या को प्रस्तुत किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से ब्राह्मणगत विषयवस्तु के निरूपण का प्रारम्भ कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय आदि संहिताओं से ही माना जाता है क्योंकि वहाँ मन्त्र के साथ विनियोग का निरूपण किया गया है। मीमांसादर्शन के भाष्यकार आचार्य शबरस्वामी ने ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों का विस्तार से निरूपण किया है –

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य वै।। (मीमांसासूत्र शाबरभाष्य 2.18)

तदनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों में दस प्रकार के विषयों की चर्चा प्राप्त होती है –

I. **हेतु** – हेतु से आशय उन कारणों के निर्देश करने से है जिनके द्वारा यज्ञ में सम्पादित किये जानेवाले कार्यों की प्रयोजनीयता अथवा उपयुक्तता कही जाती है। अर्थात् अनुष्ठान की किसी विधि के लिए कारण बतलाना ही हेतु कहलाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न यज्ञ

की विधियों के निमित्त उपयुक्त तथा योग्य हेतुओं का भी विचार विस्तार के साथ किया गया है। हेतुओं के प्रसङ्ग में यत्र-तत्र आख्यान भी प्राप्त होते हैं। अग्निष्टोमयाग का एक विधान है कि द्रोण-कलश में सोमरस चुलाकर उसे रथ के नीचे रख दें। इस विधान का कारण (ताण्ड्य ब्राह्मण 6 .5. 9) में दिया गया है कि प्रजापति ने प्रजा सृष्टि की इच्छा की तो उनके सिर से आदित्य को उत्पत्ति हुई। आदित्य ने प्रजापति का सिर काट दिया जिससे द्रोणकलश का निर्माण हुआ। उसी द्रोण-कलश में चमकीले सोमरस का ग्रहण करके देवताओं ने दीर्घायु को प्राप्त किया। हेतु का निर्देश तर्क करने वाले याजकों को सन्तोष देता है।

II. **निर्वचन** – निर्वचन से आशय किसी शब्द के अर्थ को बतलाने से है। इसे निरुक्ति भी कहा जाता है। इन प्रक्रिया में किसी शब्द का विश्लेषण करके उसे सम्बद्ध क्रिया-पद से जोडा जाता है। यथा - 'नद्' शब्द करना अर्थ की धातु से नदी शब्द बना है। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर शब्दों के निर्वचन प्राप्त होते हैं। इनमें दिये गये निर्वचन अत्यन्त मार्मिक तथा वैज्ञानिक हैं। अतः इन निर्वचनों का भाषाशास्त्र की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। यद्यपि निर्वचन प्रक्रिया का प्रारम्भ वैदिक संहिताओं (तैत्तिरीय संहिता 2.5.3.3; अथर्व संहिता 3.13.1) में ही हो गया था तथापि ब्राह्मणग्रन्थों में इसका विस्तार हमें सर्वत्र दिखाई देता है। यास्ककृत निरुक्त में भी जो निरुक्तियाँ दी गई हैं उन्हें भी मुख्यतया ब्राह्मण-ग्रन्थों से ही संकलित किया गया है। निर्वचनों के संकलन की दृष्टि से ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण तथा ताण्ड्य महाब्राह्मण ग्रन्थों का ब्राह्मण साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। (ऐतरेय ब्राह्मण 5.7, 33.1; ताण्ड्य ब्राह्मण 7.2.1, 7.6.4, 7.6.5)

III. **निन्दा** – निन्दा से आशय यज्ञ में निषिद्ध किसी वस्तु अथवा कर्म की निन्दा कर उसकी अनुपादेयता का निरूपण करने से है। (ऐतरेय ब्राह्मण 5.7, 33.1; ताण्ड्य ब्राह्मण 7.2.1, 7.6.4, 7.6.5)

IV. **प्रशंसा** – प्रशंसा का अर्थ है - यज्ञ में किये जानेवाले विधानों की प्रशंसा करना। यथा - **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** (शतपथ ब्राह्मण 1.7.1.5) अर्थात् यज्ञ सर्वश्रेष्ठ कर्म है, अत: इसे अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार यज्ञ की प्रशंसा करना। इसी प्रकार वायु शीघ्रगामी देवता है अतः उसके लिये यज्ञ का अनुष्ठान किया जाना चाहिये। इस प्रकार वायु की प्रशंसा की गई है। (तैत्तिरीय संहिता 2.1.1.1)

V. **संशय** – संशय से तात्पर्य सन्देह से है। अर्थात् किसी यज्ञ सम्बन्धित कर्म के विषय में कोई सन्देह उपस्थित हो तो उसका निवारण करना। (**'तदव्यचिकित्सज्जुहुवानी इमा हौषादूम्'** तैत्तिरीय संहिता 2.1.1.1 – यजमान के मन में ही यह संशय उत्पन्न हो जाय कि मैं होम करूँ कि नहीं?)

VI. **विधि** – विधि का अर्थ है कर्म के विधान को निरूपित करना। अर्थात् यज्ञों के अङ्गों तथा उपाङ्गों के अनुष्ठान की प्रेरणा देना ही विधि का कार्य है। अर्थात् विधि यज्ञ तथा उससे सम्बद्ध कार्यकलापों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। यज्ञ कब, कहाँ, कैसे किया जाएगा, किस यज्ञ के लिए क्या सामग्री अपेक्षित है आदि का विशद वर्णन विधि के द्वारा ही होता है। मीमांसकों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों की समस्त विषय वस्तु का विवेचन मुख्यतया विधि और अर्थवाद इन दो ही विषयों के अन्तर्गत किया है। विधि से आशय कर्म की प्रेरणा देनेवाले वाक्यों से है तथा विधि के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह अर्थवाद

है। (**'विधिशेषोऽर्थवादः'**) वस्तुतः विधि ही ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विषय है। मीमांसक विधिवाक्यों को 'शास्त्र 'के रूप में समझाते हैं, विधियों की व्याख्या ही मीमांसादर्शन का मुख्य विवेचनीय विषय है। क्योंकि वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान विधियों पर ही आधारित है। अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, राजसूय आदि सभी यागों के सम्पादन में विधि-वाक्यों की आवश्यकता है। इस प्रकार किसी भी यज्ञ के सम्पूर्ण क्रियाकलापों का विशद निरूपण विधि के द्वारा ही होता है। सभी ब्राह्मणों में विधि-वाक्यों का उल्लेख विधिलिङ् अथवा लट् लकार की क्रिया के द्वारा हुआ है जैसे – यजेत, कुर्यात्, जुहोति इत्यादि। ताण्ड्य ब्राह्मण (6.7) में अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता एवं ब्रह्मा इन पाँच ऋत्विजों के प्रसर्पण की विधि है कि ये एक-दूसरे के पीछे एक पंक्ति में मौन रहकर चलें। इसका अतिक्रमण (नियम-भङ्ग) होने पर अनर्थ होता है। विभिन्न ब्राह्मणों के विधि-वाक्यों में कभी-कभी एक ही विषय पर परस्पर विरोध भी मिलता है जो शाखा-भेद, देश-भेद या काल भेद के कारण सम्भव है। विधि मुख्यतया तीन प्रकार का है – 1. प्रधान विधि 2. गुण विधि तथा 3. विशिष्ट विधि। प्रकारान्तर से विधि के चार भेद किये गये हैं – 1. उत्पत्ति विधि 2. विनियोग विधि 3. प्रयोग विधि तथा 4. अधिकार विधि। इसी प्रकार विधि को अपूर्व विधि, नियम विधि तथा परिसंख्या विधि में भी वर्गीकृत किया गया है।

अर्थवाद भी ब्राह्मण ग्रन्थों का विशेष विषय है। स्तुति और निन्दा के वचन 'अर्थवाद' कहलाते हैं। इनका मुख्य प्रयोजन विहित कर्मों में पुरुष को प्रवृत्त करना तथा निन्दित कर्मों से निवृत्त करना है। इसके भी तीन प्रकार हैं – 1. गुणवाद, 2. अनुवाद तथा 3. भूतार्थवाद। इनके लक्षण इस प्रकार हैं –

> **विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।**
> **भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥** (अर्थसङ्ग्रह)

कर्मविधान के प्रकरणों में उनके अनुष्ठान तथा ज्ञान की प्रचुर प्रशंसा की गयी है। जैसे – अग्निष्टोम, पशुबन्धयाग इत्यादि। कहीं-कहीं कहा गया है **'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद'** (ताण्ड्य ब्राह्मण 20.16.6)। अग्निष्टोम याग की प्रशंसा में कहा गया है कि इससे सभी इच्छाएँ पूर्ण होती है। इससे विधान के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वायु की प्रशंसा में कहा गया कि 'वायु अत्यन्त तीव्रगामी देवता है' (**वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता**)। अन्य स्थलों पर निषिद्ध पदार्थों और कर्मों की निन्दा भी है। जैसे – प्रातः काल सूर्योदय के बाद हवन करना ऐसा ही है जैसा घर से चले गये अतिथि के लिए भोजन की व्यवस्था करना (तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.1.2.12)।

VII. **परक्रिया** – परक्रिया को परकृति भी कहा जाता है। इसके अर्थ के विषय में मतान्तर प्राप्त होते हैं। परक्रिया का एक अर्थ 'परार्थक-क्रिया' है। जिसमें परहित के निमित्त किये जानेवाले इष्टापूर्त कर्मों का समावेश है। 'इष्ट' का अभिप्राय है विविध याग आदि अनुष्ठानों से है। 'पूर्त' से आशय धर्मार्थ-कार्यों के सम्पादन से है ; जैसे कूप, तडाग, उपवन आदि का निर्माण करवाना। परक्रिया का अन्य अर्थ होता है दूसरे का कार्य है। (**'माषानेव मह्यं पचति'** तैत्तिरीय संहिता 6.2.10.3 – वह मेरे लिये उडद ही पकाता है ; **'पुरुषो ह नारायणोऽकामयत'** शतपथ ब्राह्मण 13.5.4.2)

VIII. **पुराकल्प** – पुराकल्प से आशय यज्ञ की विविध विधियों के समर्थन में किसी प्राचीन आख्यान अथवा ऐतिहासिक कथानक को वर्णित करने से है। इनके प्रथम वाक्यों में प्राय: कहा जाता है – **'इति ह आख्यायते'**। इनमें देवताओं के द्वारा किये गये प्राचीन यज्ञों का वर्णन की प्रधानता है। इनमें अनेक छोटे बड़े आख्यान प्राप्त होते हैं। जैसे – ऐतरेय ब्राह्मण में निबद्ध 'हरिश्चन्द्रोपाख्यान', 'देवासुर-संग्राम की कथा'; शतपथ ब्राह्मण में वर्णित 'पुरूरवोपाख्यान', 'जलप्रलय का आख्यान', 'अग्निमन्थन में अश्व को आगे रखने का इतिहास'; ताण्ड्य ब्राह्मण में वर्णित 'वाक् का देवताओं को छोड़कर क्रमश: जल एवं वनस्पति में प्रवेश करने का आख्यान' तथा 'वर्णोत्पत्ति का आख्यान' इत्यादि।

IX. **व्यवधारणकल्पना** – अनुष्ठान में परिस्थिति के अनुरूप कार्य सम्पादन की व्यवस्था करना। जैसे – यज्ञ में संख्या आदि का निर्देश करते हुए उनके अनुसार पात्र आदि विशेष व्यवस्थाओं निर्धारण करना।

X. **उपमान** – वर्ण्य-विषय की पुष्टि हेतु समान उदाहरण (उपमा) अथवा दृष्टान्त प्रस्तुत करना। जैसे- ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित 'हरिश्चन्द्रोपाख्यान' में 'चरैवेति' इस कथन को पुष्ट करने हेतु सूर्य के निरन्तर चलायमान होने से उसके तेजसम्पन्न होने के उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। (**'सूर्यस्य पश्य श्रमाणं यो न तन्द्रयते चरन् चरैवैति०'** ऐतरेय ब्राह्मण)

उपर्युक्त दस प्रकार की पद्धतियों तथा विधि और अर्थवाद के द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक संहिताओं की आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करते हैं।

3.7 ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्व

वैदिक साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थों का अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक संस्कृति के विश्वकोश हैं। इनमें ज्ञान-विज्ञान, कला, साहित्य, दर्शन आदि अनेक विषयों का विवरण प्राप्त होता है। ये भारतीय परवर्ती चिन्तन परम्परा के आधार ग्रन्थ माने जाते हैं। जिन्होंने विभिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक, साहित्यिक तथा वैज्ञानिक विषयों के विकास हेतु सुदृढ़ पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

ब्राह्मण ग्रन्थों के महत्त्व निम्नलिखित दृष्टियों से समझा जा सकता है –

I. **यज्ञ संस्था का वैज्ञानिक विवेचन** – ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक यज्ञों के क्रियाकलापों का सांगोपांग विवेचन प्राप्त होता है। वे यज्ञ को एक वैज्ञानिक संस्था के रूप में प्रस्तुत करते हैं। सूक्ष्मता प्रत्येक विधि का सूक्ष्मता से पालन तथा उसमें अन्तर्निहित गूढार्थ का भी वे निरूपण करते हैं। इन यज्ञों को सूत्ररूप में यद्यपि परवर्ती कल्पसूत्र ग्रन्थों में समझाया गया किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थ ही सबके मूल आधार हैं।

II. **व्याकरण तथा निर्वचन शास्त्र के आधार** – ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही व्याकरण शास्त्र तथा निर्वचन शास्त्र के मौलिक विचार प्राप्त होते हैं। इन्हीं ग्रन्थों से व्याकरण शास्त्र के काल, वचन आदि तत्त्वों की विवेचना का विधिवत् प्रारम्भ हुआ। (तैत्तिरीयब्राह्मण 6.4.7.3) निरुक्तशास्त्र के मूल के रूप में अनेक शब्दों के निर्वचन इनमें प्राप्त होते हैं। जिनके आधार पर ही निरुक्त शास्त्र का वर्तमान स्वरूप विकसित हुआ।

III. **आख्यानों का स्रोत** – वैदिक संहिताओं में आख्यानों का जो विच्छिन्न रूप मिलता है ब्राह्मण-ग्रन्थों ने उन्हें सुव्यवस्थित करके परवर्ती पौराणिक साहित्य के लिए स्रोत-ग्रन्थ का निर्माण किया है। इनके आधार पर **परकालीन** साहित्य में अनेक कथानक प्रस्तुत किए गए हैं। जैसे - ऋग्वेद से पुरूरवा तथा उर्वशी के आख्यान लेकर शतपथ ब्राह्मण (11.5.1) में इसे रोचक बनाया गया है। कालान्तर में महाकवि कालिदास ने इसी के आधार पर 'विक्रमोर्वशीय' की रचना की।

IV. **वैदिक भाषा के अध्ययन में सहायक** – वैदिक भाषा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि संहिता ग्रन्थों से लेकर उपनिषदों पर्यन्त वह निरन्तर विकसित होती हुई दिखाई देती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का भाषागत स्वरूप वैदिक भाषा के अध्ययन में नितान्त सहायक सिद्ध होता है। वैदिक भाषा के विकास का एक स्पष्ट सोपान इनमें दिखाई देता है। सभी ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्य में निबद्ध हैं तथा गद्य भाषा के नैसर्गिक रूप का प्रतीक है। सर्वत्र वाक्यों में शब्दों का क्रम-विन्यास अत्यन्त सरल, स्पष्ट, तथा प्रसादगुण से युक्त है, कहीं भी दीर्घ-समासों का प्रयोग नहीं हुआ है। इनके भाषाविषयक अध्ययन से तत्कालीन समाज में प्रचलित भाषा के स्वरूप तथा प्रयोग का सहज ही ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक भाषा के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है।

V. **मानविकी विषयों के अध्ययन में उपयोगी** – ब्राह्मण-ग्रन्थों में इतिहास , भूगोल , राजनीतिशास्त्र , समाजशास्त्र , अर्थशास्त्र आदि मानविकी विषयों के अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक ऐतिहासिक तथ्य वर्णित हैं। उनमें अनेक तत्कालीन राजाओं के वर्णन प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थ अपने युग के इतिहास का स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं। इनमें वर्णित सरस्वती नदी आदि के भौगोलिक तथ्य एवं कुरु-पाञ्चाल आदि देशों के नामों का उल्लेख भूगोलशास्त्र को विशिष्ट देन है। इनमें वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था आदि का विवरण समाजशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साथ ही इनमें वर्णित सभा, समिति आदि राज्य शासन की विविध प्रणालियों का उल्लेख राजनीतिशास्त्र के लिए अनुपम देन है। इनमें निबद्ध कृषि, विनिमय , व्यापार तथा वाणिज्य आदि से सम्बद्ध वर्णन अर्थशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में धर्म, नैतिकता एवं संस्कृति आदि विषयों की अनेक स्थलों पर चर्चा प्राप्त होती है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के सभी आयामों को समझने में भी ये ग्रन्थ अतीव उपयोगी सिद्ध होते हैं।

VI. **मीमांसाशास्त्र का आधार** – ब्राह्मण-ग्रन्थ कर्मकाण्ड के आदिम प्रचारक हैं। कर्मकाण्ड का सर्वप्रथम सांगोपांग विवेचन इनमें ही प्राप्त होता है। वैदिक कर्मकाण्ड का दार्शनिक विवेचन मीमांसाशास्त्र के द्वारा किया जाता है। इस मीमांसा दर्शन के आधार ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थ ही है। ब्राह्मणों में प्रतिपादित विधि तथा उनसे लक्षित होने वाले धर्म की विवेचना ही मीमांसादर्शन का प्रधान विषय है। साथ ही कल्पसूत्रों में के वर्णित यज्ञ विधान ,धर्म संस्कार आदि के विषयों भी आधार ब्राह्मण-ग्रन्थ ही हैं।

VII. **वैज्ञानिक विषयों की आधारशिला** – ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित वैज्ञानिक सन्दर्भ परवर्ती वैज्ञानिक विकास की आधारशिला है। जैसे - शतपथ ब्राह्मण आदि में वर्णित वेदि-निर्माण की विधियाँ परवर्ती शुल्बसाहित्य, रेखागणित एवं ज्यामितिशास्त्र के मूल हैं।

VIII. **संगीतशास्त्र के अध्ययन में सहायक** – ब्राह्मण ग्रन्थ संगीत-शास्त्र के अध्ययन में अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं। सामवेदीय ब्राह्मणों में विशेष रूप से संगीतशास्त्रीय अध्ययन की सामग्री उपलब्ध होती है।

IX. **मनोविज्ञान के अध्ययन में उपयोगी** – शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध मनस्तत्त्व का निरूपण , जीवन तथा मृत्यु की समीक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं।

X. **नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा** – ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित आध्यात्मिक चिन्तन के माध्यम से नीति, सदाचार, सच्चरित्रता आदि नैतिक मूल्यों को समाज में प्रतिष्ठित करने का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया है।

3.8 ब्राह्मण ग्रन्थों की श्रुतिरूपता

भारतीय पारम्परिक विद्वानों ने मन्त्र और ब्राह्मणात्मक शब्दराशि को वेद कहा है **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** (आपस्तम्बकृत यज्ञपरिभाषा 34)। मन्त्रों का सङ्कलन संहिताओं में किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थ के तीन भाग हैं – 1. ब्राह्मण 2.आरण्यक तथा 3.उपनिषद्। इस प्रकार वेद के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् समाहित होते हैं। इसी का अनुसरण करते हुए आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (24.131); सत्याषाढ श्रौतसूत्र (1.1.7); बौधायन गृह्यसूत्र (2.6.3); बौधायनधर्मसूत्र (2.97); कौशिकसूत्र (1.3); आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा (34); कात्यायन-परिशिष्ट प्रतिज्ञासूत्र (19) ; कौशिकसूत्र (1.3) आदि ग्रन्थों तथा शबरस्वामी (जैमिनीय-मीमांसा शाबरभाष्य 2.1.33), पितृभूति, शंकराचार्य (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1.3.33), कुमारिल भट्ट (तन्त्रवार्तिक 1.3.10), भवस्वामी, देवस्वामी, विश्वरूप, मेधातिथि (मनुस्मृति टीका 2.6), कर्क, धूर्तस्वामी, देवत्रात, वाचस्पति मिश्र, राजशेखर, रामानुज, उवट, मस्करी तथा सायणाचार्य आदि आचार्यों ने मन्त्र-संहिताओं के साथ ही ब्राह्मण ग्रन्थों की भी श्रुतिरूपता का प्रतिपादन किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों को श्रुतिस्वरूप स्वीकार करने वाले विद्वानों के अनुसार संहिता के समान ये ग्रन्थ भी अपौरुषेय ही हैं। उनकी मान्यता है कि मन्त्रों के समान इनका भी साक्षात्कार किया गया। जिन व्यक्तियों के नाम इनसे सम्बद्ध हैं, वे इनके रचयिता न होकर प्रवचनकर्ता ऋषि अथवा आचार्य हैं, जिन्होंने इन्हें सम्प्रेषित किया। परन्तु कतिपय आधुनिक विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद न मानकर उन्हें मन्त्रों के व्याख्यान के रूप में ही स्वीकार किया है। इन विचारकों की दृष्टि में ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित यागगत पशु-हिंसा आदि कृत्य, इन ग्रन्थों को अपौरुषेय वेद मानने में बाधक हैं। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद न मानना अनुपयुक्त है। क्योंकि मन्त्र-संहिताएँ और ब्राह्मण-ग्रन्थ दोनों ही यज्ञ के प्रमाणरूप हैं – **'मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य प्रमाणम्'** (आपस्तम्ब यज्ञ-परिभाषासूत्र 33)। मन्त्र तथा ब्राह्मण परस्पर पूरक हैं। संहिताएँ और ब्राह्मण ग्रन्थ दोनों ही वेद हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की श्रुतिरूपता को स्वीकार करना ही सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

3.6 सारांश

वैदिक साहित्य में ब्राह्मण भाग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। मन्त्रों के व्याख्यानात्मक ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वरूप तथा विषयवस्तु में पर्याप्त अन्तर है। सभी ब्राह्मण ग्रन्थ गद्यात्मक हैं। यज्ञगत कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा विवरण प्रस्तुत करना

इनका का मुख्य विषय है। उत्तर वैदिककाल में मन्त्रार्थ-ज्ञान की आवश्यकता, कर्मकाण्ड के विधानों के विवेचन तथा तत्कालीन वैचारिक क्रान्ति को दिशा देने का उद्देश्य ब्राह्मणग्रन्थों की रचना का आधार बना। यज्ञीय कर्मकाण्ड का साङ्गोपाङ्ग विवेचन ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इनमें याज्ञिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मन्त्रों के विनियोगात्मक व्याख्यान, विधि तथा निर्वचन आदि विषयों को प्रस्तुत किया गया है। इनमें उपलब्ध भौगोलिक सन्दर्भों से यह ज्ञात होता है कि इनका संकलन 'कुरुपाञ्चाल प्रान्त' तथा 'सरस्वती नदी के प्रदेश' में हुआ था। विद्वानों ने ज्योतिषीय उल्लेखों के आधार पर इनका संकलन-काल 3000 ई. पू. से लेकर 2000 वर्ष ई. पू. माना है। प्राचीन काल में वेदों की विभिन्न शाखाओं के संहिता ग्रन्थों के समान ब्राह्मण ग्रन्थों का भी स्वतन्त्र रूप से संकलन हुआ था। किन्तु काल के प्रवाह में अनेक संहिताओं के समान ब्राह्मण-ग्रन्थ भी नष्ट हो गए। फिर भी वर्तमान में विभिन्न वैदिक शाखाओं के कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन्हीं ग्रन्थों का संकलन ब्राह्मण साहित्य के नाम से जाना जाता है। इस साहित्य के अन्तरङ्ग परीक्षण से इसकी महत्ता को सहजतया समझा जा सकता है। वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थ मन्त्रों तथा यज्ञों के वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक स्वरूप को प्रस्तुत करने वाले अनुपम रत्न हैं।

भारतीय पारम्परिक विद्वानों ने मन्त्र तथा ब्राह्मणात्मक शब्दराशि को वेद कहा है। वैदिक साहित्य में ब्राह्मण भाग का अत्यधिक महत्त्व है। यह भाग पूर्णतया गद्यात्मक है। ब्राह्मणग्रन्थों में मन्त्र-भाग तथा उससे सम्बद्ध यज्ञप्रक्रियाओं का प्रतिपादन हुआ है। भारतवर्ष में वेदों के व्याख्यान की समृद्ध परम्परा रही है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने हेतु अनेक उपयोगी भाष्य-ग्रन्थ लिखे गये। मीमांसादर्शन के भाष्यकार आचार्य शबरस्वामी ने ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों को हेतु आदि दस भागों में वर्गीकृत किया है। मीमांसकों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों की समस्त विषय वस्तु का विवेचन मुख्यतया विधि तथा अर्थवाद के रूप में किया है। विधि से आशय कर्म की प्रेरणा देनेवाले वाक्यों से है तथा विधि के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह अर्थवाद है। इनमें भी विधि भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विधि यज्ञ तथा उससे सम्बद्ध कार्यकलापों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। यज्ञ कब, कहाँ, कैसे किया जाएगा, किस यज्ञ के लिए क्या सामग्री अपेक्षित है आदि का विशद वर्णन विधि के द्वारा ही होता है। ब्राह्मणों में विधि ही वह केन्द्र बिन्दु है जिससे हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा आदि सभी विषय जुड़े हुए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक संस्कृति के विश्वकोश हैं। इनमें ज्ञान-विज्ञान, कला, साहित्य, दर्शन आदि अनेक विषयों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इनके माध्यम से यज्ञों के वैज्ञानिक स्वरूप, प्रकार तथा विविध अनुष्ठानों के इतिहास का पूर्ण परिचय मिलता है। ये ही निरुक्त की निरुक्तियों के मौलिक आधार हैं। इन्हीं में वर्णित सुन्दर आख्यानों का विकास विशेषतः परवर्ती पुराणों में हुआ। ये भारतीय परवर्ती चिन्तन परम्परा के आधार ग्रन्थ माने जाते हैं। मीमांसा दर्शन इन्हीं पर आश्रित है। ब्राह्मण-ग्रन्थों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने भारतवर्ष के विभिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक, साहित्यिक तथा वैज्ञानिक विषयों के विकास हेतु सुदृढ़ पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

अग्निहोत्र – प्रतिदिन सपत्नीक आहिताग्नि के द्वारा सायं प्रात: अग्निदेवता के निमित्त दुग्ध, दधि, घृत, तण्डुल, लपसी प्रभृति द्रव्यों के द्वारा किया जाने वाला विशेषहोम अग्निहोत्र कहलाता है।

अग्निष्टोम - इस याग को अग्निष्टोम संस्था भी कहा जाता है। यह समस्त सोमयागों का प्रकृति याग है। इसका अनुष्ठान स्वर्ग की कामना से किया जाता है।

अश्वमेधयाग - इस याग का अनुष्ठान सार्वभौम राजा के द्वारा ही किया जाता है। इसमें सवनीय पशु 'अश्व' है, अत: यह याग 'अश्वमेध' कहलाता है। 'अश्व' राष्ट्र का भी बोधक है। 'राष्ट्रं वा अश्वमेध:'। (शतपथ ब्राह्मण १३.१.६.३)। इस प्रकार राष्ट्र की सर्वाङ्गीण प्रगति करना ही अश्वमेध का अर्थ है।

वाजपेययाग - सम्राट् बनने की इच्छा वाला शासक वाजपेययाग करता है। इसका अनुष्ठान शरद् ऋतु में होता है।

राजसूययाग - यह याग राज्याभिषिक्त राजा के द्वारा अनुष्ठेय है। इस याग में स्वराज्य के लिये सूय (अभिषेक) का विधान है, अत: इसे 'राजसूय' कहते हैं। इसके अनुष्ठान के उपरान्त ही राजा को राजत्व की प्राप्ति होती है।

लेट् लकार – संस्कृत भाषा में काल को प्रदर्शित हेतु लकार का प्रयोग किया जाता है। लकार के 10 भेद माने गये हैं। इनमें लेट् लकार का प्रयोग केवल वैदिक ग्रन्थों में ही होता है।

तुमर्थक प्रत्यय – संस्कृत भाषा में चतुर्थी विभक्ति को दर्शाने के लिये तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग होता है। इनके वैदिक एवं लौकिक रूपों में पर्याप्त अन्तर है।

उत्पत्ति विधि – यज्ञादि कर्म के स्वरूप के बोधक को 'उत्पत्ति विधि' कहते हैं। जैसे – 'अग्निहोत्रं जुहोति'।

विनियोग विधि – अङ्ग (गौण) तथा प्रधान के सम्बन्ध-बोधक को 'विनियोग विधि' कहते हैं। जैसे – 'दध्ना जुहोति'।

प्रयोग विधि – अनुष्ठान की शीघ्रता बोधक विधि को 'प्रयोग विधि' कहते हैं। जैसे – 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'।

अधिकार विधि – यागादि कर्मजन्य स्वर्गादि फल के स्वामित्व बोधक विधि को 'अधिकार विधि' कहते हैं। जैसे – 'यजेत स्वर्गकामः'।

अपूर्व विधि – अत्यन्त अप्राप्त पदार्थ का विधान करनेवाले विधि को 'अपूर्व विधि' कहते हैं।

नियम विधि – पदार्थ की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर उसका विधान करनेवाले वाक्य को 'नियम विधि' कहते हैं। जैसे – 'व्रीहीनवहन्ति'।

परिसंख्या विधि – जहाँ अनुष्ठान में दोनों पदार्थों की एक काल में प्राप्ति हो ,वहाँ दोनों में से एक पदार्थ की निवृत्ति करानेवाले विधि को 'परिसंख्या विधि 'कहते हैं। जैसे –' पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः'।

3.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र –हरदत्त मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1990
2. ऋग्वेदभाष्यभूमिका – आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1928

3. ताण्ड्य ब्राह्मण – सायण भाष्य, चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1993
4. नवीन वैदिक संचयनम् – डॉ. जमुना पाठक एवं डॉ. उमेश प्रसाद सिंह, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2005
5. भारतीय ज्योतिष – शंकरबालकृष्ण दीक्षित,हिन्दी समिति ग्रन्थमाला, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ,1975
6. मनुस्मृति – डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2012
7. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – आचार्य बलदेव उपाध्याय शारदा संस्थान, वाराणसी, 1990
8. वैदिक साहित्य का इतिहास – डॉ. गजानन शास्त्री एवं डॉ. राजेश्वर शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2018
9. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2008
10. वैदिक वाङ्मय का इतिहास – पण्डित भगवद्दत्त, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, विक्रम संवत् 2013
11. संस्कृतवाङ्मयम् – डॉ.हरिकृष्ण शास्त्री दातार, कीर्तिसौरभप्रकाशन, वाराणसी,1989
12. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास – वेद खण्ड – प्रो. व्रज बिहारी चौबे, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 2012
13. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ. उमाशंकर ऋषि शर्मा, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2012
14. संस्कृत साहित्य तथा संस्कृति - वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
15. संस्कृत साहित्य का इतिहास – ए.बी. कीथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2011
16. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास – डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2013
17. Collection of the fragments of lost Brahmanas – Batakrishna Ghosh, Meharchand Lakshmandas Publications, Dehli 2012.
18. History of Classical Sanskrit literature – M. Krishnamachariar, Motilal Banarasidass Publishers, Dehli 2016.
19. Indian Idealism – Surendranath Dasgupta, Cambridge University Press, London, 1962

3.9 बोध प्रश्न

1. ब्राह्मण साहित्य की पृष्ठभूमि को व्याख्यायित कीजिए?

2. ब्राह्मण शब्द के अर्थ को स्पष्ट कीजिए?
3. संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर को समझाइए?
4. ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा एवं शैली पर प्रकाश डालिए?
5. ब्राह्मण ग्रन्थों के वर्गीकरण को स्पष्ट करते हुए उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का परिचय प्रदान कीजिए?
6. ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वरूप तथा प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन कीजिए?
7. ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित विधि तथा अर्थवाद के स्वरूप की विस्तृत विवेचना कीजिए?
8. ब्राह्मण ग्रन्थों के महत्त्व का विस्तृत निरूपण कीजिए?
9. ब्राह्मण ग्रन्थों की श्रुतिरूपता पर प्रकाश डालिए?
10. ब्राह्मण ग्रन्थों की भाष्य परम्परा पर टिप्पणी लिखिए?

इकाई 4 आरण्यक साहित्य, आरण्यकों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

1. आरण्यक साहित्य की रूपरेखा जान सकेंगे।
2. आरण्यकों के स्वरूप को जान सकेंगे।
3. आरण्यक ग्रन्थों पर उपलब्ध अध्ययन विषयवस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
4. आरण्यकों के प्रतिपाद्य विषय को जान सकेंगे।
5. वैदिक ज्ञान परम्परा में आरण्यकों के महत्त्व को समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों! अब तक आप ब्राह्मण साहित्य का परिचय प्राप्त कर चुके हैं। उनमें आपने अध्ययन किया कि वैदिक साहित्य में प्रत्येक वेद के संहिता भाग और ब्राह्मण भाग हैं। उसी प्रकार आरण्यक ग्रन्थ भी है जैसे कि ऋग्वेद का ऐतरेय आरण्यक, शांखायन तथा यजुर्वेद का बृहदारण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक, मैत्रेयी आरण्यक। सामवेद का तलवार आरण्यक और छान्दोग्य आरण्यक। इस इकाई में आप इन्हीं आरण्यकों का तात्पर्य, प्रतिपाद्य एवं स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

अब तक हमने देखा कि वेद के संहिता तथा ब्राह्मण भाग में वैदिक ज्ञान की 'कर्मकाण्ड मूलक' प्रवृत्तियों की स्थापना होती है। संहिताओं में जहां मन्त्र और सूक्तों के माध्यम से देवताओं की स्तुति की गई है वहीं दूसरी तरफ ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा मुख्यतः उन मन्त्रों के विनियोग की विधि बताई गयी है। भारतीय संस्कृति की तीन धाराओं कर्म, उपसना और ज्ञान में से संहिता और ब्राह्मण दोनों ही मूलतः 'यज्ञ' अथवा 'कर्मकाण्ड' से जुड़े हुए हैं। भारतीय संस्कृति की उपासना मूलक परम्पराओं, विधियों का ज्ञान आरण्यकों से उद्घाटित होता है। आचार्य शंकर का मत है कि आरण्यकों में वर्णित उपासनाएं हैं। इन उपासनाओं से मोक्ष के समीपवर्ती स्थिति प्राप्त होती है। ये उपासनाएं कर्माब से सम्बद्ध हैं और कर्मफल की समृद्धि ही इनका फल है। चित्त शुद्धि से सम्बद्ध होने के कारण अद्वैत ज्ञान की उपकारिणी हैं।

इस इकाई में हम 'वन से सम्बधन्धित वेद' कहे जाने वाले साहित्य अर्थात् 'आरण्यकों' की रूपरेखा, स्वरूप तथा प्रतिपाद्य के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे।

4.2 आरण्यक परिचय

जैसा कि नाम से ही पता चलता है कि आरण्यक उन लोगों के मनन-चिन्तन का विषय था, जो लोग वनों में रहते थे। आचार्य सायण ने तैत्तिरीय आरण्यक में बताया है कि, अरण्य अर्थात वन में पाठ होने से इसका नाम आरण्यक है-

अरण्याध्यनादेतद् आरण्यकमितीयते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्य प्रवक्ष्यते।।

उनके अनुसार आरण्यक ग्रन्थों के मनन हेतु वन का शान्त वातावरण होना चाहिए, ग्रामों अथवा नगरों के वातावरण में नहीं। जबकि ऐतरेय ब्रह्मण में लिखते हैं वे लिखते हैं कि- "अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।"

अब आप सोच सकते हैं कि क्यों इन ग्रन्थों का अध्ययन, मनन व चिन्तन वनों में ही किया जाना चाहिए? वैदिक काल में धर्म आश्रम व्यवस्था पर आधारित था। ब्राह्मण ग्रन्थों में उन कर्मकाण्डों का वर्णन है जिनका विधान गृहस्थों के लिए बताया गया है, किन्तु वृद्धावस्था में जब लोग वानप्रस्थ में प्रवेश करते हैं तब उन्हें कर्मकाण्डों के अलावे किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस अवस्था में वे आरण्यक का आश्रय लेते हैं। आरण्यक का मुख्य विषय यज्ञ नहीं बल्कि यज्ञों के आध्यात्मिक तत्वों की मीमांसा है। यज्ञीय अनुष्ठान के स्थान पर उनके दार्शनिक विचार आरण्यकों के मुख्य विषय के रूप में दिखाई पड़ते हैं। इसके अलावा प्राणविद्या का विशेष प्रतिपादन आरण्यकों में प्राप्त होता है। आप देख सकते हैं कि ऐसे गहन विषयों के अध्ययन व चिन्तन हेतु वनों का एकान्त वातावरण ही उपयुक्त है। वन के उस शान्त वातावरण के प्रभाव को दर्शाती ऋग्वेद की यह ऋचा देखें (ऋग्वेद 8/6/28)-

उपरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत।।

अर्थात् "अरण्य प्रान्तर में निहित, नदी-पर्वत, पुष्प, वृक्षादि प्रकृति के सभी अवयव, ज्ञान के अक्षय स्रोत हैं, जो अपने उष्मीय प्रभाव से मानव मन को तरंगित कर सार्थक तत्त्व प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हैं तभी विप्रों को उच्च मेधा प्राप्त होती है। हम पाते हैं कि यज्ञोपवीत का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरियारण्यक में प्राप्त होता है। अर्थात् हमें संस्कारों से सुसंस्कृत करने हेतु आरण्यक उन्नत दिखाई पड़ते हैं। इसी आरण्यक में हमें काल का अत्यन्त सुन्दर निदर्शन प्राप्त होता है। निरन्तर अग्रसर काल के अखण्ड सम्वत्सर रूपी परमार्थिक काल का हमें ज्ञान प्राप्त होता है। व्यवहार के लिए काल के नाना खण्ड, मुहूर्त, दिवारात्रि, पक्ष, मास आदि में विभक्त करने से भी उसका एकाकार रूप अक्षयस्रोत से प्रवाहित होने वाली किसी महानदी के समान कभी नहीं सूखती। हमें चौथे आश्रम सन्यास से भी परिचित कराने वाले भी आरण्यक ही हैं। आरण्यक ग्रन्थों का कालखण्ड वह है जिसमें गार्गी, मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनी स्त्रियां इन ग्रन्थों के सार का प्रतिपादन करती हैं। प्राण, ब्रह्म, आत्मा, पुनर्जन्म आदि विषयक वर्णन भी हमें इन आरण्यकों में प्राप्त होते हैं। इतने महत्त्वपूर्ण ज्ञान को उपलब्ध करने के बाद भी हम देखते हैं कि इन ज्ञानराशि ग्रन्थों पर अपेक्षाकृत कम अध्ययन देखने को मिलता है। इस दिशा में और

अधिक प्रयासों की महती अवश्यकता है। अब हम आरण्यकों के रचना काल के विषय में जानेंगे।

4.2.1 आरण्यक शब्द का अर्थ-विचार

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'आरण्यक' शब्द 'अरण्य' में 'बु ़्' (भावार्थक) प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। इस प्रकार इसका अर्थ है 'अरण्य' में होने वाला- 'अरण्ये भवमिति आरण्यकम्।' बृहदारण्यक उपनिषद् में भी आरण्यक का अर्थ- 'अरण्येऽनु च्यमानत्वात् आरण्यम्।' किया गया है।

उपर्युक्त विवरण के आरधार पर हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि अरण्यकों का अध्ययन सामान्यतः वनों में ही किया जाता था किन्तु यह अनिवार्य नहीं था। तैत्तिरीयारण्यक के कुछ अंशो से विदित होता है कि वैदिक युग में वनों के साथ-साथ ग्रन्थों का ग्रामों में भी अध्ययन होता था।

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र लिखते हैं- "वह वेद भाग जिसमें यज्ञानुष्ठानपद्धति, याज्ञिक मन्त्र, पदार्थ एवं फल आदि में आध्यात्मिकता का संकेत दिया गया है, 'आरण्यक' कहलाता है। यह भाग मनुष्य को आध्यात्मिक बोध की ओर झुकाकर सांसारिक बन्धनों से ऊपर उठता है। अतः इसका विशेष अध्ययन भी संसार के त्याग की भावना के कारण वानप्रस्थाश्रम के लिए अरण्य (जंगल) में किया जाता है। इसीलिये इसका नाम 'आरण्यक' प्रसिद्ध हुआ है।

एस. एन. दास गुप्ता लिखते हैं- "ये ग्रन्थ संभवतः वयोवृद्ध ऋषियों के लिए लिखे गये थे जो जीवन के अन्य कार्यों से उपरत होकर वन में निवास करते थे और जिसके लिए आवश्यक साधन और सामग्री के अभाव में जटिल कर्मकाण्ड-विधियुक्त अनुष्ठानादि करना सम्भव नहीं था। इन ग्रन्थों में विशिष्ट प्रतीकों या संकेतों पर ध्यान और मनन को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है। धीरे-धीरे ध्यान और योग यज्ञ के स्थान पर अधिक उच्च समझा जाने लगा।" (भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1 पृ.- 13-14) "आरण्यक में विचार स्वतन्त्र्य के कारण कर्मकाण्ड की शृंखलाएं जिन्होंने जीवन को आबद्ध कर रखा था, शनैः-शनैः छिन्न-भिन्न होने लगी इस प्रकार आरण्यकों ने उपनिषदों के विकास के लिए उच्चभूमि तैयार की। साथ ही वेदों के दार्शनिक मनन का सूत्रपात भी किया जिसके कारण हिन्दू उपनिषद् हिन्दू विचार दर्शन के महान स्रोत के रूप में विकसित हो पाए।"

कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण एवं आरण्यक एक दूसरे से अधिक सन्निकट एवं सम्बद्ध हैं। इसलिए बौधायन सूत्रकार ने आरण्यकों को भी ब्राह्मण की कोटि में स्थान दिया है-

"**विज्ञायतेः कर्मादिष्वैतैर्जुहुयात् पूतो देकनोकान्**
समुश्नते इति हि ब्राह्मणमिति ही ब्राह्मणम्।।"

(बौ.ध.,- 3/7/7/16)

यही बात तैत्तिरीय आरण्यक में इस प्रकार मिलता है-

"**कर्मादिष्वेतैर्जुहुयात् पूतो देवलोकान्समश्नुते।** - तै. आ.- **2/7/5**।

तैत्तिरीयारण्यक की भूमिका में सायण लिखते हैं- "अरण्याध्ययनादेतदारण्यकामितीर्यते अरण्ये तदधीयीतेत्येव वाक्यं प्रवक्ष्यते। पुनश्च एतदारण्यकें सर्व नाव्रती श्रोतुमर्हति।"

एकान्त जनशून्य स्थान में ब्रह्मचर्य में निमग्न होकर ऋषियों ने जिस गंभीर एवं चिन्तरपूर्ण विद्या का पाठ किया उसका नाम आरण्यक है। इसी कारण जिसने ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं किया वह इसके सुनने का अधिकारी नहीं है।

श्री वामन शिवराम आप्टे के कोशग्रन्थ में आरण्यक शब्द के लिए लिखा है कि आरण्यक ग्रन्थ दार्शनिक एवं धार्मिक ग्रन्थ हैं। मैक्डॉनल के अनुसार-संहिता युग के बाद ब्राह्मण रचे गये। इसी समय ब्राह्मणों के पश्चात् आरण्यक ग्रन्थों की रचना हुई। आरण्यक ब्राह्मण के अंशमात्र हैं। तथापि ब्राह्मणों की विशिष्टता को द्योतित करते हुए वह 'रहस्य' ब्राह्मण नाम से व्यवहृत होते हैं। आरण्यकों को नामान्तर से रहस्य भी कहा जाता है- (गो. ब्रा.- 2/10)

4.2.2 आरण्यकों की पृष्ठभूमि

ब्राह्मणों में प्रवृत्तिमूलक धार की बहुलता एवं सक्रियता है। वास्तविक रूप से वेद के तीनों भाग- संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक ये सभी कर्मकाण्ड की ही विवेचना करते हैं। आरण्यकों की विषयवस्तु के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आरण्यक ग्रन्थों का उöव एवं विकास अर्थवाद भाग के रूप में हुआ, जिनमें उन वैदिक स्थलों का उल्लेख है जो विधि भाग के निर्देशों को स्पष्ट करते हैं।

मन्त्रभाग के अतिरिक्त शेष भाग ब्राह्मण है, जैसा कि जैमिनी का कथन है- "शेषे ब्राह्मण शब्दः।" ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य विषय 'यज्ञ' का सर्वांगपूर्ण विवेचन है। विधि से अभिप्राय है यज्ञानुष्ठान कब, कहाँ और किन अधिकारियों द्वारा किये जाने चाहिए। याग की विधियों द्वारा हम निर्दिष्ट विशेष कर्मों को करने में प्रवृत्त होते हैं तथा ये याग अज्ञात (अर्थ) फल को प्रदान करने वाली हैं। आपस्तम्ब की यज्ञ परिभाषा सूत्र (35) में कहा गया है- "कर्मचोदना ब्राह्मणनि' अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ कर्म की स्तुति तथा निद करके व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त कराते हैं तथा इसी प्रकार अर्थवादपरक वाक्रू यज्ञनिषिद्ध वस्तुओं की निदा तथा यज्ञोपयोगी वस्तुओं की प्रशंसा करते हैं।

यज्ञ के द्रव्यात्मक स्वरूप में बहुविध स्वरूप विस्तार में जब उसका वास्तविक अर्थ बोझिल होने लगा, तो यह आवश्यकता गहराई से अनुभव की गई कि श्रौतयागों की आध्यात्मिक एवं प्रतीकात्मक व्याख्या की जाय। ब्राह्मण ग्रन्थों के उत्तरार्द्ध में, इसी दृष्टिकोण को प्रधानता प्राप्त हुई और उसमें वैदिक यागों के अन्तर्तम में निहित गम्भीर अर्थवत्ता, वास्तविक मर्म और आध्यात्मिक रहस्यों के सन्धान के लिए जिस चिन्तन को आकार मिला, उसी का नामकरण आरण्यक साहित्य के रूप में हुआ।"

4.2.3 आरण्यकों का रचना एवं देशकाल

आरण्यक ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों के बीच की कड़ी है अतः जो देशकाल ब्राह्मणों का होगा वही आरण्यकों का होना चाहिएं। तैत्तिरीयारण्यक में गंगा-यमुना का तटवर्ती मध्यप्रदेश अत्यन्त पवित्र तथ मुनियों का निवास स्थान बतलाया गया है-

'नमों गंगायामुनोर्मध्ये ये वसन्ति ते में प्रसन्नात्मानश्चिंर जीवितं वर्धयन्ति नमो गंगायमुनयोमुर्निभ्यश्च (तै. आ.- **2/20)** शांख्यायन आरण्यक में उशीनर**,** मत्सय**,** कुरु-पांचाल और काशी तथा विदेह जनपदों का वर्णन है- "अथ ह वै गार्ग्यो बाल किरनूचानः संस्पृष्टः आस सोऽसदुशीनरेषु स वसन्मत्स्येषु कुरुपळचालेषु काशिविदेहेष्विति" **(6/1)**।

इसी प्रकार मैत्रायणी-आरण्यक में तत्कालीन भारत के अनेक प्रतापी सम्राटों के नाम मिलते हैं-

"अथ किमैतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराशचक्रवर्तिनः केचित् सुद्युम्न - भरिद्युम्न - इन्द्रद्युम्न - कुवलयाश्च - यौवनाश्ववध्रयश्व - अश्वपति - शशबिन्दु - हरिश्चन्द्र - अम्बरीषनन्वक्तु - यर्शाति - ययाति - अनराणि अक्षसेनादयः। (मै. आर. **6/9**)।

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि आरण्यक ग्रन्थों का प्रवेश प्राचीन भारत का प्रायः मध्यभाग है।

मैक्समूलर के अनुसार ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों की रचना बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व हो चुकी थी। जबकि लुडविंग उपनिषदों की रचना तीन से चार हजार वर्ष पुरानी मानते हैं। महर्षि पाणिनी ने लगभग 500 ई.पू. की अपनी रचना 'अष्टाध्यायी' में कई स्थानों पर उपनिषदों को ग्रन्थ के रूप उल्लेखित किया है। जिससे यह तथ्य ज्ञात होता है कि उनके काल से पूर्व उपनिषदों की रचना हो चुकी थी।

जो भी हो आरण्यक एवं उपनिषदों के रचनाकाल निर्धारण में सन्नद्ध विद्वान, वैदिक साहित्यों के निम्नलिखित क्रम पर एकमत दिखाई पड़ते हैं कि सर्वप्रथम वेदों आए तदुपरान्त ब्राह्मण साहित्य लिखे गए, उसके बाद आरण्यकों की रचना हुई और इस क्रम में सबसे नवीन ग्रन्थ उपनिषद् हैं।

4.2.4 आरण्यक ग्रन्थों की भाषा एवं शैली.

आरण्यक ग्रन्थों की भाषा वैदिक संस्कृत है। आरण्यक ग्रन्थांे की भाषा पर विचार करें तो हम पाएंगे कि ब्राह्मण की भाषा जटिल है और क्रमशः आरण्यक एवं उपनिषदों की भाषा सरल होती गई है। विद्वानों के अनुसार आरण्यकों की भाषा मन्त्र संहिताओ एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा लौकिक संस्कृत के अधिक निकट है।

आरण्यकों की भाषा जहां ब्राह्मणों से सम्बन्ध होने के कारण विशुद्ध गद्यात्मक है तो इसमें वेदों पद्यात्मक मन्त्र भी प्राप्त होते हैं। इसकी शैली मिली-जुली है। इनमें अधिकांश स्थान पर वर्णनशैली, तो मन्त्रों के उद्धरणपूर्वक अपने प्रतिपाद्य कथन की शैली भी प्रायः दिखाई पड़ती है। इन शैलियों के अतिरिक्त आरण्यकों के वे भाग जिन्हें आज उपनिषदों के रूप में जाना जाता हे उनमें दृष्टान्त शैली, उपमा, निर्वचन, शास्त्रार्थ, स्वगतभाषण, प्रश्नोत्तर आदि प्रणालियों का भी प्रयोग देखने को प्राप्त होता है।

अब हम आरण्यकों की संख्या एवं उनके विभाजन के विषय में अध्ययन करेंगे।

4.2.5 आरण्यकों के प्रवचनकर्त्ता

चूंकि अधिकांश आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के भाग हैं, इसलिए उन ब्राह्मणों के प्रवचनकर्त्ता ही आरण्यकों के भी प्रवचन कर्त्ता हैं। कुछ आरण्यक के प्रवचनकर्त्ताओं के जो नाम हमें प्राप्त होते हैं वो इस प्रकार से हैं-

ऐतरेय आरण्यक के तृतीय आरण्यक तक के प्रवचनकर्त्ता महिदास हैं, चतुर्थ आरण्यक के आश्वलायन तथा पंचम के शौनक है। इसी प्रकार शांखायन आरण्यक के प्रवचनकर्त्ता गुणाढ्य शांखायन हैं। बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य हैं। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के द्रष्टा ऋषि कठ हैं। तलवकारण्यक के अन्त में काश्यप, गुप्त-लौहित्य आदि ऋषियों की सुदीर्घ वंश पराम्परा का वर्णन प्राप्त होता है।

4.3 आरण्यकों का स्वरूप

हम जानते हैं कि वेद के दो विभाग हैं (क) मन्त्र विभाग, (ख) ब्राह्मण विभाग। इसकी पुष्टि - वेदो हि मन्त्रब्राह्मण भेदेन द्विविधः अथवा मन्त्र ब्राह्मणयोर्वदनामधेयम्। से होती है। वेद के मन्त्र भाग को संहिता भी कहते हैं। संहिता परक विवेचन को आरण्यक एवं संहितापरक भाष्य को ब्राह्मण कहते हैं। वेदों के ब्राह्मण विभाग में भी आरण्यक और उपनिषद् का भी समावेश पाया जाता है।

आरण्यकों के बाद उपनिषदों का विचार उपस्थित होता है । जैसा कि पहले कह चुके हैं उपनिषदों का वेद से अति घनिष्ठ संबंध है। वास्तव में संहिताओं (मंत्र भाग), ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों चारों का ऐसा अटूट संबंध है कि चारों में चारों सम्मिलित पाये जाते हैं । उदाहरण के लिए ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की "माध्यन्दिन संहिता" यानी मंत्र भाग का अंतिम अध्याय ही है । तैत्तिरीय संहिता का शेषांश तैत्तिरीय ब्राह्मण है और तैत्तिरीय ब्राह्मण के अंतिम भाग तैत्तिरीय आरण्यक, तथा तैत्तिरीय उपनिषद् है। मैत्रायणी और काठक संहिताओं से अधिक ब्राह्मणादि अब तक सम्मिलित ही हैं। छांदोग्य उपनिषद् में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तीनों हैं । यहीं बात बृहदारण्यक की भी है।

पं. राम गोविंद त्रिवेदी के ये वाक्य अभिनंदनीय हैं कि ष्साधारण क्रम यह मालूम पड़ता है कि संहिता का उत्तरांश ब्राह्मण है, ब्राह्मण का शेष आरण्यक है और आरण्यक का शेषांश उपनिषद् है। इस क्रम से और विशेष क्रम से भी ज्ञात होता है कि वेद-रूपी एक ही शरीर के सब अंश है। सबको लेकर वेद पूर्ण होता है। यही कारण है कि सनातन धर्म इन मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि चारों का वेदत्व और नित्यत्व मानते हैं । जैसे ऋग्वेद के मंत्र यजुः, साम और अथर्व संहिताओं में पाये जाते हैं वैसे ही ब्राह्मणों में भी पाये जाते हैं। जैसे ऋग्वेदीय ऋचाओं (मंत्रों) को सामवेद में गेय बताया गया है, वैसे ही ब्राह्मणादि में निर्वाचन किया गया है। फलतः ये चारों ही वेद हैं और चारों के ही द्रष्टा, स्मारक तथा प्रचारक ऋषि-महर्षि हैं। आध्यात्मिक अर्थ करने पर सभी ज्ञानमय हैं, अद्वैतवादी हैं; आधिदैविक अर्थ करने पर सभी सकाम और निष्काम यज्ञ-परक हैं तथा आधिभौतिक अर्थ करने पर सभी में इतिहास सम्मिलित है।"

'वैदिक साहित्य' का यह विवेचन प्रकृत विषय पर प्रचुर प्रकाश डालता है, तो भी प्रश्न यह है कि जिन ईश आदि प्रधान उपनिषदों में वेद संहिताओं अथवा ब्राह्मणादि के अंश सम्मिलित हैं वे ही वेद अथवा वेद के अंग है अथवा उत्तर कालीन उपनिषद् भी, जिनमें प्राचीन उपनिषदों के उद्धरण चाहे हों भी, किंतु जिनमें ब्राह्मणादि के अंश उपलब्ध नहीं हैं, उसी पद के योग्य हैं।

आरण्यकों के स्वरूप को भली भांति समझने के लिए हमें आरण्यकों का संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् के साथ आरण्यक के सम्बन्ध के विषय में जानना होगा। जैसा की पूर्व में भी कहा गया है कि आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषदों के बीच की कड़ी हैं। तो सर्वप्रथम हम उनके आपसी सम्बन्ध के विषय में पढ़ेंगे।

हम पढ़ चुके हैं कि कालान्तर में वेद का पठन-पाठन शाखाओं में सुरक्षित होने लगा था। ऋक् संहिता, यजुः संहिता, साम संहिता तथा अथर्व संहिता के लगभग 1130 शाखाएं हैं। इन सभी शाखाओं के अपने-अपने ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिाद् हुईं; किन्तु अब इनकी अतिन्यून संख्या प्राप्त होती है। उपलब्ध आरण्यकों की संख्या छः है। आचार्य भगवत्तदत्त और आचार्य

वाचस्पति गैरोला ने समुपलब्ध आरण्यकों की संख्या आठ मानी है जिनका नाम व विभाजन निम्नवत है-

1. **ऋग्वेदीय आरण्यक**
   i. **ऐतरेय आरण्यक**
   ii. **शांखायन आरण्यक**
2. **यजुर्वेदीय आरण्यक**
   i. **शुक्ल यजुर्वेदीय आरण्यक**
      क. **बृहदारण्यक (माध्यनदिन)**
      ख. **बृहदारण्यक (काण्व)**
   ii. **कृष्ण यजुर्वेदीय आरण्यक**
      क. **तैत्तिरीय आरण्यक**
      ख. **मैत्रायणीय आरण्यक**
3. **सामवेदीय आरण्यक**
   i. **तलवकार आरण्यक (जैमिनियोपनिषद्)**
   ii. **छान्दोग्यारण्यक (कौथुमशाखीय)**

अब हम उपर्युक्त सभी का संक्षिप्त परिचय देखते हैं।

4.3.1 ऋग्वेदीय आरण्यक

ऋग्वेद से सम्बद्ध दो आरण्यक प्राप्त होते हैं। इसकी दो शाखाओं शाकल एवं बाष्कल से सम्बद्ध एक-एक आरण्यक प्राप्त होते हैं जिनके नाम क्रमशः ऐतरेय एवं शांखायन (अथवा कौषीतकि) आरण्यक हैं।

i. ऐतरेय

पाँच प्रपाठकों वाला यह आरण्यक कुल अठारह अध्यायों में विभक्त ऋग्वेदीय आरण्यकों में प्रथम आरण्यक है। इसके प्रथम प्रपाठक में में महाव्रत का वर्णन मिलता है जो प्रपाठक तीन के गवामयन का ही अंश है। द्वितीय प्रपाठक के प्रथम तीन अध्याय उवथ या निष्कैवल्य शास्त्र एवं प्राण-विद्या के साथ-साथ पुरुष का विवेचन करते हैं। इसके चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ अध्याय 'ऐतरेय उपनिषद्' हैं। तृतीय प्रपाठक का एक नाम 'संहितोपनिषद्' भी है। इसमें संहिता पद, क्रमपाठों के वर्णन के अतिरिक्त स्वर, व्यंजन आदि का विवेचन किया गया है। अत्यन्त लघु स्वरूप वाले चतुर्थ प्रपाठक में महाव्रत के पाँचवे दिन में प्रयुक्त होने वाली कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऋचाएँ दी गयी हैं। इसके अन्तिम पाँचवे प्रपाठक में निष्कैवल्य शास्त्र का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

ऐतरेय आरण्यक के सम्पादनपूर्वक कुछ प्रकाशन भी हुए हैं। जिनमें सर्वप्रथम सत्यव्रत सामश्रयी ने 1876 में सायणभाष्य के साथ, 1909 में ए. बी. कीथ ने ऐतरेय आरण्यक का प्रकाशन किया। इस ग्रन्थ पर एक अप्रकाशित टीका का भी संज्ञान मिलता है जिसे षडगुरु शिष्य ने 'मोक्षप्रदा' नाम से लिखा है। कीथ द्वारा सम्पादित ऐतरेय आरण्यक के संस्करण में इस

आरण्यक का अंग्रजी अनुवाद भी दिया गया है। कीथ ने भी इसे पाँच आरण्यकों में ही विभाजित करते हुए इसके प्रथम आरण्यक में पाँच अध्याय, द्वितीय में सात, तृतीय में दो, चतुर्थ में एक और पंचम में तीन अध्याय सहित कुल अठारह अध्याय लिखे हैं और प्रत्येक अध्याय को खण्डों में विभाजित किया है। इन खण्डों का संक्षिप्त विवरण निम्नवत है-

क) प्रथम आरण्यक इसमें महाव्रत का वर्णन है। यह महाव्रत श्गवामयनश् सत्र का ही अंश है। इसमें प्रयोज्य मन्त्रों की आध्यात्मिक और प्रतीकात्मक व्याख्या की गई है।

ख) द्वितीय आरण्यक इसके प्रथम 3 अध्यायों में उक्थ (निष्केवल्य, प्राणविद्या और पुरुष) का विवेचन है। इसके 4 से 6 अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद् है ।

ग) तृतीय आरण्यक इसको 'संहितोपनिषद्' कहते हैं। इसमें संहिता, पदपाठ, क्रमपाठ तथा स्वर और व्यंजनों के आदिस्वरूप का विवेचन है। यह प्रातिशाख्यों से सम्बद्ध विषय है। इसमें शाकल्य और माण्डूकेय आदि आचार्यों के मतों का भी उल्लेख है।

घ) चतुर्थ आरण्यक इसमें श्महानाम्नी ऋचाओं का संकलन है, जो महाव्रत में बोली जाती हैं।

ङ) पंचम आरण्यक इसमें निष्केवल्य शस्त्र (मन्त्रों) का वर्णन है।

ii. शांखायन

शांखायन आरण्यक में कुल 15 अध्याय खण्डों में विभक्त हैं। इनकी संख्या कुछ इस प्रकार से है- प्रथम अध्याय में 8, द्वितीय में 18, तीसरे में 7, चौथे में 15, पाँचवे में 8, छठें में 20, सातवें में 23, आठवें में 11, नवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें में 8-8, तेरहवें में 1, चौदहवें में 2 तथा पन्द्रहवें अध्याय में 1 खण्ड सहित कुल 137 खण्ड हैं। इसके तीसरे से छठें अध्याय को 'कौषीतकी उपनिषद्' की संज्ञा दी जाती है। महाव्रत वर्णन आदि प्रसंग इसे एंतरेय ब्राह्मण से मिलते-जुलते से हैं। भारत में व्यक्ति की पहचान कुल परम्परा और गुरु परम्परा से होती थी। व्यक्ति जिस कुल में जन्म लेता है वह उसकी कुल परम्परा है तथा वह जिस गुरु की ज्ञान परम्परा को संरक्षित करता है या संवहन करता है, वह उसकी गुरु परम्परा है। वैदिक ज्ञान के संरक्षण हेतु वेदों की शाखा से सम्बन्धित गुरु-शिष्य परम्परा की उसी सूची हमें सम्बद्ध ग्रन्थों से प्राप्त होती है। इस आरण्यक के अन्तिम अध्याय में आचार्यों की वंश परम्परा का उल्लेख मिलता है। जिसमें उल्लेख आता है कि गुणाख्या शांखायन से हमने यह विद्या पढी - 'गुणाख्याच्छाङ्खायनादस्याभिरधीतम्।' (शां. आ.-15/1)। इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व के 14 अध्यायों शाखायन लिखित हैं जबकि 15वां अध्याय उनके शिष्यों द्वारा। शांखायन के गुरु का नाम कहोल कौषीतकी था इसी कारण से इस आरण्यक के अन्तर्गत 'कौषीतकी उपनिषद' का उल्लेख प्राप्त होता है।

क) प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय इसमें ऐतरेय आरण्यक के तुल्य महाव्रत का वर्णन है।

ख) तृतीय अध्याय से षष्ठ अध्याय कौषीतकि उपनिषद् है। इसका विवरण उपनिषद् प्रकरण में है। कुरुक्षेत्र, उशीनर, काशी, पाञ्चाल, विदेहादि प्रदेशों का उल्लेख है।

ग) सप्तम अध्याय और अष्टम अध्याय संहितोपनिषद्। इसका भी विवरण उपनिषद् प्रकरण में है।

घ) नवम अध्याय इसमें प्राण की श्रेष्ठता का वर्णन है।

ङ) दशम अध्याय इसमें आध्यात्मिक अग्निहोत्र का सांगोपांग वर्णन है।

च) एकादश अध्याय के निराकरण के लिए एक विशेष याग का इसमें मृत्यु विधान है।

छ) द्वादश अध्याय इसमें समृद्धि के लिए बिल्व (बेल) के फल से एक मणि बनाने का वर्णन है।

ज) त्रयोदश अध्याय इसमें श्रवण-मनन आदि के लिए शरीर शुद्धि, तपस्या, श्रद्धा और दम आदि की आवश्यकता का वर्णन किया गया है।

झ) चतुर्दश अध्याय इसमें 'अहं ब्रह्मस्मि' और वेदों के अर्थज्ञान का महत्त्व बताया गया है।

ञ) पञ्चदश अध्याय- इसमें आचार्यों का वंशानुक्रम दिया गया है। वंश-परम्परा

आचायों की वंश-परम्परा इसमें पन्द्रह अध्याय में आचार्यों की वंशानुक्रम परम्परा इस प्रकार दी गई है- स्वयम्भू ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, विश्वामित्र, देवरात, साकमश्व, व्यश्व विश्वमना, सुम्नयु बृहदिवा, प्रतिवेश्य, सोम, सोमपा, सोमापि, प्रियव्रत, उद्दालक, आरुणि, कहोल, कौषीतकि और गुण शांखायन इस गुण शांखायन से ही शांखायन आरण्यक की परम्परा आगे चली। कौषीतकि शांखायन के गुरु हैं। अतः यह आरण्यक गुरु-शिष्य दोनों का सम्मिलित प्रयास है। इसके प्रत्येक अध्यायों में विषय निम्नलिखित रूप में प्राप्त होते हैं।

ऐतरेय आरण्यको के समान आधुनिक विद्वानों में वाल्टर फ्राडलण्डर ने 1900 ई. में इसके दो अध्यायों का, ए. बी. कीथ ने अध्याय 7 से अध्याय 15 तक का अंग्रेजी अनुवाद के साथ 1909 में, और श्रीधर शास्त्री पाठक ने 1922 में सम्पूर्ण शांखायन को प्रकाशित किया।

4.3.2 यजुर्वेदीय आरण्यक

यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले कुल तीन आरण्यक प्राप्त होते हैं। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यनदिन एवं काण्व दोनों शाखाओं से एक ही आरण्यक प्राप्त है जिसका नाम है बृहदारण्यक और कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से तैत्तिरीय आरण्यक और मैत्रायणीय शाखा से मैत्रायणीय आरण्यक। जबकि इसकी कठ एवं श्वेताश्वर शाखाओं के आरण्यक नहीं हैं।

क) शुक्लयजुर्वेदीय

शुक्लयजुर्वेदीय इस आरण्यक की विशेष प्रसिद्धि उपनिषद् रूप में ही है। आत्मतत्त्व को विशेष रूप से प्रतिपादित करने वाला यह आरण्यक अपनी माध्यनदिन एवं काण्व दोनों शाखाओं में प्राप्त होता है। डॉ. कपिल द्विवेदी एवं बलदेव उपाध्याय का मत है कि यह वस्तुतः कोई आरण्यक नहीं है। शतपथ-ब्राह्मण की माध्यनदिन एवं काण्व दोनों शाखाओं के अन्तिम 6 अध्यायों को बृहदारण्यक-उपनिषद् कहते हैं। उपनिषदों के प्रतिपाद्य यथा ब्रह्मविद्या आदि को प्रतिपादित करने से यह उपनिषद् है तो यत्र-तत्र यज्ञों के रहस्योद्घाटन करने वाले यह ग्रन्थ अरण्यों में कहे जाने से यह आरण्यक हैं। सर्वाधिक प्रमाणिक, प्राचीन और महत्त्वपूर्ण यह ग्रन्थ आकार, प्रकार और प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से उपनिषदों से 'वृहत्' होने से भी यह बृहदारण्यक है। इसके छः अध्यायों में दो-दो अध्यायों के तीन काण्ड हैं, जिनको क्रमशः मधुकाण्ड, याज्ञवल्क्यकाण्ड और खिलकाण्ड कहा जाता है। इन काण्डों में सृष्टि विज्ञान, ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, विराटपुरुष आदि का वर्णन अत्यन्त रोचक आख्यान शैली में किया गया है।

i. बृहदारण्यक (माध्यनदिन)

इस आरण्यक में कुल 6 अध्याय हैं। जिनका विभाजन कुछ इस प्रकार से है- पहले अध्याय में 6, दूसरे में 5, तीसरे में 9, चौथे में 5, पाँचवे में 15 और छठे में 4 ब्राह्मण हैं। सारे आरण्यकों में 44 अवान्तर ब्राह्मण हैं और प्रत्येक अवान्तर ब्राह्मण खण्डों या कण्डिकाओं में विभक्त है। इसके पाँचवें और छठे अध्याय को विद्वान 'खिलकाण्ड' कहते हैं। सम्भवतः ऐसा इसलिए होगा क्योंकि उनके अनुसार ये अध्याय मूल लेखक के नहीं प्रतीत होते। शतपथ ब्राह्मण से ही आरम्भ होने वाला यह आरण्यक माध्यनदिन शतपथ ब्राह्मण का ही भाग है। ब्राह्मण में से आरण्यक अंश छांट-छांट कर निकाले गए हैं। पूरा ब्राह्मण आरण्यक नहीं है। जोटो बोहट लिंग्क ने इसे 1889 में प्रकाशित कराया था।

ii. बृहदारण्यक (काण्व)

माध्यनदिन बृहदारण्यक की भांति इस आरण्यक में भी 6 अध्याय हैं। इसके पहले, दूसरे और चौथे अध्याय में 6-6, तीसरे में 9, पाँचवें में 15 और छठें में 5 ब्राह्मण हैं। काण्व बृहदारण्यक में कुल 47 ब्राह्मण हैं। शंकराचार्य के भाष्यलेखन के कारण काण्व बृहदारण्यक ही अधिकांश टीकाकारों में प्रचलित है। यज्ञों के कुछ रहस्य एवं आत्मज्ञान का विस्तृत प्रतिपादन के कारण ही इसे उपनिषदों में परिगणित किया जाता है। याज्ञवल्क्य और विदेहराज जनक की कथा आरण्यक एवं उपनिषद् दोनों में वर्णित है। उपरोक्त वर्णित प्रतिपाद्य के अतिरिक्त इसमें सन्यास, ब्रह्म, आत्मा, पुनर्जन्म आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

ख) कृष्ण यजुर्वेदीय आरण्यक

कृष्ण यजुर्वेदीय दो शाखाओं से हमें दो आरण्यक प्राप्त होते हैं जिनका वर्णन निम्नवत है-

i. तैत्तिरीयारण्यक

कृष्णयजुर्वेद शाखा से सम्बद्ध यह आरण्यक 10 प्रपाठकों में विभाजित है। इसके प्रत्येक प्रपाठक का नामकरण प्रथम पद्य में ही कर दिया गया है जो इस प्रकार है- (1) भद्र, (2) सहवै, (3) चित्ति, (4) युजते, (5) दैव-वै, (6) परे, (7) शिक्षा, (8) ब्रह्मविद्या, (9) भृगु, तथा (10) नारायणीय। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के द्रष्टा ऋषि कठ हैं अतः इसे काठक-आरण्यक कहा जाना चाहिए ऐसा सायण का मत है।

इसके पहले से लेकर छठे प्रपाठक तक को व्यावहारिक रूप से आरण्यक माना जाता है क्योंकि सातवें से लेकर नवे प्रपाठक को मिलाकर तैत्तिरीय उपनिषद् का संकलन किया गया है और इसी आरण्यक के 10वें प्रपाठक को 'महानारायणीय' उपनिषद कहा जाता है। प्रपाठकों का अवान्तर विभाजन अनुवाकों में है। प्रथम छः प्रपाठकों की अनुवाक संख्या इस प्रकार है- 32 $ 20 $ 21 $ 42 $ 12 $ 12 = 139।

क) प्रथम प्रपाठक भद्र है, इसका प्रारम्भ- "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः" मन्त्र से हुआ है। इसी तरह अन्य प्रपाठकों का भी आरम्भ किया गया है। प्रथम प्रपाठक में 'आरुणकेतु' नामक 'अग्नि' की उपासना तथा इसके लिए 'ईटं' (वेदी हेतु) के चयन का निरूपण है।

ख) द्वितीय प्रपाठक में यज्ञोपवीत का विधान है। इसमें संध्योपासना विधि, स्वाध्याय तथा पच महायज्ञ का वर्णन है। देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ संज्ञक इन पाँच महायज्ञों के दैनिक अनुष्ठान का निर्देश है- "पंचा वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति सन्तिष्ठन्ते।"

1. देवयज्ञ
2. पितृयज्ञ
3. भूतयज्ञ
4. मनुष्ययज्ञ
5. ब्रह्मयज्ञ

इस प्रपाठक के अनेक अनुवाकों में कुष्माण्डहोम और उससे सम्बद्ध मन्त्र दिये गये हैं।

क) तृतीय प्रपाठक इसमें चातुर्हाेत्र चिति से सम्बद्ध मन्त्र हैं।

ख) चतुर्थ प्रपाठक में प्रवर्ग्यहोम तथा अभिचार मन्त्र (छिन्धि, भिन्धि, खट्, फट्, जहि) का उल्लेख है।

ग) पंचम प्रपाठक इसमें यज्ञ सम्बन्धी कतिपय संकेत दिए गए हैं।

घ) षष्ठ प्रपाठक इसमें पितृमेध सम्बन्धी मन्त्रों का संकलन है। इसमें ऋग्वेद के भी मन्त्र दिए गए हैं।

ङ) सप्तम से नवम प्रपाठक पर्यन्त यह 'तैत्तिरीय उपनिषद्' है ।

च) दशम प्रपाठक यह 'महानारायणीय उपनिषद्' है। इसको खिल काण्ड मानते हैं।

इतिहासकारों के लिए भी तैत्तिरीय आरण्यक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म शब्द के लिए तैत्तिरीय आरण्यक का ऋणी जान पड़ता है। आरण्यक में श्रमण शब्द का प्रयोग तपस्वी के रूप में हुआ है और बौद्ध ग्रन्थों में भिक्षु के लिए। सच तो यह है कि जैसा कि अब विद्वान मानने भी लगे हैं। बौद्ध धर्म वैदिक धर्म यानी उस सन्यास धर्म की जो आरण्यकों में प्रतिपादित है- संतति है।

ii. मैत्रायणीयारण्यक

कृष्णयजुर्वेदीय शाखा से सम्बन्ध रखने वाले इस मैत्रायणीयारण्यक में खण्डों में विभाजित कुल 7 प्रपाठक हैं। पहले प्रपाठक में 4, द्वितीय प्रपाठक में 7, तृतीय प्रपाठक में 5, चतुर्थ में 6, पाँचवे में 2, छठें में 38 और सतवें प्रपाठक में 11 खण्डों सहित कुल 73 खण्डों में इस ग्रन्थ का विभजन हुआ है। इस आरण्यक के उपनिषद् का नाम 'मैत्र्युपनिषद्' है। इस आरण्यक के प्रथम प्रपाठक में ब्रह्मयज्ञ, एवं मुनि शाकायन्य द्वारा राज बृहद्रथ को को उपदेश द्वारा वैराग्य का प्रतिपादन, द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मविद्या का उपदेश, तृतीय प्रपाठक में कर्म-फल, पुनर्जन्म एवं जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन, चतुर्थ प्रपाठक में ब्रह्म सायुज्य की प्राप्ति के उपाय, पंचम प्रपाठक में ब्रह्म के विविध रूपों का वर्णन एवं कौत्स्यायनी स्तुति, जबकि इसके अन्तिम प्रपाठकों में ओम, प्रणव, उद्गीथ और गायत्री की उपासना के साथ, षडांग योग, आत्मज्ञान आदि का निरूपण किया गया है। इसी आरण्यक में परमात्मा को अग्नि और प्राण कहा गया है।

इसके सातों प्रपाठकों का वर्ण्य विषय निम्नलिखित हैं-

क) प्रथम प्रपाठक ब्रह्मयज्ञ, राजा बृहद्रथ को वैराग्य और मुनि शाकायन्य द्वारा उसे उपदेश।

ख) द्वितीय प्रपाठक शाकायन्य द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश।

ग) तृतीय प्रपाठक जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन कर्मफल और पुनर्जन्म।

घ) चतुर्थ प्रपाठक ब्रह्म- सायुज्य प्राप्ति के उपाय।

ङ) पंचम प्रपाठक कौत्सायनी स्तुति। ब्रह्म की नानारूपों में स्थिति।

च) षष्ठ प्रपाठक ओम, प्रणव, उद्गीथ और गायत्री की उपासना। आत्मयज्ञ का वर्णन। षड्ंग योग, शब्दब्रह्म निर्विषय मन से मोक्ष प्राप्ति।

छ) सप्तम प्रपाठक आत्म-स्वरूप वर्णन आदि समुल्लेखित हैं।

4.3.3 सामवेदीय आरण्यक

सामवेद की जैमिनीशाखा के आरण्यक का नाम तलवकार आरण्यक है और उसके कौथुमशाखीय आरण्यक का नाम छान्दोग्यारण्यक है।

i. तवलारण्यक

इस सामवेदीय तवलारण्यक को 'जैमिनियोपनिषद्-ब्राह्मण' के नाम से भी जाना जाता है। इसमें ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् मिले हुए हैं। इस आरण्यक में अनेक सामवेदीय मन्त्रों की सुन्दर व्यख्या प्राप्त होती हे। इस आरण्यक के चार अध्याय अनुवाकों में विभाजित हैं। चतुर्थ अध्याय का दशम अनुवाक प्रसिद्ध 'केनोपनिषद्' के रूप में जाना जाता है। इसके अतिरिक्त इस आरण्यक का विशेष महत्त्व पुरातन भाषा, वैयाकरणिक रूपों, शब्दावली, देवशास्त्रीय आख्यानों तथा ऐतिहासिक वर्णनों के कारण है, जिनमें अधिकांश प्राचीन विश्वास और परम्पराएं संरक्षित हैं। इस आरण्यक में मृतव्यक्ति के पुनः प्रकट होने, रहस्यात्मक शक्तियों की प्राप्ति के लिए रत पुरोहितों अथवा साधकों को प्रेतात्मा द्वारा मार्ग निर्देशन प्राप्ति हेतु उन कृत्यों का भी वर्णन है जो इन अमानुषिक शक्तियों की सिद्धि चिता, भस्म आदि अर्थात् श्मशान में निष्पन्न किए जाते हैं।

सत्यव्रत सामश्रयी ने इसे सर्वप्रथम 1878 में 'सामवेद-आरण्यक-संहिता' नाम से प्रकाशित करवाया था। जबकि इसका एच. आर्टल कृत संस्करण 1921 में प्रकाशित हुआ था।

ii. छान्दोग्यारण्यक

तलवकार ब्राह्मण के अन्तर्गत छान्दोगय आरण्यक कुल 6 प्रपाठकों में विभक्त है। इसका सम्बन्ध 'छान्दोग' से किया जाता है, जिसका मतलब होता है- 'सामवेद संहिता के मन्त्रों को गाने वाला व्यक्ति'। इस ग्रन्थ में छन्दोगों के करणीय कार्यों का निर्देश भी हुआ है। जगत्प्रसिद्ध छान्दोग्योपनिषद् भी इसी आरण्यक का अंश है।

गीता प्रेस से जो 'छान्दोग्य उपनिषद' प्रकाशित है उस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय छान्दोग्यआरण्यक है। इसकी वर्णन शैली अत्यन्त क्रमबद्ध और युक्तियुक्त है। इसमें तत्त्वज्ञान और तदुपयोगी कर्म तथा उपसनाओं का बड़ा विशद एवं विस्तृत वर्णन है। आरण्यकों में वर्णित

उपासना का स्वरूप उपनिषद में और विस्तृत हुआ और उसी के आधार पर उनसे परवर्ती स्मार्त-कर्म एवं पौराणिक और तान्त्रिक उपासनाओं का आविर्भाव हुआ।

छान्दोग्यउपनिषद में कुल आठ अध्याय हैं जिनमें पहले पाँच अध्यायों में प्रधानतया उपसनाओं को वर्णन है और अन्तिम तीन अध्यायों वर्णन है और अन्तिम तीन अध्यायों में ज्ञान का। इसमें ज्ञान और उपासना दोनों का ही बड़ा सुन्दर विवेचन है। प्रथम अध्याय में इभ्यग्राम में रहने वाले उपस्ति की कथा है। इस कथा में यह शिक्षा दी गई है कि मनुष्य आरचरण सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा तभी कर सकता है जबकि उसके बिना प्राणरक्षा का कोई दूसरा उपाय न हो। इसी प्रकार प्रथम अध्याय में शिलक, चैकितायन और प्रवाहण संवाद तथा पंचम अध्याय में उद्दालक के सथ प्राचीन शालादि पांच महर्षियों ने राजा अश्वपति के पास जाकर आत्मतत्त्व की जिज्ञासा की है। उन दोनों प्रसंगों में यह बात स्पष्ट होती है कि यद्यपि सनातन शिष्टाचार में उपदेश देने का अधिकार ब्राह्मणों को है, किन्तु यदि कोई उत्कृष्ट विद्या अन्य किसी द्विजाति के पास हो तो भी ली जा सकती है।

4.3.4 अथर्ववेदीय आरण्यक

अथर्ववेद की पैप्पलाद एवं शौनक शाखाओं का अलग से कोई आरण्यक प्राप्त नहीं होता किन्तु उनसे सम्बद्ध गोपथ ब्राह्मण के पूर्वार्ध में ऐसी बहुत सी सामग्री है, जो आरण्यकों के अनुरूप ही है।

4.3.5 आरण्यकों का ब्राह्मणों के साथ सम्बन्ध

वैदिक सिद्धान्तों में आरण्यकों का यह योगदान महत्त्वपूर्ण है कि वे मानसिक यज्ञ को बाह्य अथवा पारम्परिक यज्ञ की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं।

"अरण्यक का महत्व इन दोनों के बीच की खाई को यथासंभव पाटने की दिशा में उनके आंदोलन में निहित है।"

आरण्यकों में ब्राह्मण ग्रन्थों के विचार धीरे-धीरे अमूर्त और कर्मकाण्ड रहित 'स्वरूप' को आत्मसात करते जा रहे थे। ब्रह्म या उच्च सत्ता के अनुभव के लिए 'तप' और ध्यान पूर्व आवश्यकता है। विभिन्न उपसना में यही निर्देश दिया गया है।

या ध्यान केंद्रित करने के पाठ्यक्रम के उच्चतम निरपेक्ष का प्रतिनिधित्व करने और प्रतिरूपण के रूप में विशिष्ट प्रतीक के रूप में

तकनीकी रूप से आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के पूरक हैं; किन्तु विषयवस्तु की दृष्टि से उपनिषदों से जुड़े हैं। आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के परिणति हैं। अतएव ऐतरेय आरण्यक में ऐतरेय ब्राह्मण भी जुड़े हुए हैं। इसी प्रकार कौषीतकी आरण्यक से कौषीतकी ब्राह्मण जुड़ा है शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग बृहदारण्यक है। आरण्यक स्वाभाविक रूप से उपनिषदों में परिवर्तित हो गये हैं। उदाहरण के लिए ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय आरण्यक के चार अध्यायों से मिल कर बना है।

आरण्यक-ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों की ही शृंखला में, वस्तुतः उनके उत्तरार्द्ध भाग में संकलित है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण एवं आरण्यक परस्पर अधिक सम्बद्ध हैं, इसलिए बोधायन धर्मसूत्र में आरण्यकों को भी 'ब्राह्मण' शब्द से सम्बोधित किया गया है (3/7/7/7/16)-

विज्ञायते कर्मादिष्वेतैर्जुहुयात् पूतो देवलोकान्।
समश्नुते इति हि ब्राह्मणमिति हि ब्राह्मणम्।।

आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य याज्ञिक कर्मकाण्ड के दार्शनिक पक्ष का उद्घाटन है। निरुक्त के भाष्यकार दुर्गाचार्य ने आरण्यकों के लिए 'रहस्य-ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् जो ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रतिपाद्य का उद्धटन करें वह आरण्यक है।

संहिता और ब्राह्मण की भांति आरण्यक भी अपौरुषेय हैं। ऋषियों ने जिस ज्ञान का उपपादन एवं संरक्षण आरण्यकों में किया उन्हें हम आरण्यकों की कोटि में रखते हैं। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से विद्वानों ने आरण्यक को ब्राह्मण एवं उपनिषद् के बीच की कड़ी माना है।

आरण्यक में ब्राह्मण ग्रन्थों का सार वर्णित है इसीलिए इन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों का परिशिष्ट भी कहा जाता है। जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों क्रमशः स्वामी महावीर एवं गौतम बुद्ध दोनों ने आरण्यकों एवं उपनिषदों के तात्विक विमर्श को स्वीकार किया है जबकि वे ब्राह्मण कालीन (यज्ञपरक) संस्कृति को अस्वीकार करते हैं। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शुचिता, इन्द्रियनिग्रह एवं अपरिग्रह आदि अन्य कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दोनों सम्प्रदायों के मूलाधार हैं। अतः यह निश्चित है कि आरण्यक महावीर एवं गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती ग्रन्थ हैं।

4.3.6 आरण्यकों का उपनिषदों के साथ सम्बन्ध

उपनिषदों के तत्त्व ज्ञान को समझने के लिए आरण्यकों का ज्ञान आवश्यक है। उपनिषदों के बहुसंख्यक ऐसे प्रसंग हैं जिसके यथार्थ परिज्ञान के लिए उनके मूल आधारों को जानना आवश्यक है जो आरण्यक में निहित है। आरण्यकों के विचार और प्रतीकों को पुनः उपनिषदों ने विकसित किया है तथा जहाँ आवश्यकता पड़ी, नई व्याख्या प्रस्तुत की जो उन्हें एक संरचनात्मक स्वरूप प्रदान करता है।

अरण्यकों द्वारा आंशिक रूप से पूरा किया गया कार्य उपनिषदों ने पूरा किया। ऐतरेय-आरण्यक जिसमें ऐतरेय उपनिषद् शामिल हैं ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बन्धित है। शांखायन या कौषीतकि आरण्यक जिसका कौषीतकि उपनिषद् सिर्फ एक भाग है। यह भी ऋग्वेद से सम्बन्धित है।

छान्दोग्यउपनिषद् का प्रथम भाग भी पारम्परिक रूप से आरण्यक के रूप में मान्य है। यह सामवेद के ताण्डय-ब्राह्मण से सम्बन्धित है। सामवेद के तवलकार सम्प्रदाय या जैमिनिशखा का जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण एक आरण्यक है।

4.4 आरण्यकों का प्रतिपाद्य

ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्डों को आरण्यकों ने अपनाया। इनमें भी ब्राह्मण ग्रन्थों की भांति- 'विधि' और 'अर्थवाद' के अंश को समाहित किया गया है। आरण्यकों ने कर्मकाण्ड को रूपकात्मक विधि से प्रस्तुत किया है।

इसके अलावा आरण्यकों में वैदिक कर्मकाण्ड का विवेचन प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। आरण्यकों में जिन कर्मकाण्डीय पर्वो का उल्लेख है उनमें से कुछ प्रमुख निम्नवत हैं- महाव्रत (तै.आ. 4, 5), प्रवर्ज्ञ/प्रवर्ग्य (ए.आ. 1, 5, शां. 1, 2), कूष्माण्ड होम (Oblations) (तै.आ. 3), चतुर्होत्र-चित्ति (तै.आ. 3), ब्रह्मयज्ञ (तै.आ. 2), आरुणिकेतु चयन (तै.आ. 2), अवकीर्णी,

यमयज्ञ (तै.आ.), पितृमेध (तै.आ.-315), ब्रह्ममेघ (Higher Pitramesls)। ये सभी अनुष्ठान प्रतीकात्मक तथा रहस्यात्मक विधि से किए जाते थे।

4.4.1 महाव्रत पर्व

महाव्रत अग्निष्टोम यज्ञ का एक भाग है। अग्निष्टोम यज्ञ ब्रह्म का स्वरूप है। अतः महाव्रत ब्रह्म है। ऐतरेयाण्यक प्रथम, पञ्चम और शांखायन प्रथम और द्वितीय में 'महाव्रत' की विवेचना की गई है। ताण्डय ब्राह्मण के रूप में महाव्रत वर्ष के मध्य में मनाया जाता है और इन्द्र इसके परम देवता हैं। ऐतरेय आरण्यक में महाव्रत पर्व का सन्दर्भ इस प्रकार से प्राप्त होता है-

"अथ प्रथमारण्यकम् ऊँ। अथ महाव्रतम्। इन्द्रौ वै वृत्तं हत्वा महानभवद्यन्महानवत्तन्महाब्रतम भवन्तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्वा पुष्टिकामः। पुष्टिर्वै विशः पुष्टिमान्मवतीति।"

महर्षि शायण के अनुसार महाव्रत पर्व के तीन रूप हैं। महाव्रत अग्निष्टोम यज्ञ का एक प्राकर है। यह तीन भागों में पूरा किया जाता है। तीनकाल में स्तोत्र का वाचन होता है।

महाव्रतस्तोत्र महत्त्वपूर्ण है जिस दिन इस स्तोत्र का शंसनु किया जाता है उस दिन को महाव्रत दिन कहा जाता है। क्योंकि यह स्तोत्र मुख्यरूप से प्रजापति के लिए है। प्रजापति 'महान' हैं महव्रत का अर्थ है महान प्रजापति के लिए इस प्रकार एक महाव्रती को समर्पित 'अन्न', एक कटोरी सोम और एक पशु प्रजापति को प्रदान किया जाता था। महाव्रत यज्ञ सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में मिलता है।

महाव्रत सम्पादित करने का समय-

1. महाव्रत विष्णुवत के दिन महाव्रत का सम्पादन किया जाना चाहिए।
2. ताण्डयब्राह्मण महाव्रत को अन्न से जोड़ते हुए कहता है कि इस रीति का वर्ष के मध्य में सम्पदन करना चाहिए।
3. गवामयन सत्र, जो कि 360 दिन का प्रयोग है, के अन्तिम दिन महाव्रत किया जाता था। महाव्रत का स्वरूप अग्निष्टोम यज्ञ जैसा ही था तथा दोपहर एवं शाम की वंदना के समय सम्पन्न किया जाता था।
4. प्रातः सवन (सोमलता को पत्थर से कूट कर रस निकालना और उसकी अग्नि को आहुति देना), माध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन।

4.4.2 यज्ञ करने की सार्वभौमिकता

जीवन को यज्ञ मानकर चलो। यज्ञ का अभिप्राय है- ‹त्याग›। स्वार्थ की भावना को छोड़ देना ही यज्ञ है। यज्ञ करते हुए मनुष्य अपने आप को परमात्मा की महान् शक्ति के सहारे छोड़ देता है। मैं कुछ नहीं तू ही सब कुछ है, मेरा कुछ नहीं, सब तेरा ही तेरा है ‹इदन्न मम› की भावना यज्ञ की आधारभूत भावना है, और यही भावना यज्ञ में जगमगा उठती है। जो भावना यज्ञ में होती है वही भावना अगर जीवन के प्रत्येक कार्य में अनुप्राणित हो जाए, तो समझों प्रत्येक कार्य यज्ञ हो गया, जीवन ही यज्ञ हो गया। अतएव यज्ञमय निःस्वार्थ जीवन बिताने वाले व्यक्ति को गीता में ‹आत्मरत›, ‹आत्मतृप्त› और ‹आत्मसंतुष्ट› कहा है, क्योंकि वह अपने में रमा हुआ है, आत्मा में भरा हुआ है, अपने आत्मा में सन्तुष्ट है। स्वार्थमय जीवन बिताने वाले को ‹इन्द्रियाराम› कहा गया है, वह इन्द्रियों के साथ पष्चम प्रपाठक में स्पष्ट किया है, जो बृहदारण्यक के प्रथम तीन

अध्यायों में भी प्राप्त होता है। वस्तुतः शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीयारण्यक में प्राप्त होने वाले आख्यान का मूल तत्त्व एक ही है, किन्तु कथा का विस्तार किष्चित भिन्न है।

4.4.3 प्रवर्ग्य कर्म

बृहदारण्यक चौदहवें काण्ड के प्रथम तीन अध्यायों में भी प्रवर्ग्य की विवेचना है।

तैत्तिरीयआरण्यक के अनुसार विष्णु ने अपनी उन्नति तथा महिमा को प्राप्त करने के लिए देवताओं के साथ मिल कर 'सत्र' नामक यज्ञ किया। यज्ञ के फल सभी देवताओं में बराबर-बराबर बटने थे किन्तु यज्ञ की समाप्ति पर विष्णु ने लोभवश सम्पूर्ण यज्ञफल अपने पास रख लिया और जाने लगे। देवताओं द्वारा पीछा किए जाने पर आत्मरक्षार्थ विष्णु ने एक हाथ में धनुष और दूसरे हाथ में बाण निकाल लिया। जिसे देखकर देवता भयभीत हो गए और वहां से भागे और झाड़ी में जा कर छिप गए। वहाँ देवताओं ने उपदिका नामक चीटियों से धनुष की प्रत्यंचा (डोरी) काटने का अनुरोध किया। इन्द्र चीटियों में प्रविष्ट हो धनुष की डोरी को काट देते हैं। डोरी कटने से धनुषरूपी यज्ञपुरुष कटकर पहले ऊपर उछला और भूमि पर जा गिरा। इस उछलने और गिरने से प्रवर्ग्य बना जिससे धर्म (डोरी कूटने की गूंज/ध्वनि), महावीर (वीर्य/बल) तथा सम्राट (वेग/गति) की उत्पत्ति हुई।

उस प्रवर्ग्य (यज्ञपुरुष) का देवताओं ने तीन भागों में विभाजन कर पुनः यज्ञ प्रारम्भ किया। यज्ञ का स्वरूप निम्नवत है-

सवन	देवता	छन्द
प्रातः सवन	अग्नि और वसु	गायत्री
मध्याह्न सवन	रूद्र और इन्द्र	त्रिष्टुप
सायं सवन	आदित्य और विश्वदेव	जगती

किन्तु देवतओं का यह यज्ञ सफल नहीं हुआ। देवताओं ने अपने देववैद्य अश्विनी कुमारों से प्रार्थना की किन्तु वे प्रवर्ग्य विद्या से अनभिज्ञ थे। यह विद्या केवल दध्यङ ऋषि ही जानते थे। देवताओं ने दध्यङ ऋषि से प्रवर्ग्य विद्या अश्विनी कुमारों को देने के लिए कहा किन्तु इन्द्र के भय से यह विद्या देने से ऋषि ने मना कर दिया। इस संकट से उबरने के लिए अश्विनी कुमारों ने दध्यङ ऋषि का चेहरा बदल (कर घोड़े का सिर लगा) दिया जिससे इन्द्र उन्हें न पहचान सके। इस बदले हुए चेहरे से ऋषि ने उन्हें प्रवर्ग्य विद्या प्रदान की।

जब विद्या प्रदान करने की सूचना इन्द्र को मिली तो अपनी महिमा की रक्षा के लिए इन्द्र ने ऋषि का सिर काट दिया। अश्विनी कुमारों ने ऋषि का मूल सिर दोबारा जोड़ दिया। इस प्रकार अश्विनी कुमारों ने ऋषि की प्राणरक्षा भी की, विद्या प्राप्त की और उस प्राप्त विद्या से यज्ञपुरुष का सिर जोड़ दिया और देवताओं का यज्ञ सफल हुआ।

इस आख्यान के अनुसार प्रवर्ग्य कर्म के अनुष्ठान के बिना किया गया यज्ञ, सिर विहीन शरीर की तरह माना जाता है। जिससे न स्वर्ग की प्राप्ति होती है और न ही अभीष्ट फल की। यह अनुष्ठान सोमयागों में अनिवार्य है। यह आख्यान हमें बताता है कि पूर्णाविधि-विधान द्वारा किया गया यज्ञ ही पूर्णरूप से फलदायक होता है।

यज्ञ शिर की प्रकृष्टता के गमन के कारण प्रवर्ग्य है। आज्य से युक्त महावीर पात्र में दूध को मिलाना 'प्रवृजन' कहलाता है तथा इसी से प्रवर्ग्य बनता है। इसप्रकार इस प्रवर्ग्य को ही धर्म, महावीर और सम्राट भी कहते हैं। प्रर्वग्य यज्ञ की महत्ता और उससे जुड़ी सामाजिक चर्चाओं को तैत्तिरीयक आरण्यक ने चतुर्थ तथा पष्चम् प्रपाठक में दिखाया है यही बात बृहदारण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में भी मिलता है।

महावीर में (एक मिट्टी के बर्तन में धरम की हविष् प्रदान की जाती है। धरम में गाय का दूध और बकरी का दूध रहता है। इसे अश्विन् कुमारों को प्रदान किया जाता है जो इसे प्राप्त कर वृद्धि और शक्ति को प्राप्त करते हैं।

प्रवर्ग्य की मुख्य विशेषता है कि मिट्टी के गर्म कड़ाही में दूध और घी प्रस्तुत किया जाता है। प्रवर्ग्य की प्रकृया मुख्यतः दो भागों में सम्पन्न होती है।

1. महावीर को तैयार करना
2. धरम चढ़ाना

4.4.4 अन्न की महत्ता

मैत्रायणीय आरण्यक में अन्न की महत्ता का विशद् वर्णन प्राप्त होता है। इसमें कहा गया है कि-सभी प्राणी जो पृथ्वी के आश्रय से जीवित रहते हैं, वे अन्न से उत्पन्न होते हैं और इसी से जीवित रहेत हैं। अंत में अन्न से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकरण में पुनः कहा गया है कि प्रणियों को उत्पन्न करने वाले कोई और नहीं हैं अपितु अन्न ही हैं। इन्हें भक्षण करने के कारण ही अन्न कहा जाता है, जो कि प्रतिपल कोशिकाओं को संकोचन प्रसारण द्वारा प्राणियों का भक्षण करता रहता है (मै. आ. 6/12)-

अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते।
अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते।।

तैत्तिरीयारण्यक- 8/2/1 में भी इससे सम्बन्धित वर्णन मिलता है। बल्कि यह आरण्यक अन्न को सभी भौतिक प्रणियों से श्रेष्ठ मानता है और कहता है कि यह अन्न सभी औषधियों का मूल है। अन्न द्वारा सबकुछ प्राप्य है। इससे और किचिंत आगे बढ़ कर आरण्यककार कहता है कि जो व्यक्ति अन्न की रक्षा और उत्पत्ति करता है, वह मानो ब्रह्म की उपासना ही करता है।

अन्नं ही भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वाौषधमुच्यते।
सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽत्रं ब्रह्मोपास्यते।।

ऐतरेय आरण्यक (द्वितीय प्रपाठक अध्याय एक से तीन) अन्न और आनन्द को एक माना गया है। कहा गया है कि वनस्पति तथा वृक्ष अन्न (थ्ववक) है और पशु खाने वाला (आनन्द) है। पशु के लिए वृक्ष खाद्य है उसी प्रकार जिनके दांत हैं जैसे मनुष्य पशु और वृक्ष आनन्द हैं। इसी प्रकार अन्य भी अन्य के लिए अन्न बनते हैं।

4.4.5 वैश्वानर अग्नि

मैत्रेयीआरण्यक सम्पूर्ण विश्व को चलायमान करने वाली शक्ति के रूप में 'अग्नि-पुरुष' की महत्ता को प्रतिपादित करता है और उसके बिना सम्पूर्ण विश्व को निर्जीव शकट के रूप में

बताता है। आरण्यककार कहता है कि मानव जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति मन, प्राण, वाक् इन तीनों में समाहित है। हमारी देह में प्राण स्पंदन रूप में विद्यमान है तथा सम्पूर्ण विश्व की गति इसी स्पन्दन से ही है। बिना प्राण के पळचमहाभूत तत्त्वों द्वारा निर्मित यह शरीर निर्जीव काष्ठ-पळजर से बना शकट मात्र है। मन, प्राण और वाक् इनके मिलन से एक नयी शक्ति या अग्नि उत्पन्न होती है जिसे 'वैश्वानर अग्नि' कहते हैं। यही अपने वैश्वानर रूप में 'अग्नि पुरुष' के नाम से जाना जाता है। यही वैश्वानर अग्नि शरीर द्वारा खाये भोजन का पाचन करता है। (मैत्रेयी आरण्यक - 2/3, 2/6)।

4.4.6 पंचमहायज्ञ

तैत्तिरीय आरण्यक 2/10 में आरण्यककार कहता है- "जो अग्नि में आहुति देता है, वह देव यज्ञ करता है। जो भूतों (अन्य प्राणियों) को बलि देता है वह भूत-यज्ञ करता है। जो ब्राह्मणों को भोजन करता है वह मनुष्य-यज्ञ करता है। जो स्वाध्याय करता है वह ब्रह्म-यज्ञ सम्पन्न करता है। अतः हर एक गृहस्थ को पंचमहायज्ञ अवश्य करना चाहिए।

स्वाध्याय और प्रवचन दोनो ही मनुष्य को एकाग्रचित्त बनाते हैं। ब्रह्म-यज्ञ से मनुष्य को इन्द्रियों पर संयम, सदा एकरसता, बुद्धि की वृद्धि, यशवृद्धि, लोगों की अतिश्रद्धा आदि प्राप्त होती है।

वस्तुतः भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ का विधान तो ब्राह्मण में प्राप्त होता है। किन्तु प्राणिजाति को तृप्त करने की उदात्त भावना का निर्वाह आरण्यकों एवं उपनिषदों में व्यापक स्तर पर देखने को मिलता है- "अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रुते.......... तद्वा एतद्विदितं मीमाँसितम्।" अर्थात् हवन व यज्ञ करने से देवलोक, स्वाध्याय करने से ऋषिलोक, सन्तानेच्छु पितरों का पिण्ड आदि देने से पितृलोक, मनुष्यों को आवास तथा भोजन देने से मनुष्यलोक, पशुओं को जल व तृण देने से पशुलोक और पक्षी, चींटी आदि को तृप्त करने से अनेक लोकों की प्राप्ति होती है।

4.4.7 सोमयाग

ऐतरेय आरण्यक का प्रधान विषय सोमयाग है। यह एक दिन का प्रयोग है। समस्त सोमयाग की प्रकृति है; अतः इसका विधान प्रथम, द्वितीय और तृतीय पष्चिका के पष्चम अध्याय के पांचवे खण्ड तक है।इस यज्ञ के अन्तर्गत अश्वमेध, राजसूय एवं वाजपेय यज्ञ आते हैं। वाजपेय यज्ञ पुत्र प्राप्ति से सम्बन्धित है। बृहदारण्यकोपनिषद् में सोमयज्ञों में अश्वमेध का वर्णन मिलता है। शेष यागों का केवल दिग्दर्शन मात्र है। अश्वमेध यज्ञ का सम्बन्ध प्रजापति से होता है। अश्वमेध के अश्वावयवों में सम्पूर्ण सृष्टि का समारोपण कर दिया गया है। तात्त्विक दृष्टि से जो अश्वमेध याग को जान लेता है उसे यथार्थ फल की प्राप्ति होती है। इसको जानने वाले मृत्यु से पार हो जाते हैं। अतः मृत्यु उनकी आत्मा हो जाती है। इस विषय में और भी कहा गया है कि यह लोक और बत्तीस देवरथावाहन हैं। इसके चारों ओर दूनी पृथ्वी तथा दूना समुद्र क्रमशः घेरे हुये हैं। जितनी पतली क्षुरधारा तथा सूक्ष्म मक्खी का पंख होता है उतना उनके बीच में आकाश है। उस आकाश रूप छिद्र से वे वायु में जाते हैं।

4.4.8 अश्वमेधयज्ञ

बृहदारण्यक के प्रथम अध्याय में अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है। बृहदारण्यक का शाब्दिक अर्थ है विशाल वन से सम्बन्धित। इसमें अश्व के शरीर को प्रतीक बनाकर प्रजापति के विराट् स्वरूप

का वर्णन किया गया है। अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है पर यह स्थिति तब तक नित्य नहीं होती जब तक मनुष्य अज्ञान पर नियन्त्रण न कर ले।

अश्वमेध यज्ञ का उद्देश्य राजनीतिक होता था। प्रत्येक प्रतापी नरेश से यह आशा की जाती थी कि वह इस यज्ञ का अनुष्ठान करके इन्द्रपद की प्राप्ति कर ले। महाभारत में इसका वर्णन मिलता है कि पाण्डवों ने एक बडे समारोह के साथ अश्वमेध यज्ञ किया था।

4.4.9 अग्निहोत्र यज्ञ

तैत्तिरीय आरण्यक (10/63) में अग्निहोत्र यज्ञ का वर्णन है। यह गृहस्थ के लिए सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। गृहस्थ व्यक्ति को इसे सपत्निक प्रातः एवं सायं करना चाहिए। इसकी ज्योति स्वर्ग तक है।

4.4.10 ॐ का महत्त्व

मैत्रायणी आरण्यक में 'ॐ' को ही प्रणव (यह अक्षर परमात्मा का सबसे समीपवर्ती (प्रियतम) नाम है। उसका उच्चारण किए जाने पर परमात्मा ठीक उसी प्रकार प्रसन्न होता है जिस प्रकार हम साधारण मनुष्य), उद्गीथ (सामवेदीय स्त्रोत्र विशेष का नाम उद्गीथ है। यह ॐकार का उपास्य स्वरूप है। ॐकार के सामवेदी उपासना को उद्गीथ कहा जाता है) तथा ब्रह्म कहा गया है- य उद्गीथः, स प्रणवः एतद् ब्रह्म। तस्माद् ॐ इत्यनेन उपासीत् - (मैत्रा. आ.- 6/4)।

4.4.11 गायत्री का महत्त्व

तलवकार आरण्यक में गायत्री के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि ओम् परमज्ञान और बुद्धि का कारण है। ओम् से गायत्री की उत्पत्ति हुई है।- तद् एतद्भूतं गायत्रम्। एतेन वै प्रजापतिरमृतत्त्वम्। ऐतन् ऋषयः। (जैमि. उ. ब्रा.-3/7/3)। गायत्री के रूप में यह पवित्र ज्ञान सर्वप्रथम कश्यप ऋषि को प्राप्त हुआ।

4.4.12 महावाक्य

वेदान्त दर्शन के प्रसिद्ध महावाक्यों में तत्त्वमसि (वह ब्रह्म ही जीवरूप में है), अहं ब्रह्मसि (मैं, ब्रह्मस्वरूप हूँ), शांखायन आरण्यक में समुपलब्ध हैं। यह अनुभूति साधना की पराकाष्ठा है। अध्याय 13 में लिखा है कि यदयम् "आत्मा स एष तत् तत्वमसि इत्यात्माऽवगम्यः अहं ब्रह्मास्मि।"

4.4.13 अर्थज्ञान का महत्त्व

आरण्यक वैदिक शब्दों की व्युत्पत्तियों का संग्रह भी है। शांखायन आरण्यक के आध्याय 14 में वेदार्थ ज्ञान के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है-

स्थाणुरयं भरहारः किलाभूद्, अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते, माकमेति ज्ञान विधूतपापात्मा।।

अर्थात् अर्थज्ञान के बिना वेदों का अध्ययन मूर्खता है। जो वेदार्थ का ज्ञानी है, उसके सारे पाप कट जाते हैं और वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

4.4.14 धर्म

'धर्म को विश्व के धारक तत्त्व के रूप में स्थापित करते हुए कहा गया है कि धर्म पद में सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा मानी गयी है। जैसा कि लोक में देखा जाता है कि प्रजा धर्मनिष्ठ के पास ही जाती है और धर्म से पापों की निवृत्ति भी होती है- "धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठालोके धर्मिष्ठ प्रजा उपसर्पयन्ति, धर्मेण पापमनुदति, धर्मे प्रतिष्ठितमं तस्माद् धर्म परमं वंदन्ति" (तै. आ. 10/63/7)

4.4.15 प्राणविद्या

आरण्यक का मुख्य विषय यज्ञ नहीं, प्रत्युत यज्ञयागों के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा है; यज्ञीय अनुष्ठान नहीं, बल्कि तदन्तर्गत दार्शनिक विचार ही इनके मुख्य विषय हैं। प्राणविद्या की भी महिमा का विशेष प्रति-पादन यहाँ स्पष्टतः उपलब्ध होता है। संहिता के मन्त्रों में इस विद्या का संकेत अवश्य है, परन्तु आरण्यकों में इन्हीं बीजों का पल्लवन है। प्राणविद्या का महत्त्व आरण्यकों का विशेष प्रतिपाद्य है। इस विद्या का सर्वाधिक वर्णन ऐतरेय आरण्यक में है। बलदेव उपाध्याय जी वैदिक साहित्य नामक पुस्तक में लिखते हैं -आरण्यक प्राणविद्या को अपनी अनोखी सूझ नहीं बतलाते प्रत्युत ऋग्वेद के मंत्रों को अपनी पुष्टि में उद्धृत करते हैं। जिससे प्राणविद्या की दीर्घकालीन परम्परा का इतिहास मिलता है। आरण्यकों में आध्यात्मिक दृष्टि में प्राण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। भौतिक संसार देवता एवं ऋषि इन सबकी उत्पत्ति प्राण से मानी गयी है। ऐतरेय आरण्यक (2/1/6) में कहा गया है कि प्राण ही इस विश्व का धारक है। प्राणरूपी परुष से ही पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाओं और जल आदि की उत्पत्ति हुई है और इसी से अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और वरुण भी उत्पन्न हुए हैं। प्राण परुष का पृथिवी के समान मुख अन्तरिक्ष के समान उसकी नासिका तथा द्युलोक के समान उसका ललाट उक्थ है। प्राण की शक्ति से मनुष्य से लेकर चींटी तक सब जीव स्थित हैं। प्राण सब जगह पर व्याप्त होता है- सर्वं हीदं प्रणेना व्रतम्। प्राण के द्वारा ही अन्तरिक्ष तथा वायु की भी उत्पत्ति हुई है। पहले अन्तरिक्ष की उत्पत्ति हुई फिर वायु की अतः अन्तरिक्ष एवं वायु को पिता-पुत्र की उपमा दी गयी है। ऐतरेय आरण्यक में सूर्य तथा प्राण को एक ही माना गया है। ऐतरेय आरण्यक (2/1/7) में सूर्य तथा प्राण को एक ही माना गया है- प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्चान्तरिक्षं वा अनुचरन्त्यन्तरिक्षमनु शृण्वन्ति। वायुस्मै पुण्यं गन्धमावहत्येवमेतौ प्राणं प्रतरं परिचरतोऽनरिक्षं च वायुश्च। और उसी के साथ-साथ सब वेदों, ऋचाओं और ध्वनियों को भी प्राण कहा गया है- ता वा एताः सर्वाः ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्यावहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्। (ऐ. आ.- 2/2/2)। अतः प्राणरूपी पुरुष का ध्यान करना चाहिए।

4.4.16 उक्थ

उक्थमुक्थम् के द्वारा यज्ञ के अंगों की उपासना के महत्त्व को बताया गया है- "उत्तिष्ठतेन देवताप्रसाद इत्युक्थम्।" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे देवता प्रसन्न होते हैं वह उक्थ है। ब्रह्म को उक्थ कहा गया है अतः ब्रह्म के स्वरूप आधिदैव्, अधिभौतिक, आध्यात्मिक तीनों को उक्थ कहा जाता है।

उक्थ एक प्रशंसनीय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतएव यदि हम ब्रह्म अर्थात् परमात्मा को जानना चाहते हैं तो उसके लिए एकाग्रचित्त होना पड़ेगा। मन की एकाग्रता के लिए उपासना आवश्यक है। आरण्यक में उपासना दो अर्थों में प्रयुक्त है- (1) ब्रह्मोपासना, (2) प्रतीकोपासना।

1. ब्रह्मोपासना

ब्रह्म का गुण विशेष द्वारा मनन, चिन्तन ब्रह्मोपासना है। आरण्यक में ब्रह्म को उक्थ भी कहा गया है। ईश्वरीय ध्यानावस्था की स्थिति में चित्त शोधन, चित्त प्रसन्नता और चित्त नियमन को प्रमुखता दी गयी है। यहाँ मन को महत्त्वपूर्ण साधन मानकर ईश्वरीय ध्यान योग में उसपर नियन्त्रण रखने का आदेश दिया गया है। उदाहरण स्वरूप हम देख सकते हैं कि जैसे आकाश में आकाश का विलय हो जाता है ठीक वैसे ही चित्त में चित्तवृत्तियों का विलय हो जाने से मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है।

2. प्रतीकोपासना

लौकिक पदार्थों का आश्रय लेकर उसका ब्रह्मभाव से मनन करना प्रतीकोपासना है, जैसे- मूर्तिपूजा, प्रकृतिपूजा इत्यादि। आरण्यकों में प्रतीकोपासना दो विधि से सम्पन्न की जाती थी। (1) यज्ञ के बहिर्भूत पदार्थों का चिन्तन (2) यज्ञ के अंगभूत पदार्थों का चिन्तन। उनमें से यज्ञों की वासना से वासित होने के कारण मन सहसा ही लग जाता है। क्योंकि मनुष्य का याज्ञाङ्ग पदार्थों से परिचय सहज है। इसलिए उसका मन सरलता से यज्ञ की ओर आकृष्ट हो जाता है। यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं- उत्तिष्टत्यनेन देवताप्रसाद इत्युक्थम्।

4.5 आरण्यकों की दार्शनिक अवधरणा

हिरण्यगर्भ सूक्त का ऋषि प्रश्न करता है- कस्मै देवाय हविषा विधेम? अर्थात् अनान्य शक्तियों में हम किस शक्ति की उपसना करें? पुरुष सूक्त में परमसत्ता के विराट स्वरूप की कल्पना की गयी है वहीं नासदीय सूक्त में सत्-असत् से परे आद्य तत्त्व की कल्पना प्राप्त होती है। उस परमसत्ता तक पहुँचने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मकाण्ड के कठोर नियम लेकर आए। आरण्यकों ने बिना गहन अनुभूति के कर्मकाण्ड में विश्वास का विरोध किया। आरण्यक इस विचार के साथ हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं कि रहस्यात्मक शक्तियाँ केवल बाह्य कर्मकाण्ड में उपस्थित नहीं हैं बल्कि चिन्तन और ध्यान की कुछ विशेष विधियों के साथ उपस्थित होते हैं। यह सिद्धान्त आत्म की चेतनता और ध्यान और चिन्तन की रहस्यात्मक शक्तियों का पहचान कराती हैं।

एस. एन. दास गुप्त अपनी पुस्तक 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' में आरण्यक साहित्य के विशेष धर्म-दार्शनिक स्वरूप को उद्घाटित करते हुए कहते हैं- "We find that the conception of one great being who created the world and the Gods, and who is also the power presiding over our lives and sprites was gradually dawning in the mind of few people- In Aranyaka literature] which contains the substitution meditations the value and power of thought is realized for the first time-"

4.5.1 ब्रह्म की अवधारणा

जिस ब्रह्म की अवधारणा उपनिषदों में पूर्णरूप से स्थापित हुई है उस ब्रह्म शब्द का प्रयोग आरण्यकों में महाव्रत तथा प्रवर्ग्य की व्यख्या के सन्दर्भ में आया है। 'ब्रह्म' शब्द आरण्यकों में कई बार आया है। ब्राह्मण ग्रन्थों का भाग होने के कारण आरण्यकों ने 'यज्ञ' जैसे 'महाव्रत' तथा प्रवर्ग्य इत्यादि का वर्णन किया है।

ऐतरेय आरण्यक में ब्रह्म को परम सिद्धान्त (तत्त्व) के रूप में मानते हुए यज्ञ के अनेक तत्त्वों में मान लिया है। महाव्रतयज्ञ को ब्रह्म कहा गया है। गायत्री मन्त्र जिससे यज्ञ में स्तुति की जाती है,

ब्रह्म कहा है। तैत्तिरीयारण्यक 9/1/1 में ब्रह्म को सर्वाेच्च मानते हुए कहा गया है कि अन्तरिक्ष में, सृष्टि के केन्द्र बिन्दु में, सुख नामक लोक में महान स्वरूप धारण कर दिव्य ज्योतियों के साथ वह ब्रह्म विराजता है। वही ब्रह्म पुनः अपने सूक्ष्म रूप में प्रजापति का स्वरूप धारण कर सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी और पदार्थों में सर्वदा मौजूद रहता है- "अम्भस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महत्तोः प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः" (तै. आ.- 10/1/1)।

4.5.2 पुरुष की अवधारणा

आरण्यक में भी पुरुष के द्वारा ब्रह्मण्ड की सृष्टि मानी गयी है। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार- "पुरुष के हजारों सिर हजारों आँखें और हजारों पैर हैं। जो कुछ था और जो कुछ भी होगा सभी पुरुष है। पुरुष अपने आप को सृष्टि करने के लिए यज्ञ में अर्पित करता है जिससे सृष्टि का निर्माण होता है।

ऐतरेय आरण्यक चार पुरुषों की बात करता है, जिनका नाम इस प्रकार है- (1) शरीर पुरुष, (2) छन्दपुरुष, (3) वेद पुरुष और (4) महापुरुष (Great Person)। शरीर पुरुष अनित्य है। निराकार की स्वचेतना इसका सार है। छन्दःपुरुष शब्दों का समूह है। इसका सार वर्ण 'अ' है। वेदपुरुष वह है जो वेद को जानता है। इसके सारतत्त्व को 'ब्रह्मा' प्रधान पुरोहित हैं। महापुरुष संवत्सर है इसके सार 'सूर्य' हैं। पुनः आरण्यक ने कहा कि तत्त्व - "निराकार चेतन स्व और सूर्य एक ही हैं। आरण्यक ने कहा है कि पुरुष (व्यक्ति) और आत्मा (स्वयं) की अवधारणाएं समान हैं। पुरुष शब्द यहाँ होने के ब्रह्मांडीय सिद्धांत को संदर्भित करता है।"

प्राणविद्या के विवेचन में ऐतरेय आरण्यक पुरुष का तादात्मय प्राण से करते हैं- "अथातो भूतयोऽस्य पुरुषस्य।" इस पुरुष के वाणी से पृथ्वी और अग्नि की उत्पत्ति हुई तथा आँख से स्वर्ग और आकाश, कान से चन्द्रमा तथा तारे।

इससे स्पष्ट होता है कि ऐतरेय आरण्यक का ऋषि पुरुष-सूक्त से प्रभावित हैं तथा उसके सिद्धान्त उन्हें मान्य हैं। वे पुरुष के स्थान पर 'प्राण' तत्त्व की स्थापना करना चाहते हैं। आरण्यक में परुष शब्द का प्रयोग मानव के लिए भी हुआ है। ऐ. आ. (द्वितीय प्रपाठक के पहले से तीसरे अध्याय) के अनुसार पुरुष-मनुष्य पूर्व जन्म के कर्म का परिणाम है।

4.5.3 आत्मा का सिद्धान्त

ब्रह्म परम तत्त्व है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आन्तरिक नियामक है। जबकि व्यक्ति और इस महान ब्रह्माण्डीय शक्ति का आन्तरिक और अमर आत्म है। एक समान है आत्म ही ब्रह्म है तथा ब्रह्म ही आत्मा है। ब्रह्माण्डीय तथा मनोवैज्ञानिक तत्त्व ब्रह्मांडीय और मानसिक सिद्धांतों को समान ब्रह्म को आत्मा रूप में देखता है। ऐतरेय आरण्यक में 'आत्मन्' को 'उक्थ' (Praise Chant) कहा गया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अन्न और आनन्द, जड़ और चेतन के सम्बन्धों में निहित है। पहले चरण में आत्मा को मात्र शरीर माना गया और क्रमशः इसे उच्च स्तर की सत्ता के लिए प्रयोग किया जाने लगा।

4.5.4 प्राण तत्त्व का सिद्धान्त

ऐतरेय आरण्यक में प्राण को इस विश्व का धारक तत्त्व माना गया है। शरीर मरणशील है तथा प्राण अमर है। प्राण सब जगह व्याप्त है- "सर्वहीदं प्राणेनावृतम्' प्राण से ही आकाश (स्थान) तथा वायु की उत्पत्ति है। ध्यात्व है कि प्राण सिर्फ वायु नहीं बल्कि वायु का मूल कारण है और

इसका स्वरूप तरंग की भांति है वेदों की ऋचाओं और ध्वनियों को प्राण कहा गया है- "ता वा एता सर्वाः ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एवं प्राण ऋच इत्येव विद्यात्" (ऐ. आ.- 2/2/2)।

4.5.5 ऐतिहासिक सन्दर्भ

ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम तीन अध्यायो मे कुछ ऐतिहासिक विवरण भी उपलब्ध हैं। इनके अनुसार भारत की पूर्वी सीमा मे विदेह आदि अनेक जातियो वा राज्य था। दक्षिण में भोज राज्य, पश्चिम में 'नीच्य' और 'अपाच्य' का राज्य, उत्तर में उत्तर कुरुओं और उत्तर मद्र का राज्य तथा मध्य प्रदेश मे कुरु एव पाष्चालों का राज्य था। इस तरह इस ब्राह्मण में अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों के भी नाम आए हैं, जैसे परीक्षित-पुत्र जनमेजय, मनु-पुत्र शर्यात, उग्रसेन-पुत्र युधांश्रौष्ठि, पिजवन पुत्र सुदास और दुष्यन्त-पुत्र भरत आदि। इसी प्रकार काशी, मत्स्य, कुरुक्षेत्र एव खाण्डव आदि स्थानों का भी उल्लेख मिलता है।

4.5.7 आरण्यकों का स्वरूप

हम जानते हैं कि वेद के दो विभाग हैं (क) मन्त्र विभाग, (ख) ब्राह्मण विभाग। इसकी पुष्टि - वेदो हि मन्त्रब्राह्मण भेदेन द्विविधः अथवा मन्त्र ब्राह्मणयोर्वदनामधेयम्। से होती है। वेद के मन्त्र भाग को संहिता भी कहते हैं। संहिता परक विवेचन को आरण्यक एवं संहितापरक भाष्य को ब्राह्मण कहते हैं। वेदों के ब्राह्मण विभाग में भी आरण्यक और उपनिषद् का भी समावेश पाया जाता है।

आरण्यकों के बाद उपनिषदों का विचार उपस्थित होता है । जैसा कि पहले कह चुके हैं उपनिषदों का वेद से अति घनिष्ठ संबंध है। वास्तव में संहिताओं (मंत्र भाग), ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों चारों का ऐसा अटूट संबंध है कि चारों में चारों सम्मिलित पाये जाते हैं । उदाहरण के लिए ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की "माध्यन्दिन संहिता" यानी मंत्र भाग का अंतिम अध्याय ही है । तैत्तिरीय संहिता का शेषांश तैत्तिरीय ब्राह्मण है और तैत्तिरीय ब्राह्मण के अंतिम भाग तैत्तिरीय आरण्यक, तथा तैत्तिरीय उपनिषद् है। मैत्रायणी और काठक संहिताओं से अधिक ब्राह्मणादि अब तक सम्मिलित ही हैं। छांदोग्य उपनिषद् में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तीनों हैं । यहीं बात बृहदारण्यक की भी है।

पं. राम गोविंद त्रिवेदी के ये वाक्य अभिनंदनीय हैं कि ष्साधारण क्रम यह मालूम पड़ता है कि संहिता का उत्तरांश ब्राह्मण है, ब्राह्मण का शेष आरण्यक है और आरण्यक का शेषांश उपनिषद् है। इस क्रम से और विशेष क्रम से भी ज्ञात होता है कि वेद-रूपी एक ही शरीर के सब अंश है। सबको लेकर वेद पूर्ण होता है। यही कारण है कि सनातन धर्म इन मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि चारों का वेदत्व और नित्यत्व मानते हैं । जैसे ऋग्वेद के मंत्र यजुः, साम और अथर्व संहिताओं में पाये जाते हैं वैसे ही ब्राह्मणों में भी पाये जाते हैं। जैसे ऋग्वेदीय ऋचाओं (मंत्रों) को सामवेद में गेय बताया गया है, वैसे ही ब्राह्मणादि में निर्वाचन किया गया है। फलतः ये चारों ही वेद हैं और चारों के ही द्रष्टा, स्मारक तथा प्रचारक ऋषि-महर्षि हैं। आध्यात्मिक अर्थ करने पर सभी ज्ञानमय हैं, अद्वैतवादी हैं; आधिदैविक अर्थ करने पर सभी सकाम और निष्काम यज्ञ-परक हैं तथा आधिभौतिक अर्थ करने पर सभी में इतिहास सम्मिलित है।"

'वैदिक साहित्य' का यह विवेचन प्रकृत विषय पर प्रचुर प्रकाश डालता है, तो भी प्रश्न यह है कि जिन ईश आदि प्रधान उपनिषदों में वेद संहिताओं अथवा ब्राह्मणादि के अंश सम्मिलित हैं

वे ही वेद अथवा वेद के अंग है अथवा उत्तर कालीन उपनिषद् भी, जिनमें प्राचीन उपनिषदों के उद्धरण चाहे हों भी, किंतु जिनमें ब्राह्मणादि के अंश उपलब्ध नहीं हैं, उसी पद के योग्य हैं।

आरण्यकों के स्वरूप को भली भांति समझने के लिए हमें आरण्यकों का संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् के साथ आरण्यक के सम्बन्ध के विषय में जानना होगा। जैसा की पूर्व में भी कहा गया है कि आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषदों के बीच की कड़ी हैं। तो सर्वप्रथम हम उनके आपसी सम्बन्ध के विषय में पढ़ेंगे।

4.7 सारांश

कर्मकाण्ड की दृष्टि से हम देखें तो हम पाते हैं कि ब्राह्मण एवं आरण्यक का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्राप्त होता है। बौद्धायन धर्मसूत्रकार ने आरण्यकों को ब्राह्मण की ही कोटि में परिगणित किया है तो श्रीमान् आप्टे महोदय का कथन है कि, "आरण्यक, ब्रह्मणों से सम्बद्ध धार्मिक एवं दार्शनिक लेखों का संग्रह है।" आरण्यकों से सिद्धान्त में देवताओं के उद्देश्य से लेकर हवि त्याग मात्र ही नहीं है अपितु उनके लिए यह समस्त विश्व ही यज्ञमय है। यज्ञ से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि क्षयिष्णु होने से आत्यन्तिक सुख नहीं प्रदान कर सकते ऐसा आरण्यकों का मत है। आरण्यकों के विषय में प्रो. विण्टरनिट्ज का मानना है कि छान्दोग्य और बृहदारण्यक जैसे महान् उपनिषदों का सुस्थिर एवं सुदृढ़ आधार आरण्यकों में निहित ज्ञानराशि ही है। वैदिक कर्मकाण्डों के धीरे-धीरे परिपक्व होने के साथ ज्ञान का मूलाधार आरण्यकों में पाया जाता है।

इस अध्ययन के पश्चात हम इस स्वयं को इस निष्कर्ष के सन्निकट पाते हैं कि आरण्यक ग्रन्थों एक ओर धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिपरक तथ्यों का प्रतिपादन करते हैं तो दूसरी ओर वे ऐतिहासिक, भौगोलिक ज्ञान भी उपलब्ध कराते हैं, जिससे इनकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। आरण्यकों की भाषा लौकिक संस्कृत होने से भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी इनकी उपयोगिता और बढ़ जाती है क्योंकि इसी भाषा के उत्कृष्ट एवं सुदृढ़ आधार पर विशाल संस्कृत साहित्य का निर्माण टिका हुआ है जो युगों से हमारा मार्गदर्शन करती चली आ रही है।

आरण्यकों में अन्तर्याग की महत्ता स्थापित की गयी है। "हमारा वास्तविक यज्ञ अपने अन्तर्मन 'प्राण' को आहुति देना ही है। इस अन्तर्यज्ञ को जानने वाला पापों से मुक्त हो जाता है। यह जानकर कि हमारे अन्तर्गत एक अखण्ड यज्ञ संचालित है, प्राचीन ऋषि बाह्य यज्ञ की चिन्ता नहीं करते। इस प्रकार आरण्यकों में यज्ञ के स्वरूप में अन्तर्यज्ञ (मनोयज्ञ) के महत्त्व का उद्घाटन करता है जिसकी पूर्ण प्रतिष्ठा उपनिषदों में स्थापित होती है। अब हम उपनिषदों का परिचय एवं प्रतिपाद्य की विवेचना अगले ईकाई में पढ़ेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से हम यह जान पाए हैं कि संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् एक दूसरे के पूरक अंग हैं। जिस प्रकार शरीर के किसी भी अंग के अभाव में अपूर्णता उत्पन्न होती है उसी प्रकार इन चारों अवयवों में से किसी के ज्ञान के अभाव की स्थिति भी वेद ज्ञान के अपूर्ण होने तुल्य ही होगी। अभी तक आपने संहिता, ब्राह्मण एवं इस इकाई को लेकर आरण्यकों के सामान्य परिचय, आरण्यक शब्द का अर्थ, आरण्यकों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य के विषय में पढा। उपनिषद विषयक चर्चा हम आगे की इकाई में करेंगे।

4.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. अरण्य - वन प्रान्त को अरण्य कहा जाता है।

2. सायण - भाष्यकार।
3. मेधा - बुद्धि।
4. सायण - भाष्यकार।
5. मेधा - बुद्धि।

4.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. भारतीय दर्शन, सर्वपल्ली राधाकृष्णन।
2. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी।
3. संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, सम्पा. बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान।
4. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी।
5. ऐतरेय-आरण्यक, सायण-भाष्यसहित, आनन्दआश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में, पूना से 1998 में प्रकाशित।
6. ऐतरेय आरण्यक (अंग्रेजी अनुवाद), अनु. प्रो. ए. बी. कीथ, लन्दन से सन् 1909 में प्रकाशित।
7. वैदिक संस्कृति, वाचस्पति गैरोला।
8. ऐतरेय-आरण्यक: एक अध्ययन, डॉ. सुमन शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1981।
9. शांखायन आरयक, सं. श्रीधरशास्त्री पाठक, आनन्दआश्रम, पूना, 1922।
10. तैत्तिरीयोयारण्यकम्, सायण-भाष्यसहित, राजेन्द्रलाल मित्रा, कलकत्ता, 1801।
11. तैत्तिरीयोयारण्यक, सायण-भाष्यसहित, आनन्दआश्रम, पूना से, 1926।
12. बृहदारण्यक, गीताप्रस, गोरखपुर एवं आनन्द आश्रम, पूना से प्रकाशित।
13. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण-तलवकार आरण्यक।
    i. सम्पा. डॉ. रघुवीर तथा लोकेशचन्द्र, नागपुर, 1954।
    ii. सम्पा. रामदेव, लाहौर, 1921।
    iii. सम्पा. बी. आर शर्मा, तिरुपति, 1967।

4.10 बोध प्रश्न

1. वैदिक साहित्य में उपलब्ध आरण्यकों की विवेचना करें?
2. आरण्यक ग्रन्थ वेद के अविभाज्य अंग हैं, पुष्टि कीजिए?
3. आरण्यकों की स्थिति ब्राह्मण और उपनिषद् के मध्य है, सिंद्ध करें?
4. आरण्यकों के अनुसार प्राण विद्या की विवेचना करें।
5. आरण्यकों में प्रतिपादित उपासना के स्वरूप को स्पष्ट करें।
6. आरण्यकों के अनुसार यज्ञ हेतु यज्ञकर्त्ता के लिए आन्तर्यज्ञ भी है। इस कथन की पुष्टि करें।
7. भारतीय संस्कृति में उपासना के बीज तत्त्व आरण्यकों से प्राप्त होते हैं। इस कथन की पुष्टि करें।

इकाई 5 उपनिषद साहित्य का परिचय

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

उपनिषदों का स्वरूप तात्पर्य एवं प्रतिपाद्य नामक इस ईकाई को जान लेने के बाद आप-

- उपनिषद् शब्द का अर्थ, नाम एवं इनकी संख्या की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- वेद में प्रतिपादित विषयों के निष्कर्षात्मक सन्देशों को समझ सकेंगे।
- भारतीय ज्ञान परम्परा में उपनिषदों का महत्त्व से परिचित हो सकेंगे।
- उपनिषदों में प्रतिपादित व्यावहारिक एवं परमार्थिक विद्याओं के रूपरेखा से परिचित हो सकेंगे।
- गूढ़ात्मक ज्ञान कहे जाने वाले प्रतिपादित सिद्धान्तों को आसानी से बोध कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान परम्परा में अन्य शास्त्र ज्ञान के साधन एवं प्रयोग की बात करते हैं किन्तु साध्य रूप में ज्ञान क्या है उसका स्वरूप एवं प्रतिपाद्य क्या है, इसका ज्ञान हमें उपनिषदों से प्राप्त होता है। उपनिषदें भारतीय ज्ञान सम्पदा की अमूल्य निधि है भारतीय सभ्यता का समग्र वैचारिक विकास उपनिषदों के आधार पर खड़ा हुआ है। यूनेस्को वर्ड हेरिटेज ने भारत के विरासत के रूप में योग एवं श्रुति परम्परा को स्वीकार्य किया है।

वस्तुतः विश्व को जो कुछ भी भारत ने दिया है उसमें उपनिषदों की केन्द्रीय भूमिका है। यहाँ तक कि योग के सिद्धान्तों एवं उसके प्रयोग उपनिषदों से प्राप्त होते हैं। ज्ञान-विज्ञान के सभी पक्ष हम उपनिषदों के बीजरूप में प्राप्त होते हैं। ऐसे में उपनिषद् विद्याकी समझ अत्यन्त उपयोगी एवं आवश्यक है।

5.2 उपनिषद का तात्पर्य

अमरकोषकार उपनिषद् शब्द का अर्थ- 'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्' के रूप में करते हैं। यहाँ उपनिषद् शब्द गूढ़ धर्म और रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन्हें 'ब्रह्म' के प्रतिपादक वेद के शिरो भाग अथवा अन्त में होने से ये वेदान्त या उत्तरमीमांसा भी कही जाती है। ब्रह्म ज्ञान, आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान, आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या- ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। संहिता, ब्राह्मण, अरण्यक में से ही ब्रह्म प्रतिपादक भागों को पृथक कर उनको 'उपनिषद्' कहा गया।

परम्परा में उपनिषद् ग्रन्थ की परिभाषा स्पष्ट एवं सार्थक होते हुए भी आधुनिक काल में पश्चिमी एवं भारतीय विद्वानों ने नये सिरे से विचार करने का प्रयास किया है। बहुतेरे योरोपीय विद्वान तथा उनके मतों में भारतीय अनुयायी इस बात पर सहमत हैं कि उपनिषद् का अर्थ वह ज्ञान है जो शिष्य अपने गुरु के सानिध्य (समीप) बैठ कर प्राप्त करता है।

इस सन्दर्भ में ए. मैक्समूलर ने अपने अध्यन से यह सिद्ध करना चाहा है कि उपनिषद् शब्द निम्नलिखित चार अर्थों में प्रयुक्त हुआ है-

i. गुह्य अथवा रहस्यमय व्याख्या, सत्यात्मक हो अथवा असत्य,

ii. इस व्याख्या से प्राप्त ज्ञान,

iii. इससे प्राप्त ज्ञानवान् के लिए पालन योग्य नियम अथवा व्रत,

iv. वे ग्रन्थ जिनमें इस प्रकार का ज्ञान निहित हो।

अपने विचारों के समर्थन में उन्होंने आरण्यक तथा उपनिषदों से मूल्यवान् उद्धरण दिये हैं किन्तु इस सन्दर्भ में कुछ भारतीय विद्वानों का मन्तव्य कुछ और ही हैं। यहाँ मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि उपनिषदों में उपनिषद् शब्द किन-किन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है बल्कि विचारणीय प्रश्न यह है कि उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ क्या है? जिससे उपनिषदों के लक्ष्य का पता चलता है।

5.2.1 उपनिषद शब्द का अर्थ

i. उपनिषद् शब्द 'सद्' धातु के पूर्व 'उप' और 'नि' उपसर्गों के योग से बनता है जिनमें 'उप' का अर्थ समीप तथा 'नि' का अर्थ नीचे होता है; 'सद्' का अर्थ शिक्षा है। इस विवेचना से तात्पर्य निकलता है कि शिष्यवृंद गुरु के समीप नीचे बैठकर शिक्षा ग्रहण करते हैं।

ii. उपनिषद् शब्द उप+नि+सद् इन तीन शब्दों के योग से बनता है इनमें 'सत्' शब्द क्रिया वाचक है और 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग हैं। व्याकरण के अनुसार उनसे एक समूचा अर्थ शब्द उपनिषद् बनता है और यह भी सही है कि इस शब्द का धातु अर्थ समीप तथा नीचे बैठना, शिष्य का गुरु के समीप, उनसे नीचे बैठकर अध्ययन करना होता है। योरोप की पठन-पाठन विधि जो भी रही हो किसी भारतीय को यह बताने की जरूरत नहीं कि शिष्य का आसन सदैव गुरु के आसन से नीचे होना चाहिए और यह भारत में सदैव होता ही आ रहा है।

iii. आर्चाय शंकर ने उपनिषद् शब्द की व्याख्या उपनिषद् भाष्यों में प्रगट किया है। 'कठोपनिषद् भाष्य' के आरम्भ में ही वे लिखते हैं कि, "विशरण (नाश) गति और अवसादन (शिथिल) करना" इन तीनों अर्थों वाली तथा 'उप' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक एवं विनय प्रत्यान्त 'सद्' धातु से उपनिषद् रूप बनता है। शंकराचार्य का आशय है कि जब मोक्ष चाहने वाले व्यक्ति जीवन से जुड़ी सभी कामनाओं से विरक्त होकर इस विद्या के पास जाते हैं तथा उसका निष्ठापूर्वक परिशीलन करते हैं तो यह विद्या उनके अज्ञान का विशरण अर्थात् समाप्त कर देती है। इस प्रकार यह विद्या व्यक्ति को परम तत्त्व से जोड़ती है, अतः यह 'ब्रह्मविद्या' कही जाती है। ब्रह्म आन्तरिक रूप से जीव में 'आत्मारूप' में स्थित है अतः 'ब्रह्मविद्या' 'आत्मविद्या' भी कही जाती है।

शंकराचार्य इस बात को और स्पष्ट करते हुए 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की भाष्यभूमिका में लिखते हैं कि अपना सेवन करने वाले पुरुषों के गर्भ, जन्म, जरा आदि का पूर्ण अवसादन करने के कारण उपनिषद् शब्द से विद्या कही गयी है अथवा 'ब्रह्म' के समीप के समीप ले जाने वाली होने के कारण यह विद्या उपनिषद् विद्या है या जो मनुष्य के अज्ञान को हटाकर उसे 'ब्रह्म' को प्राप्त करा देती है। ज्ञान की यह शक्ति उपनिषद् के वाक्यों में ही विद्यमान है।

iv. वास्तव में संहिताओं (मन्त्र भाग), ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों चारों का ऐसा अटूट सम्बन्ध है कि चारो में चारों सम्मिलित पाये जाते है। जैसे उदाहरण के लिए ईशावस्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की ''माध्यन्दिनसंहिता'' यानी मंत्र भाग का अन्तिम अध्याय ही है। तैत्तिरीय संहिता का शेषांस तैत्तिरीय ब्राह्मण है और तैत्तिरीय ब्राह्मण के अंतिम भाग तैत्तिरीय आरण्यक, तथा तैत्तिरीय उपनिषद् है। मैत्रायणी और काठक संहिताओं से अधिक ब्राह्मणादि अब तक सम्मिलित ही हैं। छांदोग्य उपनिषद् में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तीनों हैं। यही बात बृहदारण्यक की भी है। इस सन्दर्भ में पं. रामगोविन्द त्रिवेदी का कथन महत्त्वपूर्ण है कि, ''साधारण क्रम यह मालूम पड़ता है कि संहिता का उत्तरांश ब्राह्मण है, ब्राह्मण का शेष आरण्यक है और आरण्यक का शेषांश उपनिषद् हैं। इस क्रम से और विशेष क्रम से भी ज्ञात होता है कि वेद-रूपी एक ही शरीर के सब अंश हैं। सबको लेकर वेद पूर्ण होता है। यही कारण है कि सनातन धर्मी इन मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि चारों का वेदत्व और नियत्व मानते हैं। जैसे ऋग्वेद के मंत्र यजुः, साम और अथर्व संहिताओं में पाये जाते हैं वैसे ही ब्राह्मणों में भी पाये जाते हैं। जैसे ऋग्वेदीय ऋचाओं (मंत्रो) को सामवेद में गेय बताया गया है, वैसे ही ब्राह्मणादि में निर्वचन किया गया है। फलतः ये चारों ही वेद हैं और चारो के ही द्रष्टा, स्मारक तथा प्रचारक ऋषि-महर्षि हैं। आध्यात्मिक अर्थ करने पर सभी ज्ञानमय हैं, अद्वैतवादी है; आधिदैविक अर्थ करने पर सभी सकाम और निष्काम यज्ञ-परक हैं तथा आधिभौतिक अर्थ करने पर सभी में इतिहास सम्मिलित है।''

v. उपनिषदों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वेदान्त, पराविद्या, ब्रह्मविद्या, आध्यात्म, आत्मविद्या एवं गुप्त विद्या इत्यादि उपनिषद् के विभिन्न नाम हैं तथापि सबको उपनिषद् नाम सामान्य है और जिन ग्रन्थों में इस विद्या का उपदेश है। उन्हें भी उपनिषद् कहते हैं इसप्रकार उपनिषद् की परिभाषा निश्चित कर लेने पर उपनिषदों की संख्या और वर्गीकरण पर विचार करना उचित होगा।

5.2.2 उपनिषद् एवं वेदान्त

ध्यातव्य है भारतीय परम्परा में मंत्र अर्थात् संहिता के साथ ब्राह्मण ग्रन्थ आरण्यक और उपनिषद् सभी एक ही वैदिका ज्ञान राशि के अभिन्न अंग अथवा शाखाएँ हैं। महर्षि आपस्तम्ब जो कि स्मृतिकार हैं ने स्पष्ट कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों उपनिषद् में आते हैं। अतः उपनिषद् भी 'वेद' पद वाच्य हुए। उपनिषदों के अन्तःसाक्ष्य से पता चलता है कि उपनिषदों का वेदान्त भी कहते हैं और वेदान्त तथा उपनिषद् पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते थे। श्वेताश्वरोपनिषद् में यह कहा है कि-

वेदान्ते परमं गुह्यं पुरा कल्पे पचोदितम्।
माप्र शान्ताय दातव्यं ना पुत्रयाशिष्याय ना पुमः।।

वेदान्त में आर्थात् उपनिषदों में परम गुह्य इस विद्या को पूर्वकल्प में प्रेषित किया गया था, जिसका चित्त अत्यन्त शांत न हो उस पुरुष को या जिसे इस परम्परा से अत्यान्तिक भावनात्मक लगाव न हो (अर्थात् जो पुत्र या शिष्य न हो) उसे यह ज्ञान नहीं देना चाहिए। ऐसा वेद की शाखा एवं स्वाध्याय रक्षा के लिए कहा गया है। वेदार्थ ज्ञान की प्राप्ति से उन्हें वंचित करने के लिए नहीं। चूंकि मूलरूप में वैदिक ज्ञानराशि की रक्षा एवं प्रकट एक कठोर अनुशासन एवं समृद्ध परम्परा की मांग रखती है अतः इस प्रकार की सावधानी का संकेत किया गया। वेदार्थ ज्ञानराशि को प्रगट करने वाले समूचे भारतीय धर्मशास्त्र यथा- पुराण, रामायण, महाभारत तथा काव्य सभी व्यक्तियों के लिए खुले हैं।

अब तक के इन विवेचनाओं के आलोक में यह कहा जा सकता है कि व्यवधान रहित (उप) सम्पूर्ण (नि) ज्ञान (षद्) ही उपनिषद् के अवयव है अर्थात् वह उच्च ज्ञान जो ज्ञान वस्तु से अभिन्न रूप में देश, काल तथा वस्तु की सीमाओं से रहित परिपूर्ण ज्ञान है। इसलिए जब तक ज्ञान के स्वरूप का ठीक-ठीक विचार न कर लिया जाएगा, तब तक उपनिषद् क्या है, यह बात स्पष्ट नहीं हो सकेगी।

5.2.3 ज्ञान का स्वरूप

पहली बात तो यह है कि किसी भी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ठीक-ठीक निश्चय करने में ज्ञान ही अन्तिम निर्णायक है। यदि कोई वस्तु रहे और उसे जानने वाला कोई न हो तो हम कैसे कह सकते हैं कि वह वस्तु है। हमारा सम्पूर्ण व्यवहार ज्ञान के आधार पर चलता है। वस्तु को जाना जाए इसके लिए वस्तु के ज्ञान की आवश्यकता है किन्तु ज्ञान के साथ यह शर्त पूरी तरह लागू नहीं हैं। ज्ञान, 'वस्तु' के बिना भी उपलब्ध रहता है।

उदाहरण के लिए किसी वस्तु की सत्ता का ज्ञान सर्वप्रथम इन्द्रियों के जुड़ने से होता है, और इसी प्रकार जब इन्द्रियां मन से, मन बुद्धि से और बुद्धि का सम्पर्क ज्ञानस्वरूप आत्मा से होता है तो ज्ञान निश्चित होता है। यदि किसी वस्तु का हमें ज्ञान न हो तो हम कहते हैं कि उस वस्तु के बारे में हमारा अज्ञान है अतः अज्ञान का अनुभव भी ज्ञान है। अतः कोई वस्तु है तो उसका ज्ञान होता है। ज्ञान जिससे होता है वह ज्ञान का साधन है। साधन यदि विश्वास योग्य है तो उस साधन को प्रमाण कहते हैं और साधन के उपयोग कर्त्ता को ज्ञाता कहते हैं। अतः किसी ज्ञान की प्रक्रिया में वस्तु, ज्ञान तथ ज्ञाता तीन पक्ष हैं। इन तीनों पक्षों के एकीकृत रूप को अखण्ड ज्ञान कहते हैं।

दूसरी बात तो यह कि ज्ञान स्वयं-प्रकाश है। ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति अनेक हो सकते हैं, उनकी मान्यताएं, क्षमताएं भी अलग-अलग हो सकती हैं परन्तु इन सभी का ज्ञान एक ही होता है। उदाहरण के लिए, कम प्रकाश में स्थित शाखाविहीन धड़, भिन्न-भिन्न मनुष्य को चोर, सिपाही, मनुष्य अथवा भूत के रूप में प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु ज्ञान रूप मे ंतो सबका एक ही ज्ञान होगा कि यह ठूँठा पेड़ है। इसलिए ज्ञान स्वयं प्रकाश है। उसे प्रकाशित करने के लिए किसी अतिरिक्त वस्तु पर निर्भर नहीं होना पड़ता।

तीसरी बात यह है कि ज्ञान सभी कालों में एक ही रहता है ज्ञान में भूत, भविष्य, वर्तमान का भेद नहीं होता जो ज्ञान भूत में सत्य था वह भविष्य में भी सत्य ही रहेगा। अतः ज्ञान काल में बंधा नहीं है स्वयं काल ही ज्ञान के अन्तर्गत है।

इसी प्रकार ज्ञान देश (स्थान) से आबद्ध नहीं है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की कल्पना किसी ग्रह (ध्रुव या सूर्य) के सापेक्ष की जाती है। अतः दिशाओं की कल्पना वस्तुनिष्ठ नहीं संवित्मात्र (चेतना) पर आधारित है।

अब हम यह देख चुके हैं कि देश एवं काल का भेद ज्ञाता सापेक्ष है अतः देश-काल में उत्पन्न ज्ञान और उसका विषय भी अकल्पित कैसे होगा? अतः ज्ञान अपने विषयों से भी सीमित नहीं होता। ज्ञान अपने विषय से व्यापक है।

अतः अब हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि ज्ञान में ज्ञेय और ज्ञाता दोनों ही एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं परन्तु ज्ञान दोनों की या दोनो में से किसी एक की अथवा किसी अन्य की अपेक्षा रखे बिना स्वतः सिद्ध है। ज्ञान का कोई विरोधी नहीं स्वयं अज्ञान भी ज्ञान के द्वारा जाना जाता है। उपनिषदों में इसी प्रकार के ज्ञान संग्रहित हैं।

5.3 उपनिषदों का स्वरूप

वेद के स्वरूप के साथ ही उपनिषद् का स्वरूप उभर कर सामने आता है। उपनिषद् मन्त्रात्मक तथा गद्यात्मक दोनों रूपों में उपलब्ध होता है। जब हम कहते हैं कि, 'अनन्तावै वेदाः' तो इसका तात्पर्य यह है कि इनके प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप अनन्त है।

ऋक् संहिता की भाषायी संरचना छन्दात्मक है। साम संहिता ज्ञेयात्मक तथा यजुः संहिता की भाषयी संरचना गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दोनों है। चूंकि गुरु के समीप निश्चय किया हुआ ज्ञान उपनिषद् कहलाता है अतः उपनिषदों का स्वरूप बहुविध है। गुरु-शिष्य के मध्य जिस प्रकार से विचारों का आदान-प्रदान हुआ उसी प्रकार उपनिषदों का आकार बना। इसलिए उपनिषदें भंजात्मक, गद्यात्मक तथा पद्यात्मक तीनों ढंग से लिखी गयी हैं।

5.3.1 संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्

उपनिषदों का अध्ययन संहिता (मन्त्रों का समूह) ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों के पारस्परिक सम्बन्धों को जाने बिना अपूर्ण हैं। उपनिषदें संहिता प्रधान भाग जिसे वेद कहा जाने लगा है। उनसे उपनिषदों का अत्यन्त समीप है। उपनिषदों को वेद का सिरोभाग कहा गया है जिसमें वेद के ही अन्तिम सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदें किसी न किसी वेद की शाखा से जुड़ी हुई हैं। उदाहरण स्वरूप ईशावास्योपनिषद् में एक दो शब्द नये छोड़कर बाकी सभी वाजसनेयी संहिता के ही हैं। इसी प्रकार कई उपनिषदों जैसे कौशीतकी ब्राह्मणोपनिषद् में ब्राह्मण तथा ऐतरेय और बृहदारण्यक उपनिषदों में आरण्यकों के सम्मिश्रण से ब्राह्मण और आरण्यक का उपनिषद् के साथ एकत्व का परिचय मिलता है।

5.4 नाम एवं संख्या

इस सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं वेद ही ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व रूप में चार हैं। यह हम अक्सर कहते हैं। अब हमें यह देखना है कि क्या इसी प्रकार की कुछ बातें उपनिषदों के लिए भी हैं?

उपनिषदें कितनी हैं? इस विषय पर मुक्तिकोपनिषद् का प्रमाण महत्त्वपूर्ण है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार वेद की जितनी शाखाएं हैं उतनी ही उपनिषदें हैं। ऋग्वेद की 21, यजुर्वेद की 109,

सामवेद की 1000 और अथर्ववेद की 50 कुल 1180 शाखाएं हैं। इसके अनुसार कुल 1180 उपनिषदें होनी चाहिए परन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं। मुक्तिकोपनिषद् में ही 108 उपनिषदों का नाम दिया गया है।

यहाँ यह संन्देह हो सकता है कि उपनिषदों की 1180 शाखाओं का होना कल्पना मात्र है या इसका कोई आधार भी है? वस्तुतः उपनिषदों की संख्या बृहद् थी। इसे काल्पनिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि मुक्तिकोपनिषद् में जहाँ उपनिषदों की संख्या 108 दी गयी है। वहीं उपनिषदों की नामावली देने से पूर्व ही यह कह दिया गया है कि 108 उपनिषदों में ही सभी उपनिषदों का सार समाहित है और 108 उपनिषदों के नाम दे दिये गये हैं। इसी ग्रन्थ में नारायणउपनिषद् की दो व्याख्याएं पृथक-पृथक एवं रामतापिनी, नृसिंहतापिनी और गोपालतापिनी उपनिषदों के पूर्व और उत्तर दो अलग-अलग भाग किये जाने से यह संख्या 112 हो जाती हैं। (विस्तृत विवरण के लिए गीता प्रेस से प्रकाशित 'कल्याण' का 'उपनिषद्-अंक' देखें।) उपनिषद् के तुल्य ग्रन्थ पुराणों, महाकाव्यों में भी मिलते हैं जैसे- भगवद् गीता। उपनिषद् वाक्य महाकोश में 223 उपनिषदों का उल्लेख है। अय्यर लाइब्रेरी मद्रास से लगभग 200 उपनिषदें प्रकाशित भी हो चुकी हैं।

आजकल विषयवस्तु के वर्णन की विशुद्धता और अपनी प्राचीनता के कारण कुछ उपनिषदें अधिक लोकप्रिय एवं प्रामाणिक मानी जाने लगी हैं। इसका एक कारण यह भी है कि शंकराचार्य ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, श्वेताश्वर, ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य का भाष्य लिखा है तथा इनके अतिरिक्त अपने भाष्य में उन्होंने छः और उपनिषदों का नामोल्लेख किया है।

चूँकि समय के साथ वेद का विस्तार सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के क्रम से होते-होते वैदिक शाखा के रूप में आगे बढ़ा तथा फिर शाखा भेद में, इससे ही सम्प्रदाय भेद उत्त्पन्न होगया। इसलिए कालान्तर में उपनिषदों का विस्तार धार्मिक सम्प्रदायों के अन्तर्गत भी होने लगा। अय्यर लाइब्रेरी मद्रास से सम्प्रदाय के आधार पर वर्गीकृत सन्यास उपनिषद्, योग उपनिषद्, वेदान्त उपनिषद् और वैष्णव उपनिषद् शीर्षक से उपनिषदों के चार संग्रह प्रकाशित हैं।

उपनिषदों में वैष्णव, शाक्त, शैव, तथा योगविषयक उपनिषदों की प्रधानता है। कालान्तर में जब वैष्णवमत, शैवमत, शाक्तमत, सौरमत, गाणपत्यमत और ब्राह्ममत के सम्प्रदाय विकसित हुए तो इनकी अपनी-अपनी उपनिषदें भी प्रकाश में आई। उपलब्ध वैदिक शाखाओं की चौदह मुख्य उपनिषदें निम्नलिखित हैं-

वेद	शाखा	उपनिषद्
ऋग्वेद	शाकल बाष्कल	ऐतरेय उपनिषद् 1. कौषीतकि उपनिषद् 2. बाष्कल-मन्त्रोपनिषद्
सामवेद	कौथुम	छान्दोग्य-उपनिषद्
	जैमिनीय	केनोपनिषद्
कृष्णयजुर्वेद	तैत्तिरीय	तैत्तिरीय-उपनिषद्
	मैत्रायणी	मैत्रायणी-उपनिषद्
	कठ	कठोपनिषद्

	श्वेताश्वतर	श्वेताश्वतरोपनिषद्
शुक्लयजुर्वेद	काण्व	1. ईशावास्योपनिषद्
		2. बृहदारण्यकोपनिषद्
	माध्यन्दिन	1. ईशावास्योपनिषद्
		2. बृहदारण्यकोपनिषद्
अथर्ववेद	*पैप्लाद* *शौनक*	प्रश्नोपनिषद् 1. मुण्डक-उपनिषद् 2. माण्डुक्योपनिषद्

5.4.1 ईशावास्योपनिषद्

भारतीय परम्परा के उपनिषद् गणना-क्रम में इसे प्रथम स्थान पर रखा गया है। अधिकांश आचार्यों ने इस पर टीका लिखी है। इसमें कुल 18 मन्त्र हैं। इसमें न केवल वेदों का सार है बल्कि गीता का बीज भी है।

5.4.2 केन उपनिषद्

इसे तलवकार उपनिषद् भी कहते हैं क्योंकि यह तलवकार-ब्राह्मण का नवम् अध्याय है। इस उपनिषद् का मूल स्रोत अथर्ववेद का केन-सूक्त माना जात है। इसमें चार खण्ड हैं। दो पद्यात्मक तथा दो गद्यात्मक तथा कुल 34 मन्त्र हैं। इसमें यक्षोपाख्यान द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया है। जिसमें यक्ष, अग्नि, वायु, इन्द्र, उमा आदि पात्रों की ब्रह्म के विभिन्न शक्तियों के प्रतीक के रूप में रखा गया है।

5.4.3 कठ उपनिषद्

इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक में तीन-तीन वल्लियाँ हैं। सम्पूर्ण उपनिषद् में 119 मन्त्र हैं, जो प्रायः पद्यात्मक हैं। इस उपनिषद् में यम-नचिकेता संवाद है। यहाँ संवादरूप में आत्मा-परमात्मा के गूढ़ उच्च ज्ञान का विशद् और गम्भीर उपदेश दिया गया है। इसमें आध्यात्मिक उत्कर्ष के साथ-साथ लौकिक एवं व्यावहारिक उपदेश भी हैं। मानव कल्याण के निमित्त पाँचों यज्ञ-भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ का भी संकेत हुआ है। यह उपनिषद् सामाजिक-विज्ञान के क्षेत्र में कई आधारभूत सिद्धान्तों को उद्घाटित करती है।

5.4.4 मुण्डक उपनिषद्

यह उपनिषद् मुख्यरूप से तीन भागों में विभाजित है। इन भागों को मुण्डक कहा गया है। सम्पूर्ण उपनिषद् में कुल 64 मन्त्र हैं। मन्त्ररूप में होने से इसे मन्त्रोपनिषद् भी कहा जाता है। यह उपनिषद् उन सन्यासियों को लक्ष्य करके रची गयी है, जो राग-द्वेष से मुक्त हैं और ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के प्रति निष्ठावान् हैं।

5.4.5 माण्डूक्य उपनिषद्

आकार की दृष्टि से यह छोटी उपनिषद् है। परन्तु वर्ण्य विषय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी प्रसिद्धि का प्रमाण है कि आचार्य गौड़पाद कारिका नाम से इस पर चार खण्डों में विभक्त अपनी कारिकाएँ लिखी हैं। प्रथम मन्त्र में ही ब्रह्म के नाम 'ओम्' की अपार महिमा बताते हुए

उसे ब्रह्म से अभिन्न माना गया है- "ओमित्येदक्षरमिदं सर्वभूतस्योपव्य। ख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।"

5.4.6 प्रश्न-उपनिषद्

इसमें छः ऋषि (सुकेशा, शिविकुमार, सत्यकाम, सौर्यायणी, आश्वालयन, भार्गव, कबन्ध) ब्रह्म विद्या की खोज में महर्षि पिप्पलाद के समीप आते हैं और उनसे आध्यात्म विषयक प्रश्नों का उत्तर पूछते हैं। प्रश्नों के उत्तर के रूप में निबद्ध होने के कारण यह प्रश्न-उपनिषद् कहलाया।

5.4.7 श्वेताश्वतर उपनिषद्

यह उपनिषद् 'रुद्र-शिव' से सम्बन्धित होने से विशेषरूप में 'शैवमत' के गौरव की प्रतिपादिका है। यह छः खण्डों में विभक्त है। भारत के आगम-निगम परम्परा का समन्वय इस उपनिषद् में दिखता है। इसमें सभी प्रमुख दार्शनिक विचारधारा के अंकुर मिलते हैं।

5.4.8 तैत्तिरीय उपनिषद्

तैत्तिरीय आरण्यक के सप्तम्, अष्टम् और नवम् प्रपाठकों का नाम तैत्तिरीय उपनिषद् है। इन प्रपाठकों को क्रमशः शिक्षा वल्ली, ब्रह्मानन्द वल्ली और भृगुवल्ली कहते हैं। इनमें क्रमशः 192, 9 और 10 अुवाक हैं।

शिक्षावल्ली के प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न शक्तियों के अधिष्ठाता परब्रह्म परमेश्वर के भिन्न-भिन्न नामों और रूपों की स्तुति की गयी है। इस उपनिषद् में भारतीय धर्म, दर्शन समाज-दर्शन, शिक्षा-दर्शन से जुड़ी अनेक शिक्षाएं मिलती हैं। उसकी चर्चा हम अगले इकाई में करेंगे।

5.4.9 ऐतरेय उपनिषद्

ऋषि महिदास इसके प्रणेता हैं। ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ, पळचम् और षष्ठ अध्यायों को ऐतरेय उपनिषद् कहते हैं। आरण्यक का भाग होने के कारण गद्यात्मक है। यह एक लघुकाय उपनिषद् है। उपनिषद् के प्रथम खण्ड में आत्मा से चराचर सृष्टि का कथन है द्वतीय अध्याय में मनुष्य शरीर की अनित्यता दिखाकर मनुष्य में वैराग्य उन्पन्न करने के लिए उसकी उत्पत्ति का वर्णन है। तृतीय अध्याय में हृदय, मन, संज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा आदि सबकी सब शक्तियों को प्रज्ञान स्वरूप बताया गया है। यह समस्त शक्तियाँ उसकी परम सत्ता का बोध कराने वाली लक्षण हैं।

5.4.10 छान्दोग्य उपनिषद्

इसमें आठ अध्यायों के 54 खण्ड हैं। यह उपनिषद् सम्पूर्णतया गद्यात्मक है। प्रथम 5 अध्याय में ध्यान को प्रधानता देते हुए उपासना का वर्णन है तथा अन्तिम तीन में वेदान्त दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का विशेष रूप में प्रतिपादन है। 'सामन्' के प्रतीकात्मक और व्याख्यान द्वारा 'आत्मन्' तथा 'ब्रह्मन' का विशद् ज्ञान करती है।

5.4.11 बृहदारण्यक उपनिषद्

यह शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग है। आकार-प्रकार और प्रतिपाद्य की दृष्टि से बड़ा है। माध्यन्दिन तथा काण्व दोनों शाखाओं के अन्तिम छः अध्याय बृहदारण्यकोपनिषद् कहलाता

है। 'ब्रह्मविद्या' से सम्बन्धित होने से उपनिषद् है। अरण्य में लिखे जाने से आरण्यक है और अन्य उपनिषदों से बड़ा होने से आरण्यक है। इसमें छः अध्यायों में विभक्त दो-दो अध्यायों के तीन काण्ड हैं जिन्हें क्रमशः मधुकाण्ड, याज्ञवल्क्यकाण्ड और खिलकाण्ड कहा जाता है। प्रथम अध्याय में अश्वमेधयज्ञ के अश्व को पुरुषरूप मान कर उसकी आध्यात्मिक व्याख्या की गयी है।

5.5 उपनिषदों का रचना काल

उपनिषदों के रचनाकाल को लेकर विद्वान एकमत नहीं हैं। इस विषय पर आधुनिक और पारम्परिक दृष्टिकोण रखने वालों में पर्याप्त मतभेद है। उपनिषदों के रचनाकाल का निर्धारण अभी भी एक अनुत्तरित प्रश्न है। किन्तु, अधिकांश विद्वान इस मत पर सहमत हैं कि मुख्य उपनिषदों में अधिकतर की रचना बुद्ध के अवतरण से पूर्व में हो चुकी थी।

5.6 उपनिषदों के प्रवचनकर्त्ता

प्रायः सभी ऋषियों की यह घोषणा है कि जिस ज्ञान को वे प्रदान कर रहे हैं उसका उन्होंने आविष्कार नहीं किया है। वह तो उनके आगे बिना प्रयत्न के प्रगट हुआ है (पुरुष प्रयत्न बिना प्रकटीभूत शंकर) यह तो सच ही है कि क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं। उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुछ ऐसे भी उपनिषद् हैं जिनके साथ प्रणेता के रूप में कुछ ऋषियों के नाम जुड़े हुए हैं, जैसे ब्रहदारण्यकोपनिषद् के लिए याज्ञवल्क्य, मुण्डकोपनिषद् के अंगिरा, श्वेताश्वतरोपनिषद् के श्वेताश्वतर ने वस्तुतः अपने-अपने उपनिषदों में अतिप्राचीन ब्रह्मविद्या के प्रथम प्रवचनकर्त्ता माने गये हैं। (विस्तृत जानकारी के लिये उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान से प्रकाशित वेद खण्ड का अध्ययन करें।)

5.6.1 उपनिषदों की भाषा-शैली

प्रमुख उपनिषदों की भाषा संस्कृत है। उनकी प्रतिपद्य संरचना गद्य, पद्य अथवा दोनों में हैं। वाक्य विन्यास सरल और सीधा है। पद्य सरस और मनोहारी हैं। कठ्, मुण्डक, श्वेताश्वतर आदि कुछ उपनिषदों में काव्यात्मकता उच्च कोटि है। इनमें अनेक उपमाओं, रूपकों और दृष्टान्त को सहजरूप में प्रतिपाद्य के साथ पिरोया गया है।

5.6.2 उपनिषदों के प्राचीन भाष्य

हम जान चुके हैं कि उपनिषदें ऐसे ऋषियों के उपदेश हैं, जो दार्शनिक समस्याओं के विभिन्न पक्षों में रुचि रखते थे। जब इन उपनिषदों की व्याख्या इनके पश्चात् के विचारकों द्वारा किसी विशेष दार्शनिक पद्धति एवं मन्तव्य के साथ किये जाने लगे। पद्धति विशेष के अन्तर्गत आने से उपनिषदों की कई प्रकार की व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। इन पद्धतिमूलक व्यख्याओं को भाष्य कहते हैं। उपनिषदों की प्राचीन व्याख्याओं को निम्न वर्गों में बांट सकते हैं-

i. शंकर के पूर्ववर्ती भाष्य: भर्तृप्रपळच, ब्रह्मानन्द, दक्षिणचार्य आदि आचार्यों के भाष्य। ये भाष्य उपलब्ध नहीं हैं।

ii. शंकर एवं उनकी परम्परा के भाष्य: आचार्य शंकर ने अद्वैतवादी दृष्टि से (अर्थात् जीव-ब्रह्म में अभेद है) 11 प्रमुख उपनिषदों पर भाष्य लिखे हैं। इनकी परम्परा में सुरेश्वराचार्य,

आनन्दगिरि विद्यारण्य मुनि, शंकरानन्द, ब्रह्मानन्द, आनन्दभट्ट, भास्करानन्द, उपनिषद ब्रह्म योगी आदि ने उपनिषदों पर भाष्य अथवा टीकाएँ लिखी हैं।

iii. वैष्णव भाष्य: ग्यारवीं शताब्दी में रामानुचार्य (1020-1137 ई.) ने, वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक (1300 ई.) ने, विशिष्टाद्वैतवादी भाष्य तथा आचार्य आनन्दतीर्थ 'मध्व' (1199-1278 ई.) ने उपनिषदों पर द्वैतवादी भाष्य लिखे तथा 15वीं-16वीं शताब्दी में शुद्धद्वैत के प्रतिष्ठाता आचार्य वल्लभाचार्य अनुयायी पुरुषोत्तम ने शुद्धद्वैवादी भाष्य तथा निम्बार्क के अनुयायिओं ने भी उपनिषदों पर अपने मत के अनुसार भाष्य या टीकाएँ लिखीं।

5.7 विवेचन विधि

चूंकि उपनिषदें मानवीय ज्ञान के चरम विषयों से सम्बन्धित हैं अतः गुरुओं ने इस ज्ञान के शिष्य के मध्य प्रवेश कराने हेतु अनेक विधियों का प्रयोग किया है। उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण नामक पुस्तक में प्रो. रनाडे ने जिन प्रमुख विधियों का उल्लेख किया है उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है-

5.7.1 प्रतीकात्मक विधि

उपनिषदों का पतिपाद्य व्यापक ज्ञान का बोध कराना है चूंकि उस ज्ञान की उपस्थिति सभी रूपों में हो सकती है क्योंकि वह सर्वव्यापी है अतः ऋषियों ने प्रतिपाद्य को सुगम और बोधगम्य बनाने के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया है। मुनि शाण्डिल्य ने छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म को 'तळजलान' कहा।

5.7.2 निरुक्त विधि

वैदिक शब्दों एवं मन्त्रों के निर्वचन को 'निरुक्त' कहते हैं अर्थात् शब्द स्वयं जो अपने अर्थ को निर्धारित करते हैं। यह व्यवस्था निरुक्त से आती है। यह विधि शब्दार्थ विश्लेषण की विधि है। उदाहरणार्थ पुरुष = पुरि अर्थात् जो देह में शयन करता है, वह पुरुष है।

5.7.3 सूत्र विधि

कहीं-कहीं उपनिषदों में सूत्र रूप में प्रतिपादन किया गया है माण्डूक्योपनिषद् में ऊँ को ब्रह्म सिद्ध किया गया है। ऊँ में निहित अ+उ+म् आत्मा का स्वरूप है। यह ऊँ एक साथ ब्रह्म का ध्वन्यात्मक एवं अक्षरात्मक स्वरूप है।

5.7.4 उपमान विधि

विवेचना की उपमान विधि में किसी प्रसिद्ध वस्तु के आधार पर अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान इन दोनों वस्तुओं के मध्य तुल्यता दिखाकर ज्ञात किया जाता है। आरुणि ऋषि और उनके पुत्र श्वेतकेतु के मध्य उपमान द्वारा आत्मा को स्पष्ट किया गया है। ब्रह्म और आत्मा के मध्य ऐक्य को 'तत्त्वमसि' कहकर किया गया है। आरुणि कहते हैं जिस प्रकार तुम्हारी सत्ता तुम्हारे अपने होने के भाव से सिद्ध होता है उसी प्रकार ब्रह्म भी स्वयंसिद्ध है।

5.7.5 संवाद विधि

उपनिषदिक ज्ञान श्रुतिमूलक है। श्रुतिमूलक उसे कहते हैं जिसे गुरु मुख से सुनकर समझा जा सकता है। गुरु-शिष्य तथा विभिन्न जिज्ञासुओं के मध्य परस्पर संवाद द्वारा विषय का प्रतिपादन किया गया है।

5.7.6 समन्वय विधि

परस्पर विरोधी विचार उत्पन्न होने पर समन्वय विधि को अपनाय गया है। छान्दोगयोपनिषद में अश्वपति कैकेया द्वारा सृष्टि-विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है। इसी तरह प्रश्नोपनिषद् में पिप्लाद ने छः ऋषियों के सिद्धान्तों का समन्वय किया है।

5.7.7 विश्लेषण विधि

जटिल दार्शनिक समस्या को समस्या के अंग-प्रत्यंग में विभाजित कर विचार किया गया है। एह कारण के विश्लेषण के अकारण आत्मा की प्राप्ति आधार का विश्लेषण करते-करते निराधरर तत्त्व की स्थापना। इसी विधि से यह बतलाया गया है कि प्रत्येक कार्य का कारण लोकज्ञान सिद्ध है, जो सबका कारण है वह सर्वाधार है; स्वयं कारण निराधार है इसे ही आत्म तत्त्व कहा गया है।

5.7.8 अधिदैवत विधि

वह शक्ति जो सृष्टि में संचालित हो रहे कार्यों में परम सहायक है उन्हें देवतत्त्व से अभिहित किया गया है। उपनिषदों में देव तत्त्व के कथानकों के माध्यम से सृष्टि प्रक्रिया एवं उसके ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है।

स्वरूप विवेचन के बाद हम उपनिषदों के प्रमुख प्रतिपाद्यों की चर्चा संक्षेप में करेंगे-

5.8 उपनिषदों का प्रतिपाद्य

वास्तव में उपनिषदों का क्या विषय है? इसका संकेत तो हम पहले ही कर चुके हैं। जब उपनिषद् शब्द को परिभाषित करते हुए यह कहा गया कि जो शास्त्र ज्ञान-अवज्ञान का अवसादन करके सत्य को प्राप्त करा दे उसे उपनिषद् कहते हैं। उपनिषदों के प्रतिपाद्य का संकेत कर दिया गया। अलबत्ता इस साधारण कथन के बाद भी यह जाने की अपेक्षा रह जाती है कि वह कौन सा ज्ञान है जिसका समाहार उचित है? वह कौन सा सत्य है जिसको अज्ञान के नाश के द्वारा प्राप्त करना आवश्यक है तथा इस प्रकार के सत्य क प्राप्ति का प्रयोजन ही क्यों है? इन प्रश्नों का समाहार होना चाहिए।

यह एक सार्वभौम सत्य है कि विश्व के सभी लोगों को कभी न कभी दुःखी होना ही पड़ता है। सुख-दुःख के द्वन्द्व से को मुक्त नहीं है यदि कहीं सुख है भी तो अनित्य है। दुःख की निवृत्ति का उपाय अज्ञान का नाश करके सत्य तत्त्व का ज्ञान कराना है। उपनिषदें हमें यह बताती हैं कि सच्चा ज्ञान यह अनुभव करना है कि इस चराचर जगत का जो आश्रय है वही हमारी आत्मा है।

प्रमुख उपनिषदों के अध्ययन से निष्कर्ष यह निकलता है कि हम जो जीवन जीते हैं, इनमें हम यानी हमारा शरीर उसके ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और इनसे कार्य करने वाला मन, बुद्धि और

अहंकार और इन सभी का प्रेरक तत्त्व है, उसे कहते हैं। यही आत्मा सब मनुष्यों में; सब प्राणियों में और समस्त विश्व में फैला हुआ है। इसलिए इसे परमात्मा कहते हैं और और जिस विशाल सृष्टि में यह परमात्म-तत्त्व अपनी लीला अनुभव कराता है उसी को विश्व कहते हैं।

लगभग सभी उपनिषदों में आत्मा (जीवात्मा) परमात्मा (विश्वात्मा) और यह सारा विश्व इनका आपस में सम्बन्ध जैसा है। जीवन का अन्तिम कारण एवं प्रयोजन क्या है, इसे सिद्ध करने के उपाय क्या हो सकते हैं, इन उपायों को लागू करने के लिए किस प्रकार की साधन करनी होगी, यह सब विविध रूप में उपनिषदों ने दिया है।

उपनिषदों की पंक्तियाँ दार्शनिक गहराई, आत्मिक सघनता, वैचारिक स्फूर्ति, मानवीय सहानुभूति से ओतप्रोत है। आचार्य शंकर ने तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में 'उपनिषद' शब्द का अर्थ 'ब्रह्मज्ञान' बतलाया है। यह ब्रह्मज्ञान मनुष्य को उस अज्ञान से समाप्त होता है जो अनादिकाल से जीव को भ्रमित किये हुए है। यह अज्ञान जिस विद्या से समाप्त होता है उसे आत्म-विद्या कहते हैं। इसे गूढ़ विद्या या रहस्य विद्या भी कहा जाता है। विदेशी विद्वान पाल डायसन ने भी इसे स्वीकार किया है।

भारतीय आचार्यों ने उपनिषदों के प्रतिपाद्य को विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर सिद्ध किया है। शंकर अद्वैत सिद्धान्त, रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत, माध्व ने द्वैत सिद्धान्त की स्थापना की है। शंकराचार्य ने अपने सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए प्रमुख उपनिषदों पर भाष्य लिखा। रामानुज ने तो स्वयं भाष्य नहीं लिखा किन्तु उनके शिष्यों ने विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादन में ग्रन्थ लिखे हैं। श्री मध्वाचार्य ने द्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक भाष्यों की रचना की है।

उपनिषद् के प्रमुख प्रतिपाद्य को निम्न शिर्षकों के अन्तर्गत समझा जा सकता है।

5.8.1 श्रेय और प्रेय

जिस 'श्रेय-प्रेय' शब्द की जोड़ी भारतीय चिन्तन में बार-बार प्रयुक्त होती है। किन्तु इसका विवेचन उपनिशदों में सर्वप्रथम हुआ। सोचिये कि कठोपनिषद् के ऋषि ने जब श्रेय एवं प्रेय का भेद बताया होगा तो सुनने वाले जिज्ञासुओं को कितना रोमांच हुआ होगा?

हर मनुष्य सुख ही चाहता है और दुःख को टालना चाहता है। सुख-दुःख दोनों भावनाएं जीवन में प्रधान प्रेरक तत्त्व हैं। यह व्यवावहारिक जीवन का सत्य है किन्तु तत्त्व ज्ञान की स्थिति में सुख एवं दुःख दोनों की उपयोगिता नहीं मानी जाती। सुख-दुःख के आधार पर सम्पूर्ण जीवन के उद्देश्य को नहीं निर्णित किया जा सकता। आज सुख-दुःख इन दो शब्दों का अर्थ चाहे जितना भी व्यापक रूप में मान लिया जाय किन्तु उपनिषदों मे ंतो सुख-दुःख का असली अर्थ इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध रखना है। इन्द्रियों के लिए जो अनुकूल है वह है सुख। इन्द्रियों को जो वस्तु प्रतिकूल है उसे दुःख कहते हैं। काका कलेलकर ने 'उपनिषदों के बोध' में कहा है, "जीवन के समग्र परिणति को समझाने वाले ऋषि कहते हैं, सुख इन्द्रियों के लिए अनुकूल है इसलिए उसके पीछे जाना बहुत बार खतरनाक होता है। इन्द्रियों के लिए जो वस्तु अनुकूल है; वही जीवन के लिए बाधक होती है तब उसे छोड़ने के लिए अन्तरात्मा को जो आती है उसे श्रेय कहते हैं।"

अर्थात् इन्द्रियों की मांग के पीछे आंख मूंदकर जाने की भावना को रोकने वाला 'श्रेय' है तथा इन्द्रियां जिसे सुख-दुःख मानती है उसे 'प्रेय' कहा जाता है। ऋषि कहते हैं, "श्रेयस अगल है

प्रेयस अलग है। दोनों का फल अलग है। श्रेयस से कल्याण होता है जो प्रेय को पसन्द करता है उसकी हानि होती है। जब श्रेय और प्रेय दोनों आकर खड़े होते हैं तब बुद्धिमान एवं धीर पुरुष दोनों को पहचान लेता है।

सामान्य जीवन में भी यह देखने को मिलता है कि धीर व्यक्ति प्रेय को एक ओर रखकर श्रेय को ही पसन्द करता है। जो मूढ़ है बुद्धिमन्द है; वह तो अपनी सहूलियत देखकर प्रेय को पसंद करता है।

बुद्धिमान (श्रेयमार्गी) यह जानता है कि यह जीवन शरीर के साथ ही समाप्त नहीं होता हम तो शरीर के सुखों पर बिना ध्यान दिये भी समाज पर असर डाल सकते हैं। जन्म-मृत्यु के बीच छोटा सा जीवन पूर्ण जीवन नहीं है। मृत्यु के बाद भी जीवन है। उस जीवन को साम्पराय कहा जाता है। उस पर भी विचार करना चाहिए तभी 'श्रेय' की शुभकारिता समझ में आएगी। इहलोक तथा परलोक मिलकर जो जीवन बनता है वही सच्चा और पूर्ण जीवन है। मनुष्य में एक अजर अमर तत्त्व है जिसका विनाश कभी नहीं होता उसे 'आत्मा', 'भूमा', 'शाश्वत', 'अमर्त्य', 'सनातन' आदि शब्दों से कहा जाता है।

5.8.2 'भूमा' का साक्षात्कार

श्रेय मार्ग से जिस स्थिति को जीव प्राप्त होता है उसे उपनिषदों में भूमा का साक्षात्कार कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद में प्रसंग आया है-

यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति।
यो वै भूमा तत् अमृते, अथ यत् अल्पं तद् मर्त्यम्।।

काका कालेलकर कहते हैं- सर्व, विराट, विशाल, भूमा, ब्रह्म, अमृत, अनन्त, विभू, सनातन ये सब संस्कृत भाषा के प्रिय शब्द हैं। इनके अर्थ का ध्यान करते भारतीय मानस मस्त हो जाता है। आदमी कैसा भी क्यों न हो, इन शब्दों का नाम लेकर जब उसको आह्वान किया जाता है, पाचारण किया जाता है, इनकी प्रेरणा जब उनको मिलती है, तब वह उनको इनकार नहीं कर सकता।

जो भूमा है, सर्वव्यापी है, सर्वग्राही है वही सुख है, उसमें अमरता है। जो अल्प है, वह तुच्छ है, उसमें सुख नहीं। यह क्षणजीवी मृत्यु से घिरा हुआ है। जो भूमा है वह अपनी प्रतिष्ठा में स्थित है, स्थिर है।

हमारी व्यक्तिगत हो या सामाजिक हो, हर तरह की साधना में हम इसी कसौटी को लेकर चलें कि क्या हम अल्प की ओर जा रहे हैं या भूमा की ओर, और अगर भूमा की ओर ही जा रहे हैं तो क्या हमने अपनी साधना का मार्ग दृढ़ बनाया है या उसे पोला रहने दिया है? हमारा आकाश भी पोला नहीं है। वह है भूमा, वह है ब्रह्म। 'ब्रह्म' याने सबसे बड़ा बृहत्तम- जो सबसे बड़ा है, सनातन, विभु है, सर्वसमर्थ है और नित्य तृप्त है। उसी की उपासना करनी है, उसी से शांति मिलेगी और उसी के द्वारा हम शांति प्रदान भी कर सकेंगे। सचमुच जो अल्प है, उसमें सुख नहीं। वह मर्त्य है। जो भूमा है, वही सुख है, वही अमृत है।

5.8.3 सृष्टि विज्ञान

परमात्मा से चराचर जगत की उत्पत्ति-क्रम के बारे में-

तस्मादग्निः समिधोयस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम।

पुमान्रेतः सिचति योषितायां वह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रूताः।।5।।

अर्थात् परब्रह्म से सर्वप्रथम तो उनकी अचिन्तय शक्ति का एक अंश अद्भुत अग्नि तत्त्व उत्पन्न हुआ, जिसका इंधन सूर्य है। अग्नि से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। चन्द्रमा से सूर्य की रश्मियों में कुछ शीतलता आ गयी और मेघ उत्पन्न हुआ। मेघों से पृथ्वी में नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न हुईं। उन औषधियों (वनस्पतियों आदि) के भक्षण से उत्पन्न हुए वीर्य को जब पुरुष स्त्री में सिंचन करता है तब उससे संतान उत्पन्न होती है। इस प्रकार परम पुरुष परमेश्वर से ये नाना प्रकार के चराचर जीव उत्पन्न हए।

5.8.4 आत्मा

उपनिषदों मे बार-बार आत्मा शब्द हमें प्राप्त होता है। 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो, मनतव्यो, मिदिध्यासितव्यो' आत्मा ही श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करने योग्य है। उस आत्मा के दर्शन से, श्रवण, मनन, निदिध्यासन से और उसके विज्ञान से सारे विश्व के रहस्य को पाया जा सकता है। यह आत्मा हमारे जीवन का सार है। पंचभूतात्मक सृष्टि इसी का स्थूलतम् विस्तार है।

मनुष्य ने जब अपनी खोज की तब इन्द्रियों के साथ, 'करण' के साथ, सहयोग करनेवाला एक अंदरूनी करण भी उसने पाया। उसने उसे अंतःकरण कहा। इस अंतःकरण को समझने की कोशिश करते चित्त, चित्तवृत्ति, मन, बुद्धि, अहंकार आदि उत्तरोत्तर और सूक्ष्म तत्त्वों को उसने पहचान लिया और बाद में इन सबके परे जो है अथवा अन्दर जो है, उसे उसने 'अंतरतर' कहा। वही आत्मा है।

5.8.5 ब्रह्म

जिस तरह अंदरूनी उपासना में अहंकर के बाद आत्मा की प्राप्ति हुई, उसी तरह बाह्य उपासना में आकाश के बाद अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति हुई। जो बड़ा है, बृहत् है, बृहत्तर, बृहत्तम है, वही है ब्रह्म। ब्रह्म से बढ़कर कुछ है ही नहीं।

वरुण के पुत्र भृगु ने उनसे एक बार पूछा था- भगवन् 'ब्रह्म' क्या है? कृपया इस सन्दर्भ में मुझे ज्ञान दें। वरुण ने उनसे कहा था- जिनसे सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, पालित होते हैं और अन्त में जिनमें विलीन हो जाते हैं, वही 'ब्रह्म' है- यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रत्यन्त्यभिसंविशन्ति, तद् ब्रह्म इति (तैत्तिरीयोपनिषद्-3/1)। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म ही परम सत्य है। आत्मा का वह अद्वैतरूप है। सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप है। मध्वाचार्य के अनुसार- गुणों की पूर्णता जिसमें हो, वही ब्रह्म है- वृहन्तो यस्मिन् गुणाः। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दस्वरूप सच्चिदानन्द है। वही सबकी आत्मा है और उसी में इस नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है। ब्रह्म सबमें व्याप्त होने के कारण सर्वभूमा कहलाता है। ब्रह्म ही विश्व का अव्याकृत रूप है। वही सभी वस्तुओं का परम कारण है। संसार की सभी वस्तुओं का और शक्तियों का आधार है। इसी ब्रह्म ने सृष्टि की उत्पत्ति के समय समस्त सृष्ट पदार्थों में प्रवेश किया है। फिर उसने सत्-असत्, निरुक्त-अनिरुक्त, ज्ञान-विज्ञान, ऋत-अनृत दोनों रूप धारण किया है (तैत्तिरीय उपनिषद्- 11/7)। सम्पूर्ण प्रकृति ब्रह्म की सृष्टि है, ब्रह्मजन्य है, ब्रह्मप्रेरित है। ब्रह्म ही इस सृष्टि का सूत्रधार है।

ब्रह्म के दो स्वरूप:-

उपनिषदों में 'ब्रह्म' के दो स्वरूपों का वर्णन मिलता है- (1) सविशेष अर्थात् सगुण रूप एवं (2) निर्विशेष अर्थात् निर्गुण रूप। निर्गुण ब्रह्म को 'परब्रह्म' कहा गया है। यह 'परब्रह्म' सच्चिदानन्दरूप और निरुपाधि होने के कारण अनिर्वचनीय है। उसे ही तैत्तिरीयोपनिषद् में सत्य, ज्ञानरूप और अनन्त कहा गया है- सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यह ब्रह्म रसरूप है। इसे ही प्राप्त कर आत्मा आनन्दमय हो जाती है- रसो वै सः, रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति (तैत्तिरीयोपनिषद्- 2/7)। सविशेषभाव ठीक इसके विपरीत होता है। इसमें गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों की सत्ता विद्यमान रहती है, जिसके द्वारा उसका उक्त स्वरूप हृदयाबगम किया जा सकता है। इन दोनों भावों को प्रदर्शित करने के लिए उपनिषदों ने दो प्रकार की बातों को प्रयुक्त किया है- एक निर्विशेष लिब और दूसरा सविशेष लिब। सविशेषलिब श्रुतियाँ सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः इत्यादि है एवं निर्विशेषलिब श्रुतियाँ अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम् है। यथा-

सन्ति उभयलिबाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः। सर्वकर्मेत्याद्याः सविशेषलिबाः, अस्थूलमनणु इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिबाः। (शांकरभाष्य)

इन वाक्यों में एक विशेषता द्रष्टव्य है। सगुण ब्रह्म के लिए जहाँ पुल्लिब शब्दों का प्रयोग किया गया है, वही निर्गुण ब्रह्म के लिए नपुंसक लिंग का प्रयोग किया गया है। यही कारण है कि परब्रह्म के लिए सर्वनाम 'सः' की जगह 'तत्' शब्द का सर्वत्र प्रयोग किया गया है। ध्यान रखना चाहिए कि इस अन्तर के बाद भी प्रतिपाद्य पदार्थ में किसी प्रकार का भेद प्रतीत नहीं होता है; क्योंकि सोपाधि-निरूपाधि, सगुण तथा निर्गुण आदि शब्द एक ही तत्त्व का बोध कराने वाले संकेत मात्र हैं।

1. सगुण ब्रह्म

ब्रह्म की इस अवस्था को 'अपर-ब्रह्म' कहा जाता है इसे प्रमाणों द्वारा कहा जा सकता है। वर्णन किया जा सकता है। इसके दो लक्षण हैं- (1) तटस्थ लक्षण, (2) स्वरूप लक्षण।

जिसके द्वारा वस्तु के शुद्ध स्वरूप का परिचय प्राप्त किया जाता है; वस्तु के तात्त्विक रूप की उपलब्धि होती है; यथा- ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप है- सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। उसे ही स्वरूपलक्षण कहा गया है तथा तटस्थ लक्षण के द्वारा वस्तु के अस्थायी, परिवर्तनशील गुणों का वर्णन किया जाता है; जैसे- ब्रह्म से ही सभी जीवों की उत्पत्ति होती है तथा वे उसी में लीन हो जाते हैं। 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि 'अपर-ब्रह्म' का तटस्थ लक्षण है।

छान्दोग्योपनिषद् में सगुण ब्रह्म का विवेचन 'तज्जलान्' शब्द के द्वारा किया गया है। इस शब्द का विवेचन इस प्रकार किया गया है- 'तज्ज' तत्$ज अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जायेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि सगुण ब्रह्म ही इस संसार का उत्पादक, धारक एवं संहारक है। इस कथन की संपुुष्टि तैत्तिरीयोपनिषद्- 3/1 ने भी की है। इनके अनुसार- जिसमें सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, जीवित रहते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं, वही सगुण ब्रह्म है। इस तरह सगुण ब्रह्म ही इस संसार का कारण है। वही सबका स्वामी है, वही सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है। वही इस नाम-रूपात्मक जगत् का अधिष्ठाता है। वही संसार का नित्य और उपादान कारण है। वही सगुण ब्रह्म इस जगत् को नियन्ता है।

2. निर्गुण ब्रह्म

निर्गुण ब्रह्म 'परब्रह्म' है। सच्चिदानन्द स्वरूप एवं अनिर्वचनीय है। निर्गुण ब्रह्म को न तो किसी विशेषण से विशेषित किया जा सकता है और न तो किसी चिह्न से चिह्नित। जो अनन्त है, अनिवर्चनीय है अर्थात् जिसका निर्वचन हम कर ही नहीं सकते क्योंकि वह हमारे इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियों का विषय होते ही ब्रह्म सीमित हो जाएगा। सीमित ब्रह्म इस जगत का परम अधिष्ठान् नहीं हो सकता। अतः ब्रह्म को निर्गुण कहा गया। अर्थात् जिसका निर्वचन हम गुणों के द्वारा नहीं कर सकते। निर्गुण ब्रह्म गुणों से परे की अवस्था है इसलिए लौकिक विशेषणों का प्रयोग इसके लिए नहीं हो सकता। यही कारण है कि निर्गुण ब्रह्म की विवेचना 'नेति-नेति' रूप में हुआ है।

ध्यान देने योग्य यहाँ यह है कि ब्रह्म के निषेधार्थक वर्णन का अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म कुछ नहीं है, बल्कि ब्रह्म ही सब कुछ है। अतः यहाँ ब्रह्म के सम्बन्ध में निषेध विधेयपरक है। अभाव का अर्थ भाव है। अभावात्मक विशेषणों का तात्पर्य यहाँ भावात्मक है। इस दृष्टि से ब्रह्म अलक्षण, अचिन्त्य और अनिर्वाच्य या अव्यपदेश है।

सगुण और निर्गुण ब्रह्म की एकरूपता:-

सगुण और निर्गुण के उपर्युक्त विवेचन से हमें इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि ब्रह्म संख्यात्मक रूप से दो हैं। ब्रह्म एक ही है किन्तु हमारे सीमित विचारशक्ति के कारण इसके दो रूप उपलब्ध होते प्रतीत होते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् 2/3/1 के अनुसार परब्रह्म अमूर्त और अमर्त्य है। ठीक इसके विपरीत अपर ब्रह्म मूर्त और मर्त्य है। परब्रह्म यत् अर्थात् चर है और अपर ब्रह्म स्थित हे। परब्रह्म तत् है और अपर ब्रह्म सत् है। सत् और त्यत् मिलकर सत्य बनता है। निर्गुण, निराकार और निरूपाख्य तत् अर्थात् परब्रह्म और सगुण, साकार और बोधगम्य सत् अर्थात् अपर ब्रह्म दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं।

यथार्थतः दोनों में कोई तात्विक भेद है ही नहीं दोनों एक ही ब्रह्म के दो दृष्टिकोण हैं। यही कारण है कि अनेक स्थलों की समान पृष्ठभूमि में ब्रह्म के उभयविध वर्णन उपलब्ध होते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् (6/11) में एक ओर उसे सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, कर्माध्यक्ष तथा साक्षी कहा गया है तो दूसरी ओर उसे निर्गुण कहा गया है। यथा-

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणस्य।।

ब्रह्म के ऐसे दोनों रूपों के वर्णन के पश्चात् उसकी अपनी विशिष्टता और विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है। अतः उस असीम को ससीम पार्थिव इन्द्रियों से कैसे आँका जा सकता है। अतः उसे अनिर्वचनीय कहा गया है। संक्षेप में हम इतना कह सकते हैं कि परब्रह्म निर्गुण और निराकार है एवं अपर ब्रह्म सगुण और साकार है। परब्रह्म परा विद्या का और अपर ब्रह्म अपरा विद्या का विषय होते हुए भी एक ती तत्त्व के दो अलग-अलग रूप हैं।

आत्मा और ब्रह्म:-

ये दोनों शब्द एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं। मुण्डकोपनिषद में इस सन्दर्भ मे कहा गया है कि ब्रह्म और आत्मा दोनों ही मित्रभाव से शरीररूपी वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक 'जीवात्मा'

कर्मफलों का भोग करता है और दूसरा 'परमात्मा' उसे साक्षीभाव से देखता है। यथा मुण्डकोपनिषद्-3/1/1 द्रष्टव्य है-

द्वा-सुपर्णा सजुया सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरनयः पिप्पलं स्वादवत्रूनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी यही तथ्य इस रूप में कहा गया है- अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः (2/2/11)। यह आत्मा ही ब्रह्म है, जो सबका अनुभव करती है। यह अखिल ब्रह्माण्ड एकमात्र ब्रह्म का विस्तार है। 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा प्राणी को समझना चाहिए। यथा- ब्र या इदमग्र आसीत्। तदात्मानमेवाऽवोचत् अहं ब्रह्मास्मि इति (बृह. उ. - 14/10)। छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु की एक कथा है। उस कथा में जीव और ब्रह्म की एकरूपता पर विशेष टिप्पणियाँ की गई हैं। उसमें कहा गया है- यह जो अणिमा है, तद्रूप ही यह सब कुछ है। वही, वही सत्य है, वही आत्मा है। हे श्वेतकेतो! वही तुम हो। ऊपर-नीचे, दाँये-बाँये, आगे-पीछे चारों ओर वही तो है। वह आत्मा ही तो सबकुछ है। यह अखिल ब्रह्माण्ड ही ब्रह्म है। उसी ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति होती है और उसी में यह लीन हो जाता है। जिस प्रकार आकाश में सारा संसार समाहित है उसी प्रकार ब्रह्म में सभी जड़-चेतन समाहित हैं। समस्त नाम-रूप जिसके अन्दर है, वह ब्रह्म है। वह अमर्त्य है, वही आत्मा है (छान्दोग्योपनिषद्-6/87, 7/55/2, 3/14/1, 8/14/1)। यह विराट विश्व ब्रह्म का विस्तार है। आत्मा भी ब्रह्म है- सर्वमेतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म (मुण्डकोपनिषद्-2)। आत्मा और परमात्मा दोनों एक ही हैं। यह परमात्मा (ब्रह्म) क्या है? जिसका ज्ञान हो जाने पर शेष सब कुछ स्वतः ज्ञात हो जाता है- कस्मिन् खलु भगवतो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति (मुण्डकोपनिषद्-1/1/3)। ब्रह्म को जानते ही जानने वाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है।

5.9 सारांश

इन विवेचनों से यह तथ्य निष्पन्न होता है कि, वेदों की संहिताओं और उनके मन्त्रों में जो अन्तिम तत्त्व अत्यन्त गूढ़ता के कारण बहुतों की बुद्धि से परे है उसका विषदीकरण उपनिषदों में उपलब्ध है। सभी उपनिषदों का सारभूत उपदेश एक ही है कि, 'उपनिषद् वह विधा है, जो मृत धर्मा मनुष्य के इस अज्ञान को काट कर कि वह मरणशील है, उसे यह प्रत्यक्ष ज्ञान करती है कि वस्तुतः मनुष्य का वाह्य शरीर मरणशील है। मनुष्य के अन्दर ब्रह्मण्ड की वही चैतन्य शक्ति निवास करती है जो कि एकमेवाद्वितीय सद् ब्रह्म है। मानव का यह स्वरूप उसमें अमृतत्त्व का भाव उपस्थापित करती है।

जो कुछ विश्व में है या जो कुछ इस सृष्टि के बाहर अज्ञात है वह एक ऐसा अपार्थिव तत्त्व है जो हमारी इन्द्रियों की पकड़ से बाहर है। ऐसा कोई काल नहीं जब वह न रहा हो और आगे भी ऐसा कोई काल नहीं होगा जब वह नहीं रहेगा। इसी तत्त्व को उपनिषद् ब्रह्म नाम से जानते हैं। उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य मनुष्य इस तत्त्व को समझ ले कि वह स्वयं ब्रह्म है जिसके ज्ञान के बिना उसे मोक्ष सम्भव नहीं।

5.10 पारिभाषिक शब्दावली

इन्द्रिय = विषय ग्रहणरूप कार्य के कारणों के रूप में इन्द्रिय को अनुमित किया जाता है। यह एक प्रकार से ज्ञान प्राप्त करने के यन्त्र हैं। इनकी संख्या दस है।

ब्रह्म = "वृहत्वात् वृहण्त्वात च" अर्थात् वह तत्त्व जो अति वृहद है तथा जो वृद्धि को प्राप्त होता है। सबसे बड़ा होने के कारण वह जगत् का कारण कहलाता है।

आत्मा = व्याप्तिबोधक, भक्षणार्थक अथवा सतत्गमन बोधक् 'अत्' शब्द से आत्मा की निष्पत्ति हुई है। अशरीरता ही आत्मा का स्वरूप है। जो शरीरी होकर शरीर में ज्ञाता, द्रष्टा मन्त्रा और विज्ञाता है।

जगत् = नाना प्रकार के प्राणियों के उपभोग योग्य स्थान और साधनों से सम्बन्ध रखने वाले इन सभी दृश्यमान वस्तुओं को जगत् कहते हैं।

भूमा = नित्य, अमर, सनातनतत्त्व को 'भूमा' कहते हैं।

नामरूप = किसी वस्तु की संज्ञा को नाम तथा उसके आकार प्रकार को रूप कहते हैं। इस विश्व में प्रत्येक वस्तु का या तो नाम है या तो आकार है अथवा दोनों है।

अनिर्वचनीय = जिसको पूरी तरह से कहा न जा सके।

मध्वाचार्य = मध्यकाल में वेदान्त परम्परा के अन्तर्गत द्वैत मत के प्रतिपादक आचार्य।

5.11 सहायक उपयोगी पाठ्यसमग्री

1. रानाडे रामचन्द्र दत्तात्रेय, उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
2. राधाकृष्णन सर्वपल्ली, उपनिषदों की भूमिका, अनु. रामनाथ शास्त्री, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-1968।
3. रामगोविन्द त्रिवेदी, वैदिक साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
4. एफ. मैक्समूलर, द सेक्रेड बुक ऑफ द ईस्ट, भाग-1, दि उपनिषद्, खण्ड-1।
5. हिरियन्ना एम., भारतीय दर्शन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-1965।
6. ईशदि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस संस्करण।
7. छान्दोग्य एवं बृहदारणयक उपनिषद्, गीता प्रेस संस्करण।

5.12 बोध प्रश्न

1. उपनिषद् वैदिक साहित्य के अभिन्न अंग हैं स्पष्ट कीजिए।
2. उपनिषदों के स्वरूप से सम्बन्धित भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों के मतों की तुलना कीजिए।
3. किस तरह उपनिषदों में भारतीय दर्शन बीजरूप में समाहित है, स्पष्ट करें?
4. उपनिषद् आत्म-विद्या की प्रतिपादक हैं। टिप्पणी लिखें।
5. उपनिषद् गुरु-शिष्य संवाद की ज्ञानात्मक उपलब्धि हैं। इस कथन की पुष्टि कीजिए।

खण्ड 2
पौराणिक स्रोत

खण्ड 2 परिचय

इस खण्ड का नाम पौराणिक स्रोत है। पुराण और इतिहास के द्वारा ही वेद के अर्थ का अनुशीलन किया जाता है। ऐसा महाभारत का वचन है। पुराणों के बिना संस्कृत जगत सूना सा है। इनकी संख्या 18 है। चार इकाइयों के भीतर इस खण्ड की संपूर्ण विषय वस्तु का समावेश किया गया है। प्रथम इकाई में पुराण का अर्थ जानने के बाद आप दूसरी इकाई में ऐतिहासिक संकल्पना का अध्ययन करेंगे, जिससे आपको आधारशिला की जानकारी प्राप्त होगी। इस खण्ड की तीसरी इकाई में भागवत पुराण का सामान्य परिचय और उसका महत्व दिया गया है। भागवत पुराण को वेद का फल कहा गया है। अंतिम इकाई में अग्नि पुराण का सामान्य परिचय और अग्नि पुराण की विशेषता का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार द्वितीय खण्ड के अध्ययन से आपको पौराणिक साहित्य की मौलिक जानकारी प्राप्त होगी। इस खण्ड का अध्ययन करने के बाद आप पुराण का अर्थ लक्षण एवं प्रकार बताते हुए भागवत पुराण एवं अग्निपुराण में लिखित संक्षिप्त अध्ययन को समझने में सक्षम हो पाएंगे।

इकाई १ पुराणः अर्थ, लक्षण एवं प्रकार

इकाई की रूपरेखा

१.० उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप...

- पुराण के विषय में सामान्य एवं सारगर्भित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- पुराण शब्द का वास्तविक अर्थ जान सकेंगे।
- विभिन्न आचार्यों के मत में पुराण के अर्थ को समझ सकेंगेश्।
- पुराण के लक्षणों को समझ सकेंगे।
- पुराण के विभाजन और वर्गीकरण को जान पाएंगे।

१.१ प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों। पुराण की इस इकाई में हम सभी पुराण के अर्थ, लक्षण और विभाजन के विषय में सामान्य जानकारी के साथ विस्तार से पढ़ेंगे। पुराणों के विषय में सामान्यतः जो जानकारी प्रथम रूप में होनी चाहिए वह सभी बातें हमें इस इकाई अध्ययन से पता चलेंगी।

पुराण मुख्य रूप से वेद के सार को ही सरल कथा, कहानियों और इतिवृत्तों के माध्यम से बताते हैं। तथा पुराणों से दार्शनिक चिन्तन, सृष्टि चिन्तन, सामाजिक चिन्तन, राजनैतिक चिन्तन, राजवंश चिन्तन, नैतिक चिन्तन आदि के विषय में भी विस्तृत और प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। वैदिक साहित्य में इतिहास और पुराण को सामूहिक रूप से **'इतिहासपुराणम्'**[1] और कहीं-कहीं **'इतिहासः पुराणम्'** कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पुराण वेद ही है, अतः 'इतिहासपुराण' का प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए[2]। पुराण रूपी गङ्गा का प्रवाह अनवरत रूप से चला आ रहा है, लेकिन पराणों के प्रथम कर्ता के रूप में सत्यवती सुत व्यास का नाम आता है[3]। अचार्यों ने पुराणों को इतिहास-वेद के रूप में स्वीकार किया है[4]।

एवं वैदिक साहित्य के अन्तर्गत पुराणों को पञ्चम वेद माना गया है – **'स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं समवेदमार्थवाणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्'**[5]। अतः पञ्चम वेद कहे जाने वाले पौराणिक साहित्य को जब हम पढने या जानने की चेष्टा करते हैं तब – 'पुराण शब्द का वास्तविक अर्थ क्या होगा जो वर्तमान में अर्थसङ्गत हो? पुराण के लक्षण क्या हैं? पुराण का विभाजन किस प्रकार से करें?' यह सभी प्रश्न सामान्य रूप से सबसे पहले हमारे मस्तिष्क पटल पर आते हैं, इन सभी प्रश्नों के उत्तर हम इस इकाई अध्ययन में जानेंगे।

१.२ पुराण शब्द का अर्थ

पुराण शब्द के अर्थ को हम दो प्रकार से समझ सकते हैं – १. शाब्दिक अर्थ या व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ, २. विभिन्न आचार्यों के मत में पुराण की परिभाषा। आइए दोंनो को क्रमशः समझते हैं..

१.२.१ पुराण शब्द की शाब्दिक प्रक्रिया एवं व्युत्पत्ति

किसी शब्द का ज्ञान व्याकरण के माध्यम से ही होता है, अतः व्याकरण की व्युत्पत्ति के अनुसार **'पुरा भवं पुराणम्'** अर्थात् 'प्राचीन समय में होने वाली पुरानी घटनाएं' यह अर्थ होता है। पुराण शब्द की शाब्दिक प्रक्रिया में एक शब्द है 'पुरा' जो अव्यय है जिसका अर्थ होता है **'पुरति अग्रे गच्छति इति पुरा'** और दूसरा है 'ट्यु' (अन) प्रत्यय, इन दोंनो से पुराण शब्द बनता है। पुरा इस अव्यय का अर्थ कोश ग्रन्थों में प्रबन्ध, अतीतकाल और सङ्कट इन तीन अर्थों में होता है[6]। अब इससे अतीतकाल इस अर्थ को लेने पर स्पष्ट होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में जो हुआ उसे 'पुराण' कहते हैं। निरुक्तकार आचार्य यास्क भी इस अर्थ को पुष्ट करते हैं – **'पुराणं कस्मात्? पुरा नवं भवति'** अर्थात् जो प्राचीन काल में नया था उसे पुराण कहते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुराण एक ओर प्रथम शब्दराशि वेद से सम्बन्ध बनाए रखता है और दूसरी ओर लोक से भी अपने को जोडे रखता है।

अन्य एक व्युत्पत्ति के अनुसार 'पुरा' इस अव्यय के पूर्व रहने पर अदादि गण की इस धातु से 'अण्' प्रत्यय करने पर 'पुराण' शब्द की सिद्धि होती है। जिसका अर्थ होता है – **'पुरातनम्**

---

[1] शतपथब्राह्मण (१।६२।२)

[2] इतिहासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते (शतपथ ११.५.७.९)

[3] अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः। (महाभारत; आदिपर्व)

[4] सामर्ग्यजुर्वेदस्त्रयस्त्रयी अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदः। (अर्थशास्त्रम् – १/३)

[5] छान्दोग्य उपनिषद् (७.१.१)/ पुराणं पञ्चमो वेद इति ब्रह्मानुशासनम्। (स्कन्दपुराण)

[6] स्यात्प्रबन्धे पुरातीते सङ्कटागमिके तथा। (मेदिनीकोश -२५)

अनिति (जीवयति बोधयति वा) इति पुराणं ग्रन्थ विशेषः', इस अर्थ में पुराण शब्द अच् प्रत्यय को जोडकर बना है, नियम के अनुसार जिनके अन्त में अच् प्रत्यय होता है वह शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं परन्तु ग्रन्थ विशेष में यह शब्द नपुसंकलिङ्ग में सर्वमान्य है[7]।

जब हम शब्दार्थक अण् धातु से 'अच्' प्रत्यय करते हैं तब पुराण शब्द का अर्थ होता है – **'पुरा = अतीतान्, अणिति = कथयति'** अर्थात् अतीत की घटनाओं का कहने या बताने वाला ग्रन्थ। इसलिए पुराणों को इतिहास कहा जाता है। व्यत्पत्ति लभ्य अर्थ स्वीकार करने पर पुराण का अर्थ ग्रन्थ विशेष में ही दर्शित होता है, स्वयं पुराण भी इसी अर्थ को स्वीकार करता है[8]। पुराणों में व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ का ही समर्थन किया गया है जैसा कि वायु पुराण में कहा गया है कि प्राचीनकाल से वर्तमान तक जीवित साहित्य को पुराण कहते हैं[9]।

पुराण शब्द का प्रयोग विशेषण और संज्ञा दोंनो रूपों में होता है। विशेषण रूप में प्रयोग यथा – **'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः'**[10] यहाँ पुराण शब्द प्राचीन अर्थ का वाचक है। संज्ञा अर्थ में पुराण शब्द का प्रयोग ग्रन्थ विशेष के रूप में किया जाता है जिसका अर्थ होता है – 'प्राचीन आख्यानों से युक्त ग्रन्थ'।

१.२.२ विभिन्न उद्धरणों में पुराण शब्द का अर्थ

अब हम जानेंगे कि विभिन्न उद्धरणों में पुराण का अर्थ क्या कहा गया है....

भिन्न-भिन्न स्रोतानुसार पुराण का अर्थ -

१. ब्रह्मपुराण के अनुसार –

ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि जो प्राचीन काल में हुआ है उसे बताने वाले को पुराण कहते हैं – **'यस्मात्पुरा ह्यभूच्चैतत्पुराणं तेन तत्स्मृतम्'** (१.१.१७३)। यह अर्थ व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ का समर्थन करता है।

२. पद्मपुराण के अनुसार –

पद्म पुराण में कहा गया है जो साहित्य श्रोता को प्राचीन विषयों में ले जाता है, उस साहित्य को पुराण कहते हैं – **'पुरार्थेषु आनयतीति पुराणम्'** एवं प्राचीन परम्परा को व्यक्त करने वाले शास्त्र को पुराण कहते हैं - **'पुरा परम्परां व्यक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्'** (१.२.५४)।

३. वायु पुराण के अनुसार –

वायु पुराण में कहा गया है जो प्राचीन काल में घटनाएं हुई थी उनसे लेकर वर्तमान तक की घटनाओं को पुराण कहते हैं और इस अर्थ को अर्थात् जो इस व्युत्पत्ति को जान लेता है वह सभी पापों के बन्धन से छूट जाता है – **'यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन कथ्यते। निरुक्तिमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते'** (१.२.३)।

---

[7] पुराणं ग्रन्थ भेदे च क्लीबे त्रिषु पुरातने। (नानार्थरत्नमाला – पृ० सं० ७७)
[8] पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः। (मत्स्य पुराण ५३.७२)
[9] यस्मात्पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन कथ्यते। (वायु पुराण १.२.३)
[10] भग्वद्गीता (२.२०)

४. महाभारत के अनुसार –

प्राचीन आख्यानों को पुराण कहा जाता है – **'पुराख्यानं पुराणम्'।** पुराणों में यह अर्थ सङ्गत होता है, पुराणों में आख्यान (संवाद) और उपाख्यान (उपसंवाद) के माध्यम से गम्भीर विषय को सरल ढंग से बताया गया है।

५. महर्षि यास्क के अनुसार –

निर्वचनकार यास्क मुनि कहते हैं जो प्राचीन काल में नवीन रहा हो उसे पुराण कहते हैं – **'पुरा नवं भवति इति पुराणम्'** (३.१९)।

६. महर्षि पाणिनी के अनुसार –

व्याकरण शास्त्र के आचार्य पाणिनी जी कहते हैं जो पूर्व में हुआ है वह पुराण कहलाता है – **'पुरा भवमिति पुराणम्'।**

७. आचार्य सायण के अनुसार –

वेद भाष्यकार सायण कहते है कि संसार की उत्पत्ति और विकास के क्रम को बताने वाले साहित्य को पुराण कहते हैं – **'जगतः प्रागवस्थामनुक्रम्य सर्गप्रतिपादिकं वाक्यं पुराणम्'** (ऐतरेयब्राह्मणभाष्यभूमिका)।

८. आचार्य राजशेखर के अनुसार –

काव्यमीमांसाकार कविशिरोमणि राजशेखर कहते हैं कि वेदों के आख्यानों को संङ्कलित करने वाला साहित्य पुराण है – **'वेदाख्यानोपनिबन्धप्रायं पुराणम्'।** यह परिभाषा महाभारत की परिभाषा का अनुकरण करती है।

९. आचार्य मधुसूदन सरस्वती के अनुसार –

आचार्य मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि विश्व सृष्टि के इतिहास को पुराण कहते हैं – **'विश्वसृष्टेरितिहासः पुराणम्'।**

इस प्रकार से अनेक स्थानों पर पुराण के अर्थ के विषय में कहा गया है। पुराण शब्द का जो सर्वसम्मत अर्थ है वह यही है कि 'प्राचीन जो इतिवृत्त है उसको कथा, कहानियों, दृष्टान्तों, उदाहरणों और नवीन ढंग से लोक से जोड़ कर बताने वाला ही पुराण है'। पुराण शब्द का अर्थ ग्रन्थ में रूढ्यर्थ को बताता है कि जो प्राचीन घटनाओं के बारे में हमको जानकारी प्रदान करते हैं वह सभी ग्रन्थ पुराण ही हैं अन्य कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ पराण नहीं है अर्थात् तात्पर्य है कि 'पुराण' शब्द 'योगरूढ' है अतः अठारह पराणों तथा उपपुराणों का ही पुराण शब्द से ग्रहण होता है अन्य किसी प्राचीन घटना के बारे में जानकारी देने वाले ग्रन्थ का पुराण शब्द से ग्रहण नहीं होता। **अलम्**।

१.३ पुराण का लक्षण

अमरकोश जिसको ५वीं शताब्दी के पूर्व का माना जाता है उसमें पुराणों की विशेषताओं के विषय में पाँच लक्षणों (पुराणं पञ्चलक्षणम्) का उल्लेख प्राप्त होता है। कोश ग्रन्थ में पुराणों के आधार पर ही पुराणों को पञ्चलक्षणात्मक कहा गया है। वायु पुराण आदि में इनको पञ्चलक्षण वाला और भागवत पुराण में इनको दशलक्षण वाला कहा गया है। इसको हम लोग अब क्रमशः समझेंगे..

१.३.१ पुराण के पाँच लक्षण

वाराहपुराण के अनुसार पञ्चलक्षण के मध्य **सर्ग** (सृष्टि), **प्रतिसर्ग** (प्रलय के उपरान्त पुनः सर्ग), **वंश** (देवों, सूर्य, चन्द्र, कुलपतियों और राजाओं का वंश), **मन्वन्तर** (काल की विस्तृत सीमावधियाँ) और **वंशानुचरित** (सूर्य, चन्द्र एवं अन्य वंशों के उत्तराधिकारियों के कार्य एवं इतिहास) यह पाँच विषय आते हैं। इन्हीं सब विषयों को आधार बनाकर कोशकार ने पुराण का पर्याय 'पञ्चलक्षण' कहा है। वायुपुराण में पाँच लक्षणों के विषय में कहा गया है –

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्[11]॥

विष्णुपुराण में भी पुराण को पञ्चलक्षणात्मक कहा गया है[12]। एवं अन्य स्थानों पर भी पुराण के पाँच लक्षणों पर प्रकाश डाला गया है[13]। वस्तुतः पुराणों को पञ्चलक्षणात्मक उसके प्रतिपाद्य विषय के आधार पर कहा गया है। प्रायः सभी पुराणों में यह विषय प्राप्त होते हैं, किन्तु विद्यमान पुराणों में पाँच से अधिक विषय पाए जाते हैं। कुछ पुराण इन पाँच विषयों का स्पर्श मात्र करते हैं और कुछ पुराणों में इन विषयों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। जितने पुराण हैं उनमें केवल विष्णुपुराण ही एक मात्र ऐसा पुराण जो 'पञ्चलक्षण' परिभाषा के अनुसार सम्यक्

रूप से ठीक बैठता है। पुराण के पाँच लक्षणों की विस्तृत व्याख्या पराणों में ही प्राप्त होती है। पुराण के पाँच विषय कहे गए जो कि इस प्रकार हैं –

१. सर्ग –

सामान्य भाषा में कहें तो सर्ग से तात्पर्य है 'संसार की तथा उसके नाना पदार्थों की उत्पत्ति 'सर्ग' कहलाती है। श्रीमद् भागवत् पुराण में 'सर्ग' का लक्षण प्राप्त होता है –

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां संभवः सर्ग उच्यते॥ (१२.७.११)

अर्थात् मूल प्रकृति में लीन गुण से क्षुब्ध होने पर महत् तत्त्व की सृष्टि होती है। महत् तत्त्व से त्रिविध अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा, इन्द्रिय तथा पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति क्रम को 'सर्ग' के नाम से जाना जाता है।

२. प्रतिसर्ग –

सर्ग से विपरीत प्रतिसर्ग होता है अर्थात् सृष्टि के विपरीत प्रलय का नाम 'प्रतिसर्ग' है। विष्णु पुराण में प्रतिसर्ग का लक्षण कहा गया है –

प्रकृतौ संस्थितं व्यक्तमतीतं प्रलये तु यत्।
तस्मात् प्राकृतसंज्ञोऽयमुच्यते प्रतिसंचरः॥ (१.२.२५)

विष्णुपुराण में प्रतिसर्ग को 'प्रतिसंचर' कहा गया है और भागवत पुराण में प्रतिसर्ग के लिए

---

[11] वायुपुराण (४.१०)
[12] सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
सर्वेष्वतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितं च तत्॥ (विष्णुपुराण ३.६.२५)
[13] सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥ (सूतसंहिता १.१.३३)

'प्रतिसंक्रम' कहा गया है। श्रीमद्भागवत् पुराण में प्रतिसर्ग को संस्था भी कहा गया है[14]। श्रीमद्भागवत् में प्रतिसर्ग को नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक भेद से चार प्रकार का कहा गया है –

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्यः, आत्यन्तिको लयः।
संस्थेति कविभिः प्रोक्ता, चतुर्धाऽस्य स्वभावतः॥ (१२.७.१७)

अर्थात् इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का चारों प्रकार से प्रतिसर्ग स्वभावतः होता है।

३. वंश –

वंश का लक्षण श्रीमद्भागवत् पुराण में इस प्रकार किया गया है –

"राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः"। (१२.७.१६)

अर्थात् आदि सृष्टा (ब्रह्मा) द्वारा उत्पन्न राजाओं की भूत, वर्तमान और भविष्य कालिक सन्तति को वंश कहते हैं। परन्तु अन्य पुराणों में वंश के अन्तर्गत ऋषि वंश का भी ग्रहण होता है। वंश के अन्तर्गत देवों तथा ऋषियों के वंशो का भी समावेश होता है। क्योंकि पुराणों के वाचन और व्याख्यान कर्ता सूत जी के कर्तव्यों के विषय में कहा गया है –

देवतानामृषीणां च राज्ञां चामितेजसाम्।
वंशानां धारणं कार्यं श्रुतानां च महात्मनाम्[15]**॥**

अर्थात् देवों, ऋषियों, तेजस्वी राजाओं तथा लोकवर्णित महात्मओं के वंश को धारण करना सूत जी का कार्य था।

४. मन्वन्तर –

मन्वन्तर सनातन काल का द्योतक है अर्थात् सृष्टि के काल को बताने वाला है। मनु ने कहा है कि ७ मनु होते हैं[16] और मन्वन्तर की परिभाषा एवं काल गणना मनु के ग्रन्थ में प्राप्त होती है[17]। पौराणिक कालगणना के अनुसार एक ब्राह्मदिन में (एक कल्प में) १४ मनु होते हैं, इनका एक-एक मन्वन्तर होता है[18]। एवं श्रीमद्भागवत् पुराण में मन्वन्तर के विषय में कहा गया है –

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥ (१२.७.१५)

मनु देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान के अंशावतार इन छः विशेषाताओं से युक्त समय को **'मन्वन्तर'** कहते हैं। एवं **'मन्वन्तरः सद्धर्मः'** ऐसा भी मन्वन्तर के विषय में कहा गया है।

[14] श्रीमद्भागवत्पुराण (१२.७.१७)
[15] वायुपुराण (१.३१/३२)
[16] मनुस्मृति (१.६२/६३)
[17] मनुस्मृति (१.७९)
[18] विष्णुपुराण (३.१.५ – ३.२.४२)

५. **वंशानुचरित –**

सूर्य, चन्द्र, कुलाधिपतियों, वंशधरों तथा राजाओं का वंश वर्णन एवं इतिहास जिसमें रहता है, उसे **'वंशानुचरित'** कहते हैं। श्रीमद्भागवत् में ही कहा गया है – **'वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये'।** यह लक्षण राजवंशो, ऋषिवंशो, मानव वंशो के विषय में बताता है, अर्थात् पूर्वोक्त वंशो कि विषय में पुराणों में कहा गया है।

इस प्रकार से पुराणों के पञ्चलक्षणत्व को पुराणों में वर्णित किया गया है। एवं कौटिल्य अर्थशास्त्र के टीका ग्रन्थों में भी पुराणों के पञ्चलक्षणत्व को स्वीकार किया गया है - **'सृष्टिप्रवृत्ति संहारधर्ममोक्ष प्रयोजनम्। ब्रह्मभिः विविधैः प्रोक्तः पुराणं पञ्चलक्षणम्'**[19]**।** परन्तु इस पूर्वोक्त श्लोक में पुराणों को पञ्चलक्षणात्मक तो कहा गया है परन्तु इसमें पञ्चलक्षण की नूतन व्याख्या की गई है। इसमें पाँच लक्षणों में स्वीकार्य विषय हैं – सृष्टि, प्रवृत्ति, संहार, धर्म और मोक्ष। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण धर्म और मोक्ष की व्याख्या करते हैं।

१.३.२ पुराण के दश लक्षण

पिछले भाग में हम लोगों ने पुराण के पाँच लक्षणों के विषय में जाना अब हम पुराण के दश लक्षणों के विषय में जानेंगे।

पुराणों के दश लक्षणों के विषय में विशेषतः श्रीमद्भागवत् पुराण में और ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा गया है। श्रीमद्भागवत् पुराण में दशविषयों के उल्लेख के साथ यह भी कहा गया है कि कुछ लोग पाँच लक्षण भी स्वीकार करते हैं –

पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम्। शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः॥
सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षन्तराणि च। वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥

दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।
केचित् पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया॥ (१२।७।८-१०)

अर्थात् भागवत् के अनुसार पुराणों के दश विषय हैं – सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु और अपाश्रय। श्रीमद्भागवत् पुराण के १२वें स्कन्ध के ७वें अध्याय के श्लोक संख्या ११ से लेकर १९ तक दश लक्षणों का अर्थ दिया गया है।

१. **सर्ग –** जैसा कि पहले बताया गया है सर्ग से तात्पर्य इस चराचर जगत् की सृष्टि से है/उत्पन्न होने से है। विसर्ग सृष्टि का ही अवान्तर रूप है।

२. **विसर्ग –** विसर्ग से तात्पर्य है नाश के उपरान्त विलयन या सृष्टि।

३. **वृत्ति –** वृत्ति से तात्पर्य है 'शास्त्र द्वारा व्यवस्थित या स्वाभाविक जीवन वृत्तियाँ' सामान्य भाषा में कहें तो 'जीने के साधन' के साधन को वृत्ति कहते हैं। पुराणों में जीविका के साधन के विषय में भी पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

---

[19] कौटिल्य अर्थशास्त्र जयमङ्गलकृत व्याख्या (१.५)

४. **रक्षा** – अर्थात् जो लोग वेदों से घृणा करते हैं उनका अवतारी देवता नाश करते हैं जिससे वेदों की रक्षा होती है। पुराणों के पाँच लक्षणों में **'रक्षा'** को **'वंशानुचरित'** के अन्तर्गत रखा जाता है क्योंकि इसमें भगवान् के अवतारों का वर्णन होता है और ये अवतार किसी न किसी वंश में ही होते हैं।

५. **अन्तर** – यहाँ 'अन्तर' का तात्पर्य पूर्व वर्णित 'मन्वन्तर' से है। जिसके विषय में पहले बताया जा चुका है।

६. **वंश** – वंश का वर्णन पूर्व में हो चुका है।

७. **वंशानुचरित** – वंशानुचरित का तात्पर्य पहले की तरह समझना है।

८. **संस्था** – संस्था अर्थात् प्रलय के चार प्रकार – नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य और आत्यन्तिक। इसको ही संस्था कहा जाता है।

९. **हेतु** – हेतु शब्द से सृष्टि में 'कर्म वासना' का ग्रहण होता है। हेतु के विषय में श्रीमद्भागवत् में कहा गया है –

हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः।
ये चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे॥ (१२.७.१८)

अर्थात् सृष्टि का कारण, यथा - आत्मा जो अविद्या के वश में होकर कर्म एकत्र करता है वहीं 'हेतु' है। हेतु का पञ्चलक्षणात्मक पुराण में सृष्टि के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव हो जाता है।

१०. **अपाश्रय** – अर्थात् आत्माओं का आश्रय, अर्थात् ब्रह्म। 'अपाश्रय' से सामान्य रूप से ईश्वर का ग्रहण होता है और वह ईश्वर सृष्टि का निर्माता है। इसके विषय में श्रीमद्भागवत् में कहा गया है –

व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः॥ (१२.७.१९)

इन सभी दश लक्षणों का अन्तर्भाव पाँच लक्षणों में ही हो जाता है।

१.३.३ लोकोपयोगी पुराण लक्षण

उपर्युक्त पाँच विषयों अथवा दश विषयों के अतिरिक्त लोकोपयोगी होने के कारण पुराणों में चार विषयों का विशेष रूप से संग्रह किया जाता है –

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः[20]॥

यह चार विषय हैं – आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि। स्वयं देखी हुई बात को कहना **'आख्यान'** है। वेदों में वर्णित और सुनी हुई बात का कथन करना **'उपाख्यान'** है[21]। किसी महापुरुष के अनुभव वाक्यों को **'गाथा'** कहते हैं। और कल्पशुद्धि का तात्पर्य धर्मशास्त्र में प्रतिपादित **'कल्पशुद्धि'** से है। कल्पशुद्धि का तात्पर्य यही है कि किसी वंश के वृत्तान्त को

---

[20] विष्णुपुराण (३.६.१५)

[21] स्वयंदृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः।
श्रुतार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते॥ (विष्णुपुराण, श्रीधरीटीका)

पूर्णरूप से जानना।

पुराणों में अनेक प्रसङ्गों में ऐतिहासिक वीर-गाथाओं, मिथकीय पुराकथाओं, आचारात्मक नीति-कथाओं आदि का, मूल वक्तव्य को स्पष्ट करने के लिए समावेश किया गया है। लोकोपयोगी जो भी इतिहास है उस पर पुराणों से ही प्रकाश पडता है। लोकोपयोगी कर्तव्याकर्तव्य को जानने के लिए पुराण ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। पुराण इतिहास के अन्तर्गत आता है[22] और इतिहास से लोक (संसार) सीख लेता है। पुराण इतिहास की कोटी में आता है और 'इतिहास' शब्द की व्युत्पत्ति होती है – (इति ह आस) अर्थात् 'इत्थं निश्चयेन बभूव' (यह निश्चय ही ऐसा हुआ)। इस प्रकार से पुराण का लक्षण लोकोपयोगी भी सिद्ध होता है। **अलम्**।

१.४ पुराण के प्रकार

पुराणों का प्रकार (विभाजन) अनेक प्रकार से देखने को मिलता है। जिसमें गुणों के आधार पर, देवताओं के आधार पर, विषयवस्तु के आधार पर, ज्ञान के आधार पर, साम्प्रदायिक रूप में, ऐतिहासिक रूप और तीर्थ से सम्बन्धित पुराणों के रूप में। इन सभी विभाजनों को तथा पुराणों के वर्गीकरण को हम इस शीर्षक में समझेंगे। परन्तु पुराण के प्रकार और वर्गीकरण को समझने से पूर्व हमको पुराण कितने है अर्थात् उनकी संख्या कितनी है और वह कौन-कौन से हैं यह संक्षेप में जानना परम आवश्यक है। अतः इस भाग में हम पुराणों की संख्या और विभाजन/वर्गीकरण को जानेंगे।

१.४.१ पुराणों की अष्टादश संख्या

पुराणों के संख्यागत विभाजन की बात करें तब आठारह पुराणों का नाम सर्वप्रथम आता है[23]। श्रीमद्भागवत् महापुराण में पुराणों का नाम और संख्या दोंनो का उल्लेख प्राप्त होता है –

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च शैव लैङ्गं सगारूडम्।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम्॥

भविष्यं ब्रह्मवैवर्त्तं मार्कण्डेयं सवामनम्।
वाराहं मात्स्यं कौर्मं ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्[24]॥

इसको सरल भाषा में समझा जाए तो – **'मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्। अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते"॥** मद्वयम् = मत्स्यपुराण-मार्कण्डेयपुराण। भद्वयम् = भविष्यपुराण-भागवत्पुराण। ब्रत्रयम् = ब्रह्मपुराण-ब्रह्माण्डपुराण-ब्रह्मवैवर्तपुराण। वचतुष्टयम् = विष्णुपराण-वामनपुराण-वराहपुराण-वायुपराण। अनापलिङ्गकूस्कानि – अग्निपुराण-नारदपुराण-पद्मपुराण-लिङ्गपुराण-कूर्मपुराण-स्कन्दपुराण।

अठारहपुराण – (१. ब्रह्म २. पद्म ३. विष्णु ४. शिव ५. लिङ्ग ६. गरुड ७. नारद ८. भागवत् ९. अग्नि १०. स्कन्द ११. भविष्य १२. ब्रह्मवैवर्त १३. मार्कण्डेय १४. वामन १५. वराह १६. मत्स्य १७. कूर्म १८. ब्रह्माण्ड)।

---

[22] पुराणमितिवृत्ताख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रञ्चेतिहासः। (कौटिल्य अर्थशास्त्र, १.६.१४)

[23] अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
पश्चाद्भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम्॥ (महाभारत; आदिपर्व)

[24] भागवत् पुराण (१२/७/२३-२४)

श्रीमद्भागवत् पुराण के अनुसार ही महापुराणों का क्रम जानना चाहिए। जिसमें ब्रह्म पुराण को आदि पुराण के नाम से जाना जाता है। शिव पुराण की विषयवस्तु वायु पुराण के समान होने के कारण उसका ग्रहण वायुपुराण से हो जाता है। जिस प्रकार पुराणों की संख्या अठारह है उसी प्रकार उपपुराणों की संख्या भी अठारह प्राप्त होती **है**[25]।

१.४.१ पुराण विभाजन

अब हम लोग इस हिस्से में पुराण के विभाजन पर बात करेंगे। मत्स्यपुराण (५३.२७-२८) के अनुसार पुराणों का त्रिविध विभाजन माना गया है – १. सात्त्विकपुराण २. राजसपुराण ३. तामसपुराण। जिन पुराणों में विष्णु भगवान का अधिक महत्त्व बताया गया है वह **सात्त्विकपुराण**, जिन पुराण में भगवान शिव का महत्त्व अधिक बताया गया है वह **तामसपुराण** और **राजस** पुराणों में ब्रह्मा तथा अग्नि का अधिक महत्त्व वर्णित है[26]। गरुड पुराण के अनुसार सात्त्विक पुराण के तीन भेद होते हैं – १. सत्त्वाधम (मत्स्य तथा कूर्म) २. सात्त्विक मध्यम (वायु) ३. सात्त्विक उत्तम (विष्णु, भागवत् और गरुड)।

- **सात्विक (वैष्णव) पुराण -** विष्णु, नारद, भागवत, गरुड, पद्म, वराह।
- **संग्रह श्लोक -** वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्, गारुडं तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने।
- **तामस (शैव) पुराण -** मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, शिव, अग्नि तथा स्कान्द।
- **संग्रह श्लोक -** मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च। आग्नेयञ्च षडेतानि तामसानि निबोधत।
- **राजस (ब्राह्म) पुराण -** ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, ब्रह्म, वामन तथा भविष्य।
- **संग्रह श्लोक -** ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च। भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोधत।
- **Note -** यह विभाजन **'मत्स्य पुराण'** के आधार पर किया गया है।

स्कन्द पुराण के **'शिवरहस्य'** नामक खण्ड के अनुसार पुराण को देवताविषयक बनाकर पाँच भागों में रखा गया है –

१. शैव (शिवविषयक) = शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, लिङ्ग, वाराह, स्कन्द, मत्स्य, कूर्म, वामन तथा ब्रह्माण्ड।

२. वैष्णव (विष्णुविषयक) = विष्णु, भागवत्, नारदीय तथा गरुड।

३. ब्राह्म (ब्रह्माविषयक) = ब्रह्म तथा पद्म।

४. आग्नेय (अग्निविषयक) = अग्निपुराण।

५. सावित्र (सूर्यविषयक) = ब्रह्मवैवर्तपुराण।

---

[25] महापुराणान्येतानि ह्यष्टादश महामुने।
तथा चोपपुराणानि मुनिभिः कथितानि च॥ (विष्णुपुराण ३/६/२४)

[26] सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः॥
तद्वदग्नेर्माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते॥ (मत्स्यपुराण ५३.६८-६९)

इस प्रकार से पुराणों का विभाजन पुराणों में विषयवस्तु के आधार पर देवताओं के आधार पर प्राप्त होता है एवं कुछ पुराणों का खण्डात्मक तथा संहितात्मक विभाजन भी देखने को मिलता है।

१.४.३ पुराणों का वर्गीकरण

हम लोगों ने पुराणों के विभाजन प्रकाश पूर्व में डाला, अब हम पुराणों के वर्गीकरण को सामान्य रूप में समझेंगे –

अष्टादश पुराणों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से देखा जाता है। यथा – (१) ज्ञानकोशीय पुराण = अग्नि, गरुड एवं नारद, (२) तीर्थ से सम्बन्धित पुराण = पद्म, स्कन्द एवं भविष्य, (३) साम्प्रदायिक पुराण = लिङ्ग, वामन एवं मार्कण्डेय, (४) ऐतिहासिक पुराण = वायु एवं ब्रह्माण्ड (सात पुराणों[27] में ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है, इनमें महाभारत तक के प्राचीन वंश तथा महाभारत से आगे आन्ध्रों एवं गुप्तों के अभ्युदय तक के वंशों के विषय में विस्तत सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं)। पुराणों का वर्गीकरण प्राचीन और प्राचीनेतर को लेकर भी किया जाता है[28], जैसे – वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य और विष्णु यह पुराण प्राचीन प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त सभी पुराण प्राचीनेतर माने जाते हैं। स्कन्दपुराण में पुराणों का वर्गीकरण देवताओं के आधार पर किया गया है[29] परन्तु इसमें पुराणों के नाम का निर्देश नहीं दिया गया है। पञ्चलक्षणात्मक वर्गीकरण भी पुराणों का देखा जाता है, जिसकी बात हम पूर्व में कर चुके हैं। कुछ विद्वान् पुराणों का वर्गीकरण ६ वर्गों में मानते हैं[30]।

१.५ सारांश

पुराण आज भी सम्पूर्ण भारत में लोकप्रिय हैं। इस भाग के अध्ययन से हम लोगों को पुराण शब्द का अर्थ, लक्षण और प्रकार के विषय में ज्ञान हो चका है। पुराण एक विकासशील साहित्य रहा जिसकी धारा निरन्तर रूप से प्रवाहित होती आ रही है। पुराण वैदिक साहित्य की आध्यात्मिक विद्या को छानकर लोक कल्याण के लिए सामान्य और सरल तरीके से बताते हैं। वेदव्यास कहते हैं – **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'** अर्थात् वेद तत्त्व को स्पष्ट करने वाली पुराणविद्या ही है। अतः इस को वेदाङ्ग के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। स्कन्दपुराण में पुराण को वेद की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है – **'आत्मा पुराणं वेदानाम्'**। पुराण चारों वेदों के अर्थ का सार बताते हैं[31]। पौराणिक ज्ञान की अविरल धारा से हम वेद के दुरुह अर्थ ज्ञान कर सकते हैं। पुराणों में दार्शनिक तत्त्वों की भी बडे सरल और प्राञ्जल प्रवाह के रूप में की गई है। पुराण शब्द के अर्थ ज्ञान से यह पता चल ही जाता है कि पुराण की विषयवस्तु क्या है और पुराणों के वर्गीकरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस विषयवस्तु का आधार क्या है। पुराण साहित्य भारत की प्राचीन शाखाओं का प्रतिनिधित्व करता है। पुराणविद्या के ज्ञान से ही मनुष्य के अस्तित्त्व तथा उद्देश्य के विषय में ज्ञान होता है। पुराण के अर्थ से हमको ज्ञात होता है कि किस प्रकार अतीत को वर्तमान से जोडा जा सकता है और

---

[27] वायु (९९।२५०-४३५), विष्णु (४।२०।१२ – ४।२४।४४), ब्रह्माण्ड (३।७४।१०४-२४८), भागवत् (१।९२।९-१६), गरुड (१४०-१४१), भविष्य (३।३)।

[28] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास (त्रयोदश खण्ड, पृ०सं० – २३);

[29] अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः।
चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः। (स्कन्द, केदारखण्ड)

[30] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास (त्रयोदश खण्ड, पृ०सं० – २४);

[31] सर्ववेदार्थसाराणि पुराणानीति भूपते। (नारदपुराण १.९.१००)

किस प्रकार से हम लोग पुराण की कथाओं को आधार बनाकर नीति ज्ञान कर सकते हैं। पुराण के प्रकार या विभाजन से हम यह जान पाते हैं कि इन सभी पुराणों की विषयवस्तु क्या है। देवाताओं के आधार पर वर्गीकरण देवों के महात्म्य के बारे में जानकारी प्रदान करता है।

१.६ पारिभाषिक शब्दावली

पुरा – प्राचीन

भूपति – चक्रवर्ती सम्राट्

सावित्र - सूर्य

१.७ सन्दर्भग्रन्थ सूची

१. शतपथ ब्राह्मण।

२. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, बलदेव उपाध्याय, भाग – त्रयोदश, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ – २०००।

३. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, उमाशंकर ऋषि, चौखम्भा भारती आकादमी, वाराणसी – २०१९।

४. मनुस्मृति, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

५. अर्थशास्त्रम्, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी – २०१९।

६. श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर।

७. मेदीनीकोश

८. नानार्थरत्नमाला

९. काव्यामीमांसा, राजशेखर, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

१०. सूतसंहिता।

११. छान्दोग्य उपनिषद्।

१२. पुराणविमर्शः, बलदेव उपाध्याय।

१३. श्रीमद्भागवत्पुराण, विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण, वायुपुराण, गरुडपुराण, नारदपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर।

१४. निरुक्त, यास्कप्रणीत।

१.८ बोध प्रश्न

१. पुराण शब्द से आप क्या समझते हैं अपने शब्दों में लिखिए?

२. पुराण शब्द की परिभाषा की उद्धरण पूर्वक व्याख्या कीजिए?

३. पुराण के पाँच लक्षणों पर एक लेख लिखिए?

४. पुराण शब्द की व्युत्पत्ति करिए?

५. पुराणों का मत्स्यपुराण के अनुसार विभाजन करिए?

६. पुराण कितने हैं और कौन-कौन से हैं लिखिए?

इकाई 2 पुराणों की विषयवस्तु एवं ऐतिहासिक सङ्कल्पना

इकाई की रूपरेखा

2. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप…

- पुराण जैसे विशाल साहित्य के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- सभी अठारह पुराणों की विषयवस्तु को जान सकेंगे।
- पुराणों के ऐतिहासिक महत्त्व को समझेंगे।
- पुराणों की ऐतिहासिक महत्ता और सङ्कल्पना को अच्छे से समझ पायेंगे।
- अठारह पुराणों का महत्त्व जान पायेंगे।

2.1 प्रस्तावना

प्रिय छात्रों। पुराण की इस इकाई में हम सभी पुराणों की विषयवस्तु को सामान्य तथा विस्तृत रूप से जानेंगे। तथा पुराणों के ऐतिहासिक महत्त्व को समझेंगे। सभी अठारह पुराणों में विविध सामग्री हमको प्राप्त होती है, पुराणों को वेदों के समान ही परमात्मा के निःश्वास से निर्गत बताया गया है[1]। आचार्य मधुसूदन सरस्वती, पुराणोत्पत्ति प्रसङ्ग में कहते हैं – **'विश्वसृष्टेरितिहासः पुराणम्'** अर्थात् विश्व सृष्टि के इतिहास को पुराण कहते हैं। सभी पुराणों में धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, भौगोलिक, वैज्ञानिक, सामाजिक और शास्त्रीय विषय भरपूर मात्रा में

[1] अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणम्; (२/४/१०)

प्राप्त होता है। इन पुराणों से हमको अपने सनातन धर्म के विषय में, देवी-देवताओं के विषय में तथा अवतरावाद के विषय में पर्याप्त तथा विस्तृत प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। पुराण शब्द का योगार्थ (व्युत्पत्त्यर्थ) भी यही कहता है कि जो प्राचीन घटनाओं के विषय में जानकारी दे उस साहित्यिक ग्रन्थ को पुराण कहते हैं। एवं सायण कहते हैं जो संसार की उत्पत्ति और विकासक्रम को बताए उसे पुराण कहते हैं[2]। इसलिए पुराण को आचर्यों द्वारा इतिहास वेद (पञ्चमवेद) भी कहा गया है। यह पुराण लौकिक ज्ञान के चक्षु तथा दर्पण हैं। और ऐतिहासिक विषयवस्तु के लिए पुराण सागर के समान है अतः इनकी विषयवस्तु के विषय में कहा गया है – **'पुराणं पञ्चलक्षणम्'**[3] अर्थात् पुराण पञ्चलक्षणात्मक (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित) है। पुराणों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सृष्टि है और बाकी विषय राजवंश वर्णन, देववंश वर्णन और ऋषिवंश वर्णन, मन्वन्तर वर्णन तथा सभी प्रकार का लोकोपयोगी विषय भी पुराणों में भरपूर मिलता है। इस हिस्से में हम सभी पुराणों की क्रमानुसार विषयवस्तु तथा ऐतिहासिक सङ्कल्पना को जानेंगे।

2.2 पुराणों की विषयवस्तु

2.2.1 पुराणों का प्रतिपाद्य विषय

पुराणों के पाँच लक्षणों से पुराणों का प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट ही है परन्तु इसके साथ-साथ पुराणों में भिन्न-भिन्न तीर्थों का वर्णन, उपासना कर्म, प्रायश्चित्त कर्म, निषिद्ध कर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य इत्यादि का विशद वर्णन प्राप्त होता है। पुराणों में ऐतिहासिक घटना क्रम नन्द, मौर्य, शुंग, आन्ध्र और गुप्त आदि सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन विस्तृत रूप में प्राप्त होता है। मूर्तिपूजा, सगुण ब्रह्म की उपासना तथा व्रत उपासना के विषय में भी भरपूर सामग्री प्राप्त होती है। दार्शनिक तत्त्वों का चिन्तन भी पुराणों में भरपूर प्राप्त होता है। पुराणों में भूगोल का ज्ञान भी विस्तृत रूप में प्राप्त होता है। श्रुतिप्रमाण्य होने के कारण में वेदगत शिक्षा को ही पुराणों में सरल एवं विस्तृत तरीके से बताया गया है। पुराणों को सरल भाषा में धर्मप्रतिपादक कहा गया है। पुराण मानव जाति के आचार-नियम/कायदा-कानून का भी प्रतिपादन करते हैं, इन पुराणों में विभिन्न कथा-कहानियों के माध्यम से बताया गया है कि किस प्रकार मनुष्य को प्रकृति के साथ व्यवहार करना चाहिए एवं किस प्रकार अपने मन सांसारिक क्रियाओं से निवृत्त होकर मोक्षानुगामी बनाना चाहिए। पुराण हमारे वैदिक सनातन धर्म के चक्षु हैं जिनसे हमको आचार व्यवहार के साथ-साथ अपनी संस्कृति का भी ज्ञान होता है।

2.2.2 पुराणों में वर्णित विभिन्न विषयवस्तु

पुराणों में वर्णित विषयवस्तु की बात करें तो इस प्रकार से विभाग करके समझ सकते हैं –

१. **आध्यात्मिक विषयवस्तु** – पुराणों की विषयवस्तु हमको आध्यत्मिक चिन्तन का भी अनुसरण कराती है। जिसका एक रूप पुराणों में वर्णित अवतारवाद देखा जा सकता है, जिससे मनुष्य भक्ति मार्ग को अपना कर आध्यात्म के साथ जुडता है। पुराणों में ऐसी सेंकडों घटनाएँ हैं जिनसे मनुष्य आध्यात्म की शिक्षा अच्छे ढंग से ले सकता है। अनेकानेक रूप से देवस्तुतियाँ पुराणों मे दृष्टिगोचर होती हैं तथा व्रत-उपवासों का भी

[2] जगतः प्रागवस्थामनुक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्; (ऐतरेयब्राह्मणभाष्य भूमिका)

[3] अमरकोश (१/६/५)

वर्णन पुराणों मे प्राप्त होता है जो आध्यात्म के स्वरूप का ही अङ्ग है। इस प्रकार से पुराणों में आध्यात्मिक विषयवस्तु की प्रचुरता है।

२. **ऐतिहासिक सामग्री** – विद्वानों ने पुराण और इतिहास को पर्याय ही कहा है[4]। और पुराणों के पाँच लक्षणों से भी स्पष्ट है कि सभी पुराणों में सम्पर्ण विश्व का इतिवृत्त भरपूर मात्रा में मिलता है जैसे वंश एवं वंशानुचरित के अन्तर्गत प्राचीन काल के ऋषियों और राजाओं का वर्णन पुराणों विस्तार से बताया गया है।

३. **भौगोलिक सामग्री** – बहुत से ऐसे पुराण है जिनमें समस्त पृथ्वी की भौगोलिक संरचना को बताया गया है जैसे विष्णु पुराण में सात द्वीप, सात सागर, सात नदीयाँ, सात पर्वत तथा भिन्न-भिन्न तीर्थस्थलों के विषय में बताया गया है। पुराणों में 'भुवनकोश' के अन्तर्गत समस्त भूमण्डल का वर्णन किया गया है।

४. **राजनैतिक सामग्री** – पुराणों में बहुत से राजवंशो का वर्णन है तथा उनके काल से सम्बन्धित सामाजिक संरचना को भी बताया गया है, जिससे हम लोग भिन्न-भिन्न काल की राजनैतिक दशा को भी समझ सकते हैं।

५. **दार्शनिक सामग्री** – पुराणों में ऐसे बहुत से दार्शनिक आख्यान हैं जिनसे हमको दार्शनिक चिन्तन की दिशा प्राप्त होती है। सृष्टि प्रक्रिया तथा उसका प्रलय पुराणों में भिन्न-भिन्न रूप दर्शाय गया है तथा प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों के बीज भी पुराणों मे प्राप्त होते हैं।

६. **धार्मिक सामग्री** – पुराणों में धर्म की अनेक रूप में चर्चा की गई है। अवतारवाद में भिन्न-भिन्न देवी देवताओं की उपासना को धर्म से जोडकर श्रद्धा और भक्ति पर बल दिया गया है। वैदिक धर्म को भी कथा-कहानियों के माध्यम से सरल करके बताया गया है।

७. **आचार-नियम विषयक सामग्री** – पुराणों में कर्तव्याकर्तव्य को कथा-कहानियों के माध्यम से सरल भाषा और मानव जाति से जोडकर बताया गया है। पाप-पुण्य का सहारा लेकर नैतिकता को भी समझाया गया है। दान-दया-सेवा-निष्ठा इत्यादि को पुराणों में मानव के नैतिक गुण के रूप में दिखाया गया है।

८. **ज्ञान-विज्ञान की सामग्री** – पुराणों की समस्त विषयवस्तु वैसे तो ज्ञान-विज्ञान का ही प्रदर्शन करती है परन्तु विशेष रूप से पुराणों दस विद्याओं को भी बताया गया है। जैसे अग्नि पुराण में काव्यशास्त्र, छन्दशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र और व्याकरणशास्त्र के तत्त्वों का चिन्तन विस्तृत रूप से प्राप्त होता है। इस प्रकार से पुराणों में शास्त्रीय और वैज्ञानिक दोनों विषयों का सङ्कलन प्राप्त होता है।

इस प्रकार से पुराणों में विविध विषयों को संग्रह है जो लौकिक रूप में बताया गया है। यह सभी विषय मानवजाति के लिए अमृततुल्य हैं।

2.2.2 पुराणों की क्रमानुसार विषयवस्तु

महापुराणों का क्रम श्रीमद्भागवत पुराण[5] में दिया गया है उसी क्रम के अनुसार यहाँ पुराणों की

---

[4] इतिहासः पुरावृत्तम् (अमरकोश १.५.४);/ पुराणं पुरावृत्तम् (महाभारत नीलकण्ठी टीका १.५.१);

[5] भागवतपुराण (१२/७/२३-२४);

विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है –

1) **ब्रह्मपुराण –** सभी अठारह पुराणों में ब्रह्मपुराण को सर्वप्रथम रखा गया है इसलिए इसको 'आदिपुराण' भी कहा जाता है। इस पुराण की श्लोक संख्या दसहजार कहीं गई है[6]। परन्तु बम्बई से प्रकाशित संस्करण में १३,७८७ श्लोक प्राप्त होते हैं[7]। सबसे पहले मनुष्य यह सोचता है कि वह कौन है? इस सृष्टि की रचना किसने की है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर 'ब्रह्मपुराण' में दिया गया है कि इस समस्त प्रपञ्च रचना के कर्ता स्वयं ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा के स्वरूप का पूर्ण वर्णन इस पुराण में प्राप्त होता है अतः इस पुराण को 'ब्रह्मपुराण' की संज्ञा दी जाती है। ब्रह्मपुराण की रचना के विषय में यह मान्यता है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा जी इसी पुराण का प्रणयन किया था। नैमिषारण्य में एकत्र सभी ऋषि-महर्षियों को लोमहर्षण ने इस पुराण का प्रवचन किया था। इस पुराण के परिशिष्ट भाग में कोर्णाक के सूर्य मन्दिर का उल्लेख प्राप्त होता है। इस पुराण में जगत् सृष्टि, मनु वंश वर्णन, सभी देवयोनियों का वर्णन, राजवंशों का वर्णन, जीववर्णन, भूमण्डल वर्णन, स्वर्ग एवं नरक वर्णन, दक्ष यज्ञ वर्णन, सप्तलोक वर्णन, भारतखण्ड की प्रशंसा और उसके अन्तर्गत देशों का वर्णन तथा अन्यान्य उपविषय भी विस्तार से वर्णित हैं। इस पुराण में उडीसा देश के तीर्थों का वर्णन तथा उस क्षेत्र में होने वाली सूर्य पूजा का विशेष वर्णन है तथा गौतमी गङ्गा (वर्तमान गोदावरी नदी) का सविस्तार वर्णन है। विष्णु के अवतार को बताया गया है। सूर्यवंश का विस्तृत वर्णन इस पुराण में प्राप्त होता है। इस पुराण में भिन्न-भिन्न आख्यानोपाख्यान भी प्राप्त होते हैं जैसे – हरिश्चन्द्रोपाख्यान, दक्षोपाख्यान, दुष्यन्त-शकुन्तलोपाख्यान, सगर के पुत्रों का आख्यान आदि। इस पुराण में त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की भक्ति तथा पूजा का विशेष वर्णन है। इस पुराण में कहा गया है कि धर्म देश और काल के अधीन होता है – **'तस्याऽऽश्रयश्च द्विविधो देशः कालश्च सर्वदा'**[8]। ब्रह्मपुराण में धर्म की महत्ता सर्वत्र वर्णित है। इसमें कहा गया है कि धर्म से ही अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है[9]। इस पुराण का प्रतिपादन संवाद शैली में सरल ढंग से किया गया है, जिससे अर्थावबोध में कठिनाई नहीं होती।

2) **पद्मपुराण –** पुराणों के क्रम में द्वितीय पुराण पद्मपुराण आता है। इस पुराण का विभाजन पद्मपुराण, मत्स्य तथा नारदीय विषयानुक्रमणी के अनुसार ५५००० श्लोकों में किया गया है। यह वैष्णव पुराण है। इस पुराण में विष्णु के महात्म्य का विशद वर्णन है। इस पुराण में राम अवतार, कृष्ण अवतार, अयोध्या महात्म्य, वृन्दावन महात्म्य, शालग्राम पूजन इत्यादि विषय वर्णित है। पद्मपुराण के बंगाली संस्करण में इसके पाँच खण्डों को बताया गया है[10] - १. सृष्टि २. भूमि ३. स्वर्ग ४. पाताल ५. उत्तर। भूमि खण्ड में आख्यानों की बहुलता है। इस पुराण में सृष्ट्युत्पत्ति, भारतवर्ष वर्णन, नर्मदा नदी महात्म्य, कालिन्दी (यमुना नदी) महात्म्य, वाराणसी-गया एवं अन्य तीर्थ महात्म्य, पितृभक्ति महात्म्य, कार्तिक मास महात्म्य, वैशाख मास महात्म्य, माघ मास महात्म्य, सुबाहु चरित, वाल्मीकि आश्रम की कथा, समुद्र मन्थन की कथा, हिरण्याकशिपु वध, चातुर्मास्य व्रत, गीता महात्म्य एवं भागवत महात्म्य इत्यादि विषय विस्तृत रूप में निरूपित हैं। अगर

---

[6] श्रीमद्भागवतपुराण (१२.१३.०४);

[7] उमाशङ्कर ऋषि : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. १८०

[8] ब्रह्मपुराण गौतमी महात्म्य (१०५.१८)

[9] धर्मादर्थस्तथा कामो मोक्षश्च परिकीर्त्यते। (ब्रह्मपुराण १०७.७३)

[10] पद्म. भूमि (१२५.४८-४९)

सामान्य भाषा में कहा जाए तो इसमें विष्णु से सम्बन्धित सामग्री का आधिक्य है। इस पुराण में विष्णु की भक्ति पर विशेष जोर दिया गया है अनेक आख्यान और उपाख्यानों के माध्यम से विष्णु के महात्म्य को दर्शाया गया है।

3) **विष्णुपुराण** – पुराणों के क्रम में तृतीय स्थान विष्णु पुराण का है। इस पुराण के वक्ता विष्णु हैं इसलिए इसका नाम विष्णुपुराण है, परन्तु इसी पुराण में इसके प्रवक्ता पाराशर तथा श्रोता मैत्रेय कहे गए हैं। यह पुराण ६ अंशों में विभक्त है। इस पुराण में विष्णु और वैष्णव धर्म सम्बन्धी सामग्री की प्रचुरता है। इस पुराण के प्रथम अंश में देवादयों का जन्म, समुद्र मन्थन की कथा, दक्ष वंश वर्णन, ध्रुवचरित एवं प्रह्लाद आदि की कथा का वर्णन है। द्वितीय अंश में प्रियव्रत आख्यान, नरक वर्णन, सप्तस्वर्ग वर्णन, सूर्य की गति का वर्णन, मुक्ति मार्ग आदि का वर्णन है। तृतीय अंश में मन्वन्तर वर्णन, वेदव्यास कथा, सगर संवाद, श्राद्धकल्प वर्णन, सर्वधर्म निरूपण और मायामोह कथा का वर्णन है। चतुर्थ अंश में सूर्य वंश की कथा, सोम वंश की कथा तथा भविष्य में होने वाले राजाओं के विषय में भी बताया गया है। पञ्चम अंश में कृष्ण लीला तथा अष्टावक्र आख्यान का वर्णन है। षष्ठांश में चतुर्विधप्रलय वर्णन है। इस पुराण का उत्तरभाग (द्वितीय भाग) विष्णुधर्मोत्तर पुराण है। जो कि विषयवस्तु की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें व्रत, नियम, योग, साहित्य, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, वेदान्त, ज्योतिष, वंश वर्णन आदि विषय वर्णित हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से पुराण के पाँच लक्षण इसी में पूर्णरूप से प्राप्त होते हैं। इस पुराण में महाजनपद काल के नन्द वंश, मौर्य वंश और शुङ्गादि वंशो का वर्णन भी प्राप्त होता है। इस पुराण का भौगोलिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है इस पुराण में पृथ्वी के सात द्वीप तथा उनके राजाओं का वर्णन है, नदियों, पर्वतों और तर्थों का भी वर्णन इस पुराण में प्राप्त होता है। इस पुराण में गद्यांश भी प्राप्त होता है जो गद्य की प्राचीन शैली का ज्ञान कराता है। इस पुराण का अनुवाद बहुत सी भाषाओं में हुआ है। इस पुराण का हिन्दी अनुवाद गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित है। यह विष्णु पुराण भागवत पुराण से प्राचीन है।

4) **वायुपुराण** – कुछ महापुराणों में वायुपुराण के स्थान पर चौथे पुराण के रूप में शिवपुराण का नाम देखने को मिलता है[11] परन्तु शिव पुराण और वायु पुराण भिन्न-भिन्न हैं। शिव महापुराण में अठारह पुराणों को बताया गया है[12]। शिव पुराण में शैव सिद्धान्तों का वर्णन है अतः यह शैवदर्शनों एवं मतों का आकर (भाष्य) ग्रन्थ है। इस पुराण में सृष्टिक्रम, भौगोलिक वर्णन, अन्तरिक्ष विज्ञान, तीर्थ वर्णन, ऋषियों का वर्णन, गान विद्या, प्रजापतिवंश वर्णन, दान का फल, सप्त ऋषि वर्णन तथा शिवभक्ति का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इस पुराण में पितरों और श्राद्ध का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। पाशुपत दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, शैव सिद्धान्त इस पुराण में पर्याप्त मिलते हैं। वायु पुराण की लोकप्रियता बाणभट्ट की उक्तियों से प्रतीत होती है।

5) **लिङ्गपुराण** – यह पुराण शिव के चतुर्वेदमय स्वरूप को प्रकाशित करता है। इस पुराण की मुख्य विषयवस्तु शिवोपासना है। इस पुराण में कहा गया है कि जिसका कोई लिङ्ग और चिह्न नहीं है उसको निर्गुण और अलिङ्ग कहा जाता है। और यही परमात्मा अव्यक्त प्रकृति (लिङ्ग) का मूल है – **"अलिङ्गो लिङ्गमूलं तु अव्यक्तं लिङ्गमुच्यते। अलिङ्गः शिव इत्युक्तो लिङ्गं शिवमिति स्मृतम्"**॥ शिवपुराण के अनुसार लिङ्ग

---

[11] देवीभागवत (१/३), मत्स्य (अध्याय ५३), नारद (पूर्वखण्ड अध्याय ९५);

[12] दशधा चाष्टधा चैतत्पुराणमुपदिश्यते। (शिवपुराण ७/१/१/४२);

चरित के वर्णन के कारण इस पुराण को लिङ्गपुराण कहा गया है। इस पुराण में ८०२५ श्लोक हैं। इस पुराण में शिव से ही सृष्टि का आरम्भ कहा गया है। एवं इस पुराण में शिव के अट्ठाईस अवतारों के विषय में बताया गया है। इस पुराण में शंकर रहस्य, योग का वर्णन, शिव साक्षात्कार, शिवशक्ति, वामदेव महात्म्य, लिङ्गार्चन, श्वेतमुनि आख्यान, इन्द्र द्वारा शिव भक्ति वर्णन, भौगलिक वर्णन, त्रिपुरदहन का वर्णन, शिवपूजा महात्म्य, शिवलिङ्गों का वर्णन, पाशुपतव्रत महात्म्य, तीर्थ वर्णन, शिव सहस्रनाम आदि का वर्णन प्राप्त होता है। इस पुराण के उत्तरार्ध में नारायण महिमा, विष्णु महात्म्य, वैष्णव दर्शन, द्वादशाक्षर और अष्टाक्षर महात्म्य आदि का विशद वर्णन है। इसमें अनेक स्थलों पर शिव को विष्णु से श्रेष्ठ बताया गया है। इस पुराण में ध्रुवाख्यान, ययाति आख्यान, अम्बरीष-श्रीमति आख्यान, श्वेतमुनि आदि आख्यान वर्णित हैं। इस पुराण में धर्मशास्त्रीय सम्बन्धी विचार भी प्राप्त होते हैं।

6) **गरुडपुराण –** यह वैष्णव पुराण है। इस पुराण को विद्वान् विश्वकोष की संज्ञा प्रदान करते हैं। इस पुराण का परिमाण १८००० श्लोकों में है। इस पुराण को भगवान विष्णु ने गरुड को सुनाया था, फिर गरूड ने कश्यप को सुनाया था, कश्यप ने व्यास को, व्यास ने शौनक को सुनाया था। तात्कालिक समाज की सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा आर्थिक स्थिति के सम्यक् ज्ञान के लिए यह पुराण अत्यन्त उपयोगी है[13]। इस पुराण में त्रिदेव उत्पत्ति, नारायण अवतार वर्णन, चतुर्विध प्रजा की उत्पत्ति, सृष्टि वर्णन, सूर्यपूजा, नवव्यूहार्चन विधान, भुक्तिमुक्तिप्रदाता योग का वर्णन, विष्णुसहस्रनाम तथा महात्म्य, शिव पूजा वर्णन, शक्तिवर्णन, योग वर्णन, वास्तुदर्शन, चारवर्णों का वर्णन, दान, प्रायश्चित्त, सप्तद्वीप वर्णन, सप्त पर्वतों का वर्णन, सप्त पातालों का वर्णन, नरकों का विस्तृत वर्णन, तारागण का वर्णन, सामुद्रिक शास्त्र, रत्न परीक्षा, तीर्थ महात्म्य, मन्वन्तर आख्यान, श्राद्ध वर्णन आदि विषय सविस्तार बताए गए हैं। इस पुराण को दो खण्डों में विभाजित किया गया है। जिसके उत्तरखण्ड को प्रेतकल्प कहा जाता है इसमें मृत्यु, प्रेतमुक्ति, यमलोक तथा विष्णुलोक गमन का वर्णन है। इस पुराण में अनेक लोकोक्तियाँ तथा सुभाषित प्राप्त होते हैं।

7) **नारदपुराण –** यह पुराण भी वैष्णव पुराण है। इसमें विष्णु के व्रत तथा वैष्णव धर्म का विवेचन किया गया है। एवं इसमें विविध विषयों का सङ्कलन किया गया है इसमें सभी शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त होता है। इस पुराण में २२००० श्लोक हैं। इस पुराण में नैमिषारण्य में शौनक आदि ऋषियों की तपस्या का वर्णन, दशावतार स्तुति, रुद्र एवं विष्णु की उत्पत्ति, सप्त महाद्वीपों का वर्णन, सृष्टि, गंगा महात्म्य, धर्माधर्म वर्णन, भगीरथ की तपस्या वर्णन, ध्वजारोपण की विधि, तिथियों का वर्णन, यममार्ग में आए कष्टों का वर्णन, वर्णव्यवस्था, धर्मव्यवस्था, व्याकरण शास्त्र, पाशुपत दर्शन, हनुमान उपासना पद्धति का वर्णन, शक्ति की उपासना, एकादशी महात्म्य इत्यादि का वर्णन विशद रूप में प्राप्त होता है। इस पुराण के अध्याय ८२ में राधाकृष्णसहस्रनामस्तोत्र है। इस पुराण में रामेश्वरलिङ्ग महात्म्य भी प्राप्त होता है। इस पुराण के प्रारम्भ में दशावतार वर्णन किया गया है। इस पुराण में ललितासहस्रनामस्तोत्र भी प्राप्त होता है।

8) **श्रीमद्भागवतपुराण –** इसी पुराण में पुराणों को पञ्चम वेद कहा गया है[14]। इसमें पुराणों के पाँच लक्षण बताए गए हैं। इसका विभाजन द्वादश स्कन्धों में हुआ है। यह पौराणिक

[13] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास: बलदेव उपाध्याय (भाग – १३, पृ. १५५);

[14] इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते। (भागवत १।४।२०);

साहित्य सर्वाधिक प्रचलित पुराण है। इसको भगवान कृष्ण का विग्रह माना गया है। इसको भक्तिरस का आधार माना जाता है। लोक में भागवत सप्ताह श्रवण काफी प्रचलित जो कि प्रसिद्ध बनाता है। इस कथा के वक्ता शुकदेव जी हैं और श्रोता राजा परीक्षित हैं। श्रीमद्भागवत को विद्वानों का परीक्षास्थल कहा गया है - **'विद्यावतां भागवते परीक्षा'।** इसमें विष्णु भगवान के २४ अवतारों को बताया गया है। इसमें सृष्टि वर्णन, काल गणना, दक्ष वर्णन, पृथु वंश वर्णन, पुनरञ्जनोपाख्यान, भरतचरित्र वर्णन, भुवनकोश का वर्णन, मन्वन्तर वर्णन, सूर्यवंश वर्णन, चन्द्रवंश वर्णन, वैष्णव धर्म वर्णन इत्यादि का विशद वर्णन है। इस पुराण में कृष्ण को सर्वस्व बताया गया है। उनकी लीला का वर्णन सविस्तार से किया गया है। इस पुराण का सबसे बडा भाग दशम स्कन्ध है जिसमें कृष्ण लीला का वर्णन किया गया है। इस पुराण के अन्तिम में अन्य पुराणों की श्लोक संख्या भी बताई गई है।

9) **अग्निपुराण** – इस पुराण को विद्वान् विश्वकोश कहते हैं। इस पुराण में शास्त्रीय और वैज्ञानिक दोनों प्रकार के विषय मिलते हैं। मत्स्यपुराण में कहा गया है कि 'जिस पुराण में ईशानकल्प के वृत्तान्त का आश्रय लेकर अग्नि ने वशिष्ठ के प्रति जो उपदेश दिया है उसे अग्निपुराण कहते हैं। यह तामस पुराण के अन्तर्गत आता है। अग्निपुराण में इसके श्लोकों की संख्या १५००० बताई गई है। अग्निपुराण में धर्मशास्त्रीय विषयों का विशद वर्णन है। इस पुराण में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की भी प्रचुरता है। इस पुराण में अवतारवाद, सृष्टि वर्णन, मन्त्र साधना, शिलाविन्यास वर्णन, देव प्रतिष्ठा, दीक्षा विधि, भुवनकोश वर्णन, तीर्थ महात्म्य, मन्वन्तर वर्णन, वर्णाश्रमधर्म, पातक और प्रायश्चित्त वर्णन, व्रत विधान, राजधर्म वर्णन, स्त्री-पुरुष के लक्षण, शकुन विचार, व्यवहार शास्त्र, वंश वर्णन, मन्त्र विज्ञान, छन्द वर्णन, एकाक्षरकोष, व्याकरणशास्त्र, अष्टाङ्गयोग, वेदान्तदर्शन इत्यादि का विशद विवेचन प्राप्त होता है। इस पुराण में परा और अपरा विद्या का भी विवेचन प्राप्त होता है।

10) **स्कन्दपुराण** – यह सभी पुराणों की अपेक्षा विशालकाय है। इस पुराण में नारदीय पुराण के अनुसार ८१००० है एवं इसका विभाजन ७ खण्डों में हुआ है – माहेश्वर खण्ड, वैष्णव खण्ड, ब्राह्म खण्ड, काशी खण्ड, आवन्त्य खण्ड, नागर खण्ड और प्रभास खण्ड। इस पुराण में अयोध्या, पुरी, रामेश्वर, कन्याकुमारी, काञ्ची, मथुरा, द्वारिका, कुरुक्षेत्र, उज्जयिनी, तीर्थों, गङ्गादि नदियों का वर्णन, व्रत वर्णन, प्रकृति पूजा वर्णन, नीतिधर्म, सदाचार, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि का वर्णन है। इसके केदार खण्ड के अन्तर्गत सती विवाह, शिव भक्ति महात्म्य, लिङ्ग पूजा प्रवृत्ति, देवासुर संग्राम, राजा बलि वर्णन, सुरतारकासुरसंग्रामवृत्तान्त, शिव-पार्वती विवाह, महाशिवरात्रि महात्म्य इत्यादि का वर्णन है। एवं अन्य खण्डों में अर्जुन की तीर्थ यात्रा, राजा प्रद्युम्न वृत्तान्त, बर्बरीतीर्थ माहात्म्य, कपिलेश्वर आख्यान, सोमनाथ माहात्म्य, केदारेश्वर माहात्म्य, अरुणाचल माहात्म्य, परमेश्वरार्चन की विधि, महिषासुर वध कथा, वैङ्कटाचल आख्यान, प्रमुख तीर्थों का वर्णन, जगन्नाथ क्षेत्र माहात्म्य, कार्तिक मास का वर्णन, जलन्धर वृत्तान्त, धनेश्वर वृत्तान्त, मार्गशीर्ष माहात्म्य, भागवत माहात्म्य, वासुदेव माहात्म्य, रामनाथलिङ्ग माहात्म्य, ध्रुवलोक वर्णन, मणिकर्णिका आख्यान, ज्ञानवापी माहात्म्य, सुलक्षणा आख्यान, वाल्मीकि चरित इत्यादि विषय प्राप्त होते हैं। इसमें इसके माहात्म्य के विषय में बताया गया है कि इसका श्रवण, पठन तथा इस पुस्तक दान देना चाहिए।

11) **भविष्यपुराण** – प्राचीन धर्मशास्त्रीय तथा नवीन ऐतिहासिक विषयों के समावेश के

कारण भविष्य पुराण का पुराण साहित्य में विशिष्ट स्थान है। भविष्य पुराण सात्त्विक पुराण के अन्तर्गत आता है। इसमें कुल ५८५ अध्याय हैं। विष्णुपुराण और भागवतपुराण के अनुसार इसको नौवाँ पुराण माना गया है। ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त इस पुराण में पाँच पर्व हैं (ब्राह्म, वैष्णव, शैव, त्वाष्ट्र और प्रतिसर्ग पर्व), परन्तु सम्प्रति उपलब्ध भविष्यपुराण में चार ही पर्व प्राप्त होते हैं (ब्राह्म, मध्यम, प्रतिसर्ग और उत्तर)। इसमें प्राधान्येन सूर्य की उपासना तथा सूर्य की महिमा का विस्तृत विवेचन प्राप्त है। इसमें सूर्य को जगत्स्रष्टा, पालक तथा संहारक कहा गया है। मत्स्यपुराण के अनुसार भविष्य का वर्णन होने के कारण इस पुराण का नाम भविष्यपुराण है[15]। इस पुराण का वर्ण्य विषय सृष्टि वर्णन, धर्मशास्त्र, संस्कार, स्त्री लक्षण, व्रत महात्म्य, वर्ण व्यवस्था, सूर्यरथयात्रा महात्म्य, पञ्चमहायज्ञ, आचारप्रंशसा, द्वापरयुगीय राजा वंश वर्णन, काश्यपवंश वर्णन, वेताल-विक्रमसंवाद, सत्यनारायण कथ, दुर्गासप्तशती महात्म्य, राजवंश वर्णन, भुवनकोश वर्णन, व्रतवर्णन आदि है। इस पुराण से निःसृत ग्रन्थ वेतालपञ्चविंशातिका, सत्यनारायण व्रत कथा, आल्हा-उदल आख्यान और सूर्यव्रत अनुष्ठान आदि है। इस पुराण में लोकोक्तियाँ तथा सुभाषितों की भी प्रचुरता है।

12) **ब्रह्मवैवर्तपुराण** – यह वैष्णव पुराण है। इस पुराण में चार खण्ड हैं – ब्रह्मखण्ड, प्रकृतिखण्ड, गणपतिखण्ड और कृष्णजन्मखण्ड। इस पुराण में काशी का रहस्य भी बताया गया है। इस पुराण के प्रमुख प्रतिपाद्य देवता विष्णु स्वरूप श्रीकृष्ण तथा उनकी शक्ति श्रीराधा हैं। इसमें कृष्ण और राधा को एकमात्र परमसत्य बताया गया है। इस पुराण में भगवान श्रीकृष्ण को परब्रह्म परमात्मा कहा गया है[16]। इसमें प्रकृति, ब्रह्म, विष्णु और शिव आदि देवों का आविर्भाव श्रीकृष्ण से हुआ है[17]। इसके वर्ण्य विषय में परब्रह्मवर्णन, काशी माहात्म्य, सत्सङ्ग महिमा, गङ्गा महिमा, तुलसी माहात्म्य, सावित्री कथा, तारा वृत्तान्त, गणेश उत्पत्ति, कृष्णलीला इत्यादि हैं। इस पुराण में पाँच प्रकार की सृष्टि बताई गई है – राधा, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती और सावित्री। इसमें बताया गया है कि प्रकृति के बिना परब्रह्म कुछ भी नहीं कर सकता। इस पुराण में प्राधान्येन कृष्ण विवेचन किया गया है।

13) **मार्कण्डेयपुराण** – मत्स्यपुराण के अनुसार यह नवसहस्रश्लोकात्मक पुराण है। मार्कण्डेयपुराण में नरिष्यन्तचरित्र, इक्ष्वाकु, तुलसी, श्रीकृष्ण, राम, पुरुरवा, नहुष और ययाति के चरित्रों का वर्णन प्राप्त होता है। इस पुराण में सांख्यतत्त्व विवेचन भी प्राप्त होता है। इस पुराण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, मोक्षशास्त्र, हरिश्चन्द्र कथा, कार्तवीर्य कथा, मदालसा आख्यान, वैवस्वत मन्वन्तर के देवता, इन्द्र, ऋषि और प्रमुख राजवंशों का वर्णन, सूर्य महिमा इत्यादि है। इस पुराण में शक्ति स्वरूपा दुर्गासप्तसती भी प्राप्त होती है। इस पुराण में चारों वर्णों और उनके धर्म को बताया गया है। इस पुराणा की भाषा गाम्भीर्य पूर्ण है।

14) **वामनपुराण** – वामन पुराण गणना क्रम से चौदहवाँ पुराण माना गया है। सम्पूर्ण जगत् के पालक भगवान विष्णु के वामनावतार के चरित्र के चित्रण करने के कारण इस पुराण का नाम वामनपुराण है। इस पुराण की श्लोक संख्या १०,००० है तथा इसका विभाजन दो भागों में हुआ है – पूर्वभाग और उत्तरभाग। इसमें सती शरीर परित्याग वर्णन, शिव पार्वती

[15] भविष्यचरितप्रायं भविष्यं तदिहोच्यते। (मत्स्य ५३.३१);

[16] वन्दे कृष्णं गुणातीतं परमब्रह्माच्युतं यतः। (ब्र.ख. १/४);

[17] आविर्भूवुः प्रकृतिब्रह्मविष्णुशिवादयः। (ब्र.ख. १/४);

विवाह, तीर्थ महिमा, दान महिमा, भुवनकोश वर्णन, भौगोलिक वर्णन, शक्ति महिमा, विविध वाहन वर्णन प्राप्त होता है। इसके उत्तरभाग में चार संहिताएँ प्राप्त होती हैं – १. माहेश्वरी संहिता २. भागवती संहिता ३. सौरी संहिता ४. गाणेश्वरी संहिता। माहेश्वरी संहिता में श्रीकृष्ण एवं उनके भक्तों का कीर्तन है। भगवती संहिता में माँ जगदम्बा के अवतार की कथा वर्णित है। सौरी संहिता में सर्व पापनाशक भगवान् सूर्य की महिमा वर्णित है। गणेश्वरी संहिता में गणेश की महिमा वर्णित है। वामन पुराण में राजा बलि के प्रसङ्ग में वामनावतार की कथा का विशद वर्णन प्राप्त होता है। इस पुराण से ही करवाचौथ की कथा, गङ्गा की महिमा, वाराह का माहात्म्य बताने वाले ग्रन्थ निकले हैं। वामन पुराण का सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं सामाजिक रूप से विशिष्ट महत्त्व है। इसमें कहा गया है कि देव-वेद-द्विजाति-पुराण-इतिहास-गुरु इनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए।

15) **वाराहपुराण** – यह पुराण वैष्णव पुराण है। इस पुराण के गौडीय और दाक्षिणात्य दो संस्करण प्राप्त होते हैं। परन्तु एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से प्रकाशित वाराहपुराण में १०,७०० श्लोक प्राप्त होते हैं[18]। श्रीरामानुज सम्प्रदाय के अन्तर्गत जिन विषयों तथा सिद्धान्तों की मान्यता है, वे सभी प्रायः वाराह महापुराण में प्राप्त होते हैं। इस पुराण में भगवान् विष्णु की महिमा का विशद वर्णन प्राप्त होता है। इसके पूर्व भाग में भूमि और वाराह का संवाद, श्राद्धकल्प, महातपा का आख्यान, गौरी की उत्पत्ति, सत्यतपा का व्रत, रुद्रगीता, महिषासुर वध, श्वेतोपाख्यान, व्रत, तीर्थ महिमा, मथुरा माहात्म्य, यमलोक वर्णन का माहात्म्य वर्णित है। इसके उत्तर भाग में पुलस्त्य-कुरुराज का संवाद, चातुर्मास्य माहात्म्य, भगवद्गीता माहात्म्य, विमान माहात्म्य, विष्णु माहात्म्य वर्णित है। यह एक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ भी है इससे काफी धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने श्लोक लेकर अपने ग्रन्थों में उद्धृत किए हैं। यह सात्त्विक पुराण है।

16) **मत्स्यपुराण** – इस पुराण के उपदेष्टा मत्स्य तथा मुख्य श्रोता मनु है। इस पुराण का आरम्भ मनु-मत्स्य कथा से होता है। पुराणक्रम में यह सोलहवाँ पुराण है। वामन पुराण इसे प्रधान पुराण मानता है[19]। स्कन्दपुराण के अनुसार यह शैव पुराण है। देवी भागवत में इसकी श्लोक संख्या १९००० बताई गई है। इस पुराण में २९० आध्याय हैं। इस पुराण की भाषा अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य है। मत्स्यपुराण में अनेक वैदिक मन्त्रों तथा सूक्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। मत्स्य और पद्म पुराण के अनेक मन्त्रों में साम्य देखने को मिलता है। इसके वर्ण्य विषयों में सृष्टि वर्णन, मत्स्यावतार, दक्ष की उत्पत्ति, देव-दानव उत्पत्ति, देव-दानव युद्ध, सर्यवंश का विस्तृत वर्णन, पितृ वंश वर्णन, श्राद्धकल्प, सोमवंश का आख्यान, ययाति आख्यान, यदुवंश वर्णन, व्रतों की महिमा, प्रयाग माहात्म्य, मयासुर आख्यान, भूगोल वर्णन, तारकासुर आख्यान, शिव-पार्वती संवाद, नवग्रह शान्ति वर्णन, सावित्री आख्यान, राजधर्म वर्णन, शकुन विचार, वाराहावतार वर्णन, क्षीरोदमंथन, वास्तु यज्ञ विधान, भवन निर्माण विधि इत्यादि वर्णित हैं। इस पुराण में अनेक सुभाषित वर्णित है।

17) **कूर्मपुराण** – पुराणों के क्रम में इसका क्रम पन्द्रहवाँ है। मत्स्यपुराण में इसकी श्लोक संख्या १८००० बताई गई है। पुराणों के वर्गीकरण की दृष्टि से पद्मपुराण ने कूर्म पुराण को तामस पुराण कहा है परन्तु भविष्यपुराण ने ६ राजसपुराणों के अन्तर्गत इसकी गणना की है। स्कन्दपुराण के केदार खण्ड के अनुसार यह शिव महिमा का प्रतिपादन करता है। यह

[18] पुराणविमर्श पृ. १५४

[19] मुख्यं पुराणेषु मात्स्यम्। (वामन १२.४८);

पुराण चार संहिताओं में विभक्त है[20] – १. ब्राह्मी संहिता २. भागवती संहिता ३. सौरी संहिता ४. वैष्णवी संहिता। इन चारों सहिताओं में पुरषार्थ चतुष्टय प्राप्ति के उपाय निर्दिष्ट हैं। इस कूर्मपुराण के आदिवक्ता स्वयं नारायण हैं। इसमें सूत जी की उत्पत्ति, समुद्र मन्थन, कूर्मावतार की कथा, ब्रह्मा का प्रादुर्भाव, भगवान् रुद्र तथा लक्ष्मी का प्रादुर्भाव, चार वर्णों की सृष्टि, चार आश्रम वर्णन, शिवलिङ्ग महिमा, शिव-विष्णु के एकत्व का प्रतिपादन, देवी चरित्र, अन्धकासुर आख्यान, बलि-वामन चरित्र वर्णन, सूर्यवंश वर्णन, चन्द्रवंश वर्णन, जयध्वजवंश वर्णन, क्रोष्टुवंशी राजाओं का वृत्तान्त इत्यादि विषय प्राप्त होते हैं। आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से कूर्मपुराण के उत्तरभाग में स्थित 'ईश्वरगीता' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुराणों की वेद के निगूढ अर्थों का स्पष्टीकरण, ज्ञान-कर्म और उपासना के सरलतम विस्तार के साथ कथोपथन के माध्यम से जन साधारण को भी गूढतम विषयों को हृदयङ्गम कराने की जो अद्भुत क्षमता, वह कूर्मपुराण में भी परिलक्षित होती है[21]।

18) **ब्रह्माण्डपुराण** – यह पुराणक्रम में अन्तिम पुराण है। यह राजस पुराण के अन्तर्गत आता है। ब्रह्माण्ड के विषय में स्वयं ब्रह्मा उक्त पुराण को वर्णित करते हैं। अतः इस पुराण का नाम ब्रह्माण्ड पुराण है[22]। इस पुराण का श्लोक परिमाण भिन्न-भिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न है। जैसे श्रीमद्भागवत, नारद, अग्नि एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार इसमें १२००० श्लोक हैं परन्तु स्कन्द पुराण के अनुसार १२८०० और देवीभागवत के अनुसार १२१०० श्लोक हैं। ब्रह्माण्डपुराण की कथावस्तु चार पादों में विभक्त है – १. प्रक्रियापाद २. अनुषङ्गपाद ३. उपोद्घातपाद ४. उपसंहारपाद। प्रक्रियापाद में द्वादश-वार्षिक यज्ञ वर्णन, सृष्टि वर्णन, देवासुरोत्पत्ति, योग धर्म, पाशुपत योग, भारतवंश, जम्बू द्वीप वर्णन, गङ्गावतरण नदी वर्णन, वेद विभाग वर्णन इत्यादि अनेक विषय बताए गए हैं। मध्यभाग में प्रजापति वंशानुकीर्तन, श्राद्धकल्प, दानफल, गयाश्राद्ध वर्णन, मिथिला वंश वर्णन, भागर्व चरित, देवासुर कथा, भविष्य कथा, विष्णु माहात्म्य एवं भविष्य राज वंश वर्णन प्रमुख है। उत्तरभाग में चौदह मनुओं का वर्णन, भविष्यमनुओं का वर्णन, चौदह लोक का वर्णन, मनोमयपुराख्यान, गुणों के अनुसार जन्तुओं की गति का वर्णन इत्यादि वर्ण्य विषय है। इस पुराण के विषयों को समझाने के लिए अनेक आख्यान और उपाख्यानों को भी अङ्गीकृत किया गया है।

इस प्रकार से सभी अठारह पुराणों का संक्षिप्त परिचय समाप्त हुआ।

2.3 पुराणों की ऐतिहासिक सङ्कल्पना

2.3.1 पुराणों का ऐतिहासिक महत्त्व

जिस पुराण शब्द का पर्याय इतिहास उसका ऐतिहासिक महत्त्व नाम से ही सिद्ध हो जाता है। पुराणों में ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ हैं जो वर्तमान में दर्पण का कार्य करती हैं। प्राचीनकाल से इतिहास पुराणशब्द से प्राचीन कथा अर्थ ही लिया जाता था। सायण ने भी अथर्व वेद भाष्य में पुराण शब्द का अर्थ पुरातन वृत्तान्त कथन रूप आख्यान किया है। किन्तु सायण के पूर्व **'इति**

[20] कूर्मपुराण (पूर्वार्द्ध १.२१-२२);

[21] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास: बलदेव उपाध्याय (त्रयोदश भाग, पृ. ५११)

[22] ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत् पुनः। (मत्स्य पुराण ५३.५४)

ह आस' इस व्युत्पत्ति के आधार पर भूतकालीन कथा को इतिहास कहा है। शौनक ने भी पुरातन वृत्तान्त को इतिहास कहा है[23]। कौटिल्य इतिहास के अन्तर्गत पुराण को मानते हैं –

'पुराणमितिवृत्तमाख्यानकोदाहरणं धर्मशास्त्रं चेतिहासः'[24]।

ब्राह्मण आदि प्राचीन ग्रन्थों में कथा के अर्थ में आख्यान, आख्यायिका, अन्वाख्यान आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इन सबको आधार मानकर महर्षि व्यास ने पुराणसंहिता की रचना की है। विष्णुपुराणयके अनुसार –

'आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहिता चक्रे पुराणार्थविशारदः'[25]॥

इन आख्यान, उपाख्यान गाथा एवं कल्पशुद्धियों के द्वारा भगवान वेदव्यास ने पुराणों की रचना की[26]। इन सब बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आख्यान और उपख्यानों के माध्यम से ऐतिहासिक घटनाओं के माध्यम से पुराणों में सजोया गया है। पुराणों में ऐतिहासिक राजवंश, ऐतिहासिक संसार की स्थिति का वर्णन, इतिहास में किस प्रकार की राजनीति थी? किस प्रकार की नीति थी? इन सब बातों पर प्रकाश पुराणों से ही प्राप्त होता है।

2.3.2 पुराणों की ऐतिहासिक सङ्कल्पना

इस हिस्से का शीर्षक है 'ऐतिहासिक सङ्कल्पना' अर्थात् पुराणों की ऐतिहासिक धारणा। जैसे पहले भाग में स्पष्ट किया जा चुका है कि इतिहास अर्थ पुराण का ही पर्याय है। अतः यह स्पष्ट है कि पुराण हमारे लिए हमारी संस्कृति तथा अतीत को जानने के लिए दर्पण का कार्य करते हैं। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं के माध्यम से हमको ज्ञान कराया जाता है। प्रश्ना आता है पुराणों के प्रति ऐतिहासिक धारणा क्या है? तब उत्तर देते हैं कि पुराण और इतिहास एक दूसरे के पर्याय शब्द हैं पर ऐसा क्यों? पुराणों में आख्यान, उपख्यानों, गाथा और कल्पशुद्धि के माध्यम से इतिहास की जानकारी दी जाती है जो कि ऐतिहासिक धारणा का कारण है क्यों कि इन सब के माध्यम से इतिहास को हमारे सामने रखा जाता है। विष्णु पुराण की श्रीधरी टीका में आख्यान एवं उपाख्यानों में भेद दर्शाया गया है –

'स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते'[27]॥

अर्थात् स्वयं के द्वारा अनुभूत दृष्ट घटनाओं का वर्णन आख्यान एवं अन्य से सुनी हुई घटनाओं का वर्णन उपाख्यान होते हैं। परन्तु सामान्य अर्थ में मुख्य विषयवस्तु आख्यान है एवं तदन्तर्गत वर्णित लघुकथाओं को उपाख्यान कहते हैं जैसे रामायण में रामकथा आख्यान एवं अहल्या सुग्रीवादि प्रसंग उपाख्यान हैं। इसी तरह महाभारत में युधिष्ठिर का राज्याभिषेक आख्यान एवं नलदमयन्ती कथा उपाख्यान हैं। अब प्रश्न आता है गाथा किसे कहते हैं और यह कैसे ऐतिहासिक सङ्कल्पना को बताती है? किसी भी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक वीर पुरुषों की यशःकथा वर्णन ही गाथा है जिसे ऋग्वेद तथा शतपथ ब्राह्मणों में नाराशंसी कथाओं को गाथा

---

[23] इतिहासः पुरावृत्तम् ऋषिभिः परिकीर्त्यते। (बृहद् देवता ४/४६);
[24] कौटलीय अर्थशास्त्र (१/५/१३);
[25] विष्णुपुराण (३/६/१५);
[26] विस्ताराय तु वेदानां स्वयं नारायणः प्रभुः। व्यासरूपेण कृतवान् पूराणानि महीतले। (ब्रह्मपुराण १/१५);
[27] विष्णुपुराण (श्रीधरी टीका ३/६/१५);

कहते हैं[28]। ऐतरेय ब्राह्मण ईश्वरीय रचना को ऋक एवं मानव कृत रचना को गाथा मानता हैं[29]। इसमें अनेक गाथायें उद्धृत हैं। अतः इन पुराणों में विशेषतः महापुरुषों की वीरता, दानशीलता एवं शौर्य की गाथाएँ वर्णित है। जो ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित हैं जो हमको ऐतिहासिक दर्पण प्रदान करती हैं। इन आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धियों के द्वारा समस्त पुराणों की रचना की गई है जो सभी ऐतिहासिक सङ्कल्पना को बताते हैं। और जो पुराणों के पाँच लक्षण है (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित) यह सभी ऐतिहासिक जानकारी ही हमको प्रदान करते हैं। ऐतिहासिक वंशों के बारे में, सभी वंशों से सम्बन्धित ऐतिहासिक घटानाओं के बारे हमको जानकारी पुराणों से ही प्राप्त होती है। पुराणों का ऐतिहासिक महत्त्व हर नजर से है चाहे वह धर्म की ऐतहासिकता हो, चाहे किसी राज वंश की ऐतिहासिकता हो, चाहे वह सृष्टि वर्णन हो, चाहे भुवनकोश वर्णन हो यह सभी विषय हमको पुराणों प्राप्त होते हैं। सभी अठारह पुराणों में ऐतिहासिक सामग्री तो प्राप्त होती ही है परन्तु कुछ पुराण में भविष्य की सामग्री भी प्राप्त होती है। पुराणों को वेद का चक्षु कहा जाता है अतः पुराण वैदिक काल और उत्तरवैदिक काल की जानकारी तो हमको प्रदान करते ही हैं साथ में लोकाचार, लोकव्यवहार तथा लैकिक घटनाओं को हमारे सामने रखते हैं। इनमें उदाहरणों और दृष्टान्तों के माध्यम से ऐतिहासिक सामग्री को हमारे सामने सरल तरीके से बताया गया है।

2.4 सारांश

पुराण के इस भाग को पढकर हमको सभी अठारह पुराणों की संक्षिप्त जानकारी हो जायेगी तथा उन सभी से सम्बन्धित जो भी वर्ण्य विषय है उन पर भी प्रकाश पडेगा। सभी पुराणों के विषय में सामान्य रूप से ज्ञान होना प्रत्येक भारतवंशी के लिए आवश्यक है जो कि इस भाग से हो जायेगा तथा पुराणों की ऐतिहासिक सङ्कल्पना क्या है उन सभी पुराणों का महत्त्व क्या है इन सभी विषय पर प्रकाश इस भाग में डाला गया है। पुराण एक ऐसा सागर है जिसमें हमको हर प्रकार ज्ञान मिल जाता है चाहे वह व्यावहारिक ज्ञान हो, धार्मिक ज्ञान हो, ऐतिहासिक ज्ञान हो, सांस्कृतिक ज्ञान हो, नैतिक ज्ञान हो, संरचनात्मक ज्ञान हो या किसी भी प्रकार का शैक्षिक ज्ञान हो। सभी पुराणों को संक्षिप्त रूप से इस भाग में बताया गया है। जिसको पढकर सभी पुराणों का जाना जा सकता है तथा साथ में यह भी समझा जा सकता है कि पुराणों का ऐतिहासिक महत्त्व क्या है। धार्मिक परम्परा में वेद के पश्चात् पुराण की ही मान्यता है। इसके महत्त्व का आकलन इस कथन से भी किया जा सकता है कि अङ्गों सहित वेदों का अध्ययन करने वाला भी द्विज पुराण ज्ञान के बिना विचक्षण नहीं हो सकता[30]। पौराणिक ज्ञान की छाया में ही वैदिक साहित्य का अर्थबोध सम्भव है। वेद संक्षिप्त सूत्ररूप है और पुराण उसकी व्याख्या प्रस्तुत कर मानवीय जीवन में उसकी उपयोगिता को बताता है। वस्तुतः पुराण रूपी पूर्णचन्द्र से वेदों की ज्योत्स्ना ही प्रकाशित होती है। वेदों का तत्त्व (सार) ही पुराणों में कथात्मक रूप को ग्रहण करता है। सभी पुराणों का ऐतिहासिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। पुराणों में प्रकृति रूप से आध्यत्मिक तत्त्व एवं हिन्दू देवी-देवताओं की विलक्षण विभूतियों का वर्णन किया गया है। अतः प्रत्येक पुराण को जानना और समझना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। इस भाग से सभी पुराणों को जानें और समझें।

[28] नाराशंस्यो गाथा (१०/५/६/८);

[29] ऐतरेय ब्राह्मण (७/१८);

[30] यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः॥ (वायुपुराण १.१.१००)

2.5 सन्दर्ग्रन्थ सूची

१. शतपथ ब्राह्मण।

२. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, बलदेव उपाध्याय, भाग – त्रयोदश, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ – २०००।

३. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, उमाशंकर ऋषि, चौखम्भा भारती आकादमी, वाराणसी – २०१९।

४. पुराणविमर्शः, बलदेव उपाध्याय।

५. श्रीमद्भागवत्पुराण, विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण, वायुपुराण, गरुडपुराण, नारदपुराण एवं अन्य सभी महापुराण गीताप्रेस गोरखपुर।

६. निरुक्त, यास्कप्रणीत।

७. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी.काणे।

2.6 बोध प्रश्न

१. पुराण कितने हैं एवं उनके नाम क्या-क्या हैं सक्रम बताइये?

२. पुराणों के ऐतिहासिक महत्त्व पर एक निबन्ध लिखिए?

३. विष्णुपुराण एवं श्रीमद्भागवतपुराण का संक्षिप्त परिचय लिखिए?

४. ब्रह्माण्डपुराण तथा ब्रह्मपुराण के वर्ण्य विषय पर प्रकाश डालिए?

५. अठारह पुराणों का परिचय दीजिए(प्रत्येक पुराण के विषय में तीन-तीन पङ्क्ति लिखें)?

इकाई 3 भागवत पुराण का सामान्य परिचय एवं वैशिष्ट्य

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इसके अध्ययन से आप :

- भागवत पुराण को जान सकेंगे।
- भागवत पुराण की विषयवस्तु को जान पायेंगे।
- भागवत पुराण के वैशिष्ट्य को जान पायेंगे।
- भागवत पुराण में आए सिद्धान्तों को समझेंगे।
- भागवत पुराण का लौकिक जीवन पर क्या प्रभाव है जान पायेंगे।

3.1 प्रस्तावना

"पुराणं सर्वशास्त्राणां ब्राह्मण स्मृतम्"[1] वेदों के इतने कठिन अर्थ को बताने के लिए ब्रह्मा जी ने पुराणों की रचना की। धार्मिक दृष्टि से पुराणों में वैदिक तत्त्वों को ही सरल संस्कृत श्लोकों के माध्यम से जान सामान्य के लिए बताया गया है। भारतीय संस्कृति तथा भारत के मूल स्वरूप की जानकारी पुराणों के अध्ययन के बिना सर्वथा अधूरी होती है। महापुराणों की संख्या अठारह है।इन पुराणों में कुछ वैष्णव पुराण हैं, कुछ शैव पुराण हैं और कुछ ब्राह्म पुराण। इन सभी में वैष्णव पुराणों की मुकटमणि तथा लोक सर्वाधिक प्रचलित श्रीमद्भागवत पुराण है। इस

[1] पद्म पुराण सृष्टि खण्ड (अध्याय १०४);

पुराण की लोकप्रियता आज के समय में बहुत ज्यादा है। इसी श्रीमद्भागवत महापुराण में पुराणों का वैशिष्ट्य बताते हुए इनको पञ्चम वेद कहा है –

"इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः"[2],
"इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते"[3]।

श्रीमद्भागवत पुराण को वेद पुरुष की जंघा माना गया है। सभी महापुराणों का क्रम भी श्रीमद्भागवत के १२वें स्कंध के सातवें अध्याय में बताया गया है। इस पुराण के दसवें स्कन्ध में वर्णित कृष्णलीला का प्रचार देश के साथ-साथ विदेशों में भी हुआ है। इस पुराण में ऐतिहासिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, दार्शनिक, भौगोलिक तथा आध्यात्मिक सामग्री की प्रचुरता है। इसमें भगवान विष्णु के सभी अवतारों को अच्छे ढंग से बताया गया है। **'हरिलीलामृत'** के लेखक बोपदेव कहते हैं –

"वेदः पुराणं काव्यं च प्रभुर्मित्रं प्रियेव च।
बोधयन्ति हि प्राहुस्त्रिवद् भागवतं पुनः"॥

अर्थात् श्रीमद्भागवत वेद भी है, पुराण भी है और काव्य भी है। इस पुराण को भगवत्स्वरूप माना गया है, पद्म पुराण के अनुसार भागवत श्रीकृष्ण का ही स्वरूप है और उसके द्वादश स्कन्ध उसके अंग-प्रत्यंग हैं। श्रीमद्भागवत परमसत्य का प्रकाशक है - **"सत्यं परं धीमहि"**[4] यही भागवत का आदर्श वाक्य है। भागवत का सबसे पहले उपदेश भगवान नारायण से आदि गुरु ब्रह्म देव को प्राप्त हुआ। इस भागवत महापुराण का संवाद रूप में अत्यधिक प्रचलन है। इसका श्रवण श्रद्धा पूर्वक परीक्षित ने अपने अनिष्ट निवारण के लिए शुकदेव जी से किया था। राजर्षि परीक्षित ने इस भागवत महापुराण का श्रवण एक सप्ताह में किया था, किंतु उसका कारण था परीक्षित की मृत्यु की निकटता। अतः भागवत सप्ताह का श्रवण प्रचलित है। इस पुराण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है भगवान श्री कृष्ण।

3.2 भागवत पुराण का सामान्य परिचय

3.2.1 भागवत पुराण का सामान्य परिचय

यह वैष्णवों का प्रिय, महापुराण है।

"यत्राधिक्षुत्र गायत्रीं वर्ण्यते धर्म विस्तरः।
वृत्रासुर वधोपेतं तदवै भागवतं विदुः"॥

जीवन जीने की एक अद्भभुत शैली को बताते हुए यह महापुराण वैष्णवों का मुकुटमणि बना है। भगवान् श्रीकृष्ण का शब्दमय विग्रह, आध्यात्मिक रस की अलौकिक प्याऊ, असंतोष जीवन को शान्ति प्रदान करने वाला दिव्य अमृत रस, या यों कहिये नर को नारायण बनाने वाली दिव्य चेतना है श्रीमद्भागवत महापुराण सम्प्रति उपलब्ध भागवत में १२ स्कन्धों में ३३५ अध्याय और १८ हजार श्लोक हैं जैसा कि गौरीतन्त्र में कहा गया है -

---

[2] भागवत पुराण (३/१२/३९);
[3] भागवत पुराण (१/४/२०);
[4] भागवत पुराण (१२/१३/१९);

"ग्रन्थोऽष्टादश साहस्रः श्रीमद्भाग्वताभिधः।
पञ्चत्रिंशत्तराध्यायस्त्रिशतीयुक्त ईश्वरी"॥

अन्य पुराणों के समान ही इस पुराण के रचयिता व्यास जी हैं। ऋषि शुकदेव जी, जो वेद व्यास के बेटे थे उन्होंने श्रीमद् भागवत को राजा परीक्षित को सुनाया था। राजा परीक्षित वो जिनको ऋषि श्रृंगी द्वारा 7 दिनों में तक्षक साँप द्वारा मारे जाने के लिए शाप दिया गया था, उस शाप के निवारणा के लिए यह कथा परीक्षित द्वारा सुनी गई थी। इसके १०वें स्कन्ध में कृष्ण की रास-लीला तथा क्रीडाओं का विस्तृत वर्णन है, अतः यह बहुत प्रचलित है। इसकी अनेक टीकाएँ हैं। यह सबसे अधिक प्रसिद्ध पुराण है। इसमें कृष्ण को अवतार माना गया है और उनकी लीलाओं का वर्णन है। यह प्रौढ़ और परिष्कृत शैली में लिखा गया है। बीच-बीच में गम्भीर दार्शनिक विवेचन हैं, अतः यह विद्वानों की योग्यता की कसौटी माना गया है। इसमें वैदिक और लौकिक संस्कृत का समन्वय है। इसका मुख्य वर्ण्य विषय भक्ति योग है, जिसमें कृष्ण को सभी देवों का देव या स्वयं भगवान के रूप में चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त इस पुराण में रस भाव की भक्ति का निरुपण भी किया गया है। इस पुराण के रचयिता वेद व्यास को माना जाता है। यह भक्तिशाखा का अद्वितीय ग्रंथ माना जाता है और आचार्यों ने इसकी अनेक टीकाएँ की है। कृष्ण-भक्ति का यह समुद्र है। साथ ही उच्च दार्शनिक विचारों की भी इसमें प्रचुरता है। भगवान् कृष्ण की प्रयसी 'राधा' का उल्लेख भागवत में नहीं मिलता। इस पुराण का पूरा नाम श्रीमद् भागवत पुराण है।

3.2.2 भागवत पुराण का उदय

श्रीमद्भागवत पुराण की उत्पत्ति के विषय में भागवत के प्रथम स्कन्ध में बताया गया है। शुकदेव ने यह कथा परीक्षित को सुनाई थी, परन्तु प्रश्न आता है कि उन्होंने यह कथा क्यों सुनी? इससे पहले परीक्षित का इतिवृत्त जानना होगा। भागवत पुराण के अनुसार परीक्षित का इतिवृत्त है –

राजर्षि परीक्षित - जब अश्वत्थामा ने पाण्डवों से अपने अनादर का बदला लेने के लिए पाण्डवों के वंश को निर्बीज करने के लिए उत्तरा पर ब्रह्मास्त्र चला दिया, तब भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी गदा और सुदर्शनचक्र से उत्तरा के गर्भ की रक्षा की। अभिमन्युनन्दन परीक्षित ने अपनी माता उत्तरा के गर्भ में दसवें मास ही तेजोमय श्रीकृष्ण का दर्शन किया, जो अपनी गदा द्वार ब्रह्मास्त्र का शमन कर रहे थे। इस प्रकार राजा परीक्षित की गर्भ में जीवन रक्षा हुई। पाण्डवों के परलोक गमन के बाद राजा परीक्षित पृथ्वी पर शासन करने लगे। तब तक भगवान् श्रीकृष्ण दिव्यधाम सिधार चुके थे। राजा परीक्षित ने इरावती से विवाह किया, जिससे जनमेजय आदि चार पुत्र हुए। राजा परीक्षित ने अनेक अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये।

एक बार राजा परीक्षित शमीक ऋषि के आश्रम आये और प्यास लगने पर पानी माँगा, किन्तु समाधि स्थिति में शमीक ऋषि को उसका भान नहीं हुआ। फलस्वरूप क्रोधाविष्ट राजा ने उनके कण्ठ में सर्प डाल दिया और अपनी राजधानी चले आए। राजा की यह करतूत जानकर ऋषि पुत्र शृङ्गी ने यह शाप दे दिया कि आज से सातवें दिन राजा परीक्षित को तक्षक नाग डस (खा) लेगा। इस शाप से राजा परीक्षित जरा भी भयभीत नहीं हुए, राजा ने गंगा तट पर बैठ थे तभी उनके सामने शुकदेव आए। राजा परीक्षित ने उनके सम्मुख मरणासन्न व्यक्ति के कर्तव्य से सम्बन्धित और मनुष्य मात्र के कर्तव्य कर्म के विषय में अपनी जिज्ञासा प्रकट की और दो प्रश्न किए – १. मनुष्य का कर्तव्य क्या है? उसके जीवन का लक्ष्य क्या है? २. मरणासन्न मनुष्य का कर्तव्य क्या है? साथ ही यह भी पूछा कि मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना

चाहिए। इन दो प्रश्नों से ही सम्पूर्ण भागवत का उदय हुआ है। वक्ता श्री शुकदेव का एकमात्र प्रयोजन है प्राणिमात्र के कल्याण के लिए सत्त्य का अविष्कार। श्रोता राजर्षि परीक्षित का एकमात्र प्रयोजन है उस सत्त्य की अनुभूति। परीक्षित के ब्रह्मपद प्राप्ति का यही रहस्य है। श्री शुकदेव द्वारा इनका समाधान ही भागवत है। प्रथम प्रश्न का उत्तर है- **"अन्ते नारायणस्मृतिः"** मृत्यु के समय श्री नारायण का स्मरण करना चाहिए, उसे मृत्यु से भयभीत नहीं होना चाहिए और अभय पद प्राप्त करना चाहिए।

इन दो प्रश्नों से ही सम्पूर्ण भागवत का उदय हुआ है। वक्ता श्री शुकदेव का एकमात्र प्रयोजन है प्राणिमात्र के कल्याण के लिए सत्त्य का अविष्कार। श्रोता राजर्षि परीक्षित का एकमात्र प्रयोजन है उस सत्त्य की अनुभूति। परीक्षित के ब्रह्मपद प्राप्ति का यही रहस्य है। **"सत्यं परं धीमहि"** इस आदर्श वाक्य की सार्थकता भी इसी में है।

3.2.3 भागवत पुराण के १२ स्कन्धों की विषयवस्तु

यहा बात तो सभी को पता है कि भागवत पुराण की समस्त कथावस्तु १२ स्कन्धों में विभक्त है। सभी स्कन्धों का भिन्न-भिन्न विषय है, अतः नीचे क्रम से उनकी विषयवस्तु का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है -

पहले स्कन्ध की विषयवस्तु – इस पुराण के प्रथम स्कन्ध में उन्नीस अध्याय हैं जिनमें शुकदेव जी ईश्वर भक्ति का माहात्म्य सुनाते हैं। इस पुराण के आरम्भ में इस पुराण की उत्पत्ति की कथा में बताया गया है कि परीक्षित को शुकदेव जी ने सुनायी थी, बाद में इसे नैमिषारण्य में सूत ने ऋषि मण्डली को सुनाया। भगवान के विविध अवतारों का वर्णन, देवर्षि नारद के पूर्वजन्मों का चित्रण, राजा परीक्षित के जन्म, कर्म और मोक्ष कीकथा, अश्वत्थामा का निन्दनीय कृत्य और उसकी पराजय, भीष्म पितामह का प्राणत्याग, श्रीकृष्ण काद्वारका गमन, विदुर के उपदेश, धृतराष्ट्र, गान्धारी तथाकुन्ती की तन गमन एवं पाण्डवों का स्वर्गारोहण के लिए हिमालय में जाना आदि घटनाओं का क्रमवार कथानक के रूप में वर्णन किया गया है।

दूसरे स्कन्ध की विषयवस्तु – ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं उसमें विराट् पुरुष की स्थिति का स्वरूप वर्णित है। तथा इसमें विराट् पुरुष, देवताओं की सकामोपासना, सृष्टिक्रम तथा भागवत के दस लक्षणों का वर्णन है। इसके बाद विभिन्न देवताओं की उपासना, गीता का उपदेश, श्रीकृष्ण की महिमा और **'कृष्णार्पणमस्तु'** की भावना से की गई भक्ति का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि सभी जीवात्माओं में **'आत्मा'** स्वरूप कृष्ण ही विराजमान हैं। इसी दूसरे स्कन्ध से शुकदेव जी परीक्षित को कथा सुनाना आरम्भ करते हैं।

तीसरे स्कन्ध की विषयवस्तु – उद्धव द्वारा भगवान् के बाल चरित्र का वर्णन। इसमें उद्धव का विदुर को कृष्णलीलाओं का वर्णन सुनाना, मैत्रेय का विदुर को सृष्टिक्रम सुनाना, वराहावतार की कथा, हिरण्याक्ष-वध, कपिल का जन्म और सांख्य-दर्शन की उत्पत्ति, ब्रह्मा की उत्पत्ति, काल विभाजन का वर्णन, सृष्टि-विस्तार का वर्णन, वराह अवतार की कथा, दितिके आग्रह पर ऋषि कश्यप द्वारा असमय दिति से सहवास एवं दो अमंगलकारी राक्षस पुत्रों के जन्म का शाप देना जय-विजय का सनत्कुमार द्वारा शापित होकर विष्णुलोक से गिरना और दिति के गर्भ से हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु के रूप में जन्म लेना, प्रह्लाद की भक्ति, वराह अवतार द्वारा हिरण्याक्ष और नृसिंह अवतार द्वारा हिरण्यकशिपु का वध, कर्दम-देवहूति का विवाह, सांख्य शास्त्र का उपदेश तथा कपिल मुनि के रूप में भगवान का अवतार आदि का वर्णन इस स्कंध में

किया गया है।

चौथे स्कन्ध की विषयवस्तु – राजर्षि ध्रुव एवं पृथु आदि का चरित्र। तथा इसमें स्वायम्भुव मनु की कन्याओं की वंश-परम्परा, दक्ष और शिव की कथा, ध्रुव, राजा वेन, राजा पृथु तथा पुरञ्जन के आख्यान (इसमें पुरंजन नामक राजा और भारतखण्ड की एक सुन्दरी का नाटक दिया गया है। इस कथा में पुरंजन भोग-विलास की इच्छा से नवद्वार वाली नगरी में प्रवेश करता है। वहाँ वह यवनों और गंधर्वों के आक्रमण से माना जाता है। रूपक यह है कि नवद्वार वाली नगरी यह शरीर है। युवावस्था में जीव इसमें स्वच्छंद रूप से विहार करता है। लेकिन कालकन्या रूपी वृद्धावस्था के आक्रमण से उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है और अन्त में उसमें आग लगा दी जाती है)। एवं दस प्रचेताओं के वृत्त वर्णित हैं।

पाचवें स्कन्ध की विषयवस्तु – समुद्र, पर्वत, नदी, पाताल और नरक आदि की स्थिति का वर्णन है। इसमें गद्य का भी प्रयोग है। इसमें प्रियव्रत, अग्नीध्र, राजा नाभि, ऋषभदेवतथा भरत आदि राजाओं के चरित्रों का वर्णन है। यह भरत जड़ भरत है, शकुन्तला पुत्र नहीं। भरत का मृग मोह में मृग योनि में जन्म, फिर गण्डक नदी के प्रताप से ब्राह्मण कुल में जन्म तथा सिंधु सौवीर नरेश से आध्यात्मिक संवाद आदि का उल्लेख है। इसके बाद भरत वंश तथा भुवन कोश का वर्णन है। तदुपरान्त गंगावतरण की कथा, भारत का भौगोलिक वर्णन तथा भगवान विष्णु का स्मरण शिशुमार नामक ज्योतिष चक्र द्वारा करने की विधि बताई गई है। अन्त में विभिन्न प्रकार के रौरव नरकों का वर्णन यहाँ किया गया है।

छठें स्कन्ध की विषयवस्तु – देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के जन्म की कथा वर्णित है। इसमें अजामिल, दक्ष तथा उनकी सन्तति, विश्वरूप तथा वृत्रासुर का वध एवं दिति-अदिति की कथाएँ मुख्य रूप से आयी हैं। इस स्कन्ध का प्रारम्भ कान्यकुब्ज के निवासी अजामिल उजामिल उपाख्यान से होता है। अपनी मृत्यु के समयअजामिल अपने पुत्र 'नारायण' को पुकारता है। उसकी पुकार पर भगवान विष्णु के दूत आते हैं और उसे परमलोक ले जाते हैं। भागवत धर्म की महिमा बताते हुए विष्णु-दूत कहते हैं कि चोर, शराबी, मित्र-द्रोही, ब्रह्मघाती, गुरु-पत्नीगामी और चाहे कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो, यदि वह भगवान विष्णु के नाम का स्मरण करता है तो उसके कोटि-कोटि जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। किन्तु इस कथन में अतिशयोक्ति दिखाई देती है। परस्त्रीगामी और गुरु की पत्नी के साथ समागम करने वाला कभी सुखी नहीं हो सकता। यह तो जघन्य पाप है। ऐसा व्यक्ति रौरव नरक में ही गिरता है।

इसी स्कन्ध में दक्ष प्रजापति के वंश का भी वर्णन प्राप्त होता है। नारायण कवच के प्रयोग से इन्द्र को शत्रु पर भारी विजय प्राप्त होती है। इस कवच का प्रभाव मृत्यु के पश्चात भी रहता है। इसमें वत्रासुर राक्षस द्वारा देवताओं की पराजयस, दधीचि ऋषि की अस्थियों से वज्र निर्माण तथा वत्रासुर के वध की कथा भी दी गई है।

सातवें स्कन्ध की विषयवस्तु – इसका आरम्भ युधिष्ठिर के प्रश्न से होता है जो कि नारद जी से पूछते हैं। इसके पश्चात् जय-विजय की कथा प्रारम्भ होती है जो भगवान् विष्णु के द्वारपाल थे। उसके बाद हिरण्याकश्यपु और उसके भाई हिरण्याक्ष के साथ भक्त प्रह्लाद के चरित्र का दस अध्यायों में वर्णन है, शेष भाग में मानव धर्म, स्त्री धर्म और वर्णाश्रम-धर्म का विवेचन है। इसमें गृहस्थाश्रम को अक्षयफल प्राप्त करने का साधन बताया गया है। भक्त प्रह्लाद की कथा के माध्यम से इसमें धर्म, त्याग, भक्ति आदि की चर्चा की गई है।

आठवें स्कन्ध की विषयवस्तु – इस स्कन्ध में विभिन्न छः मन्वन्तरों की कथाएँ, इस स्कन्ध में ग्राह द्वारा गजेन्द्र के पकड़े जाने पर विष्णु द्वारा गजेन्द्र उद्धार की कथा का रोचक वृत्तान्त है। इसी स्कन्ध में कच्छपावतार, समुद्र मन्थन और मोहिनी रूप में विष्णु द्वारा अमृत बांटने की कथा भी है। देवासुर संग्राम और भगवान के वामन अवतार की कथा भी इस स्कंध में है। अन्त में 'मत्स्यावतार' की कथा यह स्कंध समाप्त हो जाता है।

नौवें स्कन्ध की विषयवस्तु – भिन्न-भिन्न राजवंशों का वर्णन तथा श्रीराम जन्म की कथा मनोरम वर्णन है। इसमें सूर्य तथा चन्द्र वंशों के राजाओं का वर्णन, भरतवंशवर्णन, इस प्रसंग में हरिश्चन्द्र, राम, परशुराम तथा दुष्यन्त आदि की कथाएँ मुख्य हैं। इस स्कन्ध में मनु एवं उनके पाँच पुत्रों के वंश-इक्ष्वाकु वंश, निमि वंश, चंद्र वंश, विश्वामित्र वंश तथा पुरू वंश, भरत वंश, मगध वंश, अनु वंश, द्रह्यु वंश, तुर्वसु वंश, यदु वंश, पांचाल, मगध आदि के राजाओं के वर्णन हैं। राम, सीता आदि का भी विस्तार से विश्लेषण किया गया है। उनके आदर्शों की व्याख्या भी की गई है।

दसवें स्कन्ध की विषयवस्तु – सर्वाधिक लोकप्रिय भी यही भाग है। इस स्कन्ध को इस पुराण का हृदय कहा जाता है, इसमें भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का विस्तार के साथ वर्णन है। इस स्कन्ध के दो भाग हैं – पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। इसमें कृष्णजन्म से लेकर उनकी पूरी जीवन-कथा है - पूर्वार्द्ध के अध्यायों में श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर अक्रूर जी केहस्तिनापुर जाने तक की कथा है। उत्तरार्द्ध में जरासंधसे युद्ध, द्वारकापुरी का निर्माण, रुक्मिणी हरण, श्रीकृष्ण का गृहस्थ धर्म, शिशुपाल वध आदि का वर्णन है। यह स्कंध पूरी तरह से श्रीकृष्ण लीला से भरपूर है। इसका प्रारम्भ वसुदेव देवकी के विवाह से प्रारम्भ होता है। भविष्यवाणी, कंस द्वारा देवकी के बालकों की हत्या, कृष्ण का जन्म, कृष्ण की बाल लीलाएं, गोपालन, कंस वध, अक्रूर जी की हस्तिनापुर यात्रा, जरासंध से युद्ध, द्वारका पलायन, द्वारका नगरी का निर्माण, रुक्मिणी से विवाह, प्रद्युम्न का जन्म, शम्बासुर वध, स्यमंतक मणि की कथा, जांबवती और सत्यभामा से कृष्ण का विवाह, उषा-अनिरुद्ध का प्रेम प्रसंग, बाणासुर के साथ युद्ध तथाराजा नृग की कथा आदि के प्रसंग आते हैं। इसी स्कंध में कृष्ण-सुदामा की मैत्री की कथा भी दी गई है।

ग्यारहवें स्कन्ध की विषयवस्तु – इसमें राजा जनक और नौ योगियों के संवाद द्वारा भगवान के भक्तों के लक्षण गिनाए गए हैं। ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेय महाराज यदु को उपदेश देते हुए कहते हैं कि पृथ्वी से धैर्य, वायु से संतोष और निर्लिप्तता, आकाश से अपरिछिन्नता, जल से शुद्धता, अग्नि से निर्लिप्तता एवं माया, चन्द्रमा से क्षण-भंगुरता, सूर्य से ज्ञान ग्राहकता तथा त्याग की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। आगे उद्धव को शिक्षा देते हुए अट्ठारह प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया गया है। इसके बाद ईश्वर की विभूतियों का उल्लेख करते हुए वर्णाश्रम धर्म, ज्ञान योग, कर्मयोग और भक्तियोग का वर्णन है। इस स्कन्ध में यदुवंश के संहार की कथा वर्णित है। इसमें कृष्ण-उद्धव-संवाद के अन्तर्गत अनेक धार्मिक- दार्शनिक विषयों का वर्णन है। अन्त में कृष्ण की मृत्यु वर्णित है।

बारहवें स्कन्ध की विषयवस्तु – इसमें विभिन्न युगों तथा प्रलयों और भगवान् के स्वरूप का वर्णन तथा पुराण गत सामग्री प्राप्त होती है। तथा इसमें कलियुग के राजाओं तथा इस युग के धर्म का वर्णन करके वेदों और पुराणों का विभाजन, भागवत पुराण की विषय-वस्तु तथा अन्य पुराणों के श्लोकों की संख्या निर्दिष्ट है। इसमें भक्तियोग और उससे उत्पन्न एवं उसे स्थिर रखने वाला वैराग्य का वर्णन किया गया है। इस स्कन्ध में राजा परीक्षित के बाद के राजवंशों का

वर्णन भविष्यकाल में किया गया है। इसका सार यह है कि १३८ वर्ष तक राजा प्रद्योतन, फिर शिशुनाग वंश के दास राजा, मौर्य वंश के दस राजा १३६ वर्ष तक, शुंगवंश के दस राजा ११२ वर्ष तक, कण्व वंश के चार राजा ३४५ वर्ष तक, फिर आन्ध्र वंश के तीस राजा ४५६ वर्ष तक राज्य करेंगे। इसके बाद आमीर, गर्दभी, कड, यवन, तुर्क, गुरुण्ड और मौन राजाओं का राज्य होगा। मौन राजा ३०० वर्ष तक और शेष राजा एक हज़ार निन्यानवे वर्ष तक राज्य करेंगे। इसके बाद वाल्हीक वंश और शूद्रों तथा म्लेच्छों का राज्य हो जाएगा। धार्मिक और आध्यात्मिक कृति के अलावा शुद्ध साहित्यिक एवं ऐतिहासिक कृति के रूप में भी यह पुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

3.2.4 भागवत पुराण में आए भगवान् के विभिन्न अवतार

ये तो हम सभी को पता है कि भगवान पापियों के नाश के लिए तथा अपने भक्तों को दर्शन देने के लिए इस पृथ्वी पर बार-बार जन्म लेते हैं। उन भगवान् के अवतारों का भागवत पुराण के द्वितीय स्कन्ध के सप्तमाध्याय में संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है वह इस प्रकार है - १. वराह, २. सुयज्ञ, ३. कपिल, ४. दत्तात्रेय, ५. सनकादि, ६. नर-नारायण, ७. ध्रुव-नारायण, ८. राजा पृथु, ६. ऋषभदेव, १०. यज्ञपुरुष स्यग्रीव, ११. मत्स्य, १२. कच्छप, १३. नृसिंह, १४. श्रीहरि (गजेन्द्रमोक्ष), १५. वामन, १६. हंस, १७. स्वायम्भुवमनु, १८. धन्वन्तरि १६. परशुराम, २०. दाशरथी राम, २१. श्रीकृष्ण, २२. महर्षि वेदव्यास, २३. भगवान् बुद्ध और २४. कल्कि।

वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण और राम ही पूर्ण अवतारी पुरुष हैं। जिनमें अल्पशक्ति का प्रकाश होता है उन्हें अंशावतार और जिनमें पूर्णशक्ति का प्रकाश होता है उन्हें अवतारी पुरुष कहते हैं, इसमें भागवतामृत का वचन इस प्रकार है-

"शक्तेर्व्यक्तिस्तथाऽव्यक्तिस्तारतम्यस्यकारणम्"।

3.2.5 भागवत पुराण में भगवान् विष्णु का महत्त्व

सभी पुराणों में भगवान विष्णु के माहात्म्य का वर्णन किया गया है परन्तु श्रीमद्भागवत पुराण विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इन पुराणों में भगवान विष्णु को एक प्रमुख देवता के रूप में उल्लिखित किया गया है। इनमें वैदिक देवताओं की अपेक्षा पौराणिक विष्णु के उत्कर्ष की कथा कही गई है। भगवान विष्णु के माहात्म्य का वर्णन करने के क्रम में वैष्णव धर्म का विकास, वैष्णवी भक्ति, वैष्णव अवतार की अवधारणा पर प्रकाश डाला गया है। इस पुराण का एक पूरा स्कन्ध विष्णु के अवतार (भगवान कृष्ण) का वर्णन करता है। इस पुराण से लोक में कृष्ण भक्ति का अत्यधिक प्रचार-प्रसार हुआ है।

3.3 भागवत पुराण का वैशिष्ट्य

भागवत महापुराण की ऐतिहासिक विशिष्टता - श्रीमद्भागवत महापुराण १८ पुराणों में सबसे ज्यादा लोकप्रिय है जिस प्रकार राम कथा के लिए रामायण प्रसिद्ध है, उसी प्रकार कृष्ण कथा के लिए श्रीमद् भागवत महापुराण सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें आध्यात्मिक चिंतन के अतिरिक्त ऐतिहासिक सामग्री भी प्रचुरता में प्राप्त होती है। इस पुराण के द्वितीय स्कन्ध में सृष्टिक्रम को बताया गया है जो के प्रकृति के अर्थात् इस समस्त चराचर विश्व के इतिहास को बताता है तथा अन्य स्कन्धों में भगवान विष्णु के अवतारों को बताया गया है जो की सनातन संस्कृति के इतिहास को बताता है पञ्चम स्कन्ध में प्रियव्रत आदि राजाओं का वर्णन तथा

भूगोल का विशद वर्णन प्राप्त होता है। इसके सप्तम स्कन्ध में वर्ण आश्रम और वर्णाश्रम के अनुसार धर्म की व्यवस्था बताई गई है जो कि धार्मिक इतिहास को बताता है इसके नौवें में स्कन्ध में सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन तथा १६ महाजनपदों में से कई महाजनपदों का वर्णन प्राप्त होता है इसके अंतिम स्कन्ध में सभी पुराणों का विभाजन तथा कलयुग के राजाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

भागवत का भगवत्स्वरूप - समग्रऐश्वर्य, समग्रधर्म, समग्रयश, समग्रश्री, समग्रज्ञान और समग्रवैराग्य ये षड्विध 'भग' जिसमें सम्पूर्ण रूप से वास करते हैं, उसे 'भगवान्' कहते हैं। **"भगवतः इदं भागवतम्"**– भागवत महापुराण भी भगवान् का स्वरूप और उसका वाङ्मय अवतार ही है। पद्म पुराण के अनुसार भागवत श्रीकृष्ण का ही स्वरूप है और उसके द्वादश स्कन्ध उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। प्रथम और द्वितीय स्कन्ध भगवान् के दोनों चरणकमल, तृतीय और चतुर्थ स्कन्ध उनकी दोनों जंघाएँ, पञ्चम स्कन्ध नाभि, षष्ठ स्कन्ध वक्षस्थल, सप्तम स्कन्ध बाहुयुगल, नवम स्कन्ध कण्ठ, दशम स्कन्ध मुखारविन्द, एकादश स्कन्ध ललाट और द्वादश स्कन्ध मूर्धा है।

भागवत की आध्यात्मिक विशिष्टता - श्रीमद्भागवतम् पुराण या कथा हिन्दुओं के सबसे प्रसिद्ध अट्ठारह पुराणों में से एक है। इसका मुख्य विषय आध्यात्मिक योग और भक्ति चेतना को जागृत करना है। इस पुराण में भगवान् श्री कृष्ण को सभी देवों में श्रेष्ठ माना गया है। इस पुराण में रस भाव की भक्ति का चित्रण बहुत ही सुन्दर तरीके से किया गया है। श्रीमद्भागवतम् पुराण के प्रत्येक श्लोक में श्रीकृष्ण के बारे में सम्पूर्ण चित्रण किया गया है इस पुराण में साधन-ज्ञान, सिद्धज्ञान, साधन-भक्ति, सिद्धा-भक्ति, मर्यादा-मार्ग, अनुग्रह-मार्ग, द्वैत, अद्वैत समन्वय के साथ प्रेरणादायी विविध उपाख्यानों का अद्भुत संग्रह है।

मानव जीवन में भागवत कथा का बड़ा ही महत्व है। कथा सुनने से मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा मन का शुद्धिकरण होता है। प्रत्येक मनुष्य को भागवत की संपूर्ण कथा का श्रवण करना चाहिए। भागवत से भक्ति एवं भक्ति से शक्ति की प्राप्ति होती है तथा जन्म जन्मांतर के सारे विकार नष्ट होते हैं। शुद्धिकरण होता है। प्रतिदिन हमें अपनी व्यस्त दिनचर्या से प्रभु भक्ति के लिए समय अवश्य निकालना चाहिए। भागवत कथा सुनने से जन्म जन्मांतर के पाप धुल जाते हैं। श्रीमद् भागवत कथा का श्रवण मनुष्य जीवन को सार्थक बनाती है। जन्म तो हर प्राणी एवं मनुष्य लेता है लेकिन उसे अपने जीवन का अर्थ बोध नहीं होता है। बाल्यावस्था से लेकर मृत्यु तक वह सांसारिक गतिविधियों में ही लिप्त होकर इस अमूल्य जीवन को नश्वर बना देता है। श्रीमद् भागवत ऐसी कथा है जो जीवन के उद्देश्य एवं दिशा को दर्शाती है। इसलिए जहां भी भागवत होती है इसे सुनने मात्र से वहां का संपूर्ण क्षेत्र दुष्ट प्रवृत्तियों से खत्म होकर सकारात्मक उर्जा से सशक्त हो जाता है। श्रीमद् भागवत साक्षात् भगवान का स्वरूप है इसीलिए श्रद्धापूर्वक इसकी पूजा-अर्चना की जाती है। इसके पठन एवं श्रवण से भोग और मोक्ष दोनों सुलभ हो जाते हैं। मन की शुद्धि के लिए इससे बड़ा कोई साधन नहीं है। सिंह की गर्जना सुनकर जैसे भेड़िए भाग जाते हैं, वैसे ही भागवत के पाठ से कलियुग के समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। इसके श्रवण मात्र से हरि हृदय में आ विराजते हैं। भागवत में कहा गया है कि बहुत से शास्त्र सुनने से क्या लाभ हैं? इससे तो व्यर्थ का भ्रम बढ़ता है। भोग और मुक्ति के लिए तो एकमात्र भागवत शास्त्र ही पर्याप्त है। हजारों अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ इस कथा का अंशमात्र भी नहीं हैं। फल की दृष्टि से भागवत की समानता गंगा, गया, काशी, पुष्कर या प्रयाग कोई भी तीर्थ नहीं कर सकता। श्रीमद्भागवत महापुराण से इस लोक भक्ति साहित्य का तथा भक्ति परम्परा का प्रचार-प्रसार हुआ है। प्रसिद्ध

रास पञ्चाध्यायी भी इसमें प्राप्त होती है।

भागवत पुराण में पुराण के लक्षण – सभी पुराणों में भागवत पुराण एक मात्र ऐसा पुराण है जिसमें पुराण के दस लक्षणों की चर्चा हुई है। एवं विष्णु पुराण के साथ-साथ इसमें भी पुराण के पाँच लक्षणों की चर्चा आई है। यह भी श्रीमद्भागवत पुराण की अपनी विशिष्टता है। पुराण के द्विविध लक्षण प्राप्त होते हैं - पञ्चविध और दशविध। पञ्चविध लक्षण इस प्रकार है - **"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तरौ तथा। वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्"**॥ अर्थात् सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानचरित इनका समावेश पञ्चविध पुराण लक्षण में है। भागवत में दशविध पुराण लक्षण द्वितीय और द्वादश स्कन्ध में प्राप्त होता है। भागवत का स्पष्ट कथन है कि जहाँ पुराणों के पञ्चलक्षण प्राप्त होते हैं वह उपपुराण और जहाँ दशविध लक्षण प्राप्त होते हैं वह महापुराण है – **'केचित् पञ्चविधं ब्रह्मन् ! महदल्पव्यवस्थया'**[5]। पुराणों के दस लक्षण इस प्रकार हैं – **'अत्र सर्गो विसर्गशश्च स्थानं पोषणमूतयः। मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः'**[6]॥ इस प्रकार पुराण के दस लक्षण हैं - १. सर्ग, २. विसर्ग, ३. स्थान, ४. पोषण, ५. ऊति, ६. मन्वन्तर, ७. ईशानुकथा, ८. निरोध, ६. मुक्ति और १०. आश्रय। वस्तुतः दशम तत्व आश्रय ही भागवत महापुराण का प्राणतत्त्व है अर्थात् भागवत का प्रतिपाद्य विषय है भगवान् श्रीकृष्ण, वही श्रीकृष्ण भागवत का प्राणभूत आश्रयतत्त्व है।

3.4 सारांश

पौराणिक साहित्य मानव सभ्यता का धरोहर है। इसने ज्ञान के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता में अपनी अद्वितीय भूमिका निभाई है। भारतवर्ष में इतनी विविधता होने के बावजूद भी हम लोग एक सूत्र में बंधे हैं यह पौराणिक साहित्य का ही प्रभाव है जो हमको धार्मिक और सांस्कृतिक रूप से जोड़े रखा है।

इस भाग को पढ़कर हमने भागवत पुराण के विषय में तथा उसके वैशिष्ट्य को जाना। इन अठारह पुराणों में पाँचवाँ पुराण श्रीमद्भागवत पुराण है, जो महर्षि वेदव्यास की कृति है। इस भागवत पुराण के मुख्य वक्ता शुकदेव जी हैं और परीक्षित इसके उत्तम श्रोता हैं। भागवत पुराण सभी वैष्णव पुराणों में शिरोमणि है। इस कथा के श्रवण से जन्म जन्मांतर के विकार नष्ट होकर प्राणी मात्र का लौकिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है। वर्तमान में सबसे प्रसिद्ध पुराण भागवत पुराण ही है। श्रीहरि की लीला ही भागवत का प्रतिपाद्य विषय है, अतः इस पुराण के पढ़ने से हमको भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। यह सभी वैष्णवों तथा कृष्ण भक्तों के लिए निःसंदेह पूजनीय ग्रन्थ है। इसकी महिमा के विषय में स्वयं भागवत कहती है - **"सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते। तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्"**॥ श्रीमद्भागवत में अनेकानेक विषय बड़े ही सरल और सुगम्य रूप बताए गए हैं। इस पुराण में भक्ति योग, ज्ञान योग और कर्म योग का विवेचन किया गया है, किन्तु भक्ति योग का विवेचन विशद रूप में प्राप्त होता है। इस पुराण की विषयवस्तु तीन उद्देश्यों को बताती है - भक्ति, ज्ञान, और वैराग्य। श्रीमद्भागवत में विद्या का अक्षय भंडार है। इस पुराण में वेदों, उपनिषदों तथा दर्शन के गूढ़ एवं रहस्यमय सिद्धान्तों को सरल और बोधगम्य रूप में वर्णित किया गया है। वैष्णव सम्प्रदाय में ऐसा माना जाता है और यह बात पुराण सम्मत है कि जो भागवत पुराण का पाठ या श्रवण करता है उसका यह लोक (मृत्यु लोक) और परलोक

---

[5] भागवत पुराण (१२/७/१०);

[6] भागवत पुराण (२/१०/१);

दोनों ठीक हो जाते है। श्रीमद्भागवत के वैशिष्ट्य में हमने समझा कि इस पुराण की कथा हमको भोग से भक्ति मार्ग पर ले जाते हुए वैराग्य तक ले जाती है, अतः भागवत पुराण हमको भक्ति से जोड़ता है और मोक्ष की ओर ले जाता है। इस पुराण में भगवान की सभी लीलाओं का वर्णन किया गया है। त्रिविध ताप की निवृत्ति करना और मुक्ति प्रदान करना भागवत पुराण का फल तथा प्रयोजन है। श्रीमद्भागवत पुराण में सर्ग-विसर्गादि का भी अलौकिक वर्णन है। पद्म पुराण के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण के दिव्यधाम पधारने के बाद भगवत्स्वरूप शुकदेव जी ने भाद्रपद शुक्ल नवमी कलिसंवत् युग के तीस वर्ष से कुछ अधिक बीत जाने पर भागवत कथा प्रारम्भ की। इसी भागवत महापुराण में पुराणों के दस लक्षण बताए गए हैं। यद्यपि भागवत में सर्वत्र भगवततत्त्व का ही निरूपण है, तब भी विशेष रूप से उसके सगुण साकार स्वरूप का दशम स्कन्ध में और निर्गुण निराकार स्वरूप का द्वादश स्कन्ध में निरूपण किया गया है। सभी विद्वानों की परीक्षा भागवत में ही होती है। भागवत पुराण प्रौढ़ ग्रंथ है। इसमें गौतम और कपिल मुनि को विष्णु का अवतार माना गया है।

3.5 सन्दर्भग्रन्थ सूची

१. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, बलदेव उपाध्याय, भाग – त्रयोदश, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ – २०००।

२. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, उमाशंकर ऋषि, चौखम्भा भारती आकादमी, वाराणसी – २०१९।

३. पुराणविमर्शः, बलदेव उपाध्याय।

४. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी.काणे।

५. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास: कपिलदेव द्विवेदी।

६. भागवत कथा का सार, सतीश चन्द्र पाण्डेय, राधा पब्लिकेशन दिल्ली।

3.6 बोध प्रश्न

१. भागवतपुराण पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

२. भागवतपुराण का सामान्य परिचय दीजिए।

३. भागवतपुराण का वैशिष्ट्य अपने शब्दों में लिखिए।

४. भागवतपुराण कैसा पुराण है इसका विभाजन किस प्रकार हुआ है।

५. भागवतपुराण के महत्त्व को समझाइए।

६. भागवतपुराण की विषयवस्तु को संक्षेप में लिखिए।

इकाई 4 अग्नि पुराण का सामान्य परिचय एवं वैशिष्ट्य

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई अध्ययन से आप :

- अग्नि पुराण को जान सकेंगे।
- अग्नि पुराण की विषयवस्तु को जान पायेंगे।
- अग्नि पुराण के वैशिष्ट्य को जान पायेंगे।
- अग्नि पुराण में आए सिद्धान्तों को समझेंगे।
- अग्नि पुराण को विश्वकोश क्यों कहा जाता है जान पायेंगे।

4.1 प्रस्तावना

चारों वेद वाङ्मय प्रभुसम्मित हैं तथा समस्त पुराण वाङ्मय सुहृत्सम्मित है[1]। पुराणों में वेद की प्रतिष्ठा अर्थात् भारत की ज्ञान परम्परा निहित है। नारद पुराण में पुराण को सभी वेदों के अर्थ का सार कहा गया है - **"सर्ववेदार्थसाराणि पुराणानि भूपते"**[2]। पुराण आर्य जाति का सर्वस्व है। पुराणों में मानव जाति की अनादि काल से चली आ रही परम्परा को बताया गया है। भारतीय साहित्य कला का जितना आविर्भाव हुआ उस सबका आधार स्तम्भ पुराण ही है। स्कन्द पुराण में कहा गया है जो पुराण को नहीं जानता, वह वेद को भी नहीं जान पाता। धार्मिक परम्परा में वेद के बाद पुराण की ही मान्यता है। सभी पुराणों का भिन्न-भिन्न विषय है। इन पुराणों में नाना प्रकार की विद्याओं को, नाना प्रकार के वंशों को, नाना प्रकार के तीर्थों को, नाना प्रकार के व्रतों को तथा नाना प्रकार की सामग्री को सरल तथा बोधगम्य तरीके से बताया गया है। पुराणों में

[1] काव्यप्रकाश: मम्मट विश्वेश्वर पाण्डेय व्याख्याकृत (प्रथम उल्लास, पृ. सं. १०);

[2] नारद पुराण (१.९.१००);

सगुण ब्रह्म की उपासना को बताया गया है तथा आध्यात्मिक चिन्तन पर जोर दिया गया है। पुराण के पञ्च लक्षण में सृष्टि तत्त्व का वर्णन प्रमुख है और इसी सृष्टि वर्णन के विकास के लिए प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वंश और वंशानुचरित का समावेश किया गया है। इन सभी पुराणों का विषय सभी मानवों को लौकिक चिन्तन की नई दिशा प्रदान करता है। इनमें इन अठारह पुराणों में विश्वकोष के नाम से व्यवहार किए जाने वाला अग्निपुराण है। इस अग्नि पुराण में अग्नि के माहात्म्य को बताया गया है। यह पुराण सर्ग आदि पाँच लक्षणों तक सीमित न रहकर अनेक शास्त्रों तथा आचार्यों के मतों को उपस्थापित करता है। अठारह पुराणों में इसको आठवाँ पुराण माना गया है। अग्नि पुराण में धर्मशास्त्रीय आचारों, व्रतों, दान, श्राद्ध, तीर्थ माहात्म्य आदि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। इस पुराण की भाषा सरल और सुबोध है जो अच्छे प्रकार से समझ आ जाती है। इस पुराण में विष्णु के अवतारों के विषयों में भी बताया गया है। इसमें कृष्ण की महिमा को प्रदर्शित करने वाले महाभारत की कथा वर्णित है। इस पुराण सृष्टि अर्थात् जगत को विष्णु की क्रीड़ा बताया गया है। इस पुराण के अंतिम अध्याय में इसके माहात्म्य के साथ परा और अपरा विद्या को बताया गया है।

4.2 अग्नि पुराण का सामान्य परिचय

4.2.1 अग्नि पुराण सामान्य परिचय

अठारह पुराणों में इस पुराण का आठवाँ स्थान है। अग्नि पुराण में ३८३ अध्याय है तथा भागवत पुराण के अनुसार इसमें १५४०० श्लोक हैं। पद्म पुराण के अनुसार अग्नि पुराण तामस पुराण है। इस पुराण में अग्नि तथा शिव का माहात्म्य वर्णित है। इस पुराण का उपदेश अग्नि ने वसिष्ठ को दिया था[3], परन्तु अग्नि पुराण के अनुसार इस पुराण के कर्ता और श्रोता स्वयं जनार्दन को बताया गया है –

> **'आग्नेयाख्य पुराणस्य कर्ता श्रोता जनार्दनः।**
> **तस्मात् पुराणमाग्नेयं सर्ववेदमयं महत्'॥**

इस पुराण की भाषा सरल और अच्छी प्रकार से समझ में आने वाली है। इसमें गद्य भी प्राप्त होता है। अत्यन्त लघु आकार होने पर भी इस पुराण में सभी विद्याओं का समावेश किया गया है। इस दृष्टि से अन्य पुराणों की अपेक्षा यह और भी विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण हो जाता है। पुराणों के पाँचों लक्षणों- सर्ग, प्रतिसर्ग, राजवंश, मन्वंतर और वंशानुचरित आदि का वर्णन भी इस पुराण में प्राप्त होता है। अग्नि पुराण ज्ञान का विशाल भण्डार है। अग्नि पुराण में सभी विद्याओं का वर्णन है। गीता, रामायण, महाभारत, हरिवंश पुराण आदि का परिचय इस पुराण में है। अग्नि पुराण का आरम्भ अग्नि एवं वशिष्ठ के संवाद से होता है। इसके पहले अध्याय में अग्नि पुराण का महत्त्व तथा परा अपरा विद्या का विशद वर्णन है। मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों की कथाएं भी इसमें दी गई हैं। सृष्टि-वर्णन, सन्ध्या, स्नान, पूजा विधि, होम विधि, मुद्राओं के लक्षण, दीक्षा और अभिषेक विधि, निर्वाण-दीक्षा के संस्कार, देवालय निर्माण कला, शिलान्यास विधि, देव प्रतिमाओं के लक्षण, लिंग लक्षण तथा विग्रह प्राण-प्रतिष्ठा की विधि, वास्तु पूजा विधि, तत्त्व दीक्षा, खगोल शास्त्र, तीर्थ माहात्म्य, श्राद्ध कल्प, ज्योतिष शास्त्र, संग्राम विजय, वशीकरण विद्या, औषधि ज्ञान, वर्णाश्रम धर्म, मास व्रत, दान माहात्म्य राजधर्म, विविध स्वप्न वर्णन, शकुन-अपशकुन, रत्न परीक्षा, धनुर्वेद शिक्षा, व्यवहार कुशलता, उत्पात शान्ति विधि, अश्व

[3] मत्स्य पुराण (५३.२८);

चिकित्सा, सिद्धि मन्त्र, विविध काव्य लक्षण, व्याकरण और रस-अलंकार आदि के लक्षण, योग, ब्रह्मज्ञान, स्वर्ग-नरक वर्णन, अर्थ शास्त्र, न्याय, मीमांसा, सूर्य वंश तथा सोम वंश आदि का वर्णन इस पुराण में किया गया है। इस पुराण में कहा गया है कि देवपूजा में समानता का भाव रखना चाहिए। अपराध का प्रायश्चित सच्चे मन से करना चाहिए। इसमें स्त्री के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया गया है –

'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पंचत्स्वापस्तु नारीणां पतिरन्यों विधीयते'॥

अर्थात् इसके अनुसार पति के नष्ट हो जाने, मर जाने, सन्यास ग्रहण कर लेने, नपुंसक या पतित होने पर स्त्री को दूसरा पति कर लेना चाहिए।

अग्नि पुराण में भूगोल सम्बन्धी ज्ञान, व्रत-उपवास, तीर्थों का ज्ञान, दान-दक्षिणा आदि का महत्त्व बताते हुए वास्तुशास्त्र और ज्योतिष आदि का भी वर्णन किया गया है। इस पुराण में व्रतों का काफी विस्तृत वर्णन है। इसमें बताया गया है कि व्रत-उपवास के समय जीवन में बहुत सादगी और धार्मिक अचार-विचार का पालन करने पर भी बल दिया गया है। अग्नि पुराण ज्ञान मार्ग को ही सत्य स्वीकार करता है। उसका कहना है कि ज्ञान से ही ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है, कर्मकाण्ड से नहीं। ब्रह्म की परम ज्योति है जो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से भिन्न है। वह ब्रह्म जरा, मरण, शोक, मोह, भूख-प्यास तथा स्वप्न-सुषुप्ति आदि से रहित है। इसके अध्याय ३८१ में श्रीमद्भगवद्गीता का सार बताया गया है तथा अध्याय ३८२ में यमगीता बताई गई है। इसके अन्तिम अध्याय में अग्निपुराण का माहात्म्य बताया गया है।

4.2.2 अग्नि पुराण में वर्णित विभिन्न विषय

अग्नि पुराण में काव्यशास्त्र – इस पुराण के ग्यारह अध्यायों (३३७-३४७) में काव्यशास्त्र का विस्तृत वर्णन है। बहुत सी नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ इसमें प्राप्त होती हैं। अग्निपुराण में काव्य के तीन भेद बताए गए हैं – गद्य, पद्य और मिश्र।

अग्नि पुराण में व्याकरणशास्त्र – इसके अध्याय ३४८ से लेकर ३५९ तक व्याकरण का विशद वर्णन किया गया है। तथा इसके पश्चात् शब्दकोश का भी गाम्भीर युक्त वर्णन प्राप्त होता है।

अग्नि पुराण में कालगणना - अर्थात् समय की माप का निर्देश और महत्व विस्तार से बताया गया है साथ ही गणित के स्वरूप और उसके महत्व की भी व्याख्या की गई है। व्रतों की सूची तिथि, वार, मास, ऋतु आदि के अनुसार अलग-अलग बनायी गयी है

अग्नि पुराण में वास्तुकला - भवन निर्माण, देवालय (मंदिर) निर्माण, मूर्ति निर्माण और प्रतिष्ठा का विधान पूरे विस्तार से वर्णित है। भूगोल, ज्योतिष तथा वैद्यकीय विद्या का भी विस्तृत वर्णन अग्नि पुराण में उपलब्ध है। चौसठ योगिनियों की उत्पत्ति, प्रकृति की संरचना आदि का भी विस्तार से वर्णन है। किलों का निर्माण किस प्रकार करना चाहिए? यह अध्याय २२२ में बताया गया है। इसके अध्याय ४१-४५ तक शिला विन्यास की विधी बताई गई है।

अग्नि पुराण में राजनीति - राज्य पद पर किस का अभिषेक कैसे होना चाहिए? सचिवों और सलाहकारों की नियुक्ति, मंत्रियों की नियुक्ति, वित्त विभाग के लिए दिशा निर्देश, प्रशासनिक व्यवस्थाओं के लिए निर्देश, सीमा सुरक्षा, सैन्य प्रशिक्षण, शस्त्रों का ज्ञान और प्रशिक्षण,

राजधर्म आदि विषयों का बहुत ही विस्तार से अग्नि पुराण में वर्णन है। राजधर्म के विषय में यह ग्रंथ कहता है कि राजा को अपनी प्रजा का पालन उसी प्रकार करना चाहिए, जैसे कोई पिता अपने बच्चों का करता है।

अग्नि पुराण में आयुर्वेद - अग्नि पुराण के उत्तर भाग के अधिकांश अध्यायों में आयुर्वेद से जुड़े भिन्न-भिन्न प्रकार के दुर्लभ ज्ञान भरे हुए हैं साथ ही वेदांग का भी वर्णन उत्तर भाग में किया गया है। इस पुराण को भारतीय जीवन का विश्वकोश कहा जा सकता है। इसमें शरीर और आत्मा के स्वरूप को अलग-अलग समझाया गया है. इन्द्रियों को यंत्र माना गया है। देह के अंगों को आत्मा नहीं माना गया है। अग्नि पुराण में चिकित्साशास्त्र की व्याख्या की गयी है, जिसके अनुसार सारे रोग अत्यधिक भोजन करने से होते हैं या बिल्कुल भोजन न करने से। इसलिए हमेशा संतुलित भोजन करना चाहिए। इसमें जड़ी-बूटियों द्वारा रोगों की उपचार विधियाँ भी बतलाई गयी हैं।

अग्नि पुराण में लौकिक व्यवहार – इस पुराण में बहुत से आख्यान और उपख्यानों के माध्यम से तथा संवाद के माध्यम से लोक व्यवहार को दर्शाया गया है। इस पुराण में बहुत से सुभाषित और लोकोक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। अग्नि पुराण में स्वप्न विचार और अध्याय २३०-२३२ में शकुन-अपशकुन पर भी विचार किया गया है. पुरुष और स्त्री के लक्षणों की चर्चा भी इस पुराण का बहुत महत्वपूर्ण अंग है। सर्पों के बारे में भी इसमें विस्तृत जानकारी है। इसमें मंत्र-शक्ति पर विस्तार से लिखा गया है। इसके अध्याय २५६ में सम्पत्तियों का विभाजन भी बताया गया है तथा अध्याय २२९ में स्वप्नों का महत्त्व बताया गया है।

अग्नि पुराण में दर्शन - अग्नि पुराण में ज्ञानमार्ग को ही सत्य माना गया है। इसके अनुसार ज्ञान से ही ब्रह्म की प्राप्ति संभव है, कर्मकाण्ड से नहीं। ब्रह्म ही परम ज्योति है, जो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से अलग है। यह वृद्धावस्था, मौत, शोक, मोह, भूख-प्यास और स्वप्न-सुषुप्ति आदि से रहित है। अग्नि पुराण में मन की गति को ब्रह्म में लीन होना ही योग कहा गया है। जीवन का अंतिम लक्ष्य आत्मा और परमात्मा का संयोग ही होना चाहिए।

अग्नि पुराण में वर्णाश्रम व्यवस्था - वर्णाश्रम धर्म की भी इस पुराण में बहुत सुंदर व्याख्या की गयी है। ब्रह्मचारी को हिन्सा, निंदा से दूर रहना चाहिए। गृहस्थाश्रम के सहारे ही अन्य तीन आश्रमों का जीवन-निर्वाह होता है। इसलिए गृहस्थ को सभी आश्रमों से श्रेष्ठ माना गया है। इसमें वर्ण के आधार पर किसीके साथ भेदभाव न करने की सीख दी गयी है। इसके अनुसार, वर्ण कर्म से बने हैं, जन्म से नहीं।

अग्नि पुराण में पर्यावरण – अग्नि पुराण के अध्याय ७० में वृक्ष लगाने की विधी बताई गई है। तालाब और सरोवर की स्थापना तथा उनके पूजन के विषय में अध्याय ६४ में बताया गया है। इस पुराण में नदियों की महिमा भी बताई गई है। इसके अध्याय १५८ में प्रदूषण के प्रकार बताए गए हैं।

अग्नि पुराण में भौगोलिक सामग्री – इस पुराण के १०८वें अध्याय में ब्रह्माण्ड सम्बन्धी विवरण (भुवनकोष वर्णन) प्राप्त होता है। अध्याय ११८ में भारतवर्ष का मनोहर विवरण दिया गया है। अध्याय ११९ में महाद्वीपों का विवरण प्राप्त होता है तथा अध्याय १२० में ब्रह्माण्ड की सीमा के विषय में बताया गया है। प्रयाग माहात्म्य, वाराणसी माहात्म्य, गया माहात्म्य भी इस पुराण में बताए गए हैं।

अग्निपुराण में खगोल और ज्योतिष विज्ञान – इसके अध्याय १२१ में खगोल और ज्योतिष का विशद वर्णन किया गया है। एवं १२२वें अध्याय में पचाङ्ग के विषय में बताया गया है। तथा अन्य अध्यायों जैसे १२३-१३२ तक ज्योतिष का वर्णन प्राप्त होता है।

अग्नि पुराण में धर्मशास्त्र – इसके अध्याय १६२ में कानून संहिता का वर्णन प्राप्त होता है तथा अध्याय १६५ में आचार संहिता (नाना-धर्म) प्राप्त होती है तथा अध्याय २२६ और २२७ में भी आपराधिक संहिता का वर्णन है। और भी बहुत से अध्याय हैं जिनमें धर्मशास्त्रीय और कानूनी विषय प्राप्त होते हैं।

अग्नि पुराण में शस्त्रविज्ञान – इस पुराण के अध्याय २२८ में सैन्य अभियान से सम्बन्धित निर्देश प्राप्त होते हैं। इसके अध्याय २४९ से लेकर २५२ तक शस्त्रविज्ञान का वर्णन है। इसमें राजा के सैन्य अभियान से सम्बन्धित निर्देश भी प्राप्त होते हैं।

अग्नि पुराण में ऐतहासिक सामग्री – इस पुराण के अध्याय २७३ में सूर्यवंश वर्णन, २७४ में चन्द्रवंश वर्णन, २७५ में यदुवंश वर्णन, २७७ में अङ्ग राजवंश वर्णन तथा २७८ में पुरु आदि राजओं के वंश का वर्णन प्राप्त होता है। इस पुराण की अपनी स्वतन्त्र ऐतिहासिक महत्ता है जो इसको अन्य पुराणों से भिन्न बनाती है। इस पुराण के अध्याय २४६ में रत्न परीक्षा की प्राचीन विधि बताई गई है।

अग्नि पुराण में पशु चिकित्सा – इस पुराण में पशु चिकित्सा का भी वर्णन प्राप्त होता है। इसके अध्याय २८७ में गज चिकित्सा, अध्याय २८९ में अश्व चिकित्सा, अध्याय २९२ में गौ चकित्सा का वर्णन है। तथा पशुशालाओं के विषय में भी इस पुराण में विस्तार से बताया गया है।

4.2.3 अग्नि पुराण का फल

अग्नि पुराण को साक्षात् अग्नि देवता ने अपने मुख से कहा है। इस पुराण के श्रवण करने से मनुष्य अनेकों विद्याओं का स्वामी बन जाता है। जो ब्रह्मस्वरूप अग्नि पुराण का श्रवण करते हैं, उन्हें भूत-प्रेत, पिशाच आदि का भय नहीं सताता। इस पुराण के श्रवण करने से ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता, क्षत्रिय राजसत्ता का स्वामी, वैश्य धन का स्वामी, शूद्र निरोगी हो जाता है तथा उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं जिस घर में अग्नि पुराण की पुस्तक भी हो, वहाँ विघ्न बाधा, अनर्थ, अपशकुन, चोरी आदि का बिल्कुल भी भय नहीं रहता। इसलिये अग्नि पुराण की कथा का श्रवण अवश्य करना चाहिये। इस पुराण के सुनने से देवगण ही नहीं अपितु समस्त प्राणी जगत् सुख प्राप्त करता है। इस पुराण को सुनने और पढने से मनुष्य स्वयं ज्ञानवान् हो जाता है क्यों कि इस पुराण में इतने विषयों की प्रचुरता है जिनको जानकर वह स्वयं में गौरवान्वित महसूस करेगा।

4.3 अग्नि पुराण का वैशिष्ट्य

पुराण साहित्य भारतीय जीवन और साहित्य की अक्षुण्ण निधि है। इसमें मानव जीवन के उत्कर्ष और अपकर्ष की अनेक गाथाएँ मिलती हैं। अठारह पुराणों में अलग अलग देवी-देवताओं को केन्द्र में रखकर पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म, कर्म और अकर्म की गाथाएं कहीं गई हैं। इस रूप में पुराणों का पठन और आधुनिक जीवन की सीमा में मूल्यों की स्थापना आज के मनुष्य को एक निश्चित दिशा दे सकता है। देखा जाए तो सभी पुराण गाम्भीर विषयों से भरे हुए है। लेकिन अग्नि पुराण एकमात्र ऐसा पुराण जिसको सभी विद्याओं की खान कहा जाए तो कोई

अतिशयोक्ति नहीं होगी। अग्नि पुराण के अनुसार, मनुष्य जन्म दुर्लभ है लेकिन मनुष्य जीवन में कवि होना बहुत सौभाग्य की बात है –

'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा'।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा'॥

विश्वकोशात्मकता इस पुराण की सबसे बडी विशिष्टता है[4]। कपिल द्विवेदी अग्नि पुराण को महाभारत के समतुल्य ग्रन्थ बताते हैं[5]। इस पुराण के ६ अध्यायों में भगवान् राम के जन्म को बताया गया है। इस पुराण में सभी पुराणों की अपेक्षा व्रतों अत्यन्त विशद वर्णन प्राप्त होता है। इस पुराण की यह भी एक विशिष्टता है कि इसमें चारों वेदों के मन्त्रों का प्रयोग बताया गया है (क्रमशः अध्याय २५९-२६२ तक)। इस पुराण के २८२वें अध्याय में बागवानी का अद्भुत वर्णन है जो अन्य पुराणों से इसको विशिष्ट बनाता है। इसमें नरक वर्णन भी विशद रूप में किया गया है। योग दर्शन तथा वेदान्त दर्शन भी अन्तिम अध्यायों में अति सूक्ष्म तरीके से किया गया है। विश्व का ऐसा कोई विषय नहीं है जो इससे अछूत हो। 'जो इनमें नहीं मिलता, वह कही नहीं मिलता' यह बात महाभारत और नाट्यशास्त्र के विषय में कही जाती है, यही बात अगर अग्नि पुराण के विषय में कही जाए तो बिल्कुल भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस पुराण की सर्वाधिक विशिष्टता यह है कि यह अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध है, जिसकी भाषा और रचना, बडे ही सरल तरीके से की गई है। अग्नि पुराण साहित्य में अपनी व्यापक दृष्टि तथा विशाल ज्ञान भंडार के कारण विशिष्ट स्थान रखता है। अग्निपुराण पुराण साहित्य में अपनी व्यापक दृष्टि तथा विशाल ज्ञान भंडार के कारण विशिष्ट स्थान रखता है। विषय की विविधता एवं लोकोपयोगिता की दृष्टि से इस पुराण का विशेष महत्त्व है।

4.4 सारांश

पुराण ज्ञान के बिना वेद ज्ञान अधूरा है। भारत की सनातन संस्कृति पुराण-साहित्य पर ही टिकी हुई है। जैसा कि पुराणों के विषय में वी.राघवन कहते हैं कि **"पुराण साहित्य, व्याकरण, ललित एवं उपयोगी कला, राजनीति, स्थापत्य, सैन्य विज्ञान, औषधि, माणिक्य आदि से सम्बन्धित भारतीय ज्ञान का विश्वकोष है"**[6]। पुराणों में वेद की अध्यात्म विद्या को संजोकर, आख्यान-उपाख्यानों के माध्यम से पिरोया गया है।

इस इकाई में हमने अग्नि पुराण के परिचय तथा वैशिष्ट्य को भलीभाँति जाना। अग्नि पुराण में नाना प्रकार के विषयों की प्रचुरता है। अग्नि देव ने इस पुराण को महर्षि वशिष्ठ को सुनाते हुए कहा था –

"आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वा विद्या प्रदर्शिता:"

अर्थात् अग्नि पुराण में सभी विद्याओं का वर्णन है। पद्म पुराण के अनुसार अग्नि पुराण को भगवान विष्णु का चरण कहा गया है। पुराण के आरंभिक अध्यायों में राम और कृष्ण सहित भगवान के विभिन्न अवतारों का वर्णन है। अन्य अध्यायों में धार्मिक अनुष्ठानों, विशेष रूप से भगवान शिव की पूजा से संबंधित अनुष्ठानों के बारे में वर्णन किया गया है। कई अध्यायों में पृथ्वी, तारों और नक्षत्रों के साथ-साथ राजाओं के कर्तव्यों का भी वर्णन है। इस पुराण में विष्णु

[4] संस्कृत साहित्य का इतिहास: उमाशंकर ऋषि (पृ. १८५);
[5] संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास: कपिल देव (पृ. ९५);
[6] संस्कृत लिट्रेचर; (पृष्ठ संख्या – ३५);

को कालाग्नि कहा गया है जो रूद्र रूप धारण कर सृष्टि का अंत करते हैं। विष्णु का सर्वोपरि होना आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है, अग्नि स्वयं को भी विष्णुरूप कालाग्नि बताते हुये पुराण अवयव, अवतार आदि बताते हैं –

"विष्णुः कालाग्निरुद्रोऽहं विद्यासारं वदामि ते"।

इस पुराण का क्रम विषय प्रस्तुति आदि अत्यन्त सुनियोजित हैं। शैव श्रेणी का माना जाने वाला होने पर भी वासुदेव एवं विष्णु की महत्ता का ही मुख्यत: प्रतिपादन हुआ है। दूसरे अध्याय से ही अवतार कथा आरम्भ हो जाती है, जिसमें पहला मत्स्य रूप है, वही प्रथम अवतार है –

"मत्स्यावतारं वक्ष्येऽहं वसिष्ठ शृणु वै हरेः"।

इसमें कहा गया है –

"राजानो राजपुत्राश्च मुनयो देवता हरिः।
यदुक्तं यच्च नैवोक्तमवतारा हरेरिमे"।

अर्थात् राजा, राजपूत, मुनि एवं देवता; हरि के रूप हैं। जिनका नाम बताया एवं जिनका नहीं बताया, वे समस्त हरि के अवतार हैं। विष्णु के अवतारों को किसी संख्या सीमा में न बाँध कर विराट रूप देना इस पुराण की विशेषता है। विष्णु के पचपन नामों द्वारा समस्त भारत का भूगोल हरि के विविध रूपों द्वारा अभिव्याप्त कर दिया गया है जो कि इस पुराण की बहुत ही प्रौढ़ एवं परिपक्व सर्जना का द्योतक है, साथ ही शैव मत के साथ समन्वय की धारा भी प्रवाहमान है। यह एक बहुत ही सशक्त पुराण है जिसने वर्तमान हिन्दू मनीषा को गढ़ने में महत् योगदान दिया है। अग्नि पुराण अग्नि देवता का वर्णन करता है।

4.5 सन्दर्भग्रन्थ सूची

१. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, बलदेव उपाध्याय, भाग – त्रयोदश, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ – २०००।

२. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास: कपिलदेव द्विवेदी।

३. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, उमाशंकर ऋषि, चौखम्भा भारती आकादमी, वाराणसी – २०१९।

४. पुराणविमर्शः, बलदेव उपाध्याय।

५. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी.काणे।

4.6 बोध प्रश्न

१. अग्निपुराण पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

२. अग्निपुराण का सामान्य परिचय दीजिए।

३. अग्निपुराण का वैशिष्ट्य अपने शब्दों में लिखिए।

४. अग्निपुराण कैसा पुराण है इसका विभाजन किस प्रकार हुआ है।

५. अग्निपुराण के महत्त्व को समझाइए।

६. अग्निपुराण की विषयवस्तु को संक्षेप में लिखिए।

खण्ड 3
वेदांग

खण्ड 3 परिचय

वेदांग नमक तृतीय खण्ड के अध्ययन में आपका स्वागत है। पूर्व में आपने वेद और पुराण के विषय में जाना। इस क्रम में प्रस्तुत खण्ड में वेदांग के रूप में शिक्षा ,कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष के विषय में जानेंगे। प्रथम इकाई में शिक्षा तथा व्याकरण के स्वरूप एवं प्रयोजन को बताया गया है। दूसरी इकाई में निरुक्त के प्रयोजन और उसके प्रतिपाद्य की जानकारी दी गई है। तीसरी इकाई में छन्द और कल्प को बताया गया है। इन दोनों के प्रयोजन और विषय वस्तु को उपस्थित किया गया है। चौथी इकाई वेद का नेत्र कहे जाने वाले ज्योतिष नमक वेदांग के वर्णन से सम्बन्धित है। इस इकाई में ज्योतिष के प्रयोजन और उसकी प्रमुख विषयवस्तु की उपस्थापना की गई है। प्रस्तुत खण्ड का अध्ययन कर लेने के बाद वेदंगों की विषय वस्तु का उल्लेख करने में सक्षम हो जाएंगे।

इकाई 1 शिक्षा तथा व्याकरण–स्वरूप, प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- शिक्षा नामक वेदांग के स्वरूप से अवगत हो जायेंगे।
- प्रातिशाख्य ग्रंथों की संख्याएवं विषयवस्तु को समझ जायेंगे।
- शिक्षा और प्रतिशाख्य के प्रयोजनों से भली–भाँति परिचित हो जायेंगे।
- व्याकरण नाम के वेदांग से परिचित हो जायेंगे।
- व्याकरण के अंतर्गत अध्ययन–क्षेत्रों से अवगत हो जायेंगे।
- व्याकरण के प्रयोजन को समझ जायेंगे।

1.1 प्रस्तावना

वेद विश्वसाहित्य की अमूल्य निधि हैं। इसके छह अंग हैं –शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तो कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोतमुच्यते।।

शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

इन दोनों श्लोकों में छन्दशास्त्र को वेदपुरुष का पैर, कल्पशास्त्र को हाथ, ज्योतिषशास्त्र को नेत्र, निरुक्तशास्त्र को कान, शिक्षा को नाक और व्याकरण को मुख कहा गया है। जो मनुष्य वेदों को उनके इन छ्ह अङ्गो के साथ अध्ययन करता है, वही परमपद को प्राप्त करता है। यहाँ पर उपर्युक्त सभी शास्त्रों के लिए अङ्ग शब्द का प्रयोग अंश या भाग अर्थ में नहीं हुआ है अपितु उसका अर्थ उपकारक है क्योंकि वेद के अङ्ग शरीर के अङ्गों के जैसे नहीं हैं। वेद की सत्ता वेदाङ्गो के बिना भी बनी रहती है कितु शरीर का अस्तित्व अङ्गों के अभाव में नहीं रहता है। वेदाङ्गों का उल्लेख गोपथब्राह्मण, गौतमधर्मसूत्र, रामायण तथा बौधायनधर्मसूत्र आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में है। वेदाङ्गों के रचनाकाल को लेकर आचार्यो के मध्य विवाद है। जयचन्द्र विद्यालंकार ने वेदाङ्गों का समय 400 ई0 पूर्व से लेकर 200 ई0 पूर्व के मध्य में स्वीकार किया है। शंकरबालकृष्ण दीक्षित के अनुसार वेदाङ्ग–काल 150 शकपूर्व से लेकर 500 शकपूर्व के मध्य रहा होगा। भले ही वेदाङ्गों के काल पर आचार्यगण के मत कुछ भी रहे हों किन्तु शास्त्र के रूप में उनके महत्त्व को सभी मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।

1.2 शिक्षा का स्वरूप

वेदाङ्गों में शिक्षा का प्रथम स्थान प्राप्त है। यदि वेद कीएक पुरुष रूप में परिकल्पना हो, तो यह शिक्षा वेदरूपी पुरुष की नासिका है। जिस प्रकार से शरीर के सभी अंगो के स्वस्थ और सुंदर रहने पर भी नासिका के अभाव में किसी का भी स्वरूप भद्दा

और अपूर्ण प्रतीत होता है, उसी प्रकार शिक्षा नामक वेदाङ्ग के अभाव में वेदपुरुष के स्वरूप की कल्पना पूर्ण नहीं होती। शिक्षा नामक वेदाङ्ग से तात्पर्य है कि वह विद्या, जिसको पढ़ने से हम वेद मन्त्रों में प्रयुक्त सभी वर्णों के स्वरूप को पहचानने लगते हैं, उन वर्णों का उच्चारण मुख में कहाँ से होगा, यह भली भाँति समझ जाते हैं तथा वर्णो में जो स्वर प्रयुक्त हैं, उनका ज्ञान हो जाता है। प्राचीन काल में सभी विद्याएं सुन कर ग्रहण की जाती थी। आश्रम में आचार्य मन्त्रोच्चारण करते थे और सभी शिष्य उसे सुन कर वैसे ही उच्चारण का अभ्यास करते थे। इस परम्परा को अनुश्रवण परम्परा कहते हैं। समस्त वैदिकशास्त्रों का अध्ययन अनुश्रवण परम्परा पर आधारित था। मन्त्रों के उच्चारण की उचित विधि को बताने का कार्य शिक्षा नामक वेदाङ्ग करता है। ब्राह्मणग्रन्थों में शिक्षा सम्बन्धी नियमों का उल्लेख स्थान–स्थान पर प्राप्त होता है। शिक्षा के प्रमुख विषयों का उल्लेख सर्वप्रथम तैत्तिरीयोपनिषद् की प्रथम वल्ली में हुआ है। तैत्तिरीय– उपनिषद् कुल तीन वल्लियों में विभाजित है। इसके प्रथम वल्ली का नाम ही शीक्षावल्ली है। आचार्यों को अनुसार उपनिषद् के इस वल्ली का शीक्षा नाम रखना वैदिक परम्परा में शिक्षा नामक वेदाङ्ग के महत्व को प्रकट करता है। शिक्षा वेदाङ्ग के अंतर्गत दो प्रकार के ग्रन्थ मिलते हैं–प्रातिशाख्यएवं शिक्षाग्रन्थ। शिक्षा सम्बन्धी वर्ण्य–विषय इन ग्रन्थों से पूर्व ब्राह्मण–ग्रन्थोंएवं उपनिषद्ग्रंथों में प्राप्त होते हैं किन्तु स्वतन्त्र तथा विस्तार से ये प्रातिशाख्य और शिक्षाग्रन्थों में ही प्रतिपादित हुए हैं।

1.3 प्रमुख प्रातिशाख्य ग्रन्थ

प्राचीन परम्परा में प्रत्येक वेद के अपने–अपने प्रातिशाख्य थे, जो अपने वेद के उच्चारण सम्बन्धी सभी विशेषताओं पर विस्तार से विचार करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के काल तक वेद केवल मौखिकएवं श्रुतिपरम्परा से सुरक्षित होते चले आये थे। कालान्तर में जब वैदिक भाषा उच्चारण में अन्तर आने लगा और उसका, उसी रूप में उच्चारण करना कठिन हो गया। आचार्यों ने अनुभव किया कि वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण को मौखिक परम्परा में तब तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता था जब तक वर्ण, स्वर, सन्धि, छन्द, संस्कार आदि के सामान्य नियम न बनाए जाए। इसलिए उनके द्वारा यह कार्य प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना द्वारा किया गया। कुछ आचार्य प्रातिशाख्य को व्याकरण के अन्तर्गत मानते हैं। प्रातिशाख्य की व्युत्पत्ति है– प्रातिशाखं भवं इति प्रातिशाख्यम्। इसका अर्थ है कि प्रत्येक संहिता की जितनी भी शाखाएं रही होंगी उन सब के अपने–अपने प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी होंगे। इसके विपरीत दूसरे आचार्यों का मत है किएक वेद की जितनी शाखाएं थीं, उनमें से दो या तीन शाखाओं का सामूहिक रूप सेएक प्रातिशाख्य था। जैसे–ऋग्वेद की शाकल शाखा और वाष्कल शाखा काएक ही प्रातिशाख्य '**ऋग्वेदप्रातिशाख्य**' है। यह ऋग्वेद काएकमात्र उपलब्ध प्रातिशाख्य है। इस प्रातिशाख्य के रचयिता आचार्य शौनक हैं। ये आश्वलायन के गुरु थे। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों में इनका उल्लेख किया है। दूसरा प्रातिशाख्य 'वाजसनेयिप्रातिशाख्य' शुक्लयजुर्वेद काएकमात्र उपलब्ध प्रातिशाख्य है। यह प्रातिशाख्य शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं माध्यन्दिन और काण्व शाखा के स्वर तथा वर्णोच्चारण सम्बन्धी विधियों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता है। इस प्रातिशाख्य के प्रणेता कात्यायन ऋषि हैं। विद्वानों के अनुसार प्रातिशाख्य के रचयिता कात्यायन अष्टाध्यायी के सूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि कात्यायन से पृथक् थे। आचार्यों ने प्रातिशाख्यों को अष्टाध्यायी से प्राचीन माना है, इससे भी स्पष्ट है कि वार्तिककार कात्यायन और प्रातिशाख्य के प्रणेता कात्यायन दोनों दो व्यक्ति थे। 'तैत्तिरीयप्रातिशाख्य' कृष्णयजुर्वेद काएकमात्र उपलब्ध प्रातिशाख्य है। यह नाम से भले

ही तैत्तिरीयसंहिता से संबंधित प्रतीत हो कितु इसमें कृष्ण यजुर्वेदीय सभी संहिताओं के स्वरोंएवं वर्णोच्चारण सम्बन्धी नियमों का वर्णन है। सामवेद के सभी प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनका नाम प्रातिशाख्य न हो कर तन्त्र है – ऋक्तन्त्र ,सामतन्त्र और अक्षरतन्त्र। ऋक्तन्त्र नामक सामवेदीय प्रातिशाख्य का सम्बन्ध कौथुम शाखा से है। इसे सामवेद का व्याकरण ग्रन्थ माना जाता है, क्योंकि इसमें वर्णोंच्चारण के प्रकार, स्थान, उनकी संज्ञा, सन्धि, स्वरों के साथ–साथ व्याकरण सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। सामतन्त्र सामवेद के कौथुम शाखा का ही दूसरा प्रातिशाख्य है। यह ऋक्तन्त्र का उत्तर भाग है क्योंकि ऋक्तन्त्र जहाँ पर समाप्त होता है सामतन्त्र वहीं से प्रारम्भ होता है। ऋक् तन्त्र के रचयिता का नाम अज्ञात है। औद्वजि नामक आचार्य को सामतन्त्र का प्रणेता माना जाता है। अक्षरतन्त्र का सम्बन्ध भी सामवेद के कौथुम शाखा से ही है। जिस प्रकार सामतन्त्र ऋक्तन्त्र का उत्तरभाग है, उसी प्रकार अक्षरतन्त्र सामतन्त्र का उत्तर भाग है। इसलिए इसके रचयिता भी औद्वजि है। आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी के अनुसार अक्षरतन्त्र के रचयिता भगवान् आपिशालि हैं। अथर्ववेद के दो प्रातिशाख्य मिलते हैं–चतुरध्यायिका और अथर्ववेद प्रातिशाख्य। चतुरध्यायिका का सम्बन्ध अथर्ववेद की शौनकीय शाखा से है किन्तु अथर्ववेद प्रातिशाख्य अथर्ववेद के सभी शाखाओं का सामान्य प्रातिशाख्य है। अथर्ववेदप्रातिशाख्य का रचयिता अज्ञात हैं परन्तु यह निश्चित है कि इसकी रचना चतुरध्यायिका के बाद हुई है –

1.4 प्रमुख शिक्षा ग्रन्थ

शिक्षा वेदाङ्ग के अन्तर्गत शिक्षा नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। ये शिक्षा ग्रन्थ पूर्ण रूप से वेद की किसी शाखा का अनुसरण करते हैं तथा उस शाखा के वर्णएवं स्वरादि मन्त्रोंच्चारण सम्बन्धी विशिष्टताओं को बताने का कार्य करते हैं। कुछ शिक्षा ग्रन्थ सूत्र रुप में और कुछ श्लोक रूप में रचित हैं। कतिपय शिक्षा ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है–

1.4.1 ऋग्वेदीय प्रमुख शिक्षाग्रन्थ

- स्वराकुंशा शिक्षा
- षोडशश्लोकी शिक्षा
- शैशिरीय शिक्षा
- आपिशालि शिक्षा
- पाणिनि शिक्षा

1.4.2 शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थ

- याज्ञवल्क्य शिक्षा
- वासिष्ठी शिक्षा
- कात्यायनी शिक्षा
- पाराशरी शिक्षा
- माण्डव्य शिक्षा
- अमोघनन्दिनी शिक्षा
- लघु अमोघनन्दिनी शिक्षा

- माध्यन्दिनी शिक्षा
- वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा
- केशवी शिक्षा
- हस्तस्वर प्रक्रिया
- अवसान निर्णय
- स्वरभाक्ति परिशिष्ट
- क्रमसन्धान
- मनःस्वार शिक्षा
- यजुर्विधान शिक्षा
- स्वराष्टक शिक्षा
- क्रमकारिका शिक्षा

1.4.3 कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थ

- भारद्वाज शिक्षा
- व्यास शिक्षा
- शम्भुशिक्षा
- कोहलीय शिक्षा
- सर्वसम्मत शिक्षा
- आरण्य शिक्षा
- सिद्धान्त शिक्षा

1.4.4 सामवेदीय शिक्षा ग्रन्थ

- लोमशी शिक्षा
- गोतमी शिक्षा
- नारदीय शिक्षा

1.4.5 अथर्ववेदीय शिक्षाग्रन्थ

- माण्डूकी शिक्षा

इस प्रकार वर्तमान में कुल 34 शिक्षाग्रन्थ प्राप्त होते हैं । इनमें पाणिनि शिक्षा और व्यास शिक्षा विशेषरुप से महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त शेष जिन ऋषियोंएवं आचार्यों के नाम वाले शिक्षा ग्रन्थ हैं , वे सभी उन ग्रंथों के रचनाकार नहीं हैं बल्कि उनके नियमों को उक्त ग्रन्थों में निबद्ध किया गया है ।

1.5 शिक्षा का प्रयोजन

शिक्षा का प्रमुख प्रयोजन है–वेद मन्त्रों के शुद्धएवं उत्तम उच्चारणपद्धति का प्रतिपादन करना। वेदएक विशेष प्रकार के अलौकिक शास्त्र हैं। जिनका शुद्ध –उच्चारण करने मात्र के, शास्त्रों में असीमित फल बताये गए हैं। अतः इनके सम्यक् अनुशीलन से धर्म,

अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। मन्त्रों में स्थित स्वरों का सम्यक् उच्चारण करने पर ही उनमें स्थित अर्थ प्रकाशित होते हैं। वेद में उच्चारण द्वारा मन्त्रार्थ की नियामकता के कारण मन्त्रों के दोषरहित और प्रमादरहित पाठ पर अत्यधिक बल दिया जाता है। वेद सभी प्रकार के लौकिकएवं अलौकिक फलों को प्रदान करते हैं लेकिन इनके कल्पवृक्ष स्वरूप का लाभ पाने के लिए मन्त्रों का शुद्धएवं स्वरयुक्त उच्चारण प्रथम अनिवार्य शर्त है। यही कारण हैं कि उच्चारण विधियों का प्रतिपादन करने वाली शिक्षा वेदाङ्गों में प्रथम स्थान रखती है। उच्चारण की दृष्टि से महत्वपूर्ण सभी विषयों का ज्ञान कराना ही शिक्षा का प्रयोजन है। जैसे –

1. **वर्णोएवं स्वरों का पूर्ण ज्ञान** – मन्त्रों में प्रयुक्त वर्णो के उच्चारणस्थान, स्वर मात्रा और यत्न इत्यादि के प्रकार का भली –भाँति ज्ञान कराना शिक्षा का प्राथमिक प्रयोजन है। मन्त्रों में प्रमुख रूप से तीन प्रकार के स्वर विद्यमान हैं – उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इसके अतिरिक्त प्रचय और जात्य स्वरित के अनेक भेद मिलते हैं। मन्त्रोच्चारण में स्वरों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन स्वरों का पूर्ण ज्ञान तथा सन्धि इत्यादि प्रक्रिया अवस्था में स्वरों की स्थिति का ज्ञान कराना शिक्षा के महत्वपूर्ण प्रयोजनों में सेएक है।

2. **स्वरों तथा उच्चारण विधियों का ज्ञान** – मन्त्रपाठ में उदात्त आदि स्वरों का नियमानुसार प्रयोग, सन्धि इत्यादि व्याकरण सम्बन्धी विकारों का प्रभाव तथा अपनी शाखा के उच्चारण सम्बन्धी विशिष्टताओं का पूर्ण ज्ञान कराना शिक्षा का द्वितीय महत्वपूर्ण प्रयोजन है ।

3. **उत्तम और अधम वेदपाठी का लक्षण** – सभी शिक्षाग्रन्थ उत्तम और अधम वेदपाठी के लक्षणों का ज्ञान कराते हैं।एक वेदपाठी के उच्चारण में किन गुणों का समावेश होना चाहिए तथा उत्तम पाठक का लक्षण क्या है। शिक्षाग्रन्थ इसका प्रतिपादन करते हैं। इसके साथ ही उच्चारण में किन दोषों का प्रवेश नहीं होना चाहिए इसका भी निर्देश दते हैं। पाणीनीयशिक्षाग्रन्थ में उत्तम पाठकएवं अधम पाठक के लक्षणों की विस्तार से चर्चा है।

1.5.1 शिक्षा का प्रतिपाद्य

इस वेदाङ्ग का मुख्य प्रतिपाद्य स्वरएवं उच्चारण प्रक्रिया है। जिसमें वर्णमाला से लेकर उच्चारण के गुणएवं दोष तक का समावेश है। शिक्षाग्रन्थों के प्रमुख प्रतिपाद्य इस प्रकार हैं –

- वर्ण

  शिक्षा नामक वेदाङ्ग का प्रथम प्रतिपाद्य संस्कृत वर्णमाला है। सामान्य रूप से संस्कृत वर्णमाला कहने पर पूर्व की कक्षाओं में पठित माहेश्वर सूत्रों में सम्मिलित वर्णों ध्यान आता है लेकिन वर्णों का प्रथम उल्लेख शिक्षा नामक वेदाङ्ग करता है। पाणिनीय शिक्षाग्रन्थ के अनुसार संस्कृतएवं प्राकृतभाषा दोनों में कुल तिरसठ या चौंसठ वर्ण होते हैं। जिनका पूर्ण ज्ञान प्रत्येक अन्तेवासी के लिए अनिवार्य था। स्वरों की संख्या इक्कीस है। वर्णों की संख्या में अन्तर देखकर भ्रमित नहीं होना चाहिए क्योंकि कहीं पर अचों की गणना भेद सहित है और कहीं पर भेदरहित है। अतः गणना की दृष्टि ही संख्या भेद का कारण है। क से म तक कुल पच्चीस वर्ण स्पर्श हैं। य, व, र, ल तथा श, ष, स, और ह ये आठ हैं। चार यम तथा अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीयएव उपध्मानीय वर्ण हैं। इन्हें अयोगवाह

कहते हैं। ळएवं ळह् ये दो ध्वनियां भी हैं। वहीं पर वर्णों के स्वर के आधार पर, काल के आधार पर, उच्चारण के आधार पर प्रयत्न के आधार पर तथा अनुप्रदान के आधार पर पाँच विभाग भी बताये गए हैं। इन विभागों के आधार वर्णों का अध्ययन ही शिक्षा का प्रमुख प्रतिपाद्य है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,ऋ,ॠ, लृ को समानाक्षर औरए, ओ,ऐएवं औ का सन्ध्याक्षर कहते हैं।

- स्वरः

इस वेदाङ्ग के सभी ग्रन्थ मुख्यालय से स्वरों की चर्चा करते हैं। पाणिनीयशिक्षा में वर्णो का प्रथम विभाग स्वर के आधार पर बताया गया है। स्वर से तात्पर्य उदात्त, अनुदात्त, स्वरित है। पुनः उदात्त स्वर के अन्तर्गत संगीतशास्त्र में प्रयुक्त निषाद और गान्धार ये दो स्वर तथा अनुदात्त में ऋषभ और धैवत ये दो स्वर होते हैं। षड्ज, मध्यम, पञ्चम ये तीन स्वरितस्वर के भेद हैं। ये सभी स्वर ऋग्वेदीय मन्त्रपाठ से लेकर सामगायन तक में महत्वपूर्ण हैं। जिन स्वरवर्णों में उदात्त स्वर लगा होता है, उनका उच्चारण गले के उर्ध्व भाग से अथवा ऊँचे स्वर में होता है – उच्चैरुदात्तः। इसी प्रकार जिन वर्णों पर अनुदात्त के चिह्न लगे होते हैं, उनका उच्चारण गले के अधोभाग से होता है–नीचैरनुदात्तः। जिन वर्णों के उच्चारण मध्यम स्वर में होते हैं, वे स्वरित स्वर युक्त वर्ण होते हैं। स्वरित का लक्षण आचार्य पाणिनि के अनुसार 'समाहारः स्वरितः' है। साधारणतया वेदमन्त्र के प्रत्येक पद में कोई न कोई स्वर उदात्त अवश्य रहता है और शेष अनुदात्त होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वर्णों का भी वेद में प्रयोग होता है। जैसे–प्रचय। इसके अतिरिक्त स्वरित के आठ भेद होते हैं – जात्य, क्षैप्र, प्रचित, प्रश्लिष्ट, अभिनिहित, तैरोविराम, तैरोव्यञ्जन और ताथाभाव्यस्वरित। यह जो आठवाँ ताथाभाव्यस्वरित है, वह मात्र ऋग्वेद में ही प्रयुक्त होता है। यजुर्वेद में उसके स्थान पर कम्प का प्रयोग किया जाता है। उच्चारण में हाथ द्वारा वर्णों का जो संकेत किया जाता है शिक्षाग्रन्थ उसको भी बताते हैं। उदात्त स्वर की सूचक तर्जनी, प्रचय की मध्यमा, अनुदात्त की कनिष्ठिका और स्वरित की अनामिका है। अनुदात्त का स्थान हृदय को, स्वरित का कर्णमूल को और प्रचय का सम्पूर्ण मुख को समझना चाहिए और इसी प्रकार से इन स्वरवर्णे का उच्चारण करते समय हस्त–सञ्चालन करना चाहिए। मन्त्रों को लिपिबद्ध करते समय अनुदात्त को पड़ीपाई (–) और स्वरित को खड़ी पाई (।) से प्रदर्शित किया जाता है। उदात्त स्वर के लिए कोई चिन्ह नही है। प्रचय स्वर के लिए भी कोई चिन्ह नही होता परन्तु ध्यान देने की बात है कि किसी पद में अनेक अनुदात्त स्वर होने की दशा में उदात्त के बाद तुरन्त आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है और शेष अनुदात्त प्रचय के रूप में चिन्ह रहित पाये जाते हैं किन्तु अन्तिम अनुदात्त पर चिन्ह लगाकर प्रदर्शित कर दिया जाता है। जात्य स्वरित पर उदात्त और अनुदात्त दोनों चिन्हों का प्रयोग होता है।

वेद में स्वरों का महत्त्व विशेष रूप से हैं क्योंकि उनमें यदि स्वर परिवर्तित हो जायें तो अर्थ बदल जाता है। इसलिए मन्त्रोंच्चारण हेतु स्वरों का ज्ञान होना अनिवार्य है। महर्षि पाणिनि ने यह स्पष्ट कहा है कि जो मन्त्र स्वर और वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्या युक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ को प्रतिपादित नहीं करता अपितु वह वज्र बन कर यजमान का ही नाश कर देता है।

- मात्रा– वर्णों का दूसरा विभाग काल के आधार पर है। यह मात्रा के रूप में दिखाई पड़ता है। मात्रा से अभिप्राय है –वर्णों के उच्चारण में लगने वाला समय।

इसके तीन भेद हैं – ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। ये अच् (स्वर) के भेद हैं। जिस वर्ण के उच्चारण मेंएक मात्रा का समय लगता है, उसकी संज्ञा ह्रस्व होती है। जिन वर्णों के उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है, वे दीर्घ कहे जाते हैं। इसी प्रकार जिन वर्णों के उच्चारण में तीन मात्राएँ लगती हैं वे प्लुतसंज्ञक वर्ण हैं। इनके मध्य के अन्तर को उ, ऊ तथा उ३ के उच्चारण में लगने वाले समय के आधार पर समझा जा सकता है। वर्णमाला में वर्ण ह्रस्व हैं। जैसे – अ, इ, उ, ऋ और ऌ। इनके उच्चारण मेंएक मात्रा का समय लगता है।

आ, ई, ऊ, ॠ,ए, ओ,ऐएवं औ इनके उच्चारण में दो मात्राएँ लगती हैं। अतः ये दीर्घ वर्ण हैं। प्लुत के प्रयोग का उदाहरण है– ओ३म् अथवा पुकारते समय कृष्ण३! आगच्छ।

1.5.2 उच्चारण स्थान

वर्णों का तीसरा विभाग उच्चारण स्थान के आधार पर किया गया है। उच्चारण के समय वायु मुख के जिन स्थानों से टकराता हुआ बाहर निकलता है वे वर्णों के उच्चारण स्थान माने जाते हैं। पाणिनीय शिक्षाग्रन्थ में इनकी संख्या आठ हैं – उर, कण्ठ, तालु, मूर्धा, ओष्ट, जिह्वा, दन्त, नासिका आदि। ह जब ङ, ञ, ण, न, म और थ, व, रएवं ल के साथ उच्चरित होता है तब उसका उच्चारण स्थान उरः होता है और यह औरस्य कहालाता है किन्तु स्वतन्त्र होने पर ह और अ दोनों कण्ठ से उच्चरित होते हैं। इकार, चवर्ग, शकार तालु से, उकारएवं पवर्ग ओष्ट से, ऋकार और टवर्ग रकार और षकार मूर्धा तथा लकार त वर्ग और सकार दन्त से उच्चरित होते हैं। शिक्षग्रन्थ क वर्ग का उच्चारण स्थान जिह्वामूल, व का दन्त–ओष्ट,ए औरऐ का कण्ठतालु तथा ओ और औ का कण्ठ–ओष्ट बताते हैं। अनुस्वार और यमों का उच्चारण स्थान नासिका है।

1.5.3 प्रयत्न

उच्चारण में जो प्रयास करते हैं, उस आधार पर भी वर्णों विभाग हुआ है। ये प्रयत्न दो प्रकार के हैं–आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न। आभ्यन्तर प्रयत्न के पॉच भेद है–– स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत्, ईषत्विवृत, संवृत्त। बाह्य प्रयत्न केएकादश भेद हैं–विवार, संवार, श्वास, नाद,घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त अनुदात, स्वरित।

1.5.4 साम

साम का अर्थ है साम्य अर्थात् दोषरहित और माधुर्यादि गुण से युक्त उच्चारण। अक्षरों के उच्चारण करने में जो अनेक दोषएवं गुण उत्पन्न होते हैं। इनका शिक्षा ग्रन्थों में वैज्ञानिक रूप से वर्णन है।एक आदर्श पाठक के उच्चारण में माधुर्य, सभी अक्षरों का स्पष्ट कथन, पदों का विभाजन, स्वरयुक्त, धैर्य तथा लय का अनुगमन आदि गुण प्राप्त होने चाहिए। इसके विपरीत अधम पाठक दोषपूर्ण उच्चारण करने वाले, सिर हिला–हिला कर पाठ करने वाले और वर्णों को गान वाले होते हैं। ये वर्णों का शीघ्रतापूर्वक उच्चारण करते हैं। लिखा हुआ देखकर पढ़ते हैं, अर्थ ज्ञान के बिना और संकुचित कण्ठ से पढ़ते हैं।

- सन्तान

इस शब्द का अर्थ है– संहिता अर्थात् पदों की अतिशय सन्निधि। पदों का स्वतन्त्र अस्तित्व रहने पर कभी कभी दो पदों का आवश्यकतानुसार शीघ्रता सेएक

के अनन्तर उच्चारण होता है। इसे ही संहिता कहते हैं। संहिता होने पर ही पदों में सन्धि होती हैं। उदाहरण के लिए 'वायो आयाहि' में दो स्वतन्त्र वैदिक पद हैं। जबएक ही वाक्य में दोनों का साथ–साथ उच्चारण होता है, तब संधि के कारण इनमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। पूर्व उदाहरण के लिए सन्धि जन्य रुप वाय वायाहि होगा। इन सन्धियों सम्बन्धी नियमों का वर्णन भी प्रातिशाख्यग्रन्थों में प्रधानता से हुआ है।

शिक्षा वर्णो के उत्तम ढंग से उच्चारण के लिए वर्ण के स्थान, प्रयत्न, वर्णों की संख्या और प्रकृति सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान प्रदान करती है। यहाँ पर उच्चारण के उचित विधि पर बहुत बल दिया गया है। किसी भी वर्ण का उच्चारण ठीक उसी प्रकार करना चाहिए, जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे को दाँतों से पकड़ती है वि बच्चे न तो गिरते हैं और न हि उन्हें दाँत गड़ते हैं।

वेदाङ्ग व्याकरण –

1.6 व्याकरण का स्वरूप

व्याकरण वेदपुरुष का मुख है। जिस प्रकार शरीर में मुख का प्रमुख कार्य होता है – शब्दों का उच्चारण अथवा बोलना उसी प्रकार व्याकरणशास्त्र का कार्य शब्दों को उत्पन्न करना है। इसीलिए व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति–''व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन इति'' अर्थात् शब्द इसके द्वारा बनाये जाते हैं। इसलिए शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्ऐसा कहते हैं। व्याकरणशास्त्र के आचार्यों ने सर्वप्रथम मूलशब्द के रूपों को अलग किया। पुनः धातु और प्रत्यय के भेद को पहचाना। तत्पश्चात् प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय करके उसकी प्रक्रिया निर्धारित की। इस प्रकार व्याकरणएक शास्त्र के रूप में हमारे सम्मुख आता है। सर्वप्रथम देवगुरुबृहस्पति ने 'शब्दपारायण' नामक ग्रन्थ की रचना की,ऐसा महर्षि पतञ्जलि अपने ग्रन्थ महाभाष्य में बताते हैं किन्तु इन्द्र रचित ''ऐन्द्र व्याकरण'' व्याकरण शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है परन्तु इसका उल्लेख देवबोध रचित महाभारत की टीकाएवं तिब्बतीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त वायु, भारद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, शान्तनु, वैयाघ्रपद्य, माध्यन्दिनी, रौढि, शौनकि, गौतम, व्याडि, आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक, स्फोटायन और औदुम्बरायण इत्यादि ये सभी महर्षि पाणिनि के पूर्ववर्ती व्याकरणाचार्य हैं जिन्होंने व्याकरण शास्त्र को समृद्ध करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है इसमें कोई सन्देह नहीं है कि महर्षिपाणिनि संस्कृत व्याकरणशास्त्र के सबसे प्रतिष्ठित आचार्य हैं। इन्होंने भाषा निर्माण सम्बन्धी नियमों का अत्यंत सूक्ष्मतापूर्वक वर्णन अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में किया है। इसका परिणाम यह है कि अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्र के सबसे बड़े मार्गदर्शक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। इसमें बताए गए नियमों को उनके बाद के संस्कृत के सभी रचनाकारों ने स्वीकार किया है। इसकी उत्कृष्टता के कारण महाभाष्यकारपतञ्जलि ने .पाणिनि को भगवान् कह कर सम्बोधित किया हैं। बहुत से आचार्यों द्वारा अष्टाध्यायी में सूत्रों की संख्या चार हजार मानी हैं लेकिन कारिका नामक ग्रन्थ और सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार सूत्रों की संख्या 3983 है। अष्टध्यायी के सूत्रों में अनेक आचार्यों ने आवश्यकतानुसार संशोधन किया है। व्याकरणशास्त्र में यह संशोधन वार्तिक नाम से प्रसिद्ध है। इन वार्तिककारों में वररुचि कात्यायन का नाम सबसे प्रसिद्ध है। कात्यायन अष्टाध्यायी के योग्यतम व्याख्याता हैं। वार्तिक रचकर उन्होंने, सूत्रों को समझने की नई दृष्टि प्रदान की। उनके द्वारा रचित वार्तिकों की

संख्या–4263 है। पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखे जाने के पश्चात् महर्षिपतञ्जलि ने अध्याध्यायी परएक महती व्याख्या लिखी, जो महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने पाणिनीय – सूत्रोंएवं उन पर लिखे वार्तिकों की विवेचना की है। इस विवेचना के अन्तर्गत सूत्रों से सम्बन्धित अपने विचारों को भी प्रकट किया है। महाभाष्य में कुल 84 आह्निक हैं। पातञ्जल महाभाष्य के 84 आह्निक विद्यार्थियों को पढ़ाये गए 84 दिन के पाठ हैं। इसमें अष्टाध्यायी के लगभग1689 सूत्रों पर भाष्य किया गया है। महाभाष्य के बाद व्याकरण दर्शन का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ वाक्यपदीय है। इसके रचयिता भतृहरि थे। वाक्यपदीय में व्याकरणशास्त्र का दार्शनिक स्वरूप प्रकट हुआ है। भर्तृहरि की दृ ष्टि में ध्वनि अर्थात् स्फोट हीएकमात्र परम तत्व है और जगत उसी का रूपांतर है। अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तियाँ लिखी गई हैं। इसमें जयादित्य और वामनरचित काशिका वृत्ति अष्टाध्यायी की सर्वमान्य व्याख्या है। जयादित्य ने पाँच अध्यायों और वामन ने अन्तिम तीन अध्यायों की व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त दुर्घटवृत्ति, प्रक्रिया दीपिका, मिताक्षरा 'सूत्रप्रकाश , व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि और भट्टोजिदीक्षित द्वारा अष्टाध्यायी पर शब्दकौस्तुभ नाम की महती वृत्ति लिखी गई है।

विद्वानों का कहना है कि अष्टाध्यायी की रचना का मूल उद्देश्य शब्दों की सिद्धि करना था। राजा शर्ववर्मा ने अपने लोगों के संस्कृत –भाषासम्बन्धी अज्ञान को दूर करने के लिए कातन्त्रव्याकरण नामक सम्प्रदाय की नीव डाली। इसका प्रमुख लक्ष्य संस्कृत का व्यवहारिक ज्ञान था । यह सम्प्रदाय शब्दों की प्रक्रिया शैली का प्रचार करता था। प्रक्रिया–शैली में रचित धर्मकीर्तिकृत रूपावतार, रामचन्द्र की प्रक्रियाकौमुदी तथा भट्टोजिदीक्षित की सिद्धांतकौमुदी आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमें सिद्धांतकौमुदी के अन्तर्गत मुनित्रय के सिद्धांतों का समावेश करते हुए, शब्दों की सिद्धि–प्रक्रिया का वर्णन है। इस प्रक्रिया–ग्रन्थ की प्रमुख टीकाओं के नाम है–तत्वबोधिनी, बालमनोरमा, सुखबोधिनी, तत्वदीपिका, रत्नाकर, इत्यादि।

1.7. व्याकरण का प्रयोजन

आप जानते है कि व्याकरणशास्त्रएक वेदाङ्ग है। इसका प्रमुख प्रयोजन वेद –मन्त्रों का शुद्ध वाचनएवं अर्थबोध कराना है। महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण महाभाष्य में प्रयोजनों का दो प्रकार से कथन किया हैं– मुख्य प्रयोजन और गौण प्रयोजन । महाभाष्य की टीका लिखने वाले आचार्यों का मानना है कि महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम सूत्र द्वारा ही व्याकरणशास्त्र के सामान्य प्रयोजन का कथन कर दिया है। यह सूत्र है–'अथ शब्दानुशासनम्' अर्थात् शब्दों का अनुशासन करने वाला शास्त्र। इस सूत्र से यह निश्चित होता है कि लोक में प्रचलित सभी सार्थक शब्द चाहे वह लौकिक अथवा वैदिक भाषा के शब्द हों, उनका अनुशासन करना अर्थात् उनमें प्रकृति और प्रत्यय का ज्ञान कराना तथा उन शब्दों के निर्माण प्रक्रिया को बताना ही व्याकरण शास्त्र का सामान्य प्रयोजन है और मुख्य प्रयोजन हैं– रक्षा, उह, आगम, लघु और असन्देह।

1.7.1 रक्षा

वेदों की रक्षा व्याकरण का प्रमुख प्रयोजन है। मन्त्रों में वर्णों के लोप, आगम तथा वर्ण –विकार को भली–भाँति जानने वाला ही वेदों की रक्षा कर सकता है। यह ज्ञान व्याकरण के अध्ययन से होता है। जिसको व्याकरण का ज्ञान नहीं होगा उसे लोक में शब्दों का प्रयोग करते समय वर्ण का लोप और आगम नहीं दिखाई न देने के कारण जब वेदों में वर्णों के लोप और आगम का दर्शन होगा, तो वह भ्रम में पड़ जाएगाऐसी

स्थिति में व्याकरण का ज्ञान न होने के कारण उसमें पाठांतर की कल्पना करने लगेगा। जिससे महान अनर्थ हो जाएगा। किंतु व्याकरण पढ़नेवाला व्यक्ति भ्रम में नहीं पड़ता और उसे वेदार्थ का ज्ञान भली–भाँति हो जाता है। इस प्रकार वेदों के मूल –भाव की रक्षा व्याकरण के अध्ययन से सम्भव है।

1.7.2 ऊह

रक्षा के बाद ऊह दूसरा मुख्य प्रयोजन है। ऊह का अर्थ है–विभक्तिओं में परिवर्तन। वेद में जो मंत्र पढ़े गए हैं, उनमें प्रयुक्त पद सभी लिंगोएवं सभी विभक्तिओं में नहीं हैं।ऐसी दशा में यज्ञ आदि अनुष्ठानों में व्याकरण जानने वाला व्यक्ति को मंत्रों में प्रयुक्त पदों में आवश्यकतानुसार लिंङ्गएवं वचन के अनुसार विभक्ति–परिवर्तन करना पड़ता है। जिसको व्याकरण का ज्ञान नहीं है, वह उन मंत्रों में उचित ढंग से लिंङ्गो और विभक्तियों का प्रयोग करने में समर्थ नहीं होगा। इसलिए मंत्रों में उचित लिंङ्ग और विभक्ति प्रयोग का ज्ञान भी व्याकरणशास्त्र का महत्वपूर्ण प्रयोजन है।

1.7.3 आगम

साक्षात् वेद और परम्परागत ज्ञान को आगम कहते हैं। इस दृष्टि से यह वेद भी स्वयं व्याकरण का प्रयोजन है। ब्रह्मचारी को किसी दृष्ट कारण की अपेक्षा किए बिना ही षड्वेदाङ्गो सहित वेद का अध्ययन परम कर्तव्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए।ऐसा श्रुति कहती है। वेदों के उन छह अङ्गों में मुख्य अङ्ग व्याकरण स्वयं है।ऐसे मे आगम को प्रयोजन बता कर महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण के अध्ययन को अनिवार्यघोषित किया है।

1.7.4 लघु

भाषा का प्रयोग करते समय लघुता व्यवहार में आ जाए, इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। वाक्य निर्माणएवं पद निर्माण आदि कार्यें के लघु प्रयोगों में कुशलता प्राप्त करना भी व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन है।

1.7.5 असन्देह

महर्षि ने व्याकरण का प्रयोजन असन्देह को भी बताया क्योंकि वैयाकरण को सन्देह नहीं होता। भाषा में या वेद में प्रयुक्त पदों के प्रयोग और उनके अर्थ को भलीभाँति समझने के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। उदाहरण के लिए स्थूलपृषती का अर्थ अलग–अलग समास करने पर दो प्रकार से निकलता है । कर्मधारय समास करने पर मोटी और बिन्दुओं वाली गौ और बहुब्रीहि समास करने पर स्थूलपृषती का अर्थ –जिसके शरीर पर मोट–मोटे बिन्दु हैं,ऐसी गौ। अब मन्त्र में स्थूलपृषती का अर्थ कर्मधारय के अनुसार होगा या बहुब्रीहि समास के अनुसार, इसका ज्ञान व्याकरण पढ़ने से होता है। पाणिनि के अनुसार यदि समास के अन्त में उदात्तस्वर होगा तो वहाँ तत्पुरुष समास होगा और यदि पूर्वपदप्रकृति स्वर होगा तो बहुब्रीहि समास होगा। इस प्रकार प्रसङ्गानुसार अर्थ–बोध के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

इन प्रयोजनों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रयोजन भी महर्षि पतञ्जलि ने बताये हैं। वे तेरह प्रयोजन वैदिक आख्यानोंएवं मन्त्रों से जुड़े हुए हैं। जिनसे साधु शब्दों के प्रयोग का महत्व ज्ञात होता है। इस प्रकार साधु शब्दों का ज्ञान ही व्याकरण काएकमात्र प्रयोजन है। वाक्यपदीय के रचनाकार भतृहरि के अनुसार ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वेद का ज्ञान अनिवार्य है और वेद का ज्ञान व्याकरण के बिना नहीं हो सकता। उन्होंने

महर्षि पतंजलि के द्वारा बताए गए व्याकरण के प्रयोजनों का समर्थन किया है। और उनको ध्यान में रखकर व्याकरण के अध्ययन का निर्देश दिया है। व्याकरण थोड़े से परिश्रम में अधिक शब्दों का ज्ञान कराता है। लोक में जितने व्यवहार हैं, सभी शब्द द्वारा ही चलते हैं। व्याकरण शब्दों के अर्थ ज्ञान में सन्देह को दूर करता है अतः व्याकरण का अध्ययन अज्ञान–निवृत्ति के लिए आवश्यक है। वाणी मोक्ष का उपाय है। अपशब्द बोलने से पाप उत्पन्न होता है। अतः यह शास्त्र वाणी की चिकित्सा करता है। यह सभी विद्याओं में पवित्रएवं साधु शब्दों को बताने के कारण आदरणीय है। लोक में काव्य इत्यादि जितनी भी विधाएं हैं उन सब के लिए व्याकरण शक्ति ग्राहक का कार्य करता है। यह लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों के लिए शक्ति –ग्रह है। अतः व्याकरण का अध्ययन वेद ज्ञान के द्वारा मोक्ष पाने के लिए आवश्यक है। अतः परम्परा से व्याकरण भी मोक्ष का साधन है। मोक्ष को पाने के लिए जितनी भी सीढ़ियां है, व्याकरण उनमें प्रथम सीढ़ी है।ऐसा आचार्य स्वीकार करते हैं क्योंकि व्याकरण का ज्ञान हो जाने से शब्द के विषय में बुद्धि–भ्रम दूर हो जाता है और मनुष्य को साधु शब्दों का ज्ञान हो जाता है।ऐसी स्थिति में आत्मा वेदमन्त्रों का ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है।

1.8 व्याकरणशास्त्र का प्रतिपाद्य

व्याकरणशास्त्र की विशाल परम्परा रही है, जिसके अन्तर्गत पाणिनि का अष्टाध्यायी अग्रगण्य है। यह खेद का विषय है कि उनके पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की रचनाएं लगभग नष्ट हो चुकी हैं। पाणिनि ने इन आचार्यो के सम्बधित नियमों को उनके नाम से अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। अष्टाध्यायी में लगभग 4000 सूत्र हैं। यह आठ अध्यायों में विभाजित है तथा प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है –

1.8.1 प्रथम अध्याय

इस अध्याय में व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी संज्ञाएं तथा परिभाषाएं हैं। इनमें पूर्ववर्ती .शास्त्रों में प्रयुक्त संज्ञाएं, प्रत्ययसम्बन्धी संज्ञाएं और धातुसंज्ञाओं को करने वाले सूत्रों का उल्लेख है। कुछ संज्ञाओं के सूत्र भाषा में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जैसे– अए, ओ की गुणसंज्ञा होती है–अदेङ् गुणः। आ,ए, औ की संज्ञा वृद्धि है – वृद्धिरादैच्। 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' अर्थात् धातु प्रत्यय और प्रत्यययुक्त शब्दों के अतिरिक्त सभी अर्थयुक्त शब्दों की प्रतिपादिक संज्ञा होती है। इन संज्ञाओं का प्रयोग व्याकरण प्रक्रिया में होता है।

1.8.2 द्वितीय अध्याय

विशिष्ट पदों का संकलन इस अध्याय का मुख्य विषय है। जिसके अन्तर्गत समासों का विस्तृत विवेचन तथा कारकों की व्याख्या है। इसमें समासरुप पदविशिष्ट का विवेचन है। सर्वप्रथम पूर्वपद प्रधानता वाले अव्ययीभाव समास उसके बाद उत्तरपद प्रधानता वाले तत्पुरुष समास तथा तत्पुरुष के बाद बहुब्रीहि समास का वर्णन है। उभयपद प्रधान द्वन्द्वसमास का उल्लेख अन्त में है। समास के उपरान्त विभक्तियों का वर्णन है।

1.8.3 तृतीय अध्याय

यहाँ पर कृदन्त –प्रकरण का उल्लेख है। इसके दो विभाग है– कृत्य प्रत्यय और कृत् प्रत्यय। यह प्रकरण धातु से नाम की उत्पत्ति का विधान करता है।

1.8.4 चतुर्थएवं पञ्चम अध्याय

इनमें तद्धित प्रकरण है। इस प्रकरण में नामसे नाम की उत्पत्ति का विवेचन है। यहीं पर स्त्री प्रत्ययों की भी चर्चा है। तद्धित प्रकरण के दो भेद हैं–अस्वार्थिक और स्वार्थिक तद्वितप्रत्यय । चतुर्थ अध्याय में तीन तद्धितप्रत्ययों का मुख्य रूप से वर्णन है– अण् , ठ्क् और यत् तथा पञ्चम अध्याय में छ, ठक, और ठञ् प्रत्ययों का उल्लेख है।

1.8.5 षष्ठ अध्याय

इस अध्याय में पहले प्रकृति अर्थात् धातुसम्बन्धी कार्यों का तथा बाद में प्रत्यय सम्बन्धी कार्यों का उल्लेख है। इनके अन्तर्गत सम्प्रसारण, आगम, आदेश इत्यादि प्रक्रिया विधि बताये गये हैं। स्वरविधि का भी वर्णन है। इस अध्ययाय में तिङ् और सुप् प्रत्ययों से सम्बधित प्रक्रिया का विवेचन है।

1.8.6 सप्तम अध्याय

यह अध्याय मुख्य रूप से प्रत्यय सम्बन्धीकार्यों का विवेचन करता है। प्रत्यय कार्यों के साथ आगमों का भी उल्लेख है। विप्रतिषेध सम्बन्धी कार्यों का वर्णन भी यहीं पर है।

1.8.7 अष्टम अध्याय

इसमें वर्णों के द्वित्व–विधि का वर्णन है। पुनः पदस्वर प्रक्रिया कथित है। पूर्वत्रासिद्धम नामक प्रसिद्ध सूत्र यहीं है। इस अन्तिम अध्याय में सन्धि प्रक्रिया सम्बन्ध सूत्र हैं।

संक्षिप्तता व्याकरणसूत्रों की प्रमुख विशिष्टता है। वैयाकरण विषयों को संक्षेप रुप से प्रस्तुत करने के लिए इतने प्रसिद्ध है कि उनके लिए कहा जाता है कि यदि विषय का प्रतिपादन करने में ये अर्ध मात्रा का कम प्रयोग करने में सफल हो जाते हैं तो इस प्रकार उत्सव मनाते हैं, मानों उनकेघर पुत्र का जन्म हुआ हो। आचार्य पाणिनि ने अपने ग्रन्थ को संक्षिप्त करने के लिए प्रत्याहार, अनुबन्ध, गण, संज्ञाएं, अनुवृत्ति और स्थान–स्थान पर अनेक सूत्रों केएक साथ प्रभावी होने पर पूर्वत्रासिद्धम् सदृश नियमों की (परिभाषाओं) स्थापना की है। व्याकरण शास्त्र के विषय–वस्तु के बोध के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है क्योंकि ये व्याकरण की कुञ्जी हैं।

1.8.8 प्रत्याहार

प्रत्याहर संक्षेप कथन को कहते हैं। प्रत्याहारों का निर्माण माहेश्वर सूत्रों द्वारा होता है। इन्हें संस्कृत वर्णमाला भी कह सकते हैं– अइउण् ।१। ऋलृक् ।२।एओङ् ।३।ऐऔच् ।४। हयवरट् ।५। लण् ।६। ञमङणनम् ।७। झभञ् ।८।घढधष् ।६। जबगडदश्।१०। खफछठथचटतव् ।११। कपय् ।१२। शषसर् ।१३। हल् ।१४।

इन माहेश्वर सूत्रों के विषय मेंऐसी प्रसिद्धी है कि ये भगवान् शिव के डमरू से निकले हैं। इन सभी सूत्रों के अन्तिम वर्ण हल् (व्यञ्जन) हैं और इत् कहलाते हैं। प्रत्याहार बनाते समय प्रथम वर्ण के साथ इनका उपयोग किया जाता है। जैसे –अल् , हल् इत्यादि। अल् प्रत्यय के अन्तर्गत प्रथम सूत्र के अ से लेकर अन्तिम सूत्र के ल तक के सभी वर्ण आ जाते हैं। इनके मध्य के वर्णों की गणना करते समय सभी इत् संज्ञक वर्णों को छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार हल् प्रत्याहार के अन्तर्गत है वर्ग के ह से लेकर अन्तिम सूत्र के इत् संज्ञक वर्ण ल तक के सभी वर्ण आ जाते हैं। हल् प्रत्याहार में सभी व्यञ्जन वर्ण आते हैं। इसी प्रकार अच् प्रत्याहार में सभी स्वरवर्ण आ जाते हैं। अइउण् से अ औरऐऔच् से च् को लेकर अच् प्रत्याहार बनता है। यह अच् प्रत्याहार

अन्तिम हल् वर्णों को छोड़ कर शेष स्वर वर्ण – अ, इ, उ, ऋ, लृ,ए, .ओ,ए, औ का बोधक है। सामान्य रूप से माहेश्वर सूत्र से 42 से 44 प्रत्याहार तक मिलते हैं। माहेश्वर सूत्र से निर्मित अच् प्रत्याहार में कुल नौ स्वरवर्ण हैं। हल् प्रत्याहार में कुल तैंतीस वर्ण हैं।

व्यञ्जन वर्णों में – क ख, ग,घ,

च, छ, ज, झ

ट, ठ, ड, ढ

त, थ, द, ध

प, फ, ब, भ इनकी स्पर्श संज्ञा है।

सभी वर्गों के पांचवे वर्ण–ञ् म ङ ण, न ये अनुनासिक संज्ञक हैं।

य, व, र, ल अन्तस्थ और श ष स ह ये ऊष्म संज्ञक वर्ण हैं।

1.8.9 अनुबन्ध

व्याकरण प्रक्रिया में अनुबन्ध का महत्वपूर्ण योगदान है। ''इत्संज्ञायोग्यत्वम् अनुबन्धत्वम्'' जो अक्षर इत् होते हैं उनका लोप हो जाता है। यथा– माहेश्वर सूत्रों के अन्तिम वर्ण। इसी प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्रों में स्थान – स्थान पर अनुबन्ध प्राप्त होते हैं। यद्यपि इत्संज्ञक होने से लोप हो जाता है फिर भी उन वर्णों का व्याकरण प्रक्रिया में उपयोग होता है। जैसे– व्याकरण के अनुसार जिन प्रत्ययों में ष् इत्संज्ञक है, उनसे बनने वाले शब्द को स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए ङीष् प्रत्यय का प्रयोग होता है। किसी पुल्लिङ्ग को स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए ङीप् और ङीष् दोनों के प्रयोग का नियम है। उदाहरण के लिए रजक से रजकी बनाने के लिए ङीष् प्रत्यय का प्रयोग करेंगें क्योंकि रञ्ज धातु से ष्वुन् प्रत्यय करने पर पुल्लिङ्ग में रजक शब्द बनता है। यहाँ पर रजक शब्द बनाते समय ष्वुन् प्रत्यय से ष् की इत्संज्ञा होकर उसका अनुबन्ध लोप हुआ है। इसलिए रजक से ङीष् लगा कर रजकी शब्द बनेगा। अनुबन्ध इत्संज्ञक होकर इस प्रकार कार्य करते हैं।

1.8.10 गणपाठ

अष्टाध्यायी में गणपाठ के द्वारा शब्दों के उत्पत्ति प्रक्रिया को संक्षिप्त किया गया है। जहाँ पर कईऐसे शब्द हैं जिनमेंएक ही प्रत्यय का प्रयोग करना हो याएक प्रकार की व्याकरण प्रक्रिया करनी हो, तो उन सब काएक गण बना कर उस गण के प्रथम शब्द को लेकरएक सूत्र बना दिया गया है तथा उसके समान शब्दों की सूची दे दी गई है।

1.8.11 अनुवृत्ति

छोटे छोटे सूत्रों की रचना द्वारा व्याकरण प्रक्रिया को संक्षिप्त करने में अनुवृत्ति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आचार्य पाणिनि प्रारम्भ के सूत्रों में जिन पदों का प्रयोग कर चुके होते हैं उन पदों की अगले सूत्र में पुनरावृत्ति नहीं करते। जो पद अगले सूत्र में आवश्यक होता है उस पद का, पूर्वसूत्र से अनुवर्तन कर लेते हैं। व्याकरण में इस नियम को अनुवृत्ति कहते है। पाणिनि ने कुछऐसे सूत्र भी बनाये हैं जिनका अलग से कोई अर्थ नहीं होता है लेकिन परवर्ती प्रत्येक सूत्र से जुड़ने पर उनका अर्थ प्रकट होता है।ऐसे सूत्र अधिकार सूत्र कहे गये हैं। इस प्रकार केएक सूत्र का अनुवर्तन तब तक होता रहता है जब तक अगला अधिकार सूत्र नहीं आ जाता।

1.9 सारांश

वेद के सभी छह अङ्गों में शिक्षाएवं व्याकरण दोनों का प्रमुख स्थान है। शिक्षा को वेदरूपी पुरुष की नासिका तथा व्याकरण को मुखस्थानीय महत्व प्राप्त है। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में ही ये वेदाङ्ग अस्तित्व में आ गए थे। शिक्षा नामक वेदाङ्ग के अन्तर्गत दो प्रकार के ग्रन्थ विद्यमान हैं– प्रातिशाख्य और शिक्षाग्रन्थ। इन ग्रन्थों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है– मन्त्रों के उच्चारण–प्रक्रिया को उन्नत बनाना। प्राचीन से ले कर अर्वाचीन काल तक के आचार्यों का दृढ़ मत हैं कि वैदिक मन्त्रों के सम्यक् उच्चारण में ही उनकी सार्थकता है। यह भी महत्वपूर्ण है कि वेद के सभी शाखाओं की उच्चारण सम्बन्धी कुछ मूल विशिष्टतायें होती थी जिन्हें उस शाखा के अध्येता को जानना अनिवार्य होता था। सभी वेदों के अपने–अपने प्रातिशाख्य ग्रन्थ हैं, जो उच्चारण प्रक्रियाएवं स्वर नियमों का प्रतिपादन करते हैं। वर्तमान में ऋग्वेद काएकमात्र प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध है। जिसके रचयिता आचार्य शौनक हैं। वाजसनेयिप्रातिशाख्य शुक्ल यजुर्वेद के दोनों शाखाओं के उच्चारण–नियमों को प्रतिपादित करने वालाएकमात्र प्रातिशाख्य है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य सभी कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं का प्रतिनिधित्व करता है। सामवेद के तीन तथा अथर्ववेद के दो प्रातिशाख्य वर्तमान में उपलब्ध हैं। शिक्षा ग्रन्थ अपनी–अपनी शाखा सम्बन्धी संहिताओं के वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं। वर्तमान में कुल चौंतीस शिक्षाग्रन्थ उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में वेद–मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण पर अत्यधिक बल दिया जाता था। इस बात के अनेक उदाहरण हैं कि उच्चारण में स्वर बदलते ही मन्त्र का अर्थ बदल जाता है जिसके परिणाम स्वरूप यजमान का उत्कर्ष के स्थान पर अपकर्ष होजाता है। शिक्षा की भॉति व्याकरण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण वेदाङ्ग है। वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन परम आवश्यक है। पाणिनीय व्याकरण के अन्तर्गत सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ तथा लिङ्गानुशासन के साथ–साथ कात्यायन रचित वार्तिकएवं महर्षि पतंजलि का महाभाष्य सम्मिलित है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार व्याकरण के आदि प्रवक्ता ब्रह्मा हैं। संस्कृत वाङ्मय में कुल नौ व्याकरण परम्पराओं का उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें पाणिनीयव्याकरण सर्वोत्कृष्ट हैं। 'ऐन्द्र व्याकरण' चान्द्र व्याकरण काशकृत्स्नव्याकरण, कौमारव्याकरण, शाकटायनव्याकरण, सारस्वतव्याकरण, आपिशालिव्याकरण, शाकलव्याकरण और पाणिनीयव्याकरण। अष्टाध्यायी सूत्रशैली में लिखा गया ग्रंथ है। इसमें लगभग चार हजार सूत्र हैं तथा दो हजार धातुओं की गणना है। सूत्रों की विशेषता होती है कि ये कम शब्दों में अधिक अर्थ बताने की क्षमता रखते हैं। इनमें सन्देह का अभाव होता है, प्रकरण को साररूप में प्रकट करते हैं तथा आवश्यक सभी स्थानों परघटित होते हैं। अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र वृद्धिरादैच् है और अन्तिम सूत्र 'अ अ' है ' इस ग्रन्थ में जो कमियाँ आचार्य वररुचि कात्यायन को दिखी उनपर उन्होंने वार्तिकों की रचना की। जो आचार्य पाणिनि द्वारा बताया गया अथवा छूट गया अथवा दोषपूर्ण बताया गया उन सभी पर कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की है। सूत्र और वार्तिकों की व्याख्या करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरणमहाभाष्य नामक ग्रन्थ लिखकर अष्टाध्यायी के सूत्रों को पुनः प्रतिष्ठित किया। इन मुनित्रय के सिद्धान्तों के आधार पर भट्टोजिदीक्षित ने वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी नामक प्रक्रिया ग्रन्थ की रचना की। इनके शिष्य वरदराजाचार्य ने सारसिद्वान्त कौमुदी, मध्यसिद्धान्त कौमुदी और लघुसिद्धान्त कौमुदी की रचना की, जिनमें अष्टाध्यायी के 1275 सूत्रों का वर्णन है। यही ग्रन्थ वर्तमान में व्याकरणशास्त्र के रुप में छात्र–छात्राओं को पढ़ाये जाते हैं।

प्रकृतिएवं प्रत्यय के अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन व्याकरण नामक वेदाङ्ग प्रस्तुत करता है। शब्दों का अनुशासन करना व्याकरणशास्त्र का सामान्य प्रयोजन है। महर्षि पतञ्जलि ने रक्षा, उह, आगम, लघु और असन्देह इन पाँच को व्याकरण के प्रमुख प्रयोजन बतायें हैं। वेद के छह अंङ्गो में व्याकरण प्रधान है। परब्रह्म की प्राप्ति के लिए वेद का ज्ञान अनिवार्य है और वेद का ज्ञान व्याकरण के अभाव में सम्भव नहीं है। व्याकरण का अध्ययन लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के फलों को प्रदान करने के कारण उत्तम तप माना गया है। इसलिए व्याकरण का ज्ञान सभी के लिए अपरिहार्य है।

1.10 पारिभाशिक शब्दावली

प्रातिपदिक – जिसमें सुप् प्रत्यय अथवा तिङ् प्रत्यय लगता है,ऐसे सभी सार्थक शब्द जो न तो धातु होते हैं और न ही प्रत्यय।

सम्प्रसारण – य,व,र,ल के स्थान पर क्रमशः इ, उ, ऋ और लृ का प्रयोग सम्प्रसारण कहलाता है।

यम – वर्गों के आदि चार वर्णों में से किसीएक से परे किसी भी वर्ग की पञ्चम वर्ण आए तो उनके मध्य पर्वू वर्ण के सदृश जो ध्वनि होती है, उसे यम कहते हैं। यथा – पलिक्नीः, चख्नधुः, जग्मतुः और जध्न्थुः।

पद – शब्द अथवा धातु से जब प्रत्यय लग जाते हैं तब वे पद बन जाते हैं। संस्कृतभाषा में पदों का ही प्रयोग होता है। जैसे –राम शब्द है और रामः पद। इसी प्रकार गम् धातु है और गच्छति पद।

वृत्ति – पद जब अपना मूल अर्थ पूर्ण रूप या आंशिक रूप से छोड़कर, किसी विशिष्ट अर्थ को बताने लगता है तब उसे वृत्ति कहा जाता है। ये पांच होते हैं – कृदन्तवृत्ति, तद्धित्वृत्ति, समासवृत्ति,एकशेषवृत्ति और सनाद्यन्तवृत्ति।

वैयाकरण – व्याकरणशास्त्र के मूर्धन्य आचार्यों का उल्लेख इस संज्ञा पद से होता है।

वर्णलोप – विद्यमान वर्ण का न दिखाई देना लोप कहलाता है।

वर्णविपर्यय– कई बाद शब्दों का उच्चारण करते समय वक्ता उन शब्दों में स्थित वर्णों के क्रम में परिवर्तन कर देते हैं। इस प्रवृत्ति को वर्णविपर्यय की संज्ञा प्राप्त है।

आगम – उच्चारण के समय मुख सुख के लिए अथवा व्याकरण के नियमानुसार शब्दों में अतिरिक्त वर्ण जोड़ने को आगम कहते हैं।

अन्तेवासी – गुरुकुल में पढ़ने वाला छात्र।

अर्थवाद – वेद की प्रशंसा करने वाले वाक्य।

1.11 बोधप्रश्न

1– शिक्षा नामक वेदांग के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

2– प्रातिशाख्य ग्रन्थों के प्रतिपाद्य का वर्णन करते हुए प्रमुख प्रातिशाख्य ग्रन्थों का परिचय दीजिए।

3– प्रमुख शिक्षा ग्रन्थों का उल्लेख कीजिए।

4– वेदाङ्ग–शिक्षा के प्रयोजनों का निरूपण कीजिए।

5– व्याकरण शास्त्र के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

6– पतञ्जति के अनुसार व्याकरण के प्रयोजनो पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

1.12 सन्दर्भग्रन्थ –सूची

1– अष्टाध्यायी, पाणिनि।

2– वेदाङ्ग द्वितीय खण्ड, संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास , उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान द्वारा प्रकाशित, लखनऊ . 1997

3– वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी चौखम्भाप्रकाशन, वाराणसी

4– लघु सिद्वान्त कौमुदी चौखम्भा प्रकाशन 'वाराणसी ।

5– वैदिक साहित्यएवं संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, प्रकाशन ' वाराणसी–1993

6– संस्कृत व्याकरण प्रवेशिका, डॉ बाबू राम सक्सेना, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

इकाई 2 निरुक्त का प्रयोजन एवं उसका प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप –

- वेदाङ्ग निरुक्तशास्त्र एवं उससे सम्बन्धित आचार्यों से भली–भाँति परिचित हो जाएंगे।
- निरुक्त शास्त्र के सभी प्रयोजनों से अवगत हो जाएंगे।

- नाम, आख्यात, उपसर्गएवं निपात इन चारों पद–विभागों एवं भाव के छह विकारों को समझ जायेंगे।
- निर्वचन के सभी सिद्धान्तों से अवगत हो जाएंगे।
- वैदिक देवताओं के स्वरूप से परिचित हो जाएंगे।
- महत्वपूर्ण वैदिक आख्यानों से अवगत हो जायेंगे।

2.1 प्रस्तावना

आप जानते हैं कि, वेदाङ्ग में दो शब्द हैं – वेद और अङ्ग। वेद के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद अपने–अपने मन्त्रभाग, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकएवं उपनिषदों के साथ आते हैं तथा अङ्ग उन्हें कहते हैं – जिनके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता प्राप्त होती है। इसलिए सम्पूर्ण वेद का अर्थ जानने में तथा उनमें वर्णित यज्ञादि–अनुष्ठानों को सम्पन्न कराने में जो शास्त्र उपयोगी हैं, उन्हें वेदाङ्ग कहते हैं। वेद मन्त्रों के शुद्ध उच्चारणएवं वास्तविक अर्थ–ज्ञान के लिए आचार्यों ने इन वेदाङ्गों का निर्माण किया था। इनके छह अङ्गों शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष में निरुक्त श्रोत्र–स्थानीय है क्योंकि इसके अध्ययन के बिना मनुष्य कानों के रहते हुए भी वेद में स्थित अर्थ को जानने और समझने की दृष्टि से बधिर ही है। जन–साधारण को मन्त्रों में स्थित केवल भौतिक अर्थ का ही बोध होता है, लेकिन उन्हें मन्त्रों में स्थित आधिदैविक और आध्यात्मिक–अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिए वेदार्थ को ठीक से समझने के लिए निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है। आचार्य सायण ने निरुक्त के दो लक्षण बतायें हैं। पहले लक्षण के अनुसार–शब्दों से अर्थ निकालने के लिए पदों के समूह का जहाँ स्वतन्त्ररुप से कथन किया गया है, उस वेदाङ्ग का नाम निरुक्त है। (अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्तं तन्निरुक्तम्) तथा दूसरा लक्षण कहता है कि–एक–एक पद के सम्भावित अवयवार्थ धातु और प्रत्यय के अर्थ जहाँ पूर्णरूप से बताये गए हैं, वह भी निरुक्त है।(एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थ यत्र निःशेषेण उच्यन्ते तदपि निरुक्तम्) इन दोनों लक्षणों से यह स्पष्ट है कि वेद मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए निरुक्त के रूप में शब्दों का निर्वचन करने की आवश्यकता पड़ी।

2.2 वेदाङ्ग निरुक्तशास्त्र : एक परिचय

निरूक्त शब्द का अर्थ है–व्युत्पत्ति। प्रत्येक शब्द में कोई न कोई क्रिया निहित होती है, इस आधार पर शब्द का निर्वचन करना निरुक्ति है। इसलिए निर्वचनशास्त्र को निरुक्त कहते हैं। यह कठिन और महत्वपूर्ण वैदिक शब्दों की व्याख्या करता है। निरुक्त जिन वैदिक शब्दों की व्याख्या करता है, निघण्टु में उन्ही शब्दों का संकलन है। प्राचीन काल से ही आचार्यों के मध्य निघण्टु–ग्रंथों की संख्या को लेकर मतभेद है, परन्तु वे इस बात परएकमत हैं कि वर्तमान मेंएक ही निघण्टु ग्रंथ उपलब्ध है, जिस पर आचार्य यास्क ने निरुक्त नामक टीका लिखी है। निरुक्तशास्त्र में भाषा विज्ञान के आधारभूत सिद्धांत मिलते हैं इसलिए आधुनिक तुलनात्मक भाषा विज्ञान का यह आधार ग्रंथ कहा गया है। वेदांग साहित्य में निरुक्त शब्द का प्रयोग किसी ग्रंथ विशेष के लिए न होकरएक शास्त्र के रूप में हुआ है। प्राचीन काल में निरुक्तशास्त्र से संबंधित अनेक ग्रंथ विद्यमान थे, जिनका परिचय वैदिक–मंत्रों से संबंधित भाष्यों में प्राप्त होता है। यास्क ने भी अनेक आचार्यों के नामएवं उनके सिद्धान्तों का उल्लेख अपने निरुक्त में किया है। उन्होने कुल बारह अन्य निरुक्तकारों के नाम से उनके मतों का परिचय

दिया है। इन आचार्यों के नाम हैं – अग्रायण, औपमन्यव, औदुम्बरायण, औणर्वाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शाकपूणि, स्थौलाष्टीवि आदि।

वर्तमान में यास्क रचित निरुक्त इस शास्त्र का प्रतिनिधि ग्रंथ है। इस निरुक्त में कुल बारह अध्याय हैं, इसके अतिरिक्त दो अध्याय परिशिष्ट रूप में है। इस प्रकार यास्क का निरुक्त कुल 14 अध्यायों में विभक्त है। निरुक्तएवं व्याकरण में यह अन्तर है कि व्याकरण नामक वेदाङ्ग जहाँ शब्दों की शुद्धि और अशुद्धि पर विचार करता है, शब्द–रचना के लिए धातु और प्रत्यय का विभाजन तथा शब्दों के लिंग, वचन, कारक आदि पर विचार करता है, वहीं निरुक्त नामक वेदाङ्ग अर्थबोध की प्रक्रिया पर विचार करता है। इस प्रकार अपने प्रतिपाद्य के कारण निरुक्त और व्याकरण का अत्यन्तघनिष्ठ संबंध है लेकिन व्याकरण केवल उन्हीं शब्दों का निर्वचन करता है जिनमें क्रिया प्रत्यक्ष होती है जबकि निरुक्त परोक्ष क्रियायुक्त शब्दों के भी अर्थ ढूंढने की चेष्टा करता है। वह सभी शब्दों में व्याकरण के धातुएवं प्रत्ययों को सुनिश्चित करने के अतिरिक्त ध्वनि नियमोंएवं लोक–प्रवृत्ति का आश्रय लेकर नवीन धातुओं की कल्पना करता है तथा शब्द को देखकर उसमें धातु–प्रत्यय आदि के उहन या कल्पना की पद्धति बताता है।

निरुक्तकार यास्क आचार्य पाणिनि से प्राचीन हैं। इस बात का प्रमाण निरुक्त साहित्य में उपलब्ध है। यास्क ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह पाणिनिग्रन्थ – अष्टाध्यायी के नियमों से प्राचीन है। महाभारत में भी यास्क का नामोल्लेख है, जिसके आधार पर यास्क का समय 700–800 वर्ष विक्रम पूर्व निश्चित होता है। ग्रन्थ के प्रारंभ में ही यास्क ने वेदार्थानुशीलन सम्बन्धी अनेक सम्प्रदायों की चर्चा की है जो वेद–मन्त्रों की विविध प्रकार से व्याख्या करते हैं। उनकी व्याख्या पद्धति को आधिदैवत, अध्यात्म, आख्यानसमय,ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक तथा याज्ञिक आदि नामों से जाना जाता है। यास्क के चिन्तनएवं सिद्धान्तों का बहुत अधिक प्रभाव परवर्ती वेदभाष्यकारों पर पड़ा है। सायण ने यास्कीय पद्धति का आश्रय लेकर ही लगभग सभी वेदों का भाष्य किया है। यास्क का निरुक्त स्वयं निघण्टु नामक ग्रन्थ की टीका है किन्तु उसकी व्याख्या पद्धति को उचित ढंग से समझने के लिए अनेक आचार्यों द्वारा उस पर टीका लिखी गई है। वर्तमान में निरुक्त पर दुर्गाचार्य–वृत्ति प्राप्त होती है। निरुक्त कीएक पाण्डित्यपूर्ण टीका स्कन्दमहेश्वर द्वारा लिखी गई है।एक और निरुक्त विषयिनी टीका 'निरुक्त निचय' के नाम से प्राप्त होती है जिसके रचनाकार वररुचि नामक आचार्य हैं। यह निरुक्त की साक्षात् व्याख्या नहीं है बल्कि निरुक्त के सिद्धान्तों की 100 श्लोकों में स्वतन्त्र व्याख्या है।

2.3 निरुक्त का प्रयोजन

निरुक्त की प्रधान प्रयोजन वेद के वास्तविक अर्थ का अनुसन्धान करना है। अतः वैदिक शब्दों का अर्थ निर्धारण निर्वचन का प्रधान लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही निरुक्तशास्त्र की रचना हुई थी। यास्क निरुक्त के प्रथम अध्याय के पाँचवे पाद में उक्त प्रयोजनों का उल्लेख करते हैं–

2.3.1 प्रथम प्रयोजन : मन्त्रार्थ का ज्ञान

निरुक्त का प्रयोजन मन्त्रों का अर्थज्ञान कराना है। मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान उनमें प्रयुक्त पदों के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। इसी कारण निरुक्त में पदों के अर्थ निर्धारण की पद्धति बतलायी गई है। यास्क के अनुसार निरुक्त का प्रमुख प्रयोजन मन्त्रार्थ का

अवबोध करना है। इस तथ्य को स्थापित करने के लिए वे पूर्वपक्षी के रूप में इस मत के विरुद्ध तर्कों को प्रस्तुत करते हैं पुनः सिद्धांत के रूप में मन्त्रों को सार्थक सिद्ध करते हुए निरुक्त की आवश्यकता पर बल देते हैं।

2.3.2 द्वितीय प्रयोजन : पदपाठ का ज्ञान

मन्त्रों का सम्यक् रूप से पदपाठ करने के लिए निरुक्त के ज्ञान की महती आवश्यकता है। मन्त्रों में प्रयुक्त पदों के अर्थज्ञान के अभाव में पदपाठ सम्भव नहीं है। पदों में स्थित अर्थ का ज्ञान निरुक्त ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए निरुक्त के अध्ययन का दूसरा प्रयोजन मन्त्रों में पदपाठ को उचित ढ़ग से करने की क्षमता विकसित करना है।

2.3.3 तृतीय प्रयोजन : वैदिक देवताओं का स्वरूपबोध

यास्क कहते हैं कि मन्त्रों में अनेक देवताऐसे हैं जिनके चिह्न मन्त्रों में विद्यमान हैं, उन्हे देखकर मन्त्र के देवता का ज्ञान हो जाता है किन्तु जिन मन्त्रों में देवताओं के किसी भी चिह्न का उल्लेख नहीं है,ऐसी स्थिति में उस मन्त्र का देवता सम्बन्धी निर्णय करने के लिए निरुक्त के अध्ययन की आवश्यकता है। संहिताओ में बहुत से मन्त्रऐसे भी हैं जिनमें चिह्न किसी और देवता का दिखाई पड़ता है किन्तु मन्त्र का देवता कोई अन्य ही है। इस प्रकार की दृष्टिकुशलता का विकास निरुक्त ज्ञान से ही सम्भव है।

यास्क कहते हैं कि निरुक्त का अन्य प्रयोजन यह है कि इसके अध्ययन से व्यक्ति वेदार्थ ज्ञान में निपुण हो जाता है। वैदिक समाज में उसके ज्ञान की प्रशंसा होती है और जो व्यक्ति निरुक्त का अध्ययन नहीं करता उसकी निन्दा होती है। इसलिए भी निरुक्त का अध्ययन करना चाहिए।

2.4 निरुक्त का प्रतिपाद्य

निरुक्त का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है –निर्वचन। यास्क ने निघण्टु में संकलित पदों का निर्वचन किया है। इस कार्य को करने के साथ ही कुछ विशिष्ट मन्त्रों की व्याख्या भी की है । उनके द्वारा व्याख्या सम्पन्न मन्त्रों की संख्या लगभग 600 है। शेष वेद–मन्त्रों की व्याख्या में उन्हीं मन्त्रों की व्याख्या पद्धति के अनुसरण का निर्देश दिया है। जिस निघण्टु पर यास्क ने भाष्य की रचना की है। वह पाँच अध्यायों में बँटा है। जिसमें कुल 1341 शब्दों का संग्रह है। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक – काण्ड कहलाते हैं तथा चौथा अध्याय नैगम अथवाऐकपदिक काण्ड कहलाता है। पाँचवें अध्याय का नाम दैवत काण्ड है।ऐकपदिक श्रेणी में 279 उन पदों का संकलन है, जिनके धातुओं का पता नहीं है। निघण्टु का प्रथम शब्द गो और अन्तिम शब्द देवपत्नी है। निरुक्त इसी निघण्टु के पदों का निर्वचन है। यास्क ने निघण्टु के 230 शब्दों की धातु के अर्थ के अनुसार व्याख्या की है और साथ में बहुत से पदों की व्युत्पत्तियाँ भी दी हैं। इसमें कुल 1771 शब्दों के निर्वचन उपलब्ध होते हैं। यास्क ने निघण्टु शब्द का बहुवचन मे प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि अनेक निघण्टु उस समय प्रचलित थे । इस समय निघण्टु के अतिरिक्त वैदिक शब्दों काएक और संकलन अथर्ववेदीय परिशिष्ट के रुप में प्राप्त है। इसमें रोदसी प्रथम शब्द है, जिसके बारह पर्याय दिए गए हैं। यास्क के निरुक्त से सम्बन्धित निघण्टु की रचना किसने की है, इस विषय पर आचार्यों में मतभेद है। यास्क ने स्वयं अपने निरुक्त में अनेक निघण्टुओंएव निरुक्त रचनाकारों का उल्लेख किया है। निघण्टुओं में शाकपूणि का निघण्टु सबसे प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध निरुक्तकार दुर्गाचार्य के अनुसार उपलब्ध निघण्टुओं का संकलन अनेक ऋषियों द्वारा

किया गया है। महाभारत में प्रजापति कश्यप को निघण्टु का रचयिता कहा गया है।एक अन्य आचार्य मधुसूदन सरस्वती यास्क को ही निघण्टु के पदों का संकलनकर्ता मानते हैं। निरुक्त की प्रथम पंक्ति है– समाम्नातः स व्याख्यातव्यः, इसका अर्थ है कि यास्क ने पहले वैदिक शब्दों को चुन–चुन केएकत्र किया, फिर उन चुने हुए शब्दों का निर्वचन (व्याख्या) किया। मन्त्रार्थज्ञान और देवविद्या के साथ पदों का निर्वचन निरुक्त का मुख्य वर्ण्य विषय है। निघण्टु में संकलित शब्दों के निर्वचन के प्रसगं में यास्क ने वे मन्त्र अथवा मन्त्रांश लिए हैं जिनके शब्दों का उनके द्वारा निर्वचन किया गया है। सम्पूर्ण ऋग्वेद के 800 मन्त्र या मन्त्रान्श ग्रहण किए हैं। मन्त्रों का अर्थ करने में वे प्रायः कठिन शब्दों के लौकिक पर्याय देते हैं अथवा उन शब्दों का निर्वचन करके उनका अर्थ बताते हैं। इस कार्य में आवश्यकतानुसार मन्त्र का उचित अर्थ प्राप्त हो सके इसके लिए वे इतिहासएवं प्राचीन आख्यान का भी उल्लेख करते है। मन्त्र का अर्थ करते समय मन्त्र के शब्दों के स्वरूप या उसके निर्वचन में अन्य आचार्यों से मतभेद होने पर, उसकी भी चर्चा करते हैं। अन्त में समीक्षा करके तत्वनिर्णय करते हैं। मन्त्रों के अर्थ में यदि दृष्टि–भेद से अंतर आता है तो वह उन दृष्टिकोणों से भी मन्त्रों का अर्थ करते हैं। यास्क जहाँ निर्वचन की आवश्यकता अनुभव नहीं करते, उसे वैसे ही छोड़ देते है। देवविद्या को भी यास्क ने दो भागों में बांटा है। प्रथम भाग में देवताओं से संबंधित आधारभूत सिद्धांतों का वर्णन और द्वितीय भाग में वैदिक देवताओं का स्वरूप निरुपण हुआ है। यास्क ने देवताओं के नामों का आधियज्ञिक, आधिदेविक और आधिभौतिक दृष्टि से निर्वचन किया है। उदाहरण के लिए अग्नि देवता का निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं– अग्नि अग्रणी भवति तथा अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अर्थात् सभी देवताओं में अग्रणी होने के कारण यह देवता अग्नि है और यज्ञों में सर्वप्रथम इस का प्रणयन किये जाने के कारण यह अग्नि है। ये दोनों निर्वचन उसके आधिदैवत स्वरूप को प्रकट करते हैं। अंगं नयति सन्नममानः, आ अक्नोपो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। ये दोनों निर्वचन अग्नि के आधिभौतिक स्वरूप को प्रकट करते हैं। यास्क के मत में देवता कोई अलौकिक वस्तु नहीं, अपितु प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले अग्नि, वायु सूर्य आदि पदार्थ हैं तथाएक आत्मा की भिन्न–भिन्न विभूतियाँ हैं। अग्नि, इन्द्र आदि विभिन्न नाम अलग अलग कर्मों के सम्पादन के कारण पड़े हैं।

निर्वचन को भी यास्क ने दो भागों में विभाजित किया है। निर्वचन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए प्रथम अध्याय में उपोद्घात तथा दूसरे अध्याय में निर्वचन के सिद्धान्त और निर्वचन शास्त्र के अधिकारी की चर्चा है। तत्पश्चात् शब्दों की यथाक्रम व्याख्या है। शब्द–निर्वचन में शब्दों की प्रकृति तथा उनमें होने वाले विकार को ध्यान में रखकर वर्णसाम्य की दृष्टि से निर्वचन है और अर्थ निर्वचन के अन्तर्गत अर्थ–साम्य के आधार पर शब्दों का निर्वचन है। निरुक्त के **प्रथम अध्याय** में पदों के चार विभाग – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातएवं निरुक्त के प्रयोजनों की चर्चा है। **द्वितीय अध्याय** के प्रारम्भ में निर्वचन के सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है तथा इसी अध्याय के द्वितीय पाद से गौ शब्द से शब्दों का निर्वचन प्रारम्भ हो गया है। यहाँ से लेकर **तीसरे अध्याय** तक का नाम नैघण्टुक काण्ड है। **चौथे अध्याय** का नाम नैगम काण्ड है। इसमें विभिन्न शब्दों के निर्वचन हैं। **सातवें अध्याय** से दैवत–काण्ड प्रारम्भ हुआ है जिसमें देवताओं के स्वरूप का वर्णन है। इसके अतिरिक्त यहॉ पर भक्ति–साहचर्यएवं अग्निभक्ति, इन्द्रभक्ति, आदित्यभक्ति–साहचर्य का वर्णन तत्पश्चात् गायत्री आदि वैदिक छन्दो का निर्वचन है। **आठवें अध्याय** में आप्री देवताओं के साथ कुछ विशिष्ट देवताओं और अन्त में उषा आदि वैदिक देवियों का वर्णन है। **नवें अध्याय** में लौकिक शब्दों के निर्वचन हैं। **दसवें और ग्यारहवें** अध्याय में

अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं के नामों का निर्वचन है। **बारहवें** अध्याय में द्युस्थानीय देवताओं के नामों का निर्वचन हुआ है। **तेरहवें अध्याय** में अग्नि, वरुण, इन्द्र और आदित्य, अश्विनौ, सोम, यज्ञ, वाक् इत्यादि महत्वपूर्ण देवताओं का निर्वचन है। अन्तिमएवं **चौदहवें अध्याय** में सृष्टि की उत्पत्ति सहित अनेक लौकिक विषयों का वर्णन प्राप्त होता है।

निरुक्त में लगभग उन्नीस वैदिक आख्यानों का उल्लेख हुआ है। इसमें त्रित, देवापि तथा शान्तनु, मुद्गला, भार्म्यएव, विश्वकर्मा, भौवन, विश्वामित्र–नदी –संवाद और सरण्यू तथा विवस्वान् येऐतिहासिक आख्यान हैं। यम तथा यमी संवाद, वृत्त तथा वर्तिका, सरमा और पणि संवाद को आख्यान कहते हैं। इसके अतिरिक्त अगस्त्य और इन्द्र, इन्द्र तथा वृत्र, उर्वशी तथा मैत्रावरुण, वसिष्ठ, कुरुंग, ग्रत्समद तथा कपिञ्जल, च्यवन–च्यवान, जालबद्ध मत्स्य, दक्ष और अदिति, भग का अन्धत्वएवं श्येन तथा सोम आख्यान को बिना किसी नामोल्लेख के प्रस्तुत किया है। सत्य यह है कि आचार्य यास्क उपर्युक्त आख्यानों को अर्थवाद प्रशंसापरक अथवा उपमार्थक मानते है। मन्त्रों का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों को आख्यान प्रिय थे इसलिए उन्हानें मन्त्रों में स्थित रहस्यात्मक अर्थ से भिन्न मुख्यार्थ के रूप में आख्यानों को प्रस्तुत किया है।

2.4.1 पदविभाग

निरुक्त में पद के चार प्रकार बताए गए हैं –नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इनको हम पद की जातियाँ भी कह सकते हैं।

- नाम –

  नाम का लक्षण है– सत्वप्रधानानि नामानि अर्थात् जिसमें सत्व की प्रधानता होती है वे नाम कहलाते हैं। सत्व का अर्थ है– द्रव्य जो वस्तु मात्र का बोधक होता है। नाम पदों में इसी द्रव्य का प्राधान्य रहता है । जैसेघटः, पटः और धनम् इत्यादि। द्रव्यों के बोधक मूल शब्द प्रतिपादिक होते हैं जिनमें सुप् विभक्तियाँ लगती हैं तथा लिङ्ग और वचन का बोध होता है। व्याकरण शास्त्र में यही सुबन्त कहे जाते है। जैसे– देवदतः।

- आख्यात–

  भावप्रधानमाख्यातम् अर्थात् जिसमें भाव की प्रधानता होती है, उसे आख्यात कहते हैं। भाव का अर्थ है– क्रिया। जैसे – पठति। इसमें पढ़ने की क्रिया का बोध होता है। आख्यात क्रियावाचक होता है इसलिए इसमें लिङ्गभेद नहीं होता है किन्तु इसमें प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष तथा तीनों वचन होते हैं। यहॉ पर साध्यावस्था की क्रिया का वर्णन होता है, जब कि नाम में सिद्धावस्था की क्रिया का बोध होता है। आख्यात के उदाहरण हैं– पचति , गच्छति, पठति और लिखति इत्यादि।

इस क्रिया के छह विकार बताये गये हैं –

क. जायते – जायते इति अर्थात् उत्पन्न होता है। यह अवस्था क्रिया के प्रारम्भ को बताती है किन्तु दूसरी कोई क्रिया अस्तित्व में है, न इसको बतलाती है और न ही इसका निषेध करती है।

ख. **अस्ति** –अस्ति इति अर्थात् अस्तित्व में है। यह अवस्था उत्पन्न हुई वस्तु की विद्यमानता को कहता है किन्तु अपनी परवर्ती क्रिया विकार को न तो बताती है

और न विरोध करती है।

ग. **विपरिणमते** – विपरिणमते अर्थात् परिवर्तित होता है। दूसरे शब्दों में यह परिवर्तन की अवस्था के प्रारम्भ को कहता है। यह क्रिया अपने परवर्ती क्रिया को न बतलाती है और न निषेध करती है।

घ. **वर्धते**– वर्धते इति वृद्धि को प्राप्त करता है। यह क्रिया अङ्गों की वृद्धि को अथवा पदार्थों की वृद्धि को कहती है तथा परवर्ती क्रिया का न तो कथन करती है और न निषेध करती है।

ङ. **अपक्षीयते** – अपक्षीयते अर्थात् क्षीण होता है। यह क्रिया अङ्गों के अथवा पदार्थों की क्षीणता का कथन करती– है। यह अपनी परवर्ती क्रिया का न कथन करती है और न निषेध करती है ।

च. **विनश्यति**–अर्थात् नष्ट होता है यह विनाश के प्रारम्भ को बताती है। यह अपने पूर्ववर्ती क्रिया को न कहती है और न निषेध करती है ।

इस प्रकार से किसी भी वस्तु के छह क्रिया – विकार होते हैं। यह आचार्य वार्ष्यायणि का मत है, जिसे यास्क ने अपने निरुक्त में उद्धृत किया है।

- **उपसर्ग**– यास्क आ, प्र, परा, अभि, प्रति और परि इत्यादि बीस उपसर्ग मानते हैं, जो नाम और आख्यात आदि में जुड़ कर अर्थ की वृद्धि कर देते हैं।
- **निपात**– ये अलग अलग अर्थों में कहीं भी गिरते है या प्रयोग होते हैं, इस लिए इन्हें निपात कहते हैं। यास्क ने निरुक्त में मन्त्रों में प्रयुक्त निपातों का उदाहरण देकर उनके अर्थों पर विचार किया है।

2.5 निर्वचन सिद्धान्त

यास्क के अनुसार वैदिक पदों के वास्तविक अर्थ को प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयास करना चाहिए। इसके लिए कुछ निश्चित नियमों का पालन अनिवार्य है। यास्क ने स्वयं भी उन्हीं नियमों का आश्रय लेकर निघण्टु के पदों का निर्वचन किया है। संक्षेप में वे नियम इस प्रकार से हैं –

कोई शब्द व्याकरण के नियमों से सरलतापूर्वक व्युत्पन्न हो रहा हो उसमें उदात्त –अनुदात्तएवं स्वरित आदि स्वर तथा व्याकरण की दृष्टि से लगने वाले प्रत्ययएवं धातु परिवर्तन में कोई बाधा न हो तो उसका व्याकरण के अनुसार निर्वचन करना चाहिए।

यदि स्वरएवं व्याकरण की प्रक्रिया शब्द के अर्थ के अनुकूल न हो तथा उचित धातु विकार भी न हो तबऐसी दशा में शब्द के प्रचलित अर्थ को आधार बना कर वर्ण की वृत्तियों के आधार पर परीक्षण करते हुए, शब्द का निर्वचन करना चाहिए।

यदि किसीऐसे शब्द का निर्वचन करना है जिसमें किसी भी वृत्ति के अर्थ में कोई समानता न हो।ऐसी दशा में उस शब्द के किसी अक्षर से युक्त अन्य शब्द अथवा उसके अर्थ से समानता की परख करके निर्वचन करना चाहिए। यास्क का विचार है कि प्रत्येक दशा में शब्द का निर्वचन करना चाहिए, इसके लिए व्याकरण–प्रक्रिया से बधें रहने की आश्यकता नहीं है क्योंकि किसी शब्द के शुद्धता अथवा अशुद्धता का प्रतिपादन करने वाली व्याकरण की सभी वृत्तियाँ चाहे वह कृत, तद्धित, समास या धातु में से कोई भी हों, ये पूर्ण रूप से वैज्ञानिक हैं, यह मात्र अनुमान है।

यास्क के अनुसार धातु में अकारादि स्वर के ठीक पूर्व अथवा पश्चात् अन्तस्थ वर्ण य, व, र, ल होते हैं।ऐसे स्थलों पर अर्थ सम्प्रसारण अथवा असम्प्रसारण दोनो को ध्यान में रखकर करना चाहिए।एक प्रकार से न बन सके तो दूसरे प्रकार से अर्थ कर लेना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से इष्ट शब्द इच्छार्थक इष धातु से बना हुआ प्रतीत होता है किन्तु अर्थ देख कर लगे कि इष्ट शब्द इच्छा अर्थ में नहीं है तब इसक निर्वचन यज् धातु से कर लेना चाहिए।

वर्णों का आगम, वर्णों के आदि में अथवा अन्त में विपर्यय, वर्ण–विकार, वर्णनाश तथा किसी भी धातु का उसके भिन्न अर्थ के साथ योग–ये निरुक्त के पाँच प्रकार हैं। इनको ध्यान में रखकर ही शब्दों का निर्वचन करना चाहिए।ऐसा करना इसलिए उचित है क्योंकि उपर्युक्त सभी विकार शब्दों को अनुशासित करने वाले शब्दशास्त्र व्याकरण में भी प्राप्त होते हैं।

वेद में जो कृदन्त शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से कतिपय बोलचाल की धातुओं से सीधे निर्मित हैं, इस प्रवृत्ति को ध्यान में रख कर निर्वचन करना चाहिए। वेद में प्रयुक्त तिङन्त रूप वाले धातुओं से बोलचाल के कृदन्त शब्द सम्बद्ध हैं। जैसे दाह करने के अर्थ वाला उष् धातु वैदिक है परन्तु इससे निर्मित उष्ण शब्द लोक में प्रचलित है। इसी प्रकारघृ धातु बहने अर्थ में वेद में प्राप्त है और उससे निर्मित 'घी' शब्द लोक में प्रचलित है।

मन्त्रों में कहीं केवल आख्यात (क्रिया रूप). का प्रयोग होता है तो कहीं उनसे निष्पन्न नामपदों का प्रयोग होता है,ऐसा देखा गया है। गति के अर्थ में शव धातु का आख्यात के रुप में कुछ विशिष्ट स्थानों (काबुल, कान्धार, बलोचिस्तान) पर होता है। जब कि आर्य प्रदेशों में 'शव' शब्द का प्रयोग मृत शरीर के लिए होता है। इन बातों को भी ध्यान में रखकर निर्वचन करना चाहिए।

2.5.1 तद्धित और समास वृत्ति से बनेएकल याएकाधिक पदों के मेल से बने शब्दों में पहले पूर्व पद का उसके बाद उत्तर पद का निर्वचन करना चाहिए। जैसे– दण्ड्यः पुरुषः में दण्ड्य का निर्वचन है –दण्ड के योग्य अथवा दण्ड से युक्त। दण्ड शब्द धारण करने के अर्थ की दद्धातु से बना है जबकि आचार्य औपमन्यव दण्ड का निर्वचन दमन अर्थ युक्त दम् धातु से मानते हैं। इस प्रकार से राजपुरुष अर्थात् राजा का आदमी। इसमें राजा स्वामी होना अर्थ में राज् धातु से और पुरुष = पुर+सद् अथवा पुर+शी अथवा पुरि धातु से निर्मित बताया जाता है। पुर का अर्थ शास्त्रों में शरीर किया गया है। इसके साथ सद् धातु बैठने अर्थ में अर्थात् जो पुर में स्थित है, वह पुरुष है। शी धातु शयन अर्थ में प्रयोग होता है इसलिए जो पुर में शयन करे, वह पुरुष है। पूरि धातु भरने के अर्थ में प्रयोग होता है। इस आधार पर जो पुर में व्याप्त हो, वह पुरुष है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अर्थ को ध्यान में रख कर व्याकरण की वृत्ति तद्धित और समास द्वारा निर्वचन करना चाहिए।

एक शब्द अलग अलग स्थितियों में भिन्न –भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगता है,ऐसी स्थिति में अनिवार्य हो जाता है कि निर्वचन करते समय उन सभी अर्थो का ध्यान रखा जाए। जिन शब्दों के अर्थ लगभगएक जैसे होते हैं उन शब्दों का निर्वचन भीएक जैसा ही करना चाहिए। निरुक्त के आचार्य अर्थानुकूल व्याकरण–प्रक्रिया वाले और धातुगत अर्थ से युक्त शब्द को प्रत्यक्षवृत्ति की श्रेणी में रखते हैं। अर्थ के अनुकूल न होने तथा व्याकरण प्रक्रिया के स्पष्ट न होने पर दूसरे शब्दों में यदि शब्द में उसके मूल का विकार स्पष्ट रूप से न दिखाई पड़ता हो तो ये शब्द परोक्षवृत्ति की श्रेणी मे आते हैं।

प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों में कृदन्त शब्दों की अपेक्षा तद्धित तथा समासवृत्ति से निष्पन शब्द अधिक क्लिष्ट होते हैं। अतः शब्द की वृत्ति का निश्चय करके उस वृत्ति के अनुसार शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसके अवयव शब्दों का निर्वचन किया जाना चाहिए। अपरोक्षवृत्ति शब्द के अर्थ से मिलते जुलते तथा उसमें विद्यमान अक्षरों अथवा वर्णों से युक्त किसी अन्य शब्द से उस शब्द का निर्वचन कर लेना चाहिए।ऐसे शब्दों के निर्वचन में अर्थ के साथ –साथ अक्षरों के ध्वनि समानता पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। बहुत से शब्दों का विद्यमान स्वरूप उनके मूल से ध्वनियों की दृष्टि से बहुत बदल जाता है। कभी–कभी यह बदलाव इतना बड़ा होता है कि विश्वास करना मुश्किल हो जाता है।

प्रत्यक्षवृत्तियुक्त विद्यमान शब्द में आधारभूत शब्द सम्बन्धी अक्षरों का लोप हो जाता है यह लोप शब्द के आदि मध्य और अन्त कहीं भी हो जाता है। बोलते समय वर्णो को खा जाने के आदत से मध्यम वर्ण का लोप हो जाता है यह भी देखा जाता है किएक समान कई ध्वनियाँ हों तो उनमें से किसीएक ध्वनि का लोप हो जाता है। शब्दों के उच्चारण पर देश–काल भेद आदि अनेक कारणों से प्रभाव पड़ता है। परिणामस्वरूप कुछ समय बाद मूल ध्वनि स्थायी रूप से बदल जाती है। यह बदलाव विकार के रूप में देखा गया है। यास्क ने भाषा की स्वच्छन्द प्रकृति को भी ध्यान रखने पर बल दिया है। सामान्य रूप से शब्दों के प्रयोग में लोग अत्यधिक स्वच्छन्दता बरतते हैं इसका परिणाम यह होता है कि कभी नामपद अप्रचलित रह जाते हैं और उनका क्रियापद प्रचलन में आ जाता है। इसके विपरीत कभी क्रियापद अप्रचलित रह जाता है और नामपद पर व्यवहार में आ जाता है। निर्वचन करते समय इस लोकव्यवहार का ध्यान भी रखना चाहिए। नैरुक्त को व्याकरण शास्त्र से अभिज्ञ रहते हुए भी शुद्धरूप से वैयाकरण नहीं बनना चाहिए अर्थात् व्याकरण की प्रक्रिया के प्रति अतिशय अनुराग नहीं होना चाहिए। यास्क का मानना है कि जब तक शब्द का अर्थ विदित न हो तब तक मात्रएक या दो प्रसंग के आधार पर शब्द का निर्वचन नहीं करना चाहिए। प्रकरण बदलने पर प्रायः शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं।ऐसी स्थिति में प्रकरण के अनुसार अलग –अलग रीति से शब्दों का निर्वचन करना चाहिए। निर्वचन कीएक महत्वपूर्ण दृष्टि यह है कि शब्दों की किसी अर्थ में प्रवृत्ति उनके बनावट के आधार पर सर्वत्र नहीं होती। प्रायः किसी अर्थ में शब्द के प्रचलित हो जाने पर उस अर्थ से किसी प्रकार की समानता को देखकर, उस अर्थ से मिलते जुलते दूसरे अर्थ में यह शब्द प्रयोग होने लगता है। यास्क इसे सामान्य का नाम देते हैं। अतः शब्द का अर्थ समझते समय सामान्य सादृश्य के इस सिद्धांत पर दृष्टि रखना आवश्यक है।

2.6 कतिपय महत्वपूर्ण पदों का निर्वचन

2.6.1 निघण्टु– निघण्टवः कस्मात् – निघण्टु को निघण्टु क्यों कहा जाता हैं?

- निगमा इमे भवन्ति – क्योंकि ये शब्द निश्चय से अर्थ का बोध कराने वाले होते हैं। अतः इनका नाम निघण्टु पड़ा।
- छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः क्योंकि ये गौ आदि शब्द मन्त्रों से चुन –चुनकरएकत्र किए गए हैं। अतः इनका नाम निघण्टु पड़ा।
- ते निगन्तवएव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इति औपमन्यव :– ये शब्द निश्चय पूर्वक अर्थ का बोध कराने के कारण निगन्तु ही होते हुए निघण्टु कहे जाने लगे।

2.6.2 गौ– गौः कस्मात् – गौ को गौ क्यों कहते हैं?

- गौरिति पृथिव्याः नामधेयम्, यद् दूरङ्गता भवति – यह पृथिवी का नाम है। –क्योंकि यह दूर तक गई हुई है।
- यच्च अस्यां भूतानि गच्छन्ति क्योंकि इसपर प्राणी गति करते हैं।
- गातेर्वौकारोनामकरणः – गाङ्गतौ धातु से ओकार प्रत्यय करके गो बन जाएगा।

2.6.3 आचार्यः–आचार्यः कस्मात्–आचार्य को आचार्य क्यो कहते है?

- आचार्यः आचारं ग्राहयति – क्योंकि वह विद्यार्थी को आचार सिखाता है।
- आचिनोत्यर्थान् – पदों के अर्थों को चुनता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म पद के अर्थ का विद्यार्थी को दर्शन कराता है।
- आचिनोति बुद्धिमिति – क्योंकि आचार्य विद्यार्थी में बुद्धि का संचय करता है, उसे बढ़ाता है, इसलिए उसको आचार्य कहते हैं।

2.6.4 समुद्रः कस्मात् – समुद्र को समुद्र क्यों कहते हैं ?

- समुद् द्रवन्ति अस्मादापः – क्योंकि इससे जल तरङ्गों के रूप में उठते हैं।
- समभिः द्रवन्तिएनमापः क्योकि इसमें जल सब ओर इकट्ठे होकर अभिमुख हो कर प्राप्त होते हैं।
- सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि –क्योंकि इसमें जलचर प्राणी खुश होते हैं।
- समुद्को भवति – क्योंकि यह बहुत जल वाला है। उद, यह जल का वाचक है।
- समुनत्तीति वा क्योंकि यह भिगोता है इसलिए समुद्र है।

2.6.5 अग्निः – अग्निः कस्मात् – अग्नि को अग्नि क्यों कहते हैं?

- अग्रणीः भवति –क्योंकि यह सभी देवताओं में अग्रणी होता है।
- अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते– क्योकि यज्ञों में सर्वप्रथम वही ले आया जाता है।
- अङ्गं नयति समन्नममानः – क्योंकि वह काष्ठ आदि को अपना अङ्ग बना लेता है।
- अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः स्थौलाष्ठीवि आचार्य का कहना है क्योंकि यह अक्नोपन होता है अर्थात् इसमें नमी का अभाव होता है। न क्नोपयति न स्नेहयति –क्योंकि यह नम नहीं करता है, न स्निग्ध करता है बल्कि विरुक्षी करोति इति अर्थः– सुखा देता है इसलिए अग्नि कहा जाता है।

2.7 निरुक्त में वर्णित वेदार्थ पद्धति

निरुक्त नामक वेदाङ्ग कीएक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें भिन्न –भिन्न प्रकार से वेदार्थ करने वाले सम्प्रदायों का वर्णन है। ये सम्प्रदाय हैं– याज्ञिक,ऐतिहासिक, आख्यानपरक, नैरुक्त, अधिदैवत, परिव्राजक, अध्यात्म, वैयाकरण और विधिपरक। इन वेदार्थ–सम्प्रदायों को जानने से आप सबको निरुक्त नामक वेदाङ्ग को समझने में सहायता मिलेगी।

2.7.1 याज्ञिक

प्राचीन काल में लगध आदि अधिकांश आचार्यों का दृढ़विश्वास था कि वेदों का मुख्य प्रयोजन यज्ञादि अनुष्ठान को सम्पन्न कराना है। आचार्य सायण, उव्वट, महीधर के यजुर्वेद – भाष्य , स्कन्द स्वामी , उद्गीथ वेंकटमाधव और सायण के ऋग्वेद–भाष्य, माधव, भरतस्वामी तथा गुणविष्णु के सामवेद–भाष्य तथा सायण का अथर्ववेद–भाष्य ये सभी यज्ञ पद्धति के आधार पर किये गये भाष्य हैं। यह वेदमन्त्रों की व्याख्या करने वाला सबसे प्राचीन और समृद्ध सम्प्रदाय है। यास्क ने अपने निरुक्त में सात स्थानों पर याज्ञिकों का उल्लेख किया है तथा अनेक मन्त्रों की व्याख्या भी इसी पद्धति से की है। लेकिन वे स्वयं इस पद्धति को वेदार्थ जानने की सर्वोत्तम पद्धति नहीं मानते हैं।

2.7.2 ऐतिहासिक तथा आख्यान

इस संप्रदाय के आचार्य इतिहास अथवा.आख्यान को वैदिक मंत्रों के मूल में स्वीकार करते हैं और उसी के अनुसार मंत्रों की व्याख्या करते हैं यास्क नेऐतिहासिकों का तीन और आख्यान संप्रदाय का पांच स्थलों पर उल्लेख किया है। यह संप्रदाय पुराणसाहित्य के विकास के मूल में है। यास्क ने अपने ग्रंथ में कुल 19 वैदिक आख्यानों का उल्लेख किया है। इसी वर्ग केएक अन्य सम्प्रदाय नैदान का उल्लेख भी यास्क ने निरुक्त में दो स्थलों पर किया है। यास्क, दुर्गाचार्य और स्कन्द स्वामी आदि अनेक नैरुक्त इतिहास और आख्यान को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। उनके अनुसार ये इतिहास अथवा आख्यान वेदार्थ की प्रशंसा में लिखे गए रूपकात्मक अर्थवाद हैं।

2.7.3 नैरुक्त

नैरुक्त परम्परा के आचार्य वेदमन्त्रों का अर्थ निर्वचनात्मक पद्धति से करते हैं। यास्क स्वयं इस परम्परा के हैं। सम्भवतः यास्क से पूर्व तेरह नैरुक्त–आचार्य हो चुके हैं। इनका स्थान चौदहवां माना जाता है और इनका निरुक्त इस सम्प्रदाय का उपलब्ध, उपादेयएवं लोकप्रिय ग्रन्थ है।

2.7.4 अधिदैवत

यास्क ने इस वेदार्थ पद्धति का निरुक्त में पांच बार उल्लेख करते हुए, इस पद्धति के अनुसार कुछ मंत्रों की व्याख्या की है। अधिदैवतपद्धति में वैदिक मन्त्रों का अर्थ देवताओं को केन्द्र में रख कर किया जाता है। इस पद्धतिएवं नैरुक्त पद्धति में अत्यधिक समानता दिखाई पड़ती है।

2.7.5 परिव्राजक तथा अध्यात्म

निरुक्त में यास्क ने परिव्राजक – सम्प्रदाय का उल्लेख मात्रएकबार किया है। यह सम्भवतः सन्यासियों का सम्प्रदाय था, जो वेदमन्त्रों की वैराग्यपरक व्याख्या करता था। यास्क ने अध्यात्म सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है तथा कुछ मन्त्रों की व्याख्या इस रीति से भी की है। निरुक्त के टीकाकार स्कन्दस्वामी परिव्राजक और अध्यात्मपद्धति दोनों कोएक मानते हैं क्योकि दोनों पद्धतियॉ वेदमन्त्रों की रहस्यात्मक, आध्यात्मिक और दार्शनिक व्याख्या करती हैं।

2.7.6 वैयाकरण

निरुक्त में वैयाकरणों के मत का भी उल्लेख है। निरुक्त के परिशिष्ट भाग में ऋग्वेद 1/164/45 संख्या वाले मन्त्र की व्याख्या व्याकरण शास्त्र के आधार पर हुई है।

2.7.7 विधि

यास्क ने वसिष्ठ आदि आचार्यों के मतों का संकेत करते हुए सम्पत्ति आदि के उतराधिकार के प्रसङ्ग में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों की व्याख्या की है।

स्पष्ट है कि यास्क के पूर्व भी वेद मन्त्रों की व्याख्या विविध दृष्टियों से हो रही थी। यास्क ने अनेक मन्त्रों की व्याख्या याज्ञिक दृष्टि तथा कुछ मन्त्रों की व्याख्या अधिदैवतएवं अध्यात्मपद्धति से की है। उस समय अधियज्ञ, अधिदैवत और अध्यात्म ये तीन ही वेदार्थ पद्धतियाँ प्रमुख थीं।

2.8 निरुक्त में देवताओं का स्वरूप

आप सब जानते है कि देवविद्या निरुक्त का प्रधान प्रतिपाद्य है। सातवें अध्याय में वैदिक देवविज्ञान की भूमिका है। यास्क आदि आचार्यों का दृढ़ मत है कि प्रत्येक मन्त्र का कोई न कोई देवता होता ही है। मन्त्रों में देवताओं को पहचानने के लिए उन्होंने मन्त्रों को तीन वर्ग बनाये हैं –

- परोक्षकृत मन्त्र – इस वर्ग में वे मन्त्र आते हैं, जिनमें प्रथम पुरुष की क्रियापदों का प्रयोग है।
- प्रत्यक्षकृत मन्त्र – इस वर्ग के मन्त्रों में क्रियापद मध्यम पुरुष में प्रयुक्त है।
- आध्यात्मिक मन्त्र – इस वर्ग के मन्त्रों में क्रियापद उत्तम पुरुष के रूप में दिखाई पड़ती है।

ऋचाओं का यह वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक है। निरुक्त में सामान्य जन के लिए देवता के अधियज्ञिय, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों रूपों का वर्णन है। देवता शब्द का निर्वचन है – ये दान देने, प्रकाशित होने, प्रकाशित करने अथवा द्युलोक में रहने के कारण देवता कहे जाते हैं –''**देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा।**''

मन्त्रों का अध्ययन करते समय ऋषि छन्द, विनियोग के साथ ही देवता तत्त्व को भी प्रयत्न पूर्वक जानना चाहिए तभी वैदिक मन्त्रों का प्रयोग सार्थक सिद्ध होगा। ''ऋषि जिस कामना को लेकर जिस देवता की प्रधानता चाहते हुए स्तुति करता है, उसी देवता का वह मन्त्र होता है।'' जिन मन्त्रों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से देवता का उल्लेख नहीं है उस मन्त्र का जिस यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग में विनियोग हो रहा हो, उस यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग का देवता ही मन्त्र का देवता होता है। आचार्य शौनक ने भी अपने ग्रन्थ वृहद्देवता में इस बात को स्वीकार किया है। यज्ञ से भिन्न अन्य स्थानों पर याज्ञिक सम्प्रदाय के लोग प्रजापति को और नैरुक्त नाराशंस को देवता मानते हैं। मन्त्रों में कहीं–कहीं देव भिन्न वस्तुओं की भी देवता के समान स्तुति देखी गई है। जैसे अश्व या औषधिया, दृषद् –उपल इत्यादि। वेद में बहुसंख्यक देवताओं का उल्लेख है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में तैंतीस देवताओं तथा यजुर्वेद की वाजसनेयिसंहिता में देवताओं की संख्या 3339 बताई गई है। यास्क का मानना है कि अपनी महिमा के कारणएक ही आत्मा का वर्णन भिन्न–भिन्न देवताओं के रूप में दिखलाई पड़ता है। तात्पर्य यह हैं कि ऋषिगण उसएक ईश्वरीय सत्ता को ही इन्द्र, मित्र, वरुण इत्यादि नामों से पुकारते हैं।

यास्क के मत में तीन प्रधान देवता हैं –पृथिवीस्थानीयदेवता–अग्नि। अन्तरिक्ष स्थानीयदेवता– इन्द्र अथवा वायु और द्युस्थानीयदेवता–सूर्य।

निरुक्त में देवताओं का स्वरूप के संबंध में तीन विचारधाराएं हैं। प्रथम विचार धारा के अनुसार देवता मनुष्यों के समान होते हैं और उनकी स्तुति चैतन्य प्राणियों के समान की जाती है। इसीलिए इंद्र की मन्त्रात्मकस्तुति में उसकी दोनों भुजाओं की प्रशंसा की गई है। दूसरी विचारधारा के अनुसार देवताओं का स्वरूप मनुष्यों के समान नहीं है। जैसे अग्नि, वायु, सूर्य, पृथ्वी और चंद्रमा आदि का भौतिक स्वरूप। तीसरी विचारधारा के अनुसार मन्त्रों में जड वस्तुओं की स्तुति चेतन प्राणियों के समान की गई है क्योंकि उनका स्वरूप उभयात्मक है।

निरुक्त के सप्तम अध्याय में अग्निएवं पृथिवीस्थानीय देवोंएवं उनसे सम्बन्धित वस्तुओं का वर्णन है। जैसे– अग्नि का सम्बन्ध पृथिवीलोक, प्रातःसवन, वसन्तऋतु, गायत्री छन्द, रथन्तर साम, अग्नायी तथा इला आदि स्त्रियों से है। इनका प्रमुख कार्य हविर्वहन तथा यज्ञ में देवताओं का आह्वान बताया गया है। इन्द्रदेवता से सम्बन्धित वस्तुएं हैं–अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्मऋतु, त्रिष्टुप्छन्द, वृहत्साम, अन्य अन्तरिक्षस्थ देवता तथा अन्तरिक्षस्थ स्त्रियाँ। इनका प्रमुख कर्म है – रसानुप्रदान, वृत्रवध तथा बलविषयक अन्य कृत्य। आदित्य से सम्बद्ध वस्तुएँ तथा कार्य है – स्वर्गलोक , तृतीयसवन, वर्षाऋतु, जगतीछन्द, वैरूपसामएवं स्वर्ग की स्त्रियाँ। इनका प्रमुख कार्य किरणों द्वारा रसग्रहण इत्यादि है।

निरुक्त के देवविज्ञान की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं इस प्रकार हैं। जैसे यहॉ पर अग्नि के जातवेदस्एवं वैश्वानर, द्रविणोदा (बल या धनप्रदान करने वाला) स्वरूपों का देवताओं के रूप में वर्णन है। आप्री देवताओं के रूप में इध्म (यज्ञ का ईन्धन) तनूनपात् (अग्नि अथवाघृत) नाराशंस, इड, बर्हि (कुशा), द्वार, उषासानक्ता (उषा और रात्रि), दैव्या , होतारा (अग्नि के भिन्न स्वरूप), इडा, भारती और सरस्वती नामक देवियों के साथ त्वष्टा, द्यावापृथिवी, वनस्पति तथा स्वाहाकृतियों का भी उल्लेख है। इसके साथ ही अश्व, शकुनि, मण्डूक, अक्षु, रथ, दुन्दुभि आदि का भी देवताओं के रूप में वर्णन प्राप्त है। गंगा, यमुना आदि नदियों, औषधियों, रात्रि, अरण्यानी, श्रद्धा, पृथिवी, अग्नायी संज्ञक देवियों के नामों का निर्वचन हुआ है। कुछ लौकिक देवता जैसे क्षेत्रस्पति, वास्तोस्पति, वाचस्पति, मन्यु, दधिक्रा, वेन, ऋत, श्येन, सोम, चन्द्रमा, मृत्यु, ऋभुगण, आङ्गिरस, पितरोंएवं भृगुओं का भी वर्णन हुआ है।

2.9 सारांश

स्पष्ट है कि निरुक्त में वेद मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए वैदिक पदों का अनेक प्रकार से निर्वचन किया गया है। ये निर्वचन और निर्वचन की विधियाँ ही निरुक्त का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। यास्क ने निघण्टु में संकलित पदों का निर्वचन करते हुए कुछ विशिष्ट मन्त्रों की व्याख्या भी की है। निघण्टु का प्रथम शब्द गो और अन्तिम शब्द देवपत्नी है। यास्क ने निघण्टु के 230 शब्दों की उनके धातु के अनुसार व्याख्या की है और साथ में बहुत से पदों की व्युत्पत्तियाँ भी दी हैं। यास्क द्वारा रचित निरुक्त से सम्बन्धित निघण्टु के रचनाकार को लेकर आचार्यों में मतभेद है। निघण्टुओं में शाकपूणि का निघण्टु सबसे प्रसिद्ध है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने यास्क को ही निघण्टु का रचयिता माना है। उन्होंने पहले वैदिक शब्दों को चुन–चुन करएकत्र किया, तत्पश्चात् उन चुने हुए शब्दों का निर्वचन किया। यास्क ने देवताओं से संबंधित आधारभूत सिद्धांतों की चर्चा की है। जिसके अन्तर्गत वैदिक देवताओं का स्वरूप निरुपण हुआ है। यास्क के मत में देवता कोई अलौकिक वस्तु नहीं, अपितु प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदि पदार्थ ही हैं। ये सब देवता उनके मत

मेंएक आत्मा की विभूतियाँ हैं।

निर्वचन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने प्रथम अध्याय में उपोद्घात तथा दूसरे अध्याय में निर्वचन के सिद्धान्त और निर्वचन शास्त्र के अधिकारी की चर्चा की है। यास्क ने जिन सिद्धातों के आधार पर वैदिक शब्दों का निर्वचन किया है उसमें से कुछ प्रमुख हैं – जिन शब्दों में स्वर और व्याकरण सम्बन्धी प्रत्यय से होने वाले परिवर्तन अर्थ के अनुकूल हों तो शब्दों का निर्वचन व्याकरण के अनुसार करना चाहिए। जब स्वर और उच्चारण की प्रक्रिया शब्द के अर्थ के अनुकूल न हो तथा उचित धातु का विकार भी नहीं हो, तब उस शब्द के प्रचलित अर्थ को आधार बना कर उसकी कृत्, तद्धितधातु, समास आदि वृत्ति की समानता के आधार पर निर्वचन करना चाहिए किन्तु यदि निर्वचनीय शब्द और उसमें सम्भावित किसी भी वृत्ति में से किसी के साथ अर्थ की समानता न हो तोऐसी दशा में उस शब्द के किसी वर्ण या अक्षर की अन्य वर्ण या अक्षर से समानता ढूढकर निर्वचन करना चाहिए।

अर्थ का परिज्ञान कराने के कारण निरूक्त अन्य वेदांगों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि अर्थ प्रधान होता है और शब्द गौण होता है। शब्द और अर्थ के निर्वचन का ज्ञान निरुक्त द्वारा सम्भव है। निरुक्त के अनुसार सभी शब्द किसी न किसी धातु से बने होते हैं। इस कारण से शब्द चाहे नाम हों अथवा आख्यात धातु से व्युत्पन्न हैं। यही आधुनिक भाषा विज्ञान का मूल विचार है। निरुक्त भाषाशास्त्र की दृष्टि सेएक अनुपम रत्न है।

यास्क ने अपने पूर्ववर्ती 12 निरुक्तकारों के नामएवं उनके निर्वचन संबंधी विचारों को अपने निरुक्त में स्थान दिया है। इस कारण से यह ग्रन्थ और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। किंतु इसको समझने के लिए अनेक आचार्यों के द्वारा इसकी टीका लिखी गई है। निरूक्त की प्रसिद्ध टीका है–दुर्गाचार्यवृत्ति, स्कंदमहेश्वर रचित निरुक्त टीका–'स्कन्द महेश्वरवृत्ति'। निघण्टु पर देवराज यज्वा का भाष्य उपलब्ध है, जिसमें पदों की व्याख्या में पाणिनीय–व्याकरण और भोजराज–व्याकरण से सहायता ली गई है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी, हिंदी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी निरुक्त के अध्ययन और अनुवाद हुए हैं। निरुक्त के अध्येताओं में रॉथ सत्यव्रत शामश्रमिक, स्कोल्ड, विष्णुपद भट्टाचार्य, वीके राजवाड़े, डॉ लक्ष्मण स्वरूप, सिद्धेश्वर वर्मा तथा शिव नारायण शास्त्री का नाम मुख्य है। वैदिक ग्रंथों में सर्वाधिक संस्करण निरुक्त के ही प्रकाशित हैं। निरुक्त का अध्ययन प्राचीन काल में जितना महत्वपूर्ण था वेदों के भाष्य की दृष्टि से आज भी उतना ही प्रासंगिक है।

2.10 पारिभाषिक शब्दावली

संहिता–वेदों के मन्त्रभाग को संहिता के नाम से जाना जाता है। जैसे ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता तथा अथर्ववेदसंहिता।

ब्राह्मण–वेदों के मन्त्रभाग की गद्यात्मक व्याख्या करने वाला भाग ब्राह्मण कहलाता है। सभी वेदों के अपने ब्राह्मणग्रन्थ हैं। प्रमुख ब्राह्मणों के नाम हैं –ऐतरेयब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, तैत्तीरीयब्राह्मण, ताङ्यब्राह्मण, गोपथब्राह्मण।

आरण्यक– ब्राह्मणभाग का उत्तरवर्तीभाग आरण्यक है। इसमें प्राणविद्या का वर्णन हुआ है।

उपनिषद् – वेदों के अन्तिमभाग को वेदान्त अथवा उपनिषद् कहते हैं। इसमें

ब्रह्मविद्या, आत्माएवं सृष्टि वर्णन इत्यादि का प्रतिपादन प्रमुख रूप से हुआ है।

नैरुक्त – निरुक्त की रचना करने वाले सभी आचार्य।

वैयाकरण – व्याकरण के आचार्य जैसे –महर्षिपाणिनि, वररूचिकात्यायन, पतञ्जलि आदि।

प्रातिपदिक – जिसमें सुप् प्रत्यय अथवा तिङ् प्रत्यय लगता है,ऐसे सभी सार्थक शब्द जो न तो धातु होते हैं और न ही प्रत्यय।

याज्ञिक – यज्ञ से संबंधित अथवा यज्ञ करने और कराने वाले।

सम्प्रसारण – य,व,र,ल के स्थान पर क्रमशः इ, उ, ऋ और लृ का प्रयोग सम्प्रसारण कहलाता है।

पद – शब्द अथवा धातु से जब प्रत्यय लग जाते हैं तब वे पद बन जाते हैं। संस्कृतभाषा में पदों का ही प्रयोग होता है। जैसे –राम शब्द है और रामः पद। इसी प्रकार गम् धातु है और गच्छति पद।

वृत्ति – पद जब अपना मूल अर्थ पूर्ण रूप या आंशिक रूप से छोड़कर, किसी विशिष्ट अर्थ को बताने लगता है तब उसे वृत्ति कहा जाता है। ये पांच होते हैं – कृदन्तवृत्ति, तद्धित्वृत्ति, समासवृत्ति,एकशेषवृत्ति और सनाद्यन्तवृत्ति।

विकार – विकार का अर्थ है परिवर्तन। जब कोई वर्ण परिवर्तित होकर किसी अन्य वर्ण का रूप धारण कर लेता है तो उस नये वर्ण को पुराने वर्ण का विकार कहा जाता है।

2.11 सन्दर्भग्रन्थ –सूची

1– निरुक्त – श्रीपरमेश्वरानन्दशास्त्रि स संदृब्ध्या वेदानुबन्धि – विविध –ज्ञातव्य विषय – पूर्णतया भूमिकया सनायितम्। महामहोपाध्याय श्रीछज्जूरामशास्त्रिणाविद्यासागरेण ... श्रीभगीरथशास्त्रिणा कृतया हिन्दी व्याख्ययोपोद्वलितम् – मेहरचन्द –लछमनदास पब्लिकेशन, नई दिल्ली संस्करण –2019.

2– वेदाङ्ग द्वितीय खण्ड, संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास , उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान द्वारा प्रकाशित , लखनऊ . 1997

3– निरुक्त, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, 'ऋृषि', चौरवम्भा विद्याभवन, वाराणसी

4– निरुक्त, डॉ0 जमुना पाठक, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी , 2018

5– वैदिक साहित्यएवं संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, प्रकाशन, वाराणसी–1993

2.12 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय

1– निरुक्तशास्त्र का वेदाङ्ग के रूप में परिचय दीजिए।

2– निरुक्त के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

3– निरुक्त नामक वेदाङ्ग के प्रयोजनों की विस्तार से चर्चा कीजिए ।

4– यास्क के पूर्ववर्ती निरुक्तकारों का नामोल्लेख करते हुए विभिन्न वेदार्थ पद्धतियों का निरूपण कीजिए।

5– यास्क के निर्वचन सिद्वान्त का वर्णन कीजिए।

6– निरुक्त के प्रतिपाद्य परएक निबंध लिखिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न –

1– निरुक्त के अनुसार पदविभाग बताइए।

2– निरुक्त के प्रयोजनों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

3– निरुक्त के प्रमुख आचार्यों का उल्लेख कीजिए।

इकाई 3 छन्दस् एवं कल्प का प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

छन्दस् एवं कल्प वेदांग के प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य विषय पर केन्द्रित इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- वेदांगों के स्वरूप से आप परिचित होंगे।
- विशेष रूप से छन्दस् एवं कल्प वेदांग से परिचित हो सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप वैदिक छन्दों के विकास एवं उनके स्वरूप से परिचित हो सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप वेदांगों के अन्तर्गत प्रतिपादित कल्प वेदांग के सभी विषयों को भी समझ सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप श्रौत सूत्रों के महत्त्व को समझ सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप शुल्ब सूत्रों के परिचय के माध्यम से विभिन्न प्रकार की वेदियों के स्वरूप को भी जान सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप आचारएवं व्यवहार शास्त्र के प्रतिपादक धर्मसूत्रों के स्वरूप से परिचित हो जायेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेगें कि किस प्रकार गृह्य सूत्रों के माध्यम से संस्कारों का स्वरूप निश्चित हुआ।

3.1 प्रस्तावना

मुण्डकोपनिषद् में महर्षि अंगिरा ने आचार्य शौनक को यह उपदेश दिया था कि – ब्रह्मविद्या के जो ज्ञाता हैं, जिन्हें हम ब्रह्मविद् कहते हैं, उनके अनुसार दो विद्यायें जानने योग्य हैं।एक है **परा** और दूसरी **अपरा विद्या**। परा का तात्पर्य है परमात्म विद्या और धर्म, अधर्म के साधन और उनके परिणाम को बताने वाली विद्या है, अपरा विद्या। आगे इसी की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द ओर ज्योतिष अर्थात् वेद और वेदांग का परिगणन अपरा विद्या के अन्तर्गत है। परा विद्या वह हैं जिससे अक्षर का अधिगम हो जाय अथवा प्राप्ति हो जाय, वह परा विद्या है। अक्षर अर्थात् परमात्मा।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दों ज्योतिषामिति। मुण्डकोपनिषद् 1.1.5

वेद के अध्ययन, चिन्तन और मनन की परम्परा निर्बाध गति से हजारों हजारों वर्ष तक चलती रही लेकिन कालक्रम में वेद के उच्चारण पद्वति तथा यज्ञ आदि के अनुष्ठान में कोई त्रुटि न हो जाय, इसके लिये हमारे ऋषियों ने वेद के विज्ञान के रूप में छः सहायक विज्ञान का स्वरूप निश्चित किया। इन्हें हम वेदांग के रूप में जानते हैं। ये छः वेदांग है– शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ।

1. शिक्षा या Science of Phonetics,

2. कल्प अर्थात् Science of Rituals
3. व्याकरण अर्थात् Science of Grammar
4. निरुक्त अर्थात् Science of Etymology
5. छन्द अर्थात् Science of Prosody
6. ज्योतिष अर्थात् Science of Astronomy and Astrology

प्रस्तुत इकाई में हमारा उद्देश्य केवल छन्दस्एवं कल्प वेदांग के प्रयोजनएवं प्रतिपाद्य को प्रस्तुत करना है। अतः सर्वप्रथम छन्दस् वेदांग के स्वरूप, प्रयोजनएवं प्रतिपाद्य का विवेचन प्रस्तुत करने के उपरान्त कल्प वेदांग के ऊपर चर्चा की जायेगी ।

3.2 वेदांगों में छन्दस् वेदांग का संक्षिप्त परिचय

पाणिनीय शिक्षा में निम्नलिखित सन्दर्भ प्राप्त होता है–

छन्दः पादः तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषमायनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।

शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।। पाणिनीय शिक्षा 41–42

पाणिनीय शिक्षा के इस वचन के अनुसार छन्दस्तत्त्व वेद पुरुष का पाद अर्थात् पैर है। दूसरे रूप में हम यह कह सकते हैं कि छन्द के ज्ञान के विना वेद के अध्ययन में हमारी कोई गति नही हो सकती है । पैर का कार्य है स्थिरताएवं गति प्रदान करना। अतः छन्द का ज्ञान वेद के अर्थ को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसका ज्ञान हो जाने पर अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। इसी के ज्ञान से सृष्टि यज्ञ का कार्य सम्पन्न होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद के अर्थ को समझने के लिये छन्द का ज्ञान आवश्यक है। जहां तक छन्दों के प्राचीनता का प्रश्न है, छन्द उतने ही प्राचीन हैं जितना कि मन्त्रमयी वाणी। यही कारण है कि भारतीय चिन्तन परम्परा में छन्दों का आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक तीनों रूपों में विवेचन किया गया है। इसका प्रमाण हमें मुख्य रूप से ऋग्वेद, यजुर्वेदएवं अथर्ववेद के पुरुष सूक्त में प्राप्त होता है। यहां परम पुरुष से छन्द के उद्भव का प्रतिपादन किया गया है। **छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्**, ऋग्वेद 10.90.9। अथर्ववेदीय पुरुष सूक्त में भी इसी बात को **छन्दो ह जज्ञिरे** के रूप में कहा गया हैं। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि वेद के अध्ययन के लिये छन्द केवल उपकारक साधन ही नही माना जाता है, अपितु छन्दःशास्त्र का स्वतन्त्र विद्यास्थान भी है।

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।। याज्ञवल्क्य स्मृति 1.3

छन्द शब्द का अर्थ भी हमें वैदिक साहित्य में ही देखना चाहिये। निरुक्तकार महर्षि यास्क कहते हैं – **छन्दांसि छादनात्** । छादन करने से ये छन्द हैं। **छाद्यते छन्द्यते वा अनेन** । छन्द ही मन्त्रों का परिमाण बताते है। इस शास्त्र की इतनी प्रसिद्धि हुई कि– इसे विभिन्न नामों से जाना गया है। जैसे कि– छन्दोविचिति, छन्दोमान, छन्दसां लक्षण, छन्दसां विचय, छन्दोऽनुशासन, छन्दोविवृति तथा वृत्त ।

3.2.1 छन्दःशास्त्र का उद्भव

अब प्रश्न यह उठता है कि छन्दःशास्त्र की परम्परा कहां से प्रारम्भ हुई। वर्तमान में हमारे सामने जो छन्दःशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ है, वह है पिंगल का छन्दःसूत्र। इस ग्रन्थ पर यादवप्रकाश की टीका उपलब्ध है। यादवप्रकाश अपनी टीका के अन्त में छन्दःशास्त्र की आचार्य परम्परा का इस प्रकार उल्लेख करते हैं— भगवान् शिव, बृहस्पति, इन्द्र, शुक्र, माडव्य, सैतव, यास्क,, पिंगल । इसी के साथएक और परम्परा का उल्लेख मिलता है। वह है — शिव, गुह अर्थात् कार्तिकेय, सनत्कुमार, बृहस्पति, इन्द्र, शेष अर्थात् पतंजलि और पिंगल।

छन्दश्शास्त्र के ग्रन्थों जैसे कि **छन्दोऽनुशासन** आदि में अलग—अलग परम्परा का उल्लेख मिलता है लेकिन सभी ने पिंगल के योगदान को स्वीकार किया है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि पिंगल के छन्दःसूत्र के माध्यम से इस विद्या की विशेष प्रतिष्ठा हुई। इसकाएक कारण यह भी है कि पिंगल के पूर्व छन्दश्शास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही मिलता है लेकिन वैदिक छन्दों के विषय में हमें पर्याप्त सामग्री जिन ग्रन्थों में प्राप्त होती है, उनमे मुख्य हैं— ऋक्प्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुक्रमणी, निदानसूत्र, यजुस्सर्वानुक्रमसूत्र, पिंगलछन्दःसूत्र, उपनिदान सूत्रएवं वेंकटमाधवकृत ऋगर्थदीपिका । छन्दश्शास्त्र का इतना विस्तार हुआ कि आगे चलकार इसके दो स्वरूप हो गये— वैदिक और लौकिक, **छन्दसामार्षं लौकिकं च**। उपनिदान सूत्र 1.5

वैदिक साहित्य में प्रयुक्त छन्दों का स्वरूप लौकिक छन्दों से सर्वथा भिन्न है। लौकिक छन्दों में लघु, गुरु मात्राओं का आश्रय लिया जाता है जबकि वैदिक छन्दों में केवल अक्षरों की ही गणना की जाती है। इसलिये वैदिक छन्द अक्षर छन्द ही हैं। यहां पर हम वेदांग के रूप में छन्दस् वेदांग की चर्चा का रहे हैं इसलिये वैदिक छन्दस् वेदांग की चर्चा ही अभीष्ट है। महर्षि गार्ग्य के उपनिदानसूत्र के अनुसार सात मुख्य छन्द और चौदह अतिछन्द मिलकर इक्कीस छन्द हैं। इनके नाम हैं— 1. गायत्री 2. उष्णिक् 3. अनुष्टुप् 4. बृहती 5. पंक्ति 6. त्रिष्टुप् और 7. जगती अतिछन्द के नाम हैं— 1. अतिजगती 2. शक्वरी 3. अतिशक्वरी 4. अष्टि 5. अत्यष्टि 6. धृति 7. अतिधृति 8. कृति 9. प्रकृति 10. आकृति 11. विकृति 12. संकृति 13. अभिकृति 14. उत्कृति

3.3 विषय की दृष्टि से छन्दस् वेदांग एवं वैदिक छन्दों की उत्पत्ति

महर्षि शौनक द्वारा **ऋक् प्रातिशाख्य** नामक ग्रन्थ की रचना की गई है जिसमें कुल अठारह पटल हैं । इनमें अन्तिम तीन पटल के 204 सूत्रों में वैदिक छन्दों का वर्णन किया गया हैं। महर्षि शौनक के ऋक्प्रातिशाख्य में 188 छन्दों का वर्णन मिलता है।

इसके अनन्तरएक और आचार्य हुये जिन्होंने **ऋक्सर्वानुक्रमणी** की रचना की। ये थे आचार्य कात्यायन। आचार्य कात्यायन ने छन्दः प्रकरण को और समृद्ध किया। प्रत्येक संहिता के मन्त्रों में प्रयुक्त छन्दों का वर्णन अनुक्रमणियों में अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया गया है। आचार्य कात्यायन ने ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्रों के छन्दों का निर्देश सर्वानुक्रमणी में प्रमाण के साथ किया हैं। यहां पर जो वर्णन प्राप्त होता है वह केवल वैदिक छन्दों के सन्दर्भ में है जबकि पिंगल अपने छन्दःसूत्र में वैदिक तथा लौकिक दोंनो प्रकार के छन्दों का वर्णन करते हैं।

वैदिक छन्दों का आविर्भावएवं ऋषियों के द्वारा इसके स्वरूप का प्रकटीकरण हम लोगों के लिये बहुत बड़ी देन है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह व्यवस्थाएक निश्चित

नियम के अन्तर्गत कार्य करती है। जैसा कि पहले यह कहा जा चुका है कि वैदिक छन्दों की व्यवस्था में अक्षरों की संख्या पर ध्यान दिया जाता है।एक अक्षर या दो अक्षर कम या अधिक हो जाने पर छन्दों का स्वरूप परिवर्तन नही होता । यदि किसी छन्द काएक अक्षर कम हो तो उसे **निचृत्** विशेषण से औरएक अक्षर अधिक हो तो उसे **भुरिक्** विशेषण से युक्त किया गया है।

उदाहरण के लिये त्रिपदा गायत्री के अक्षरों की संख्या 24 है लेकिन 23 अक्षरों वाली गायत्री को **निचृद् गायत्री** और 25 अक्षरों वाली गायत्री को **भुरिग्गायत्री** कहा जाता है। इसी प्रकार दो अक्षरों की हीनता वाली गायत्री को **विराट् गायत्री** तथा दो अक्षरों की अधिकता वाली गायत्री को **स्वराट् गायत्री** छन्द से अभिहित किया गया है। इस तरह की व्यवस्था का प्रतिपादन ऋक्सर्वानुक्रमणी में विस्तार के साथ किया गया हैं और इसके लियेएक पारिभाषिक शब्द दिया गया हे जिये **व्यूहन्** कहते हैं। प्रमुख सात छन्दों में अक्षर संख्या इस प्रकार हैः–

1. गायत्री – 24,
2. उष्णिक् – 28
3. अनुष्टुप् – 32
4. बृहती – 36
5. पंक्ति – 40
6. त्रिष्टुप् – 44
7. जगती – 48

उपर्युक्त क्रम में हमें स्पष्ट दिखाई पड. रहा है कि चार–चार अक्षरों की वृद्धि हो रही है। वृद्धि का यह क्रम अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि और धृति छन्द में भी प्रतिपादित है अर्थात् धृति में 72 अक्षर होते है

3.4 छन्दस् वेदांग का महत्त्व

वेद के अर्थ को जानने के लिये सहायक विज्ञान अथवा अंग के रूप में छन्दस् वेदांग का ज्ञान आवश्यक है इसीलिये इसे उपकारक साधन के रूप में स्वीकार किया गया है । इसके महत्त्व का आकलन हम इस रूप में कर सकते हैं कि अग्निचयन में वेदी में जो इष्टिकायें प्रयुक्त होती हैं उन्हें छन्दों के रूप में ग्रहण किया गया है। छन्दों के माध्यम से ही मन्त्रों के परिमाण को बताया जा सकता हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल केएक मन्त्र में कहा गया है कि– गायत्र छन्द से प्रत्येक स्तोम को मापा जाता है।

वैदिक यज्ञएवं वैदिक देवशास्त्र में छन्दों का विशेष महत्त्व है। किसी भी मन्त्र में तीन बाते विशेष रूप से जाननी चाहिये, प्रथमतः उस मन्त्र का ऋषि कौन है अर्थात् किस ऋषि के द्वारा उस मन्त्र का साक्षात्कार किया गया है । मन्त्र का देवता कौन है। वस्तुतः मन्त्र में जिसके विषय में कहा जाता है वही उस मन्त्र का देवता होता है, **या तेनोच्यते सा देवता**। मन्त्र का छादन करने करने वाला है – छन्द। इसलिये छन्द के ज्ञान के विना यज्ञ की क्रिया में प्रवेश नही हो सकता है। यही कारण है कि छन्दों को देविका, देव्यः तथा देवताओं का देवता कहा गया है। छन्दों के द्वारा ही देवताओं ने स्वर्गलोक को प्राप्त किया। ये समस्त इच्छाओं की पूर्ति करते हैं तथा शक्ति प्रदान करते हैं। छन्दों के द्वारा यज्ञ में देवताओं को आहुति प्राप्त होती है। इसीलिये इन्हें

साध्याः देवाः कहा गया है।

छन्दस् वेदांग के विषय में यहां तक कहा गया है कि जो छन्द ज्ञान से रहित ब्राह्मण से यज्ञ कराता है या अध्यापन कराता है वहघोर पाप का भागी होता है। ऋग्वेद में छन्दों के देवताओं का उल्लेख किया गया है। **गायत्री छन्द** का सम्बन्ध अग्नि से है तथा **उष्णिक्** का सविता के साथ सम्बन्ध जुड़ गया। इसी तरह सोम का **अनुष्टुप्** के साथ तथा बृहस्पति का सम्बन्ध **बृहती** के साथ है। विराट् ने मित्र और वरुण में अपना आश्रय लिया तथा **त्रिष्टुप् छन्द** इन्द्र के हिस्से में आया। **जगती छन्द** ने विश्वेदेवों में प्रवेश किया। यह वर्णन ऋग्वेद 10. 130. 4एवं 5 में देखा जा सकता है।

3.5 प्रमुख वैदिक छन्दों का परिचय

वस्तुतः छन्दश्शास्त्र का पूर्ण ज्ञान अत्यन्त कठिन है । लेकिन यह विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है इसलिये हमें इसका ज्ञान होना चाहिये। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर प्रारम्भिक सात छन्दों के स्वरूपएवं उनके लक्षण पर यहां विचार किया जा रहा है। इनमें प्रथम है **गाायत्री छन्द**– गायत्री छन्द में विशेषरूप से तीन पाद होते हैं लेकिन किसी–किसी मन्त्र मेंएक, दो, चार या पांच पाद भी होते हैं। गायत्री छन्द के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। अक्षर संख्या में न्यूनता अथवा अधिकता होने से इसके कई भेद होते हैं लेकिन प्रत्येक पाद में समान आठ अक्षर होने से वह गायत्री नाम से ही कहा जाता है। उदाहरण के लिये ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही गायत्री छन्द में है जिसके प्रत्येक पाद में आठ अक्षर ही हैं। **अग्मीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।।**

1. छन्दश्शस्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों में गायत्री छन्द के 26 भेद प्राप्त होते हैं। विस्तार के भय से सभी का वर्णन करना यहां सम्भव नही है लेकिन सभी के नाम का स्मरण अवश्य कर लेना चाहिये। त्रिपदा गायत्री के भेद हैं– 1. गायत्री, 2. पादनिचृत गायत्री, 3. अतिपादनिचृत गायत्री, 4. अतिनिचृतगायत्री, 5. अतिनिचृद् गायत्री, 6. वर्धमाना गायत्री, 7. वर्धमाना गायत्रीका द्वितीय भेद, 8. प्रतिष्ठा, 9. वाराही, 10. नागी, 11. यवमध्या, 12. पिपीलिकामध्या, 13. उष्णिग्गर्भा, 14. भुरिक् गायत्री, 15. त्रिपाद विराट, 16. चतुष्पाद्, 17. पदपंक्ति, 18. पदपंक्ति गायत्री का दूसरा भेद, 19. भुरिक् पदपंक्ति गायत्री, 20 – 21. द्विपदा के दो भेद, 22 – 23. द्विपाद विराट् के दो भेद, 24. स्वराट् , 25.एकपदा।

   छन्दश्शस्त्र के अलग–अलग ग्रन्थों में इन भेद प्रभेदों के विषय में अपने–अपने मत हैं जो विशेष रूप से पादएवं अक्षर की दृष्टि से किये गये हैं।

2. **उष्णिक् छन्द**– इस छन्द में सामान्य रूप से तीन पाद और 28 अक्षर होते हैं । यदि गायत्री से इसकी तुलना करें तों इस छन्द में चार अक्षर अधिक होते हैं। इसका उष्णिक् नाम सम्भवतः इस लिये पड़ा कि इसके बढ़े हुये चार अक्षर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं जैसे कि सिर पर पगड़ी अर्थात् उष्णिक्। ये चार अक्षर पाद के प्रारम्भ में और अन्त में भी देखे जाते हैं। अक्षर संख्या की वृद्धि के आधार पर ही इसके आठ और भेद हुये हैं। ये भेद हैं– 1. ककुप्, 2. पुरउष्णिक्, 3. परोष्णिक् 4. ककुम्न्यङ्.कुशिरा, 5. तनुशिरा, 6. पिपीलिकामध्या, 7. चतुष्पाद और 8. अनुष्टुप्गर्भा ।

3. अनुष्टुप् – अनुष्टुप् छन्द में सामान्यतः चार पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में आठ–आठ अक्षर होते हैं लेकिन छन्दश्शस्त्र में अनुष्टुप् के जो भेद प्राप्त होते हैं

उनमे से कयी तीन पाद वाले भी हैं। अनुष्टुप् के अन्य स्वरूप इस प्रकार हैं– 1. पुरस्ताज्ज्योति, 2. मध्येज्योतिः, इसे पिपीलिकामध्या त्रिपाद भी कहते हैं। 3. उपरिष्टादज्ज्योति, 4. काविराट्, 5. नष्टरूपा , इसे नष्टरूपा इसलिये कहते हैं क्योंकि पादों में विषम संख्या होने के कारण अनुष्टुप् का मूल स्वरूप ही नष्ट हो गया । इसके तीन पादों में क्रमशः 9, 10एवं 13 अक्षर होते हैं। 6. विराट् , तीस अक्षर वालाएवं 33 अक्षर वाला। 8. चतुष्पाद् अनुष्टुप्, 9. पादैरनुष्टुप्, 10 महापदपंक्ति– इसमें 31 अक्षर के छः पाद होते हैं।

4. **बृहती**– बृहती छन्द 36 अक्षर का होता है अर्थात् इसमें अनुष्टुप् से चार अक्षर अधिक होते हैं। बृहती छन्द में सामान्यतः चार पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में नौ–नौ अक्षर होते हैं । पादों में अक्षर संख्या के आधार पर इसके भी अनेक भेद हैं जो इस प्रकार हैं– 1. **बृहती**, प्रत्येक पाद में समान अक्षर तथा वह बृहती जिसके दो पादों में 10–10 तथा तीसरेएवं चौथे पाद में 8–8 अक्षर। 3. **पुरस्ताद्बृहती**–प्रथम पाद में 12 तथा अन्य तीन में 8–8 अक्षर। 4. उरोबृहती, 5. पथ्या या सिद्धा बृहती, 6. उपरिष्टाद् बृहती, 7. विष्टार बृहती, 8. विषमपदाबृहती, 9. महा बृहती या सतो बृहती या ऊर्ध्वबृहती , इसे विराडर्ध्व बृहतीएवं त्रिपदा बृहती भी कहते हैं।

5. **पंक्ति**– यदि बृहती से इसकी तुलना करें तों इस छन्द में बृहती से चार अक्षर अधिक होते हैं अर्थात् इसमे चालीस अक्षर होते है। पंक्ति छन्द में भी सामान्यतः चार पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में 10–10 अक्षर होते हैं। अक्षरों की पाद व्यवस्था के कारण पंक्ति छन्द के भी कयी भेद होते हैं जो इस प्रकार है–1. सतः पंक्ति, इसके दो प्रकार हैं। 3. आस्तार पंक्ति, 4. प्रस्तार पंक्ति, 5. संस्तार पंक्ति, 6 विष्टारपंक्ति, 7. आर्षी पंक्ति, 8. विराट् पंक्ति, इसकाएक अन्य भेद भी प्राप्त होता है। 10. पथ्या पंक्ति, 11. पद पंक्ति, इसके भी दो भेद हैं। 13. अक्षर पंक्ति, इस छन्द के भी दो भेद हैं। 15. द्विपदा पंक्ति अथवा द्विपदाविष्टारपंक्ति या विराटपंक्ति, 16. जगतीपंक्ति या विस्तार पंक्ति।

6. **त्रिष्टुप् छन्द**– त्रिष्टुप् छन्द में कुल मिलाकर 44 अक्षर होते हैं ।इसके प्रत्येक पाद में 11–11 अक्षर होते हैं लेकिन दूसरे छन्दों की तरह त्रिष्टुप् के भी अनेक भेद होते हैं । भेद की दृष्टि से वस्तुतः त्रिष्टुप् सबसे आगे है क्योकि इनका संख्या कुल मिलाकर 21 है। यहां पर केवल नामोल्लेख ही किया जा सकता है। त्रिष्टुप् के अन्य भेद इस प्रकार है।– 1. त्रिष्टुप्, 2.जागती त्रिष्टुप्, 3. अभिसारणी, 4. विराट्स्थाना, 5. विराट्स्थाना, 6. विराट्स्थाना, विराट्स्थाना, वस्तुतः विराट्स्थाना के तीन भेद है। 7. विराड्रूपा, 8. पुरस्ताज्ज्योतिः, 9. मध्येज्ज्योतिः 10. उपरिष्टाज्ज्योतिः, 11. पुरस्ताज्ज्योतिः का दूसरा भेद, 12. मध्येज्ज्योतिः का दूसरा भेद 13. उपरिष्टाज्ज्योतिः का दूसरा भेद , 14. पुरस्ताज्ज्योतिः काएक और भेद, 15. मध्येज्ज्योतिः का तीसरा भेद 16. उपरिष्टाज्ज्योतिः का तीसरा भेद, 17. महाबृहती या पंचपदा त्रिष्टुप् 18. यवमध्या, 19. पङ्क्त्युत्तुरा या विराट्पूर्वा, 20. द्विपदा त्रिष्टुप्, 21.एकपदा।

7. जगती छन्द– जगती छन्द के प्रत्येक पाद मे 12–12 अक्षर होते है अर्थात् कुल मिलाकर 48 अक्षर होते हैं। जैसे कि अन्य छन्दों में हम लोगो ने देखा कि पादों में अक्षर संख्या के कम या अधिक होने से उसका स्वरूप बदल जाता है। इस आधार पर जगती के भी अनेक भेद होते हैं। जैसे कि– 1. जगती, 2. उपजगती, 3. पुरस्ताज्ज्योतिः, 4. मध्येज्ज्योतिः, 5. उपरिष्टाज्ज्योतिः, 6. महाबृहती या

पंचपदाजगती, 7. पुरस्ताज्ज्योतिः काएक और भेद, 8. मध्येज्ज्योतिः का दूसरा भेद, 9. उपरिष्टाज्ज्योतिः का दूसरा भेद , 10. षट्पदा महापंक्ति, 11. महापंक्ति का दूसरा भेद, 12.विष्टारपंक्ति जगती अथवा प्रवृद्धपदा, 13. द्विपदा, 14.एकपदा, 15. ज्योतिष्मती।

कुछ और छन्दों के वर्णन हमें वेड्.कटमाधव की छन्दोऽनुक्रमणी और षड्गुरुशिष्य की ऋक्सर्वानुऽक्रमणी की वेदार्थदीपिका नाम की टीका में प्राप्त होते हैं । यद्यपि इनका आधार महर्षि शौनक का पादविधान है। यहां जिन–जिन छन्दों का उल्लेख मिलता है, उनके नाम हैं– अतिजगती, शक्वरी,अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति ।

इसके अतिरिक्त महर्षि पतंजलि के निदानसूत्र नामक ग्रन्थ में कुछ और छन्दों के विषय में सूचना प्राप्त होती है यद्यपि इन छन्दों का प्रयोग ऋग्वेद के मन्त्रों में नही प्राप्त होता है लेकिन यजुर्वेद में इनके उदाहरण देखे जा सकते हैं। ये छन्द हैं– **कृति**, इसमे 80 अक्षर होते हैं। **प्रकृति**– इसमें 84 अक्षर होते हैं। **आकृति**– इसमे 88 अक्षर होते हैं। **विकृति**– इसमे 92 अक्षर होते हैं। **संकृति**– इसमे 96 अक्षर होते हैं। **अभिकृति**– इसमे 100 अक्षर होते हैं। **उत्कृति**– इसमे 104 अक्षर होते हैं। इनके भी अक्षर संख्या के बढ़ने आदि से अनेक भेद हैं।

छन्दश्शास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। छन्दों के समुदाय भी बनते हैं। इसके लिये प्रगाथ शब्द का व्यवहार किया जाता है। प्रगाथ के भी अनेक प्रकार होते हैं। वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में छन्दों के गोत्र, देवता और वर्ण का भी उल्लेख प्राप्त होता है। विशेषरूप से ऋक्प्रातिशाख्य और शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के साथ–साथ दैवत ब्राह्मण ओर पिंगलसूत्र में इस विषय में विस्तार के साथ सूचना मिलती है। गायत्री का आग्निवेश्य, उष्णिक् का काश्यप, अनुष्टुप् का गौतम, बृहती का आङ्गिरस, पंक्ति का भार्गव, त्रिष्टुप् का कौशिक और जगती का वशिष्ठ गोत्र है।

इसी तरह गायत्री का अग्नि, उष्णिक् का सविता, अनुष्टुप् का सोम, बृहती का बृहस्पति, पंक्ति का मित्रावरुण, त्रिष्टुप् का इन्द्र और जगती का विश्वेदेवों के साथ सम्बन्ध है। इस विषय में कुछ अलग–अलग मत भी हैं । साररूप में हम यह कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य में मुख्यरूप से सात छन्द हैं यद्यपि इनके कई भेद हैं। उन्ही के अन्दर सम्पूर्ण मन्त्र राशि आच्छादित है।

3.6 कल्प वेदांग का संक्षिप्त परिचयएवं इसके प्रणयन का उद्देश्य

कल्प वेदांग कल्प सूत्र के रूप में भी जाना जाता है। कल्पसूत्र कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी रचना सूत्रों के रूप में की गई है। सूत्र रूप में प्रस्तुत करने का प्रमुख उद्देश्य यह था कि इन्हें कंठस्थ करने में सरलता हो और प्रयोग में इनका स्मरण सरलता से हो सके इसलिये कल्प के सभी अंग सूत्र रूप में ही रखे गये हैं।

यदि हम कल्प शब्द के निर्वचन पर ध्यान दें तो हमें यह पता लगता है कि कल्प शब्द क्लृप् धातु से निष्पन्न हुआ है। क्लृप् धातु का अर्थ होता है– विधि। इन सूत्रों के द्वारा यज्ञ के विधि विधानों के साथ–साथ आचारएवं व्यवहार से सम्बन्धित नियमों को स्पष्ट किया गया है। इस रूप में इनका नामकरण कल्पसूत्र किया गया है। वैसे कल्प शब्द अन्य अनेक अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे– ब्रह्मा केएक दिन को भी कल्प कहते हैं। कामनाओं की पूर्ति करने वाला –कल्पवृक्ष।

यह शब्द प्रलय शब्द का पर्याय भी है अर्थात् सृष्टिएवं संहार चक्र। कल्प शब्द का व्यवहारएक और विशिष्ट अर्थ में होता है, वह हैं विविध प्रकार के याग आदि के साथ–साथ सामाजिक संस्कारों को प्रतिपादित करने वाले निर्देशक ग्रन्थ। यहां पर कल्प शब्द का यही अर्थ अभीष्ट है। वेद के प्रतिष्ठित भाष्यकार सायणाचार्य ने यही अपने भाष्य में कहा है–

कल्पसूत्राणि प्रयोगप्रतिपादकानि । कल्पग्रहणेन सूत्राण्येव गृह्यन्त इति।

जैसा कि छन्द के सम्बन्ध में कहा गया है कि छन्द वेदपुरुष के पैर हैं, उसी तरह कल्प वेद पुरुष के दोनों हाथ हैं। यह कहना सर्वथा उचित ही है क्योंकि सभी क्रियाओं का सम्पादन हाथों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। लोक में दो प्रकार के कर्म प्रचलित हैं। प्रथमतः वैदिक परम्परा जिसमें प्रवेश अग्निहोत्र धारण करने के पश्चात् होता है और दूसरी है स्मार्त परम्परा। स्मार्त परम्परा का प्रवेश लोक में प्रचलित सभी प्रकार के यागादि, व्रतएवं संस्कार आदि के साथ आश्रम व्यवस्था के नियमन में भी है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर हमारे आचार्यों ने कल्प का विभाजन निम्न लिखित रूपों में किया है–

1. श्रौत सूत्र
2. शुल्ब सूत्र
3. धर्म सूत्र
4. गृह्यसूत्र, पितृमेध सूत्र और प्रवर

3.6.1 कल्प वेदांग के अन्तर्गत श्रौत सूत्र

जैसा कि कहा गया है कि श्रौतएवं स्मार्त के रूप में दो प्रकार के कर्म विहित हैं। वैदिक परम्परा में प्रचलित विभिन्न प्रकार के यज्ञों को पूर्ण रूप से संचालित करने का जो विधि–शास्त्र है, वह है श्रौत सूत्र। श्रौत सूत्र उन्हीं विधियों का प्रतिपादन करते हैं जिनका कि वेद में उपदेश किया गया है। वस्तुतः श्रौत सूत्र अपनी–अपनी शाखा परम्परा का अनुवर्तन करते हैं अर्थात् वेद की शाखा विशेष में जिस प्रकार का निर्देश है उसी के सम्पादन हेतु सूत्र रूप में नियमों को ये श्रौत सूत्र प्रस्तुत करते हैं। यह मूल सिद्धान्त है। यज्ञ के सम्पादन में अथवा श्रौत कर्म के अनुष्ठान में विशेष रूप से पांच अग्नियों की स्थापना होती है जो इस प्रकार हैं–

1. गार्हपत्य अग्नि
2. आहवनीय अग्नि
3. दक्षिणाग्नि या अन्वाहार्यपचन
4. सभ्य और आवसथ्य अग्नि

इन अग्नियों में यज्ञ के ऋत्विक् गण किस प्रकार से किस यज्ञ को पूर्ण करेंगे, सभी क्रियाओं का क्रम क्या होगा तथा अग्निहोत्र धारण करने का स्वरूप क्या होगा, इन सभी विषयों पर सूत्र रूप में, श्रौत सूत्र, विधि का निर्देश करते हैं। इस तरह से यज्ञ संस्था को अनुशासनबद्ध करने के लिये कल्प वेदांग के अर्न्तगत श्रौतसूत्रों का प्रणयन हुआ। इनके रचना काल के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनकी रचना ईसा के आठवीं शताब्दी पूर्व तक हो चुकी थी।

3.6.2 कल्प वेदांग के अन्तर्गत शुल्ब सूत्र

शुल्ब का अर्थ होता है धागा या रस्सी। जिस कार्य में धागा की सहायता से कार्य सम्पन्न हो, उस विधान शास्त्र का नाम है शुल्ब सूत्र। इसकी सहायता से विभिन्न प्रकार की यज्ञ वेदियों के निर्माण के साथ–साथ यज्ञ मण्डप का निर्माण किया जाता है। अनेक प्रकार की चितियों के निर्माण का स्वरूप भी शुल्बसूत्रों के माध्यम से ही पूर्ण होता है। यद्यपि शुल्बसुत्रों का समावेश श्रौतसूत्रों के अन्तर्गत ही है क्योंकि प्रायः श्रौतसूत्रों का अन्तिम भाग शुल्बसूत्र के रूप में निबद्ध किया गया है लेकिन इनके महत्त्व को ध्यान में रखकर इनका वर्णन स्वतन्त्र रूप में किया जाने लगा।

3.6.3 कल्प वेदांग के अन्तर्गत गृह्य सूत्र

गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध स्मार्त कर्मों से हैं विशेष रूप सेऐसे कर्म जो विभिन्न प्रकार के संस्कारों से सम्बन्धित हैं। गृह्यसूत्र भी वेद की संहिताओं की अपनी–अपनी शाखा विशेष से सम्बन्धित हैं।

3.6.4 कल्प वेदांग के अन्तर्गत धर्म सूत्र

धमसूत्रों का सम्बन्ध सामाजिक व्यवहारएवं सभी प्रकार के विधि विधानों से है। अपने यहां भारतीय विद्या में कुल अठारह विद्यास्थान हैं जिनमें 14 विद्यायें धर्मस्थान हैं और शेष चार कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार , नीतिवाक्यामृतएवं शुक्रनीतिसार विद्या स्थान सर्वसामान्य के लिये हैं अर्थात् सबके लिये हैं। विद्यास्थान चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के बाहर हैं लेकिन धर्मस्थान का सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक जीवन के विकास के लिये है अर्थात् जो विषय सामाजिक नही है, उसका सम्बन्ध धर्मस्थान से नही है। समाज के तीन तत्त्व हैं– आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। समाज आचार से नियन्त्रित होता है। आचार का संस्कार के साथ सम्बन्ध है, इसलिये संस्कार समाज का विषय है। कानून का सम्बन्ध व्यवहार से है। यदि ब्रह्माण्ड के साथ रहना है तो ईश्वर के नियम को मानना पड़ेगाा। धर्मविज्ञान या विधिविज्ञान का मूल वेद है। वेद के द्रष्टा ही धर्मशास्त्र के स्रष्टा हैं। इसी से सत्य का विश्लेषण होता है। इन सबका प्रतिपादक शास्त्र हमारे धर्मसूत्र हैं जो वेद की शाखाओं के क्रम में हमे प्राप्त हुये हैं।

ऋग्वेद में उल्लेख है कि (ऋग्वेद 10:78)– कुरु प्रदेश में देवापि और शान्तनु नामक दो भ्राता थे। देवापि ज्येष्ठ था फिर भी शान्तनु ने राज्य ग्रहण कर लिया। इसके बाद 12 वर्षों तक अवर्षण रहा। तब पुरोहितों ने कहा, बड़े भाई के होते हुये शान्तनु ने राज्य पर अधिकार जमाया इसलिये यह वर्षा संकट उपस्थित हुआ है। शान्तनु बड़े भाई को राज्य देने के लिये तैयार था किन्तु देवापि ने मना कर दिया और राज्य के कल्याण के लिये पुरोहित बना और यज्ञ किया।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि वेद में प्राप्त आख्यानों में धर्म और नीति के तत्त्व पूरी तरह से दिखाई पड़ते हैं। इन्हीं तत्त्वों के माध्यम से शनैः शनैः ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में ऋत और धर्म के नियामक तत्त्वों का विकास होता चला गया और कालान्तर मेंएक स्वतंत्र संस्था के रूप में विकसित हुआ। जिसका निदर्शन हम क्रमशः धर्मसूत्रों में देखते हैं।

3.6.5 कल्प वेदांग के अन्तर्गत पितृमेधसूत्र

पितृमेध के अन्तर्गत प्रायः श्रौतसूत्रों में ही उस विधि का विवेचन किया गया है, जिसमें पुत्र अथवा सगोत्री, पिता के मृत्यु हो जाने पर करता है। 8यह विधि आहिताग्निएवं

अनाहिताग्नि के लिये अलग–अलग है। यह कल्प का अंग इसलिये है कि इसमें तीन या पांच अग्नियों के प्रयोग तथा विसर्जन का विधान है। इसके विशेष विवरण के लिये आप लोग श्रौत सूत्रों के पितृमेध प्रकरण का अध्ययन कर सकते हैं। इसका भी विवरण वेद की शाखा के अनुसार ही श्रौतसूत्रों में प्राप्त होता है।

3.6.6 कल्प वेदांग के अन्तर्गत प्रवर सूत्र

प्रवर का अर्थ ऋषि परम्परा समझना चाहिये। प्रायः सभी प्रधान यज्ञों में तथा विवाह आदि संस्कारों में गोत्र तथा प्रवर के उच्चारण करने की परम्परा भी श्रौतसूत्रों का अंग है। इसके विशेष अध्ययन के लिये आपको पुरुषोत्तमदेव की गोत्रप्रवरमंजरी जैसे ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।

3.7 वैदिक शाखाओं के अनुसार श्रौत सूत्रों का विवेचन

3.7.1 ऋग्वेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र

यह सर्वविदित है कि वेद की चार संहिता ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। सभी संहिताओं के अपने–अपने ब्राह्मण, आरण्यकएवं उपनिषद् हैं। इसके साथ ही साथ प्रत्येक संहिता के श्रौतसूत्र, शुल्बसूत्र, गृह्यसूत्रएवं धर्मसूत्र भी थे लेकिन कालक्रम से न तो सभी संहितायें प्राप्त होती हैं और न ही सभी संहिताओं के सूत्र ग्रन्थ। श्रौत सूत्रों का सम्बन्ध अपनी शाखा विशेष से है। शाखा का तात्पर्य यहाँ यह है कि– प्रत्येक संहिता को गुरु–शिष्य परम्परा द्वारा उपदेश के पश्चात् शिष्य उसे कण्ठस्थ कर लेता था। पुनः उसके माध्यम से यह ज्ञान दूसरे शिष्यों को प्राप्त होता हुआ जो आज हम सब के सामने प्रत्यक्ष है। कंठस्थ या श्रुति परम्परा से सुरक्षित यह ज्ञान गुरु परम्परा से प्रवर्तित होता हुआ, शाखा के रूप में जाना गया। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व ऋग्वेद की इक्कीस संहितायें थीं लेकिन इस समय केवल तीन संहितायें ही उपलब्ध हैं– शाकल संहिता, आश्वलायन संहिताएवं कौषीतकि संहिता या शांखायनी संहिता। ब्राह्मण के रूप में केवलऐतरेयएवं कौषीतकि ब्राह्मण ही प्राप्त है। इस रूप में जो श्रौत सूत्र उपलब्ध हैं वे उस शाखा के साथ–साथ अप्राप्य शाखा के प्रयोग पद्धति का भी पूर्णरूप से परिचय देते हैं। ऋग्वेद के इस समय दो श्रौत सूत्र प्राप्त होते हैं– आश्वलायन श्रौत सूत्रएवं शांखायन श्रौत सूत्र।

3.7.1.1 ऋग्वेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य

आश्वलायन श्रौत सूत्र मुख्य रूप से दर्शपूर्णमास से लेकर अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, पिण्डपितृयाग, अन्वारम्भणीय इष्टि, आग्रायण इष्टि, काम्य इष्टियां, चातुमास्य इष्टि के साथ–साथ निरूढ पशु, सौत्रामणी, प्रायश्चित्त, ज्योतिष्टोम,एकाह, अहीन, गवामयन तथा सत्र यागों की विधि विधानों का वर्णन करता है। इस श्रौत सूत्र में उपर्युक्त यज्ञों में होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत नाम के ऋत्विजों द्वारा किये जाने वाले कार्यों का विवरण प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद के ऋत्विक् होता के साथ उसके सहायकों का मुख्य कर्तव्य है ऋग्वेद के मन्त्रों, निविदों तथा प्रैषों का पाठ करना। इस श्रौत सूत्र में अश्वमेध के साथ–साथ गवामयन आदि दीर्घकालिक सत्रों का भी विवेचन है। शांखायन श्रौत सूत्र में भी उपर्युक्त विषयों के साथ–साथ वाजपेय तथा शुनःशेप आख्यान को समाहित किया गया है। इस श्रौत सूत्र में सारस्वत सत्रएवं दार्षद्वत सत्र का भी विवरण है जो सास्वती तथा पृषद्वती नदियों के तट पर किया जाता था और अवभृथ स्नान यमुना में करने का विधान है।

3.7.2 यजुर्वेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र

यजुर्वेद का विस्तार वर्तमान में कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद के रूप में प्राप्त होता है। चरण व्यूह कृष्ण यजुर्वेद की शाखा परम्परा में 86 शाखाओं तथा शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेयि शाखा) की पन्द्रह शाखायें स्वीकार करता हैं अर्थात् यजुर्वेद की कुल 101 शाखाओं का परिचय मिलता है। लेकिन वर्तमान में इन दोनों में केवल छःशाखायें वर्तमान में उपलब्ध है। कृष्ण यजुर्वेद की शाखा परम्परा के अन्तर्गत तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायिणी संहिता, काठक संहिताएवं कपिष्ठल संहिता तथा शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनएवं काण्व संहिता की पाठ परम्परा प्रचलित है।

जहां तक इन शाखाओं के श्रौत सूत्रों का प्रश्न है, उनमें से कृष्ण यजुर्वेद की शाखा परम्परा के इस समय आठ श्रौत सूत्र प्राप्त होते हैं। इनमें तैत्तिरीय शाखा से जो सबन्धित हैं, उनके नाम हैं– बौधायन श्रौत–सूत्र, भारद्वाज श्रौत–सूत्र, आपस्तम्ब श्रौत–सूत्र, हिरण्यकेशी श्रौत–सूत्र, या सत्याषाढ़ श्रौत–सूत्र, वैखानस श्रौत–सूत्रएवं वाधूल श्रौत–सूत्र । इनमें से भारद्वाज श्रौत–सूत्र, आपस्तम्ब श्रौत–सूत्र तथा हिरण्यकेशी श्रौत–सूत्र विषय प्रवर्तन तथा प्रवचन की दृष्टि सेएक दूसरे के समान हैं। इनमें यज्ञीय प्रक्रिया का प्रवर्तन भीएक दूसरे के समान है। कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायिणी शाखा से सम्बन्धित दो श्रौत सूत्र प्राप्त होते हैं। इनके नाम हैं– मानव श्रौत सूत्र तथा वाराह श्रौत सूत्र। काठक शाखा के श्रौत सूत्र का भी कुछ अंश प्राप्त होता है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनएवं काण्व संहिता दोनों के लिये कात्यायन श्रौत सूत्र प्रचलित है।

3.7.2.1 यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य

यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रों में बौधयन श्रौत सूत्र सबसे प्रधान तथा प्राचीन है। इसमें कुल तीस प्रश्न या अध्याय हैं जिसमेंएक से लेकर उन्तीस प्रश्न श्रौत सूत्र से सम्बन्धित हैं जबकि उन्तीसवां शुल्ब सूत्रएवं प्रवर सूत्र है। इस श्रौत सूत्र मे भी आश्वलायन श्रौत सूत्र के समान ही विवेचन है लेकिन इसके 16वें प्रश्न से द्वदशाह, अतिरात्र,एकाह, काठक चयन, द्वैध, कर्मान्तएवं प्रायश्चित्त प्रकरण संगृहीत है। बौधयन श्रौत सूत्र मेंएक बात यह विशेष है कि यह गोपितृयाग का वर्णन करता है।

मानव श्रौत सूत्र, वाधूल श्रौत सूत्र, भारद्वाज श्रौत सूत्र, सत्याषाढ़ श्रौत सूत्र, वैखानस श्रौत सूत्रएवं वाराह श्रौत सूत्र में भी यज्ञीय प्रक्रियाओं का ही वर्णन किया गया है। यह बात अवश्य है कि शाखा भेद से क्रियाओं में थोड़ा बहुत अन्तर है। जैसे कि– किसी ऋत्विक् द्वारा मन्त्र का उच्चारण धीरे–धीरे से करना है या जोर से करना है। प्रत्येक श्रौतसूत्र कुछ न कुछ विवरण के लिये अपना विशेष स्थान रखतें हैं, जैसे कि– वैखानस श्रौत सूत्र अग्निमन्थन तथा अग्नि कुण्डों का वर्णन यथार्थरूप से करता है। यज्ञपात्रों का भी विस्तार से वर्णन करता है।

शुक्ल यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रों में, कात्यायन श्रौत सूत्र, शतपथ ब्राह्मण तथा ताण्ड्यमहाब्राह्मण को आधार मानकर यज्ञीय विधि विधानों का वर्णन करता है। इसमें विशेष रूप से चार महासत्रों का विवरण उपलब्ध होता है, ये हैं– प्राजापत्य, शाक्त्यानामयनम्, साध्यानामयनम् तथा विश्वसृजामयनम्। ये सत्र क्रमशः 12 वर्ष, 36 सम्वत्सर, सौ वर्ष तथाएक हजार वर्ष में पूर्ण होते हैं।

3.7.3 सामवेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र

सामवेद की शाखा परम्परा में जैमिनीय, राणायनीयएवं कौथुम शाखा का ही वर्तमान मे प्रचलन है। यद्यपिएक समय में सामवेद कीएक हजार शाखायें प्रचलित थीं। यही कारण है कि सामवेद के श्रौत सूत्र भी सबसे अधिक उपलब्ध थे । वर्तमान में जो श्रौत सूत्र प्राप्त होते हैं, उनके नाम हैं– आर्षेयकल्प, लाट्यायन श्रौत सूत्र, द्राह्यायण श्रौत सूत्रएवं जैमिनीय श्रौत सूत्र । लाट्यायन श्रौत सूत्र का सम्बन्ध कौथुम शाखा से है जबकि द्राह्यायण श्रौत सूत्र राणायनीय शाखा से सम्बन्धित है। जैमिनीय श्रौत सूत्र का पता तो उसके नाम से चल जाता है कि इसका सम्बन्ध जैमिनीय शाखा से है। इनमे से सबसे प्राचीन आर्षेयकल्प को स्वीकार किया जाता है। इसके द्वितीय भाग को क्षुद्र कल्पसूत्र के रूप में कहा गया है। इसके साथ ही निदान सूत्रएवं उपनिदान सूत्र भी सामवेदीय श्रौतसूत्र के अन्तर्गत कहे गये हैं।

3.7.3.1 सामवेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य

सामवेद से सम्बन्धित श्रौत सूत्रों में यदि आर्षेयकल्प को समझा लिया जाय तो अन्य श्रौत सूत्रों के विषय में सहज ही अनुमान हो जायेगा। मशक गार्ग्य द्वारा प्रणीत यह श्रौत सूत्र साठएकाहों, सैतालिस अहीन, पचास के लगभग सत्रों तथा अठारह अयनों से सम्बन्धित सामों, स्तोमों तथा क्लृप्तियों का वर्णन प्रस्तुत करता है। इस श्रौत सूत्र में यज्ञों में विनियोग किये जाने वाले गानों अर्थात् सामन् को सामवेद के ऊह तथा रहस्य गाान से लिया गया हैं। इसके साथ ही ग्रामगेयगान और अरण्यगेयगानों को भी सम्मिलित किया गया है।

इसी प्रकार क्षुद्रकल्प सूत्र में भी पचासीएकाहों से सम्बन्धित सामों का विवेचन है। इस कल्प सूत्र की विशेषता यह है कि यह उन काम्य तथा प्रायश्चित्त कर्मों के विषय में बताता है जिनके विषय में आर्षेय कल्प मौन है।

जैमिनीय श्रौतसूत्र का कलेवर सूत्र, कल्पएवं पर्याध्याय के रूप में विभाजित है। सर्वप्रथम ज्योतिष्टोम, अग्न्याधान तथा अग्निचयन से सम्बद्ध सामों को बताया गया है। कल्प का विषय आर्षेय कल्प के समान है। इसमें सामगान के विविध नियम के साथ–साथ सामों के देवता, छन्द, सामों के अन्त, निधनों के ऋषि तथा रथन्तरजामि का विवेचन किया गया है। यज्ञीय विधि विधान की दृष्टि से यह प्रमुख यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रों के समान है।

सामवेदीय श्रौत सूत्रों में लाट्यायन श्रौत सूत्र का वैशिष्ट्य यह है कि– यह श्रौत सूत्र उद्गाता तथा प्रस्तोता के प्रातः सवन के कर्तव्य के साथ–साथ सोमयाग तथा इसकी संस्थाओं से सम्बन्धित विभिन्न दीक्षा का विवेचन करता है। इसके चतुर्थ प्रपाठक में वीणा के विविध प्रकार के साथ–सथा वीणा निर्माण की विधि का भी विवेचन किया गया है। इसमे कुल दश प्रपाठक हैं।

द्राह्यायण श्रौत सूत्र का प्रतिपाद्य विषय भी कुछ परिवर्तनों के साथ सामवेद के दूसरे श्रौत सूत्रों की तरह ही है जबकि निदानसूत्र छन्दों आदि की परीक्षा करके उन्हें प्रस्तुत करता है।

3.7.4 अथर्ववेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र

अथर्ववेद को ब्रह्म वेद, भृगु वेद, यातु वेद, भैषज्य वेद, क्षत्र वेद, ग्रामयाजि वेद आदि नामों से अभिहित किया जाता है। चरण व्यूह इसकी नौ शाखा परम्परा का वर्णन

करता है – पैप्पला, शौनका, दान्ता, प्रदान्ता, औता, जाबाला, ब्राह्मपलाश, कुनखीवेददर्शीएवं चारण विद्या। लेकिन इनमें से केवल दो की ही शाखा परम्परा आज प्रचलित है– पैप्पलादएवं शौनक लेकिन इनमे से केवलएक ही श्रौत सूत्र प्राप्त होता है वह है– वैतान श्रौत सूत्र। यह श्रौत सूत्र ब्रह्मा नामक ऋत्विक् के सभी कर्तव्यों का विवरण प्रथम अध्याय में ही कर देता है। इस श्रौत सूत्र में आठ अध्यायएवं 43 कण्डिकायें हैं जिनमें अथर्ववेदीय परम्परा के सभी यज्ञ आदि का विवेचन किया गया है। वैतान श्रौत सूत्र पर सोमादित्य का भाष्य प्राप्त होता है।

3.7.4.1 अथर्ववेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य

अथर्ववेद के श्रौत सूत्रों का परिचय हमें वैतान सूत्र या वितान सूत्र के रूप में प्राप्त होता है। इसे अथर्वसूत्र आथर्वण के रूप में भी सम्बोधित करते हैं। इसकी रचना का आधार इसका गृहयसूत्र अर्थात् कौशिकसूत्र है। इसी कारण इसे कौशिकीयसूत्र भी कहा जाता है। इसके आठ अध्यायों में वह सभी विषय समाहित हैं जिनका वर्णन अन्य श्रौतसूत्रों में उनकी अपनी शाखा के अनुसार प्राप्त होता है। इसकी अपनी विशेषता यह है कि कौशिकसूत्र में प्रतिपादित गणों का यहां वर्णन किया गया है। जैसे– चातन गण, वास्तोष्यपत्यगण, अपां सूक्तानि, सम्पात् सूक्तानि, सहस्रबाहुसूक्त आदि।

3.8 वैदिक शाखाओं के अनुसार गृह्य सूत्रों का विवेचन

जैसा कि इनके नाम से ही प्रतीत होता है कि गृह्य सूत्रों का सम्बन्ध सामाजिक संस्कारों से हैं। इनके अन्तर्गत सभी प्रमुख संस्कारों के साथ–साथ वास्तु प्रकरण का भी विधान किया गया है। गृहस्थ के लिये आवश्यक पांच विशेष महायज्ञ का वर्णन भी इन्हीं के अन्तर्गत है। ये पांच महायज्ञ हैं– ऋषि तर्पण, वेदाध्ययन, उपाकर्म, समावर्तन तथा राजसन्नाहन। सम्पूर्ण श्राद्ध प्रक्रिया भी गृह्य सूत्र का ही विषय है लेकिन क्रमएवं विस्तार की दृष्टि से सभी श्रौत सूत्रों में विभिन्नता है। यहां पर शाखा परम्परा की दृष्टि से उनका वर्णन किया जा रहा है–

3.8.1 ऋग्वेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र

ऋग्वेद के इस समय केवल तीन ही श्रौत सूत्र प्राप्त होते हैं– आश्वलायन श्रौत सूत्र, शांखायन श्रौत सूत्रएवं कौषीतकि श्रौत सूत्र । इसके अतिरिक्त अभी भी इस शाखा के कुछ गृहय सूत्र अप्रकाशित हैं। इनका उल्लेख विभिन्न टीकाकारों के द्वारा किया गया है। शांखायन श्रौत सूत्रएवं कौषीतकि श्रौत सूत्र में आपस में बहुत समानता है। प्रथम चार अध्याय तोएक जैसे ही है केवल कौषीतकि मेंएक अध्याय अलग से है।

3.8.2 यजुर्वेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र

जहां तक यजुर्वेद की शाखाओं के गृह्य सूत्रों का प्रश्न है, उनमें से कृष्ण यजुर्वेद की शाखा परम्परा के सबसे अधिक गृह्य सूत्र प्राप्त होते हैं। इनमें तैत्तिरीय शाखा से जो सबन्धित हैं, उनके नाम हैं– भारद्वाज गृह्य–सूत्र, वैखानस गृह्य–सूत्र,एवं आपस्तम्ब गृह्य–सूत्र। हिरण्यकेशी गृह्य–सूत्र, या सत्याषाढ़ गृह्य–सूत्र का सम्बन्ध खाण्डिकीय शाखा से है। मानवगृह्य–सूत्र, मैत्रायिणी शाखा का गृह्य–सूत्र है। काठक गृह्य–सूत्र काठक शाखा का तथा वाराह गृह्य–सूत्र, का सम्बन्ध वाराह शाखा से है जो मूलतः मैत्रायिणी शाखा की ही उपशाखा है। आग्निवेश्य गृह्य–सूत्र, वाधूल शाखा का गृह्य–सूत्र माना जाता है। कठ कपिष्ठल गृह्य–सूत्र अभी भी अप्रकाशित है।

शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनएवं काण्व दोनों शाखाओं के लिये पारस्कर गृह्य–सूत्र ही मान्य है। यह गृह्य–सूत्र भी अन्य गृह्य–सूत्रों की तरह अत्यन्त विस्तार के साथ सभी सामाजिक संस्कारों का वर्णन करता है जिसमें प्रमुख हैं– विवाह आदि संस्कार, प्रतिदिन किये जाने वाले होम तथा अन्न बलि, मासिक तथा वार्षिक कर्म, प्रायश्चित्त कर्म, वापी, कूप, तडागादि की स्थापना विधि, श्राद्ध प्रकरण आदि। इस गृह्य–सूत्र पर अनेक आचार्यों की टीकायें प्राप्त होती हैं।

3.8.3 सामवेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र

यद्यपि जैमिनीय, राणायनीयएवं कौथुम शाखा की ही पाठ परम्परा वर्तमान में उपलब्ध हैं लेकिन गृह्य–सूत्रों के रूप में इस शाखा के गोभिल गृह्य–सूत्र, खादिर गृह्य–सूत्र, द्राह्यायण गृह्य–सूत्र, जैमिनीय गृह्य–सूत्रएवं कौथुम गृह्य–सूत्र प्राप्त होते हैं।

3.8.4 अथर्ववेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र

अथर्ववेद की नौ शाखा परम्परा का उल्लेख किया गया है लेकिन जहां तक इसके गृह्य–सूत्रों के प्राप्त होने का विषय है, केवलएक गृह्य–सूत्र अर्थात् कौशिक गृह्य–सूत्र प्राप्त होता है। इस गृह्य–सूत्र के विषय में भी विद्वानों का यही मत है कि वस्तुतः यह श्रौत सूत्र ही है। इसका प्रतिपाद्य विषय दर्शपूर्णमास, राजा से सम्बन्धित कर्म जैसे राज्याभिषेक, रोग निवारक, संतानोपत्ति, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन तथा वशीकरण आदि से सम्बन्धित कर्म का क्रम प्रारम्भ में प्रस्तुत किया गया है। इसके अनन्तर शान्ति कर्म, अभिचारक कर्म, मांगलिक कर्म, विवाह तथा अन्त्येष्टि आदि के विषय में भी कहा गया है। अन्तिम 13वेंएवं 14वें अध्याय में अद्भुत कर्म, वेदारम्भ, इन्द्रमहोत्सवएवं अनध्याय का वर्णन किया गया है।

3.9 वैदिक शाखाओं के अनुसार धर्म सूत्रों का विवेचन

वेद की चारों संहिताओं के जैसे अपने–अपने ब्राह्मण, आरण्यकएवं उपनिषद् हैं वैसे ही धर्मसूत्र भी हैं। लेकिन कालक्रम से न तो सभी संहितायें प्राप्त होती हैं और न ही सभी संहिताओं के धर्मसूत्र। उपलब्ध धर्म सूत्रों का सम्बन्ध अपनी शाखा विशेष से है जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

3.9.1 ऋग्वेद की शाखाओं के धर्मसूत्र

धर्मसूत्रों में गोभिल धर्मसूत्रएवं वासिष्ठ धर्मसूत्र को ऋग्वेद से सम्बन्धित धर्मसूत्र माना गया है। तीस अध्यायों में विभाजित यह धर्मसूत्र स्नातक अर्थात् ब्रह्मचारी के कर्तव्यों के साथ–साथ उपनयनएवं पंचमहायज्ञ आदि का विवेचन करता है

3.9.2 यजुर्वेद की शाखाओं के धर्मसूत्र

कृष्ण यजुर्वेद के सबसे अधिक धर्म सूत्र प्राप्त होते हैं। इनमें तैत्तिरीय शाखा से सबन्धित धर्म सूत्र बौधायन धर्मसूत्र, वैखानस धर्म–सूत्र,एवं आपस्तम्ब गृह्य–सूत्र हैं। हिरण्यकेशी धर्म–सूत्र, का सम्बन्ध खाण्डिकीय शाखा से है। हारीत धर्म सूत्र भी प्राप्त होता है जिसका सम्बन्ध मैत्रायिणी शाखा के साथ कहा गया है।

3.9.3 सामवेद की शाखाओं के धर्म सूत्र

सामवेद के दो धर्मसूत्र प्राप्त होते हैं– गौतम धर्म सूत्रएवं विष्णु धर्म सूत्र।

3.9.4 अथर्ववेद की शाखाओं के धर्म सूत्र

अथर्ववेद का कोई भी धर्मसूत्र अभी तक प्रकाश में नही आया है।ऐसी स्थिति में दूसरी शाखा में प्रवर्तित सूत्र ही सामाजिक व्यवहार आदि में प्रयुक्त होते हैं।

3.10 सारांश

वेद के अर्थ को समझने के लिये छन्द का ज्ञान आवश्यक है। जहां तक छन्द के प्राचीनता का प्रश्न है, छन्द उतने ही प्राचीन हैं जितना कि मन्त्रमयी वाणी। यही कारण है कि भारतीय चिन्तन परम्परा में छन्दों का आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक तीनों रूपों में विवेचन किया गया है। वैदिक छन्दों का आविर्भावएवं इसके स्वरूप का प्रकटीकरण ऋषियों के द्वारा हम लोगों के लिये बहुत बड़ी देन है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह व्यवस्थाएक निश्चित नियम के अन्तर्गत कार्य करती है। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त छन्दों का स्वरूप लौकिक छन्दों से सर्वथा भिन्न है। लौकिक छन्दों में लघु, गुरु मात्राओं का आश्रय लिया जाता है जबकि वैदिक छन्दों में केवल अक्षरों की ही गणना की जाती है। इसलिये वैदिक छन्द अक्षर छन्द ही हैं। महर्षि शौनक के ऋक्प्रातिशाख्य में 188 छन्दों का वर्णन प्राप्त होता है। महर्षि गार्ग्य के अनुसार सात मुख्य छन्द और चौदह अतिछन्द मिलकर इक्कीस छन्द हैं। इनके नाम हैं– 1. गायत्री 2. उष्णिक् 3. अनुष्टुप् 4. बृहती 5. पंक्ति 6. त्रिष्टुप् और 7. जगती। अतिछन्द के नाम हैं– 1. अतिजगती 2. शक्वरी 3. अतिशक्वरी 4. अष्टि 5. अत्यष्टि 6. धृति 7. अतिधृति 8. कृति 9. प्रकृति 10. आकृति 11. विकृति 12. संकृति 13. अभिकृति 14. उत्कृति।

कल्प वेद पुरुष के दोनों हाथ हैं। सभी क्रियाओं का सम्पादन हाथों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। लोक में दो प्रकार के कर्म प्रचलित हैं। प्रथमतः वैदिक परम्परा जिसमें प्रवेश अग्निहोत्र धारण करने के पश्चात् होता है और दूसरी है स्मार्त परम्परा। स्मार्त परम्परा का प्रवेश लोक में प्रचलित सभी प्रकार के यागादि, व्रतएवं संस्कार आदि के साथ आश्रम व्यवस्था के नियमन में भी है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर हमारे आचार्यों ने कल्प का विभाजन श्रौत सूत्र, शुल्ब सूत्र, धर्म सूत्र, गृह्यसूत्र, पितृमेध सूत्र और प्रवर के रूपों में किया है।

विभिन्न प्रकार के यज्ञों को पूर्ण रूप से संचालित करने का जो विधि–शास्त्र है, वह है श्रौत सूत्र। श्रौत सूत्र उन्हीं विधियों का प्रतिपादन करते हैं जिनका कि वेद में उपदेश किया गया है। वस्तुतः श्रौत सूत्र अपनी–अपनी शाखा परम्परा का अनुवर्तन करते हैं अर्थात् वेद की शाखा विशेष में जिस प्रकार का निर्देश है उसी के सम्पादन हेतु सूत्र रूप में नियमों को ये श्रौत सूत्र प्रस्तुत करते हैं।

शुल्ब का अर्थ होता है धागा या रस्सी। जिस कार्य में धागा की सहायता से कार्य सम्पन्न हो , उस विधान शास्त्र का नाम है शुल्ब सूत्र। इसकी सहायता से विभिन्न प्रकार की यज्ञ वेदियोंएवं चितियों के निर्माण के साथ–साथ यज्ञ मण्डप का निर्माण किया जाता है ।

गृह्यसूत्रएवं धर्मसूत्रों का सम्बन्ध सामाजिक संस्कार, आचारएवं व्यवहार तथा सभी प्रकार के विधि विधानों से है। पितृमेध प्रकरण से मृत्यु उपरात किये जाने वाले विशिष्ट कर्म का ज्ञान होता है। प्रवर के स्मरण से अपनी ऋषि परम्परा का स्मरण करते हैं। इस रूप में छन्दएवं कल्प वेदांग वस्तुतः भारतीय समाजएवं संस्कृति के निर्माता हैं।

3.11 शब्दावलियाँ

1. **निचृत्**– यदि किसी छन्द मेंएक अक्षर कम हो तो उसे **निचृत्** विशेषण से सम्बोधित करते हैं।
2. **भुरिक्**– यदि किसी छन्द मेंएक अक्षर अधिक हो तो उसे **भुरिक्** विशेषण से युक्त किया गया है। उदाहरण के लिये त्रिपदा गायत्री के अक्षरों की संख्या 24 है लेकिन 23 अक्षरों वाली गायत्री को **निचृद् गायत्री** और 25 अक्षरों वाली गायत्री को **भुरिग्गायत्री** कहा जाता है।
3. **विराट् गायत्री**– दो अक्षरों की हीनता वाली अर्थात् जिसमें दो अक्षर कम है ,ऐसे गायत्री छन्द को को **विराट् गायत्री** कहते हैं।
4. **स्वराट् गायत्री** – दो अक्षरों की अधिकता वाली गायत्री को **स्वराट् गायत्री** छन्द से अभिहित किया गया है।

3.12 बोध प्रश्न या अभ्यास प्रश्न

1. वेदांग को हम किस रूप में जानते हैं –
   क) वेद को समझने के सहायक विज्ञान के रूप में
   ख) उपवेद के रूप में
   ग) यज्ञ के रूप में
   घ) उपर्युक्त में से कोई नही
2. वेदांग के नामकरण का कारण है –
   क) छन्दएवं ज्योतिष
   ख) वेदांग के रूप में कहे गये वेद के छः अंग
   ग) पराएवं अपरा विद्या का कथन
   घ) वेद का स्वरूप निर्धारित करना।
3. छन्दस् वेदांग को किस अंग की उपमा दी गई है–
   क) मुख
   ख) नेत्र
   ग) पाद
   घ) श्रोत्र
4. छन्दस् वेदांग का विशेष महत्त्व है –
   क) यज्ञ के संचालन में
   ख) ऋत्विकों के चयन में
   ग) यज्ञ करने के लिये समय के निर्धारण में
   घ) छन्दों के माध्यम से मन्त्रों के परिमाण को जानने में
5. वैदिक छन्दों का विभाजन किस आधार पर किया गया है–
   क) छन्दों के आधार पर

ख) स्वर के आधार पर

ग) उदात्त– अनुदात्त के आधार पर

घ) स्वरित के आधार पर

6. वेद में आठ अक्षर वाले छन्द का क्या नाम है–

क) त्रिष्टंप्

ख) गायत्री

ग) अनुष्टुप्

घ) उपर्युक्त सभी गलत हैं

7- 44 अक्षर वाले छन्द का नाम है–

क) पंक्ति

ख) उष्णिक्

ग) त्रिष्टुप्

घ) बृहती

8. इनमें से कौन सा ग्रन्थ छन्दश्शास्त्र से सम्बन्धित नही है

क) पिंगल का छन्दःसूत्र

ख) छन्दोऽनुशासन

ग) छन्दोमंजरी

घ) निरुक्त

9- कल्प की तुलना वेद पुरुष के किस अंग से की गई है–

क) दोनों हाथ

ख) दोनों नेत्र

ग) श्रोत्र

घ) उपर्युक्त में से कोई नही

10. निम्नलिखित में से किसका सम्बन्ध कल्प से नही है–

क) श्रौत–सूत्र

ख) ब्रह्मसूत्र

ग) धर्मसूत्र

घ) गृह्यसूत्र

11- निम्नलिखित में कौन सा श्रौतसूत्र ऋग्वेद से सम्बन्धित नही है–

क) आश्वलायन श्रौत–सूत्र

ख) शांखायन श्रौत–सूत्र

ग) बौधायन श्रौत–सूत्र

घ) उपर्युक्त में से कोई नही

12- निम्नलिखित में कौन सा श्रौतसूत्र कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित नहीं है–

क) बौधायन श्रौत–सूत्र,

ख) भारद्वाज श्रौत–सूत्र,

ग) आपस्तम्ब श्रौत–सूत्र,

घ) कात्यायन श्रौत सूत्र

13- वैतान श्रौत–सूत्र में किस ऋत्विक् के कर्तव्यों का विवेचन है

क) ब्रह्मा

ख) अध्वर्यु

ग) होता

घ) उद्गाता

14- इनमें से कौन सा प्रकरण गृह्य–सूत्र से सम्बन्धित नही है –

क) विवाह आदि संस्कार तथा प्रतिदिन किये जाने वाले होमएवं प्रायश्चित्त कर्म,

ख) दर्शपूर्णमास इष्टि

ग) मासिक तथा वार्षिक श्राद्ध प्रकरण

घ) वापी, कूप, तडागादि की स्थापना विधि,

15- पितृमेधसूत्र प्रकरण का प्रारम्भ कब किया जाता है–

क) दर्शपूर्णमास इष्टि प्रारम्भ करने के पूर्व

ख) अग्निहोत्र ग्रहण करने के समय

ग) पिता की मृत्यु के उपरान्त

घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

16- निम्नलिखित में से प्रवर का अर्थ है–

क) गुरु परम्परा

ख) गुरु–शिष्य परम्परा

ग) विवाह संस्कार का अनुष्ठान

घ) ऋषि परम्परा

3.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

– 1.(क), 2. (ख), 3.(ग), 4..(घ), 5.(क), 6.(ख), 7.(ग), 8.(घ), 9.(क), 10. (ख), 11. (ग), 12.(घ), 13.(क), 14. (ख), 15.(ग), 16.(घ)

3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास प्रथम खण्ड, वेद, प्रधान सम्पादक-पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, सम्पादक-प्रो0 व्रजबिहारी चौबे, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996

2. निरुक्तम्, महामहोपाध्याय श्री छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2016

3. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, तृतीय भाग ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ, लेखक-पं0 भगवदत्त, 2016

4. वैदिक छन्दोमींमासा, पं0 युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, हरियाणा, 1979

5. छन्दशास्त्र का उद्भवएवं विस्तार, प्रोफेसर श्रीकिशेर मिश्र, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणासी, 2006

6. शौनककृत ऋक्प्रातिशाख्य

7. छन्दःसूत्र, पिंगलप्रोक्त

8. ऋक्सर्वानुक्रमणी, कात्यायन प्रोक्त

9. ए प्रेक्टिकल वैदिक डिक्सनरी, सूर्यकान्त आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली-1981

10. वैदिक कोषः हंसराज एवं भगवद्दत्त, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2002

11. वेदांग, वैदिक वाङ्मय का बृहद् इतिहास, कुन्दनलाल शर्मा, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होश्यारपुर, पंजाब, 1983

इकाई 4 ज्योतिषशास्त्र का प्रयोजन, प्रतिपाद्य तथा सम्बद्ध ग्रन्थ

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर देनें में सक्षम होंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के वास्तविक स्वरूप को बता सकेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों को बताने में निपुण होंगे।
- ज्योतिषशास्त्र के प्रयोजन को समझा सकेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख आचार्यों के बारे में जान जाएगें।
- ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों के बारे में बता पाएगें।

4.1 प्रस्तावना

आप सभी ज्योतिष शास्त्र के सामान्य ज्ञान से परिचित होंगे तथा पूर्व में पठित विषय से भलीभाँति अवगत हो चुके होंगे ऐसा मेरा विश्वास है। प्रस्तुत इकाई का शीर्षक **ज्योतिषशास्त्र का प्रयोजन, प्रतिपाद्य तथा सम्बद्ध ग्रन्थ** है अतः इसके अन्तर्गत आप सभी ज्योतिषशास्त्र के समान्य परिचय को प्राप्त करते हुए शीर्षक से सम्बद्ध विषयों का विस्तृत अध्ययन करेंगे। जैसा कि आप जानते हैं कि भारतीय ज्ञान परम्परा में वेद ही सभी ज्ञान विज्ञान के आदि स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित है। जिसके अर्थ ज्ञान में वेदाङ्गों की प्रमुख भूमिका होती है। भारतीय ज्योतिष शास्त्र वेदाङ्गों के अन्तर्गत वेद पुरुष के नेत्र स्वरूप में स्वयं ब्रह्मा जी द्वारा प्रतिष्ठित है जिसका

मुख्य कार्य वेदों के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक यागादि कर्म हेतु शुभाशुभ काल का निदर्शन है। इसीलिए इसे कालविधान शास्त्र के रूप में भी जाना जाता है। अपनी उत्पत्ति काल से ही यह शास्त्र गणित एवं आधुनिक तथा प्राचीन विज्ञान के मूल को अपने अन्दर संरक्षित करता हुआ प्राणीमात्र के कल्याण हेतु प्रकृति मूलक विज्ञान के सम्पोषण में सतत प्रयत्न शील है। इसके अन्तर्गत हम काल एवं सृष्टि की विस्तृत अवधारणा के साथ-साथ गणित, खनिज, भूगर्भ, अन्तरिक्ष, मौमस, कृषि, वृष्टि, जीव, वनस्पति, मृदा विज्ञान के आधारभूत विषयों के साथ ही वास्तु, मुहूर्त्त तथा कर्मफल के वर्तमान जीवन में भाग्यरूपी परिणति को इसके सिद्धान्त-संहिता एवं होरा नामक स्कन्धों से विस्तार पूर्वक जान सकते हैं। इस ईकाई में इन्ही विषयों का संक्षिप्त परिचय निहित है।

4.2 ज्योतिषशास्त्र का परिचय एवं स्वरूप

सामान्यपरिभाषा के अनुसार आकाश में विद्यमान ग्रहनक्षत्रादि पिण्डों की गति-स्थिति-परिणाम तथा प्रभावादि का निरूपण जिस शास्त्र में किया जाता है उसे ज्योतिषशास्त्र कहते हैं। अर्थात् जिस शास्त्र में ग्रह नक्षत्रादि के गति एवं स्थिति से सम्बन्धित सभी नियमों तथा उनको भौतिक पदार्थों में वैज्ञानिक रीति से प्रभावादि का निरूपण किया जाता है उसे ज्योतिषशास्त्र कहते हैं। इसीलिए आचार्यों ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि **"सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रं ज्योतिषमिति"** ज्योतिष शास्त्र का सम्बन्ध ब्रह्माण्डीय सकल चराचरों सहित मानव के अनेक जन्म-जन्मान्तरों से जुड़ा रहता है। इसीलिए जीवन के प्रत्येक अवस्था में यह ज्योतिष शास्त्र हमें किसी न किसी रूप में प्रभावित करता ही रहता है। इसका अपर नाम कालविधान शास्त्र भी है क्योंकि काल का ज्ञान ज्योतिषशास्त्र के द्वारा ही होता है और काल को छोड़कर कोई भी कार्य करना जगत में सम्भव नहीं है। भारतीय ज्ञान परम्परा की दार्शनिक अवधारणा में यह मानव जीवन काल तथा कर्म के अधीन होता है जिसका साक्षात्कार ज्योतिषशास्त्र के द्वारा मानव के जन्मान्तरमर्जित कर्मों की काल सापेक्ष परिणति एवं तज्जन्य शुभाशुभ फलों के ज्ञान द्वारा किया जाता है। इसीलिए ज्योतिष शास्त्र के प्रयोजन को बताते हुए आचार्य वराहमिर अपने लघुजातक नामक ग्रन्थ के आरम्भ में कहते हैं कि यदुपचितंपूर्वजन्मनिशुभाशुभं तस्यकर्मणः पङ्तिंव्यञ्जयतिशास्त्रमेतत् तमसिद्यव्याणि दीपइव।यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि ज्योतिष शब्द के उच्चारण में आपको कहीं ज्योतिष तो कहीं पर ज्यौतिषशब्द का प्रयोग प्राप्त होगा परन्तु व्याकरण के दृष्टि से ज्योतिष एवं ज्यौतिष दोनों ही शब्दों के प्रयोग उचित प्रतीत होते हैं तथापि सभी प्राचीन ग्रन्थों में ज्योतिष शब्द ही प्रयोग बहुशःप्राप्त होता है इसीलिए विद्वानों ने ज्योतिष शब्द को ही बहुशः व्यवहार में स्वीकार किया है। ज्योतिषशास्त्र का प्रणयन स्वयं ब्रह्मा जी ने वेद विहित कार्यों को सम्पादित करते हुए धर्म के अनुकूल व्यवहार करने के लिए किया है। वैसे तो वेदोंमें संसार के सभी विषय अपने मूल स्वरूप में सन्निहित हैं परन्तु वेदों का मुख्य कर्म (मुख्य प्रयोजन) यज्ञादि सम्पादन है और यज्ञादि के फल कालाधीन होते हैं अर्थात् कालविशेष में आयोजित याग ही सफलता को प्राप्त होते हैं अत एव प्रमाण पूर्वक परम्परा से ज्योतिष शास्त्र का वेदाङ्गत्वेन निरूपण प्राप्त होता है जैसा कि भास्कराचार्य जी कहते भी हैं-

वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ताः यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद्वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्॥

ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत मुख्यरूप से आकाशीयग्रह-नक्षत्रादि पिण्ड़ो सहित सम्बन्धित अन्य घटकों का सम्यक् रूप से अध्ययन करते हुए इस भूपष्ठ पर उनके प्रभावों का विश्लेषण किया

जाता है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से भी हम देखते हैं तो यह समग्र विश्व एवं इनमें विद्यमान सकल चराचर, पञ्चमहाभूत एवं गुण त्रय आदि से ही सम्बन्धित हैं जो समान गुण धर्मिता के कारण परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं, इन्हीं "यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" के सिद्धान्तानुसार इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान ग्रहादि पिण्डों के द्वारा मानव सहित समस्त चराचर भी प्रभावित होते रहते हैं जिसके ज्ञान की प्रक्रिया का विशद विवेचन इस ज्योतिष शास्त्र के अन्तर्गत निहित है।ज्योतिषशास्त्र का स्वरूप इतना बृहद् है कि यह अपने सिद्धान्त-संहिता तथा होरा सभी स्कन्धत्रय में विभक्त होकर अन्तरिक्ष से भूगर्भ तक मानव जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों को अपने अन्तर समाहित कर लेता है। यह ज्ञान-विज्ञान के समवेत स्वरूप में प्रतिष्ठित एक ऐसा शास्त्र है जो किसी को भी नियम विशेष पर चलने हेतु बाध्य नहीं करता अपितु अपना अनुसरण करने वाले व्यक्ति के जीवन को सरल एवं सुखमय बनाने हेतु शास्त्रीय व्यवस्था उपस्थित करता है।

ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख विभाग

ज्योतिष शास्त्र के अंतर्गतज्ञान ज्ञान विज्ञान से संबंधित अनेक विषयों का समाहार है। जिनका वैदिक काल तक बिना किसी भेद अथवा विभाजन के एकत्र ही निरूपण होता रहा है परन्तु कालान्तर में विषय विभाजन की दृष्टि से आचार्यों ने सिद्धान्त, संहिता एवं होरा रूपी मुख्य रूप से इसके तीन विभाग बताएं हैं जो ज्योतिष शास्त्र के स्कन्ध त्रय के रूप में जाने जाते हैं - देवर्षि नारद ने भी कहा है कि-

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्। वेदस्य निर्मलं चक्षुज्योतिः शास्त्रमनुत्तमम्॥

आचार्य वराहमिहिर ने भी ज्योतिषशास्त्र के तीन स्कन्धों का वर्णन करते हुए बृहत्संहिता में लिखा है कि- ज्योतिष्शास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितम्। आचार्य वराहमिहिर ने इसके तीनों स्कन्धों से संबंधित पृथक् पृथक ग्रन्थों की रचना भी की है। जो तीनों ही स्कन्धों में ज्योतिष शास्त्र के अग्रणी ग्रंथ माने जाते हैं। आचार्य वराहमिहिर ने अपने बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ में इन तीनों स्कन्धों के समवेत स्वरूप को ही त्रिस्कन्ध ज्योतिष के नाम से निरूपित किया है। कुछ आचार्यों के मत में उपर्युक्त तीन स्कंधों के अतिरिक्त केरल एवं शकुन नामक दो और भी ज्योतिष शास्त्र के स्वतंत्र स्कन्ध हैं परंतु सूक्ष्म विवेचन से केरल एवं शकुन का भी संहिता स्कंध के अंतर्गत ही सन्निवेश हो जाता है, अन्यथा विषय की दृष्टि से विभाजन करने पर ज्योतिष शास्त्र के शताधिक भेद उत्पन्न हो जाएंगे।

सिद्धान्त-इसके सिद्धांत स्कंध के अंतर्गत काल की सबसे सूक्ष्मतम इकाई त्रुटि से आरंभ कर सबसे बड़ी इकाई कल्प तक की गणना तथा इन काल की इकाइयों के अंतर्गत आने वाले कलमानो के भेद, व्यक्त एवं अव्यक्त गणित सहित त्रिकोणमितीय गणित का विवेचन, आकाश में विद्यमान ग्रह नक्षत्र आदि पिंडों की गति स्थिति आदि का निरूपण तथा उनके वेध में प्रयुक्त होने वाले यंत्र आदि का विवेचन विस्तार पूर्वक प्राप्त होता है। इसका विस्तृत विवेचन आचार्य भास्कर ने अपने सिद्धान्तशिरोमणि नामक ग्रन्थ के आरम्भ में ही किया है। सम्प्रति सिद्धान्त स्कन्ध के प्रसिद्ध ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि, सिद्धान्ततत्त्वविवेक, पञ्चसिद्धान्तिका, सिद्धान्तशेखर एवं आर्यभटीयम् इत्यादि है।

संहिता– "तत्कात्स्नयोपनयस्य नाममुनिभिः संकीर्त्यते संहिता"। संहिता स्कंध की इस परिभाषा के अनुसार ज्योतिषशास्त्र के जिस विभाग में स्कन्ध त्रय के अन्तर्गत वर्णित प्रायः

सभी विषयों का निरूपण किया जाता है उसे हम संहिता स्कंध कहते हैं सामान्यतया इस स्कंध के अंतर्गत आकाश में विद्यमान ग्रह नक्षत्रादि पिंडों की गति स्थिति आदि के द्वारा इस भूपृष्ठ पर पड़ने वाले सामूहिक फलों का विवेचन निहित होता है। इसीलिए कुछ आधुनिक आचार्यो ने इसे राष्ट्रीय ज्योतिष के नाम से भी प्रतिपादित किया है। इसमें केवल मनुष्यों का समावेश ही नहीं है अपितु पशु पक्षी आदि प्राणिमात्र की चेष्टाओं सहित ग्रहों के चार, पर्यावरण विज्ञान, वृक्षायुर्वेद, कृषि विज्ञान, रसायन विज्ञान, मौसम विज्ञान, भूगर्भविज्ञान, वृष्टि विज्ञान, अतिवृष्टि, भूकम्प, महामारी,दकार्गल, प्राकृतिक आपदा, उल्कापात, वनस्पति विज्ञान, ग्रहचार, ग्रह-नक्षत्रादि बिम्बों के शुभाशुभ लक्षण, पशु - पक्षी कीटादि से संबंधित विषय, वास्तुशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र मुहूर्त्त, शकुन, दकार्गल, अङ्गविद्या इत्यादि अनेकानेक विषयों का विवेचन समाहित है।सारांश रूप में ऐसा कहा जा सकता है कि जिसके द्वारा ग्रहों के सामूहिक फलों का प्रतिपादन किया जाए वह संहिता स्कन्ध होता है। संहिता के विषयों का भी तीन प्रकार से विभाजित किया जा सकता है यथा- (१) पञ्चाङ्ग विषयक, (२) राष्ट्र विषयक, (३) व्यक्ति विषयक।

1. पञ्चाङ्ग विषयक -

तिथि-वार-नक्षत्र-करण-योग के द्वारा समष्टिगत चिन्तन पञ्चाङ्ग विषयक संहिता के विषय होते हैं। इसके अन्तर्गत मुहूर्त्त आदि का विधान होता है।

2. राष्ट्र विषयक-

प्राकृतिक उत्पात-भूकम्प-वास्तुविद्या-वर्षा इत्यादि विषयों का चिन्तन राष्ट्र विषयक संहिता विभाग में समाहित होते हैं।

3. व्यक्ति विषयक-

यात्रा-शकुन-स्त्री-पुरुष लक्षण का चिन्तन आदि के विषय इस विभाग में होते हैं।

संहिता स्कन्ध के प्रमुख ग्रन्थ- गर्ग संहिता, वशिष्ठ संहिता, नारद संहिता आर्ष स्वरूप तथा बृहत्संहिता, अद्भुत सागर इत्यादि पौरुष ग्रन्थ हैं। आचार्य वराहमिहिर के बृहत्संहिता को संहिता स्कन्ध का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

होरा- होरा स्कंध का दूसरा नाम जातक स्कंध भी है, इस स्कंध के अंतर्गत आकाश में विद्यमान ग्रह नक्षत्र आदि पिंडों की गति स्थिति आदि के परस्पर संबंधों के द्वारा किसी स्थान विशेष में किसी व्यक्ति विशेष के ऊपर किसी काल विशेष में पडने वाले प्रभाव का सूक्ष्मत निरूपण किया जाता है। जिसके ज्ञान के अनेक भेद हैं जिनमें – जातक, ताजिक, प्रश्न, रमल तथा स्वप्न इत्यादि मुख्य हैं। परन्तु शुभाशुभ फल ज्ञापक इन पाँच विभागों में जातक स्कन्ध अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसलिए सामान्यतः होरा शब्द कहने से जातक स्कन्ध का बोध होता है। जैसा कि कल्याणवर्मा कहते है-

जातकमिति प्रसिद्धं यल्लोके तदिह कीर्त्यते होरा।
अथवा दैवविमर्शनपर्यायः खल्वयं शब्दः॥

इस स्कन्ध के अन्तर्गत ग्रह-राशि-नक्षत्र एवं भावों के परस्पर सम्बन्धों द्वारा पूर्व जन्मार्जित कर्मो की वर्तमान जीवन में परिणति का सरलतया ज्ञान होता है जिसे हम भाग्य के रूप में भी जानते हैं। परन्तु यह भाग्य हमारे कर्मों का वही परिवर्तित स्वरूप होता है।

होरा स्कन्ध के प्रसिद्ध ग्रन्थ- बृहत्पराशर होराशास्त्र, बृहज्जातक, जातक-पारिजात, फलदीपिका, सारावली, जैमिनिसूत्र इत्यादि हैं।

4.2.1 ज्योतिषशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास

ज्योतिषशास्त्र का उत्पत्ति सृष्टि काल से ही मानी जाती है। शास्त्रीय दृष्टि से ज्योतिषशास्त्र की उत्पत्ति ब्रह्मा के द्वारा हुई है इसमें किसी भी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से ऋग्वेद काल से ही इसकी उत्पत्ति का अनुमान करते हैं जबकि उस समय पर ज्योतिष शास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं थे परन्तु ज्योतिषशास्त्र के अनेक विषय ऋग्वेद आदि चारो वेदों के मन्त्र भाग में तथा संहिताभाग मेंप्रसंगानुरूप प्राप्त होते है।इस विद्या को जानने वालों के लिए वहां नक्षत्रदर्श शब्द का प्रयोग दिखता है। अतः इसकी प्राचीनता के विषय में कोई सन्देह नहीं है। छान्दोग्य उपनिद् में एक आख्यान आता है जिसमें नारद मुनि ने एक बार सनत्कुमारादि चारों भाइयों के पास जाकर ब्रह्मविद्या के अध्ययन की इच्छा प्रकट की है तथा ऋषि सनतकुमार द्वारा यह पूछे जाने पर कि वे अब तक कौन-कौन सी विद्याएं पढ़ चुके हैं नारद मुनि ने अपनी अधीत विद्याओं में नक्षत्र विद्या अर्थात ज्योतिष शास्त्र का भी उल्लेख किया है।यद्यपि प्राचीन काल में मुख्य विद्या आध्यात्म तथा विद्याध्ययन का मुख्य प्रयोजन जीवन मुक्ति था तथापि प्राचीन काल में गणित और ज्योतिष आदि लौकिक ज्ञान से सम्बद्ध विषय भी आध्यात्मिक ज्ञान में सहायक समझे जाते थे इसीलिए प्रत्येक ब्रह्मजिज्ञासु को ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन करना भी आवश्यक माना जाता था। बौधायन गृह्यसूत्र में 'मीनमेषयोर्मेषवृषभयोर्वा वसन्तः' का वर्णन मेषादिराशियों के ज्ञान का ही परिचायक है। मैत्रेयसूत्र में मलमास के लिए मलिम्लुच शब्द का प्रयोग ज्योतिषशास्त्र का संकेत करता है। शतपथ ब्राह्मण में नक्षत्राणि वै सर्वेषां देवानामायतनम् कहकर ज्योतिषशास्त्र की चर्चा की गयी है। निरुक्तकार महर्षि यास्क ने 'नक्षत्रे गति कर्मणः' कहकर नक्षत्र शब्द का निर्वचन किया है वहीं व्याकरणशास्त्र के प्रणेता महर्षि पाणिनि ने पुष्य नक्षत्र के लिए तिष्य शब्द का प्रयोग किया है। तैत्तिरीय संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर २७ नक्षत्रों का उनके स्वामियों सहित वर्णन प्राप्त होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र, महाभारत तथा रामायण में ज्योतिषशास्त्र का बहुशः प्रयोग आया है। उपर्युक्त विवेचन से यह कहा जा सकता है कि मानवजाति के इतिहास का ज्ञान जहाँ से आरम्भ होता है उसमें ऐसा कोई कालखण्ड नहीं है जिसमें ज्योतिषशास्त्र का प्रसंग न आया हो। अतः जैन गणितज्ञ आचार्य महावीर के शब्दों में –

बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किञ्चिद् वस्तु तत्सर्वं गणितेन विना न हि॥

अर्थात् इस संसार में गणित के बिना कुछ भी संभव नहीं है तथा गणित का आदि स्रोत वेदों के बाद ज्योतिष शास्त्र में ही व्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है इसलिए ज्योतिष शास्त्र की स्थिति सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही वर्तमान समय तक सभी काल खंडों में किसी ने किसी रूप में सतत प्रवाह मान रही है। सृष्टि के ज्ञान एवं व्यवस्था के सकुशल संचालन हेतु स्वयं ब्रह्मा जी वेद वेदंगों की रचना करते हुए सर्वप्रथम अपने मानस पुत्र नारदजी के लिए ज्योतिष शास्त्र का आदेश किया जो शौनकादि ऋषियों की परंपरा से पूर्ण स्वरूप में विकसित होकर सनातन धर्म के अनुकूल कार्य संपादन में सतत संलग्न है। ज्योतिष शास्त्र की विकास यात्रा को बहुश: इतिहासकारों ने निम्नलिखित काल खंडों में विभक्त किया है।

प्राग्वैदिककाल- ई.पूर्व10000 वर्ष के पूर्व का काल (आधुनिक मतानुसार) सृट्यारम्भ समय से वैदिक काल के पूर्ववर्ति काल को प्राग्वैदिक काल कहा जाता है।

वैदिक काल- ई. पूर्व. 10001 से 500 तक के मध्य काल वैदिककाल कहा जाता है जिसको ऋक्,यजु, अथर्व ज्योतिष का काल भी कहा जाता है।

वेदाङ्क काल- आचार्य लगध के समकालीन काल को वेदाङ्ग काल कहा जाता है।

आदिकाल- ई.पूर्व 501 से 500 ई. तक के काल को आदिकाल कहा जाता है।

सिद्धान्तकाल- 501ई. से 1000ई. के मध्य का काल जिसको पूर्वमध्यकाल भी कहा जाता है।

उत्तरमध्यकाल- 1001 ई. से 1600 ई. तक के काल को उत्तरमध्यकाल के नाम से जाना जाता है।

आधुनिक काल- 1601 ई. से वर्तमान तक के काल को आधुनिक काल कहा जाता है।

इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है ज्योतिषशास्त्र उतना ही प्राचीन है जितना वेद। वस्तुतः यदि देखा जाए तो ऋग्वेद का काल निर्धारित करना अतीव दुष्कर है परन्तु यह भी सत्य है कि सृष्टि काल से ही मानवजाति का मार्गदर्शक वेद ही था। विभन्न इतिहासकारों के मतों को तथा प्राचीन साहित्य का अवलोकन करने पर दृढतया प्रतिपादित कर सकते हैं कि ज्योतिषशास्त्र का उद्गम सृष्ट्यारम्भकाल से ही था। उस काल (समय) में लोग वन्यजन्तुओं के समान वन में ही निवास करते थे तथा रात्रि में वन्य जन्तुओं से भयभीत होकर सूर्योदय की प्रतीक्षा करते थे जिससे धीरे-धीरे ज्योतिष शास्त्र का उपयोग सभी के दिनचर्या तथा व्यवहार में आ गया। इस ज्योतिष शास्त्र के ब्रह्मादि अष्टादश प्रवर्तक माने जाते हैं-

> **सूर्यः पितामहोव्यासो वशिष्ठोऽत्रि पराशरः, कश्यपो नरदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिरा।**
>
> **लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः,**
> **शौनकोष्टादशश्चैव ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाः॥**

1.सूर्य, 2. पितामह, 3. व्यास, 4. वशिष्ठ, 5. अत्रि, 6. पराशर, 7. कश्यप, 8. नारद, 9. गर्ग, 10. मरीचि, 11. मनु, 12. अङ्गिरा, 13. लोमश, 14. पौलिश, 15. च्यवन, 16. यवन, 17. भृगु, 18. शौनक। ये ज्योतिष के अष्टादश प्रवर्तक हैं। परन्तु इस प्रसङ्ग में इतिहासकारों एवं आचार्यो ने महात्मा लगघ की चर्चा इनमें नहीं की है जिन्होंने वेदों से ज्योतिष शास्त्र के मूल विषयों को निकालकर वेदाङ्ग ज्योतिष नामक ग्रन्थ की रचना की। जिसके अन्तर्गत आर्ष/ऋग्वेद ज्योतिष में 36 यजुर्ज्योतिष में 44 तथा अथर्वज्योतिष में 162 श्लोक हैं।

4.3 ज्योतिषशास्त्र का मुख्य प्रयोजन तथा प्रतिपाद्य

भारतीय चिन्तन परम्परा में निःशेष ज्ञान विज्ञान के प्रथम उद्भव स्थान वेदों तथा उनके अर्थावगमन में वेदांगशास्त्रों का महत्त्व एवं वैज्ञानिक स्वरूप आज भी प्रमाण रूप में सर्वोत्कृष्ट है। इन वेद वेदांगों का केन्द्रिय संस्थाप्य विषय पुरुषार्थ चतुष्ट्य को सर्व-सम्मति से स्वीकार किया गया है। समस्त ज्ञान-विज्ञान रूप अखिल वेद राशि के अर्थावबोध में आत्मगुणों के साथ सभी वेदाङ्ग अपनी अपनी विशिष्टता का निरूपण करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। चाहें नित्य

पुरुषार्थ हो या अनित्य पुरुषार्थ इनके प्रथम बोध में संहिता से लेकर उपनिषद् पर्यन्त त्रिकाण्ड वेद वेदांगों का ही योगदान परिलक्षित होता है। इन अपौरुषेय वेदार्थों के प्रकाशनार्थ पृथक् पृथक् अपनी विशिष्टता के अनुरूप, व्याख्या एवं प्रकाशन करते हुए भी प्रत्येक शास्त्रों का परमसुख या परमपुरुषार्थ मोक्ष के विषय में अन्ततः ऐक्यमत सिद्ध हो जाता है। मानव की पुरुषार्थ सिद्धि में जितना योगदान संहिताओं का है उतना ही अवदान ब्राह्मण अरण्यक एवं उपनिषदों का भी वैशिष्ट्य प्रतीत हो रहा है। उसी के अन्तर्गत षड् वेदाङ्गों में मूर्ध्नि रूप में विद्यमान वेदपुरुष का नेत्ररूप यह ज्योतिषशास्त्र भी अपने विषय सन्दर्भों के द्वारा मानव मात्र को प्रत्यक्षतः वेदविहित नियमानुसार जीवनपथ पर अग्रसरित होने की प्रेरणा देते हुए जीवन के सम्भाव्यमान अशुभों का ज्ञान एवं वेद सम्मत निवारण कर स्वस्थ तन-मन से पुरुषार्थ प्राप्ति के विषयों का सहज एवं सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत कर लौकिक परम पुरुषार्थ यश की सिद्धि का मार्ग भी सरलतया प्रस्फुटित कराता है। प्रस्तुत प्रसंग में शास्त्रकारों तथा अन्य ज्योतिर्विदों का आशय भास्कराचार्य एवं वराहमिहिर के निम्नलिखित वाक्यों से स्वतः सुस्पष्ट हो जाता है।

1. **यो ज्योतिषं वेत्ति नरः स सम्यक् धर्मार्थकॉमाल्लभते यशश्च।**
2. **न संवत्सरपाठी च नरकेषूपपद्यते।ब्रह्म लोकप्रतिष्ठां च लभते दैवचिन्तकः॥**

इस काल विधान शास्त्र के आलोक में वेदांग ज्योतिष के कर्ता महात्मा लगध ने काल को ही परम ब्रह्म रूप में प्रतिष्ठापित किया है जिसे आचार्य भास्कर ने 'कालतन्त्रजगुः' कहते हुए सिद्ध किया है।

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव सहात्मना। कान्ते सपक्वस्तेनैव सहाव्यक्ते लयं व्रजेत्॥

के अनुसार काल ही समग्र विश्व का उत्पत्तिकारक एवं विनाशक है। शास्त्रों में काल पुरुष को पुरुष तत्त्व तथा आत्मतत्त्व एवं इसके साक्षात्कार को मोक्ष तक की संज्ञा से अभिहित किया गया है। कालज्ञपुरुष ही समस्त दुःखों का सन्तरण करता है। ऐसा उपनिषदों का उद्घोष भी है। श्रीमद्भगवद्गीता का "कालोऽस्मि" यह भगवान् श्रीकृष्ण का कथन सूक्ष्मतम चिन्तन की ओर अभिप्रेरित करता है जिससे समस्त भूत-ग्रह- नक्षत्र- लोकपाल-देश आदि का परिज्ञान हमारी ज्ञान यात्रा में उत्तरोत्तर सहायक प्रतीत हो रहे हैं। जिन निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से हम अन्तःकरण के शुद्धि की चर्चा करते हैं, उसमें कर्म के शुभ अनुष्ठापनार्थ शुभ मुहूर्त एवं काल का अप्रतिम योगदान है। इतना ही नहीं अपितु खगोल एवं भूगोल के समस्त विषय-वस्तु का मानव-मन में अवतरण तथा उनके गूढ़ रहस्यों का अवगमन ज्योतिष के बिना सम्भव नहीं है। जैसे नेत्र हमें विषय की ओर ले जाता है वैसे ही ज्योतिषशास्त्र कर्म-उपासना की विधियों को अनुकूल एवं सहज बनाते हुए मानव मात्र के ब्रह्मस्थानीय परम शुभ की ओर हमारा आनयन अथवा प्रापण कराता है।अतः ज्योतिषशास्त्र के मूल में भी अन्य दर्शनों की भांति परमब्रह्म तत्त्व की ही सिद्धि होती है। फलादेश के प्रसङ्ग में समानगुण धार्मिता वश सकल चराचर जीवों का ग्रहादि के साथ परम्पर आकर्षण एवं विकर्षण ही पूर्वजन्मार्जित कर्मों की वर्तमान जीवन में भाग्य रूपी परिणति को द्योतित करता हुआ' वेद विहित नियमों से परमतत्त्व की प्राप्ति हेतु मार्ग प्रदर्शित करता है। परन्तु उस परमब्रह्म रूपी परमतत्त्व की प्राप्ति का काल भी पूर्व सुनिश्चित होने के कारण ज्योतिष शास्त्र के द्वारा उस शुभ काल का ज्ञान कर यथा समय यथा विधि प्रवर्तन से ही परम तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। जिसकों वेद पुराणदि में पृथक् पृथक् स्वरूपों में वर्णित किया गया है।

इन पारलौकिक एवं आध्यात्मिक प्रयोजनों की सिद्धियों के साथ-साथ यह भारतीय ज्योतिष शास्त्र मानव जीवन सहित सृष्टि के समस्त भौतिक तत्वों का भी प्रतिपादन करता हुआ लोक सहायक सिद्ध होता है इसीलिए स्वयं नारद जी ने नारद संहिता में कहा है कि - **"विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्तकर्म न सिद्धयति"** अर्थात उपर्युक्त समस्त क्रियाएं कालाधीन है तथा काल का नियमन ज्योतिष शास्त्र के अधीन है अतः इस शास्त्र के विना वेद विहित कोई भी स्रौत एवं स्मार्त क्रियाएं सिद्ध नहीं हो सकती।

ज्योतिष शास्त्र के आचर्यो ने परंपरा में इसे आदेश शास्त्र के रूप में भी प्रतिपादित किया है जो इसका मुख्य प्रतिपाद्य है यहां आदेश का तात्पर्य शुभाशुभ काल के निरूपण से है अतः यह शास्त्र आकाश में विद्यमान राशियों एवं ग्रह नक्षत्र आदि पिंडों के परस्पर गति स्थिति आदि के द्वारा मानव जीवन के पूर्व जन्मार्जित कर्मों की वर्तमान जीवन में भाग्य रूपी परिणति को प्रस्तुत करता हुआ जीवन के सुख दुखों के फलादेश स्वरूप में उपस्थापित करता है तथा जीवन पथ को निष्कंटक बनाता हुआ सुख सौविध्य पूर्ण मानव जीवन की उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करता है। कार्य की प्रवृत्ति एवं प्रकृति के अनुसार अनुकूल काल का मुहूर्त के रूप में निर्देश भी इस शास्त्र की एक विशिष्टता ही है, वास्तु शास्त्र के अंतर्गत यह चिरकाल स्थायी, सुंदर, सुदृढ़ एवं शास्त्रानुकूल गृह के निर्माण की विधियों का वर्णन करता हुआ ऐसे गृह निर्माण में सहायक सिद्ध होता है जिस गृह में भवन निर्माता को सुख शांति समृद्धि युक्त जीवन की प्राप्ति हो।

इसके अतिरिक्त यह शास्त्र भूगर्भ से अंतरिक्ष तक के गणित, खनिज, रसायन, अंतरिक्ष, भूगर्भ, जीव,वनस्पति, कृषि, वृष्टि, मौसम, प्राकृतिक उत्पात, स्वास्थ्य, जन्मार्जित कर्मों की वर्तमान जीवन में परिणति, विविध मुहूर्त तथा वास्तु आदि लोक कल्याण कारक विषयों के द्वारा समाज निर्माण में सतत प्रयत्नशील है। अतः इसका मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्मांडीय ज्ञान की समग्रता एवं उसके द्वारा मानव जीवन एवं सकल चराचर के प्रकृति मूलक विकास की अवधारणा तथा मुख्य प्रयोजन सनातन धर्म में वर्णित मानव जीवन के लक्ष्य धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति सहित परम ब्रह्मा द्वारा सृजित इस सृष्टि के संरक्षण सहित प्राणिमात्र का कल्याण ही है।

4.3.1 ज्योतिषशास्त्र की साम्प्रतिक उपयोगिता

निरभ्र आकाश में स्थित ग्रह-नक्षत्रादि दीप्तिमान पिण्डों की गति-स्थित्यादि में उत्पन्न परिवर्तन स्वोत्पत्ति काल से ही मानव जीवन को प्रभावित एवं आकर्षित करते रहते हैं। यद्यपि भारतीय मनीषियों ने अपने तपश्चर्यादि तथा अनुसंधान के द्वारा आकाशीय अनेक रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयास किया परन्तु अभी भी अनेक पक्ष प्राचीन एवं आधुनिक अन्तरिक्ष विज्ञानियों के अन्वेष का विषय बना हुआ है। तथापि भारतीय दर्शनशास्त्रीय स्थापित सिद्धांत "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" के अनुसार प्राणीमात्र के शरीर की स्थिति व संरचना अखिल ब्रह्माण्डस्थ पिण्डों की स्थिति एवं संरचना के अनुरूप ही होने से जिन नियमों एवं सिद्धान्तों के आधार पर ब्रह्माण्ड सृजित एवं संचलित है, उन्हीं नियमों के अनुरूप प्राणीमात्र का शरीर भी सृजित तथा संचरित होता है अतः सौरमण्डलीय ग्रहों के परावर्तित प्रकाश का एक-दूसरे पर जो प्रभाव पड़ता है वही प्रकाशीय प्रभाव चराचर जीवों पर भी शुभाशुभ रूप में पड़ता है जिसके निर्धारण में जीवोत्पत्ति का दिग्देश एवं काल विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि ग्रह पिण्डों में अन्तर्निहित उनके संघठनात्मक तत्त्वों का स्व प्रकृति के अनुसार ही प्रभाव चराचर प्राणी जगत् पर शुभाशुभ रूप में पड़ता है। जिसके ज्ञान हेतु जन्मकालिक आकाशीय स्थिति ही जातक के लिए मुख्य होती है। इस फल में गोचरीय प्रभाव से न्यूनाधिक्य भी दृष्टिगोचर होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति की

मिताक्षरा टीका में स्पष्टतया वर्णित है कि "जगतः स्थावरजङ्गमात्मकस्य उत्पत्ति-निरोधौ भावाभावौ ग्रहाधीनौ"। अर्थात इस ब्रह्मांड की समग्र व्यवस्था ग्रहाधीन है तथा उपर्युक्त सिद्धांतों के अनुसार ग्रह एवं मानवजीवन का परस्पर अंतः सम्बन्ध जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करता हुआ तदनुकूल अपने आप को तैयार करने की सूचना देता है।

अतः यह ज्योतिष शास्त्र मानव जीवन के लिए प्रत्येक क्षेत्र में सहयोगी तथा कल्याणकारी है तथा मानव किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सन्लिप्त रहता है। आप सभी जानते हैं कि संसार के सभी कार्य काल के अधीन होते हैं। जैसा कि पूर्व में भी कहा जा चुका है कि ज्योतिष शास्त्र काल का विधान करने वाला शास्त्र है। जो सभी मानवों के लिए सहायक एवं उपयोगी सिद्ध होता है। वर्तमान समय में यह ज्योतिष शास्त्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बहुपयोगी एवं राष्ट निर्माण में सहायक है क्योंकि आतंकवाद, भ्रष्टाचार, रोग, बेरोजगारी, परिवार विघटन, राष्ट्र के प्रति उदासीनता सहित पर्यावरण प्रदूषण, जल संरक्षण, भूमि संरक्षण, राष्ट्र रक्षा, जनसंख्या नियंत्रण, प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण, इत्यादि जितनी भी विषय हैं वे सभी ज्योतिष शास्त्र के विचारणीय बिंदु है क्योंकि ज्योतिष शास्त्र के द्वारा वर्णित सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए यदि हम शुभ काल में गर्भाधान आदि संस्कारों से सुसंस्कृत संतान की उत्पत्ति में प्रयुक्त होंगे तथा वेद विहित नियम अनुसार उनके संस्कारों का संपादन करेंगे तो निश्चित ही आज की पीढ़ी मानसिक विकृति से रहित होकर स्वस्थ एवं सुदृढ मन से भारतीय सांस्कृतिक मूल्यपरक विकास की अवधारणा का संरक्षण करते हुए अपने सहित अपने परिवार एवं अपने राष्ट्र के निर्माण में सहायक सिद्ध होगा तथा समाज में व्याप्त कुरीतियों का हमारे युवाओं के मन मस्तिष्क के ऊपर कोई भी दुष्प्रभाव नहीं पड़ेगा। आज का विज्ञान विकासवाद की तरफ बढ़ता हुआ हमें विनाश की तरफ भी ले जा रहा है परंतु ज्योतिष शास्त्र में निहित वैज्ञानिक तत्व प्रकृति मूलक विज्ञान की अवस्था पर जोर देते हैं तथा इसका विकास हमें शाश्वत वृद्धि की तरफ ले जाता है। वर्तमान समय में चिकित्सा के क्षेत्र में भी बहुत विकास हो चुका है तथापि रोग की उत्पत्ति के बाद अनेक बीमारियों में चिकित्सक किंकर्तव्य विमुढ की स्थिति में दिखाई दे रहे हैं परंतु यदि हम ज्योतिष शास्त्र के सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए आगमन काल से पूर्व ही रोगों का परिज्ञान कर ले तो उनके निदान एवं उपचार में हमें सहायता मिलेगी तथा स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकेगा। बेरोजगारी के क्षेत्र में मनुष्य अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के विपरीत क्षेत्र में प्रयास करता हुआ रोजगार पाने की चेष्टा कर रहा है जिससे उसके जीवन में असफलता एवं निराशा हाथ लग रही है परंतु यदि ज्योतिष शास्त्र के वृत्ति निर्धारक नियमों का अनुसरण करें तो जीवन में अपनी प्रतिभा के अनुरूप अवश्य ही सफलता प्राप्त होगी। मौसम विज्ञान की जानकारी सहित प्राकृतिक उत्पाद के विषयों का संहिता शास्त्र के सिद्धांतों द्वारा विचार करते हुए हम प्राकृतिक आपदाओं के आगमन का समय से पूर्व ही ज्ञान कर उनसे संरक्षण का उपाय कर सकते हैं कृषि के क्षेत्र में भी कृषि पाराशर आदि तथा संहिता शास्त्र में वर्णित सिद्धांतों का अनुप्रयोग करते हुए जैविक कृषि को आगे बढ़ा करके अधिक एवं विकार रहित अन्न की उत्पत्ति करते हुए राष्ट्र निर्माण में सहायक हो सकते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में भी गणित, खनिज, खगोल, भूगोल, भूगर्भ, अंतरिक्ष, वनस्पति, ग्रह गणना, जल विज्ञान, मृदा, मौसम, अंतरिक्ष उत्पात, चिकित्सा, वृत्ति, अभियांत्रिकी आदि विषयों के साथ सामूहिक अध्ययन करते हुए अपनी प्राचीन ज्ञान राशि से राष्ट्र के निर्माण एवं उत्थान में सहायक बनकर अपने जीवन को धन्य बना सकते हैं।

4.4 ज्योतिषशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ

ज्योतिषशास्त्र इतना विस्तृत है कि इसके विषयों के प्रतिपादन हेतु विभिन्न कालों में आचार्यों नें सहस्राधिक ग्रन्थों की रचना की है। जिसका विस्तृत अध्ययन श्री बालकृष्णदीक्षित द्वारा निर्मित भारतीय ज्योतिष नामक ग्रन्थ में कर सकते हैं तथापि आप सब यहां ज्योतिष शास्त्र के कतिपय प्रमुख ग्रन्थों का परिचय प्राप्त करेंगे।

जैसा कि आप सब ने पूर्व में पढ़ा है कि ज्योतिष शास्त्र के विषय प्रङ्गानुसार वेदों में यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। परन्तु वे ज्योतिष के ग्रन्थ नहीं है। इस दिशा में सर्व प्रथम महात्मा लगध का वेदाङ्ग ज्योतिष प्राप्त होता है जिसमें आचार्य ने वेदों से ज्यातिष के विषयों को निकालकर उनका एकत्र संग्रह किया है। वेदाङ्ग ज्योतिष ऋक्, यजुष् एवं अथर्व वेदों से सम्बद्ध तीन पृथक्-पृथक् ग्रन्थ के रूप में निर्मित है।

आर्यभटीयम्- आचार्य आर्यभट्ट द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ उपलब्ध ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थों में सबसे प्राचीनतम पौरुष ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कुल चार पाद हैं जो दशभीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद तथा गोलपाद के नाम से प्रतिष्ठित है इस ग्रन्थ में अक्षरद्वारा अंक ज्ञान पद्धति, पृथवी का भ्रमण, भूपरिधिव्यास का सम्बन्ध, अवर्गाङ्कमूल साधन आदि अनेक विशिष्ट विषय वर्णित हैं।

बृहत्पाराशर होराशास्त्र- आचार्य पराशर द्वारा प्रणीत ग्रन्थ होरा स्कन्थ का प्रसिद्ध ग्रन्थ जिसमें पराशर तथा मैत्रेय मुनि के संवाद रूप में मानव के कल्याण के होरा शास्त्र का विस्तृत वर्णन किया गया है। वस्तुतः महर्षि पराशर ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तक ऋषियों में हैँ अतः मान्यतानुसार यह ग्रन्थ एक आर्ष ग्रन्थ है।

सूर्यसिद्धान्त- मयासुर एवं सूर्यांश पुरुष के संवाद रुप में वर्णित यह ग्रन्थ ज्योतिष शास्त्र के सिद्धान्त स्कन्ध का सबसे महत्वपूर्ण प्राचीनतम् एवं उपयोगी ग्रन्थ है। आज भी इसका अध्ययन अध्यापन तथा इसके द्वारा पञ्चाङ्ग निर्माण का कार्य देश में प्रायः सभी जगह होता है। मान्यता के अनुसार स्वयं भगवान सूर्य द्वारा उपदेशित यह एक अपौरुषेय ग्रन्थ है जिसके उपदेश का काल कृतयुग का अन्त समय है। जैसा कि स्वयं सूर्य सिद्धान्त में वर्णित श्लोक द्वारा यह स्पष्ट होता है।

पञ्चसिद्धान्तिका- पञ्चसिद्धान्तिका ज्योतिष शास्त्र के सिद्धान्त स्कन्ध का प्राचीनतम एवं प्राणिक ग्रन्थ है जो वाराहमिहिर द्वारा शक् 427 में रचित है। आचार्य वराहमिहिर ज्योतिष शास्त्र ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने ज्योतिष शास्त्र के तीनो स्कन्धो पर रचनाएं की है जिनमें सिद्धान्त स्कन्ध पर- पञ्चसिद्धान्तिका, संहिता स्कन्ध पर- **बृहत्संहिता** तथा होरा स्कन्ध पर- **बृहज्जातक, लघुजातक, विवाहवृन्दावन, योगयात्रा** इत्यादि ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

बृहत्संहिता- आचार्य वराहमिहिर प्रणीत यह ग्रन्थ संहिता शास्त्र का सर्व जन प्रसिद्ध, प्रामाणिक तथा उपलब्ध संहिता ग्रन्थों में सबसे उपयोगी ग्रन्थ है। इसमें मानवजीवनोपयोगी प्रायः सभी विषय वर्णित है। यह आचार्य की अन्तिम कृति मानी जाती है। इस ग्रन्थ में 106 अध्याय हैं।

सारावली- आचार्य कल्याण वर्मा द्वारा शक् 500 के आसन्न प्रणीत यह ग्रन्थ फलित शास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कुल 42 अध्याय तथा होरा स्कन्ध के विषयों का

विस्तार पूर्वक निरूपण है।

ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त-आचार्य ब्रह्मगुप्त प्रणीत यह ग्रन्थ सिद्धान्त शास्त्र का प्रमाणिक तथा प्रसिद्ध ग्रन्थ है आचार्य वेधशास्त्र के अच्छे कुशल पण्डित माने जाते थे। आप के द्वारा रचित खण्डखाद्यकं नामक करण ग्रन्थ भी प्राप्त होता है। ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त ग्रन्थ का रचना काल 550 शक माना जाता है।

सिद्धान्तशिरोमणि-ज्योतिष शास्त्र के भास्कर कहे जाने वाले स्वयं भास्कराचार्य प्रणीत यह ग्रन्थ 1072 शक में प्रणीत किया गया है। आचार्य भास्कर का करणकुतूहल नामक करण ग्रन्थ भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। जिसका रचना काल 1105 शक प्राप्त होता है। इस प्रमाण से यह भी स्पष्ट होता है कि आचार्य ने सर्व प्रथम सिद्धान्तशिरामणि की रचना की है।

सर्वार्थचिन्तामणि- वेङ्कटाद्रिदैवज्ञप्रणीत होरा स्कन्ध का यहसुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। आचार्य वेङ्कटाद्रिदैवज्ञ वैद्यनाथ के पिता थे। इनकाकाल 1250 शक माना जाता है।

जातकपारिजात-इस ग्रन्थ के कर्ता आचार्य वैद्यनाथ है। यह फलित शास्त्र का अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उपयोगी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का रचना 1300 शक माना जाता है। इसमें कुल अध्याय 18 हैं। यह ज्योतिष शास्6 के पाठ्यक्रमों में सभी विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है।

केशवीयजातकपद्धति-नन्दि ग्राम के रहने वाले केशवाचार्य द्वारा रचिय ग्रन्थ लघु होने पर भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ को केशवीयजातकपद्धति के नाम से भी जाना जाता है। इसका काल चौदहवीं सदी है।

ग्रहकौतुकम्-केशवाचार्य द्वारा प्रणीत यह करण ग्रन्थ ज्योतिष जगत में अपना इक अलग स्थान तथा वैशिष्ट्य को धारण करता है। इस ग्रन्थ का रचना काल 1418 शक माना जाता है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने स्वयंकृत वेधोपलब्ध परिमाणों द्वारा विभिन्न सिद्धान्तों के गणित द्वारा प्राप्त परिणामों की समीक्षा कर ग्रहों की सूक्ष्म परिणाम प्राप्ति हेतु ग्रहों के क्षेपक और वार्षिक गतियां लिखी हैं। यह वेध परम्परा का अद्भुत ग्रन्थ है।

ग्रहलाघव-बहुत ही लोक प्रिय तथा बहुत प्रयुक्त होने वाला यह ग्रन्थ जिसके रचनाकार केशवदैवज्ञ के पुत्र आचार्य गणेशदैवज्ञ हैं। इस ग्रन्थ के सहयोग से करण विधि द्वारा पञ्चाङ्ग का निर्माण वर्तमान में देश के अनेक भागों में किया जाता है। इस ग्रन्थ का प्रणयन आचार्य नें 1442 शक में किया था। यह ग्रन्थ भी विभिन्न सिद्धान्तों से प्राप्त ग्रह मानों के वेध द्वारा समीक्षा करते हुए निर्मित है।

मूहूर्तचिन्तामणि-मुहूर्त शास्त्र का सर्व प्रमाणिक तथा प्रसिद्ध यह ग्रन्थ जिसके रचना कार आचार्य अनन्तदैवज्ञ के पुत्र रामदैवज्ञ हैं। इसकी रचना 1522शक में हुई है। इस ग्रन्थ के ऊपर बहुत सारी टीकायें हैं जिनमें ग्रन्थकार की स्वयं की प्रमिताक्षरा नामक टीका तथा गोविन्द दैवज्ञ की पीयूषधारा नामक टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में कुल तेरह अध्याय हैं।

जातकालङ्कार-गणेशकवि द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक, उपयोगी तथा प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में कुल छः अध्याय हैं जिनकी क्रमशः संज्ञा, भाव, योग, विषकन्या, आयुर्दाय, व्यत्यय, भावफल संज्ञाए हैं। इस ग्रन्थ की रचना 1535 शक में हुई है।

सिद्धान्ततत्वविवेक-आचार्य कमलाकर द्वारा प्रणीत सिद्धान्त शास्त्र का यह ग्रन्थ बहुत ही चर्चित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना 1580 शक में हुई है। इसमें आचार्यो ने विज्ञान के अनेक आधुनिक विषयों का तथा गणितीय प्रविधियों का समावेश किया है। कुछ संक्षिप्त रूप में ग्रन्थों की सारणी यहां दी जा रही है जिसका अवलोकन कर के आप ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ जो ऊपर वर्णित नहीं हैंउनको आप जान सकेंगें।

क्र.सं.	**ग्रन्थ का नाम**	**ग्रन्थ के कर्ता**	**ग्रन्थ रचना काल**
1.	शिष्यधीवृद्धितन्त्र	आचार्य लल्ल	
2.	सिद्धान्तशेखर	श्रीपति	961 श.
3.	सिद्धान्तसार्वभौम	मुनीश्वर	1568 श.
4.	सिद्धान्तचूड़ामणि	रङ्गनाथ	1580 श.
5.	राजमृगाङ्ककरण	श्रीभोजराज	964 श.
6.	करणप्रकाश	आचार्य ब्रह्मदेव	1014 श.
7.	मकरन्दसारिणी	आचार्य मकरन्द	1400 श.
8.	मुहूर्तमार्तण्ड	नारायण	1493 श.
9.	अद्भुतसागर	बल्लालदेव	1089 श.
10.	ज्योतिर्विदाभरण	कालिदास	
11.	ज्योतिर्निबन्ध	आचार्य शिवदास	1446 श.
12.	मुहूर्तगणपति	आचार्यगणपति दैवज्ञ	1607 श.
13.	नरपतिजयचर्यास्वरोदय	नरपत दैवज्ञ	1097 श.
14.	षट्पञ्चाशिका	पृथुयस	-
15.	वृद्धजातक	माधवाचार्य	1185 श.
16.	जातकाभरण	ढुण्ढिराज	1460 श.
17.	जातकसार	नृसिंहदैवज्ञ	-
18.	भावकुतूहल	आचार्य जीवनाथ	1780 श.
19.	हायनरत्न	आचार्य बलभद्र मिश्र	1500 श.
20.	ताजिकनीलकण्ठी	नीलकण्ठाचार्य	1509 श.

ज्योतिष शास्त्र के सभी प्रमुख ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों को जानने के लिए कृपया डॉ. बालकृष्ण दीक्षित रचित 'भारतीय ज्योतिष' नामक ग्रन्थ का अध्ययन करें।

4.4.1 ज्योतिषशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थकार

यद्यपि ज्योतिष शास्त्र केअष्टादश प्रवर्तकों सूर्य, पितामाह, व्यास, विशिष्ठ, अत्रि, पराशरादि की चर्चा पहले की गई जिन्होंने सिद्धान्त, संहिता, होरा के ग्रन्थों का प्रणयन कर सम्बन्धित विषयों का लोक कल्याण हेतु विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है। परन्तु इन में से कुछ आचार्यो के ग्रन्थ उपलब्ध है तथा कुछ के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं। इन्हीं आचार्यों तथा इनके ग्रन्थों को

आधार बनाकर परवर्ती आचार्यों ने ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थों की रचना की है। जिनमें आर्यभट्ट से ज्योतिष शास्त्र में ग्रन्थ लेखन की पौरुषेय परम्परा आरम्भ होती है।

यहाँ पर कुछ प्रमुख ग्रन्थकारों का परिचय संक्षिप्त में किया जा रहा है।-

आचार्य आर्यभट्ट- ज्योतिष शास्त्र की आचार्य परम्परा में आर्यभट्ट का नाम प्रथम स्थान प्राप्त होता है। इनका आर्यभटीयम् नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध तथा अनेक विशिष्ट वैज्ञानिक विषयों को अपने अन्दर समाहित किया है।आचार्य आर्यभट्ट के जन्म स्थान के विषय में आचार्यों में मतान्तर है।कुछ इनको कुसुमपुर (पटना) निवासी मानते हैं तो कुछ अश्मक निवासी मानते हैं। इनका काल शक् 398 है।

भास्कराचार्य-आचार्य भास्कराचार्य का जन्म शक् 1038 सह्याचल निकट प्रदेश माना जाता है। शाण्डील्य गोत्रोत्पन्न आचार्य भास्कराचार्य के पिता नाम महेश्वर, पितामह का नाम मनोरथ तथा प्रतिपातमह का नाम प्रभाकर थे। इनकी प्रसिद्ध रचना है सिद्धान्तशिरामणि है जिसके चार खण्ड लीलावती, बीजगणित, ग्रहगणिताध्याय एवं भूगोलाध्याय के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने परिधि व्यास सम्बन्ध, भूमि का गोलत्व निरुपण, ग्रहण आकर्षण शान्ति का सिद्धान्त, भूपरिधिमान तथा गोलपृष्ठमान आदि अनेक विशिष्ट विषयों का वैज्ञानिक दृष्टि से निरुपण किया है।

वराहमिहिर-आचार्य वराहमिहिर ज्योतिष शास्त्र के प्रथम ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने ज्योतिष शास्त्र के तीनों स्कन्धों में रचना की है। इनकी सिद्धान्त स्कन्ध में पञ्चसिद्धान्तिका, संहिका स्कन्ध में बृहत्संहिता तथा होरा स्कन्ध में लघुजातक, बृहज्जातक इत्यादि रचनाएं प्राप्त होती हैं। आचार्य वराहमिहिर का जन्म 407 शक् में तथा प्रयाण 509 शक् के आसन्न हुआ था। आचार्य वराहमिहिर के पिता आचार्य आदित्य दास थे।

आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः काम्पिल्लके सवितृलब्धवरप्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग् होरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार॥

कल्याणवर्मा-आचार्य कल्याण वर्मा की स्थिति 6ठीं शताब्दी मानी जाती है परन्तु ज्योतिष शास्त्र के सुप्रसिद्ध इतिहासकार शंकरबालकृष्ण दीक्षित जी इनका काल 9वीं शताब्दी मानते है। इनकी प्रसिद्ध रचना सारावली है।

लल्ल-आचार्य लल्ल के समय को लेकर आचार्यों में मतभेद है। महामहोपाध्याय आचार्य सुधाकर द्विवेदी जी इनका काल 5वीं शताब्दी तो शंकरबालकृष्ण दीक्षित इनका काल 6ठीं शताब्दी बताते हैं। आपकी सुप्रसिद्ध रचना शिष्यधीवृद्धितन्त्रम् है जो सिद्धान्त स्कन्ध का एक विशिष्ट ग्रन्थ है।

पृथुयश-आचार्य पृथुयश का जन्म अवन्तिका के कम्पिल्लक नामक में छठीं शताब्दी में हुआ था। इनके पिता आचार्य वराहमिहिर थे। फलित स्कन्ध के प्रश्न शास्त्र की सुप्रसिद्ध षट्पञ्चाशिका इनकी रचना है।

वैद्यनाथः-भारद्वाज गोत्रोत्पन्न दैवज्ञ वेङ्कटाद्रि के पुत्र तथा जातक पद्धति के प्रणेता केशव के गुरु आचार्य वैद्यनाथ जी का काल 14वीं शकाब्दी माना जाता है। आप के द्वारा रचित जातक पारिजात नामक ग्रन्थ सम्प्रति फलित शास्त्र के प्रतिनिधि ग्रन्थों में से एक है

गणेशदैवज्ञ-आचार्य गणेशदैवज्ञ को साक्षात् भगवान गणेश का अवतार माना जाता है। ये 14वीं शताब्दी के प्रसिद्ध ज्योतिष के आचार्य है जिनकी 13 से अधिक रचनाएं हैं जिनमें से सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय ग्रहलाघव है। जिसकी रचना इन्होंने मात्र 13 वर्ष की आयु में किया था। ग्रहलाघव पञ्चाङ्ग निर्माण से सम्बन्धित विषयों का सरलतम एवं सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। यद्यपि इसके ग्रह कालान्तर जन्य प्रभाव से कुछ स्थूल हो गए हैं परन्तु यह अयन समय का सूक्ष्ममान देने वाला ग्रन्थ है। देश के अनेक भागों में आज भी इसकी सहायता से पञ्चाङ्ग निर्माण होता है।

नीकलण्ठ-15वीं शताब्दी के प्रसिद्ध ताजिक शास्त्र के आचार्य नीकण्ठ मुहूर्त्तचिन्तामणि ग्रन्थ के रचयिता रामदैवज्ञ के बड़े भाई तथा अनन्तदैवज्ञ के पुत्र हैं। आपकी प्रसिद्ध रचनाओं में से ताजिक नीलकण्ठी तथा टोडरानन्द ये दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। ताजिकनीलकण्ठी में वर्षकुण्डली निर्माण तथा उसके फलों एवं योगों का विस्तृत वर्णन किया है।

कमलाकरभट्ट-नृसिंह दैवज्ञ के पुत्र आचार्य कमलाकर 16वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्यों में से एक हैं। इन्होंने अपने काल से पूर्व के सभी सिद्धान्त ग्रन्थों का सम्यक् अवलोकन करने के बाद सौरमण्डल का अनुसरण करते हुए सिद्धान्ततत्वविवेक नामक ग्रन्थ की रचना की है। जिसमें सिद्धान्त की अनेक विशिष्टताएं निरूपित हैं। इस ग्रन्थ में सभी सिद्धान्तीय विषयों का समावेश है तथा अनेक आचार्यों के विभिन्न विषयों का खण्डन भी है। ये भास्कराचार्य के विरोधी थे अतः उनके सूक्ष्म एवं शुद्ध विषयों का भी खण्डन अपने ग्रन्थ में करने का प्रयास किया है।

क्रम सं.	ग्रन्थकार	काल	क्रम सं.	ग्रन्थकार	काल
1.	आर्यभट्ट	३९७ श.	41.	नीलकण्ठ	१५०९ श.
2.	लल्ल	५२५ श.	42.	गणेशदैवज्ञ	१४४२ श.
3.	वराहमिहिर	४२७ श.	43.	रामदैवज्ञ	१५२२ श.
4.	पृथुयश	४९० श.	44.	रामचन्द्र	१४२० श.
5.	भास्कराचार्य प्रथम	५३० श.	45.	सूर्य	१४६३ श.
6.	कल्याणवर्मा	५०० श.	46.	गोविन्ददैवज्ञ	१५२५ श.
7.	ब्रह्मगुप्त	५५० श.	47.	पीताम्बर	१४४४ श.
8.	मुञ्जाल	८५४ श.	48.	शिवदास	१४४६ श.
9.	श्रीधराचार्य	७२५ श.	39.	ढुण्ढिराज	१४६० श.
10.	समरसिंह	६०० श.	40.	शार्ङ्गधर	१४०० श.
11.	आर्यभट्ट द्वितीय	८७५ श.	49.	नृसिंहाचार्य	१४८० श.
12.	पृथूदक	८८० श.	50	रघुनाथ	१४८४ श.
13.	भट्टोत्पल	८८८ श.	51.	नारायण	१४९३ श.
14.	विजयनन्दि	८८८ श.	52.	रंगनाथ	१५२५ श.
15.	भानुभट्ट	९०० श.	53.	कृपाराम	१४९० श.

16.	श्रीपति	९६१ श.	54.	विश्वनाथ	१५५० श.
17.	बलभद्र	८०० श.	55.	दिनकर	१५०० श.
18.	महेश्वर	१०४० श.	56.	विष्णु	१५३० श.
19.	भोजदेव	९६४ श.	57.	दिवाकर	१५२८ श.
20.	ज्ञानराज	१४२५ श.	58.	मुनीश्वर	१५५० श.
21.	बल्लासेन	१०९० श.	59.	कमलाकरभट्ट	१५५० श.
22.	शतानन्द	१०२१ श.	60.	बालकृष्ण	१५७१ श.
23.	भास्कर	१०८२ श.	61.	बलभद्र	१५६४ श.
24.	वरुण	९६२ श.	62.	रत्नकण्ठ	१५८० श.
25.	अनन्तदेव	११२० श.	63.	गणपति	१६०७ श.
26.	केशवार्क	१२०० श.	64.	चिन्तामणि	१६०७ श.
27.	नरपति	१०९० श.	65.	सुधाकर	१८२० श.
28.	माधव	१०६० श.	66.	शङ्करबालकृष्णदीक्षित	१८३० श.
29.	महादेव	१२३८ श.	67.	बालगङ्गाधरतिलक	१८१० श.
30.	महेन्द्रसूरि	१२६० श.	68.	सोमदैवज्ञ	१५५९ श.
31.	महादेव द्वितीय	१२८९ श.	69.	नित्यानन्द	१५६१ श.
32.	मकरन्द	१४०० श.	70.	चिन्तामणिदीक्षित	१७०५ श.
33.	केशव	१२०० श.	71.	बापूदेव शास्त्री	१७४० श.
34.	जीवनाथ	१७४४ श.	72.	नीलाम्बर शर्मा	१७४५ श.
35.	गणेशकवि	१५२५ श.	73.	देवकृष्ण शर्मा	१७४० श.
36.	अनन्तदैवज्ञ	११२० श.	74.	लज्जाशंकर शर्मा	१७२६ श.
37.	गङ्गाधर	१३५६ श.	75.	राघव	१७३२ श.
38.	वैद्यनाथ	१३५० श.	76.	गोविन्ददेव शास्त्री	१७५६ श.

4.5 सारांश

भारतीय ज्योतिष शास्त्र एक वेद मूलक एवं लोकोपकारक वेदाङ्ग शास्त्र है जो सृष्टि की उत्पत्ति काल से ही वेद विहित यागादि कार्यों के संपादन हेतु काल की व्यवस्था उपस्थापित करता हुआ सृष्टि की उत्पत्ति तथा सृष्टिसंचालन के नियमों को व्याख्यायित करता हुआ धर्मानुकूल व्यापार संपादन हेतु सनातन धर्मावलंबियों के सर्वविध कार्य संपादन में सहायक होता है। यह अपने सिद्धांत संहिता एवं होरा रूपी तीन स्कंधों में वर्णित विषयों द्वारा अपनी समग्रता को प्रदर्शित करता हुआ वर्तमान में भी राष्ट्र निर्माण में सतत प्रयत्नशील है। इसके सिद्धांत स्कंध के अंतर्गत काल ग्रहगणित तथा ब्रह्मांड का विवेचन, संहिता स्कंध के अंतर्गत आकाश में विद्यमान ग्रह नक्षत्रादि के इस भूपृष्ठ पर पड़ने वाले सामूहिक प्रभाव का विश्लेषण किया गया है साथ ही होरा स्कंध के अंतर्गत किसी स्थान विशेष में किसी व्यक्ति विशेष के ऊपर पड़ने वाले

ग्रहों के प्रभावों का विश्लेषण है। होरा स्कंध के अंतर्गत यह शास्त्र पूर्व जन्मार्जित कर्मों की वर्तमान जीवन में परिणति को भाग्य के नाम से प्रस्तुत करता हुआ कर्म पथ पर चलने की प्रेरणा देता है। इसके संहिता स्कंध के विषय वृष्टि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकंप, प्राकृतिक उत्पात, मौसम विज्ञान, कृषि, भूकंप, महामारी इत्यादि सामूहिक फलों का विवेचन अत्यन्त समसामयिक है, साथ ही सिद्धांत स्कंध के विषय अंतरिक्ष विज्ञान एवं भूगर्भ की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। अतः इसके अध्ययन से आप सारांश रूप में ज्योतिष शास्त्र के समग्र स्वरूप से परिचित हो जाएंगे।

4.6 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. ज्योतिषशास्त्र का इतिहास-लोकमणि दहाल
2. भारतीय ज्योतिष- नेमिचन्द्र शास्त्री, शंकरबालकृष्ण दीक्षित
3. ज्योतिषशास्त्र मञ्जूषा- प्रो.विनय कुमार पाण्डेय
4. बृहत्संहिता – वराहमिहिर
5. बृहज्जातकम् – वराहमिहिर
6. मुहूर्त्तचिन्तामणि – आचार्य रामदैवज्ञ
7. भारतीय ज्योतिष – डॉ.गोरख प्रसाद
8. सूर्यसिद्धान्त – प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय
9. सिद्धान्तशिरोमणि- भास्कराचार्य

4.7 बोधप्रश्न

1. ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति पर प्रकाश डालें।
2. स्कन्ध परिचय देते हुए विस्तृत व्याख्या करें।
3. ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तकों का विस्तार से उल्लेख करें।
4. ज्योतिषशास्त्र का संक्षिप्त रूप में परिचय दीजिए।
5. ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त ग्रन्थों का परिचय दें।
6. ज्योतिष शास्त्र के महत्व पर प्रकाश डालें।
7. ज्योतिष शास्त्र की उपयोगिता पर प्रकाश डालें।

खण्ड 4
सूत्र साहित्य

खण्ड 4 परिचय

सूत्र साहित्य के वर्णन के इस खण्ड में आपका स्वागत है। वैदिक ज्ञान राशि का विस्तार सूत्र में भी है। इस खण्ड में श्रौत सूत्र , गृह्यसूत्र,धर्मसूत्र,शुल्बसूत्र के वर्णन के साथ-साथ षड्दर्शन एवं अन्य सूत्रों का वर्णन भी प्रस्तुत है। प्रथम इकाई में श्रौत सूत्र एवं गृह्यसूत्र में प्रतिपादित ज्ञान विज्ञान का वर्णन किया गया है। इस इकाई के माध्यम से आपको सूत्र साहित्य की गहराई का पता चलेगा। दूसरी इकाई धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्र की विषयवस्तु के प्रतिपादन से सम्बन्धित है। प्रस्तुति इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आपको भारतीय ज्ञान परम्परा में सूत्र साहित्य का क्या योगदान है, इसका भलीभांति बोध होगा। तीसरी और अन्तिम इकाई में षड्दर्शन के परिचय के साथ-साथ अन्य सूत्र ग्रन्थों की विषय वस्तुओं का वर्णन भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह सब आपके अध्ययन और ज्ञान के समन्वय में बहुत सहायक सिद्ध होगा। इस प्रकार प्रस्तुत खण्ड के अध्ययन के पश्चात भारतीय ज्ञान परम्परा में सूत्र साहित्य के योगदान का उल्लेख करने में सक्षम हो जाएंगे।

इकाई 1 श्रौत एवं गृह्यसूत्रों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आपः

- श्रौतसूत्रों से परिचित होंगे।
- गृह्यसूत्रों से परिचित होंगे।
- श्रौतसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों के प्रतिपाद्य विषयों को जानेंगे।
- वैदिक संहिताओं में वर्णित यज्ञ-यागादि विधानों को जानेंगे।
- श्रौतयागों एवं गृह्यकर्मों के महत्त्व को जानेंगे।

1.1 प्रस्तावना

वेद हिन्दू धर्म के आधार स्तम्भ तथा विश्व साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। महर्षि मनु ने वेदों को समस्त धर्मों का मूल कहा है- **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।** प्राणिमात्र के समस्त कर्तव्य कर्मों का विधान वेद में प्राप्त होता है। वेदों के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए ऋषियों ने वेदांग ग्रन्थों की रचना की। **अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते एभिरिति अङ्गानि।** मन्त्र के उच्चारण एवं व्याख्या के साथ-साथ वेदांग ग्रन्थ यज्ञ में मन्त्रों के यथाविधि प्रयोग का बोध कराते हैं। वेदांग छः हैं- शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष एवं कल्प।

वेद प्रतिपादित कर्तव्यों की क्रमपूर्वक कल्पना करने वाले शास्त्र कल्प कहलाते हैं- **कल्पो नाम वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्।** कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं- श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं शुल्व सूत्र। ये सूत्र शैली में लिखे गये हैं अतः सूत्र कहलाते हैं।

प्रस्तुत इकाई में श्रौतसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों के विषय में चर्चा करेंगे, जिससे आप श्रौतसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों से परिचित हो सकेंगे।

1.2 श्रौतसूत्रों का परिचय

वेदांग साहित्य में श्रौतसूत्र का विशिष्ट स्थान है क्योंकि हिन्दू धर्म में यज्ञों का अत्यधिक महत्त्व है तथा श्रौत सूत्र यज्ञों के प्रकार, विधि एवं महत्त्व को प्रमाण के साथ प्रतिपादित करते हैं।

श्रौतसूत्र शब्द श्रौत एवं सूत्र इन दो शब्दों से मिलकर बना है। श्रौत शब्द की उत्पत्ति श्रुति शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है- **श्रुतौ विहितम्** श्रुति (वेद) में प्रतिपादित क्रियाएँ, नियम अथवा व्यवस्था। सूत्र शब्द का अर्थ शास्त्रकारों के मत में इस प्रकार है-

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवत् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

अर्थात् स्वल्प अक्षर वाला, सन्देह रहित, सार युक्त, सभी विषयों को स्पष्ट करने वाला, विस्तार रहित एवं अनिन्दनीय वाक्य को विद्वान् सूत्र कहते हैं।

इस प्रकार श्रौत सूत्र का अर्थ हुआ- श्रुति प्रतिपादित यज्ञ यागादि की विधि एवं महत्त्व को स्वल्प शब्दों में अच्छी प्रकार बताने वाले ग्रन्थ श्रौतसूत्र कहलाते हैं।

1.2.1 ऋग्वेदीय श्रौतसूत्रों का परिचय

वैदिक साहित्य में ऋग्वेद का प्रथम स्थान है। ऋग्वेद से सम्बद्ध आश्वलायन एवं शांखायन दो श्रौतसूत्र इस समय उपलब्ध होते हैं। यज्ञीय विधि विधान की दृष्टि से इन दोनों श्रौत सूत्रों का विशिष्ट महत्त्व है।

आश्वलायन श्रौतसूत्र

आश्वलायन श्रौतसूत्र ऋग्वेद की शाकल एवं वाष्कल शाखा से सम्बद्ध है। इसके लेखक ऋषि आश्वलायन हैं। ऋषि आश्वलायन शौनक ऋषि के शिष्य थे। आश्वलायन श्रौतसूत्र में द्वादश अध्याय हैं। दर्शपूर्णमास, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, आग्रयणेष्टि, काम्य इष्टियाँ, चातुर्मास्य, सौत्रामणी, ज्योतिष्टोम, राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, सत्रयाग, एकाह, अहीन, द्वादशाह आदि का वर्णन आश्वलायन श्रौतसूत्र में प्राप्त होता है।

श्रौतयागों के ऋत्विज्, होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक और ग्रावस्तुत के कार्य भी इसमें वर्णित हैं। ब्रह्मा और यजमान के कर्तव्य भी यहाँ बताए गये हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र के अनुसार आहिताग्नि पुरुष ही यज्ञ का अधिकारी होता है तथा मन्त्रसहित किए गए अनुष्ठान ही विधि सम्मत माने जाते हैं। इस श्रौतसूत्र में ऋग्वेद के मन्त्र प्रतीक रूप में प्रयुक्त किए गए हैं।

इस श्रौतसूत्र पर अनेक विद्वानों ने भाष्य लिखे हैं, जिनमें देवस्वामी, नारायण गार्ग्य, त्र्यम्बक भट्ट, रुद्रदत्त भट्ट, लक्ष्मीधर, षड्गुरुशिष्य, महादेव सिद्धान्ती के भाष्य प्रमुख हैं। इन भाष्यों में

नारायण गार्ग्य एवं षड्गुरुशिष्य महादेव सिद्धान्ती के भाष्य प्रकाशित हुए हैं।

शांखायन श्रौतसूत्र

शांखायन श्रौतसूत्र शांखायन ब्राह्मण से सम्बद्ध है। शांखायन ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद की शाकल शाखा से है। शांखायन श्रौत सूत्र के लेखक सुयज्ञ शांखायन हैं। शांखायन श्रौतसूत्र में 18 अध्याय हैं। शांखायन श्रौतसूत्र में 12 मन्त्र ऐसे प्रयुक्त हैं, जो शाकल शाखा में नहीं हैं। अतः विद्वानों का मत है कि शांखायन श्रौतसूत्र शाकल शाखा के साथ-साथ ऋग्वेद की अन्य शाखाओं से भी सम्बद्ध है। शांखायन श्रौतसूत्र की लेखन शैली ब्राह्मण ग्रन्थों के समान है।

दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र, उपस्थापन, अभ्युदितेष्टि, प्रायश्चित्तेष्टि, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम, अतिरात्र, द्वादशाह, विश्वजित् हविर्याग, वाजपेय, बृहस्पति सव, सोम संस्थाएँ, राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध एवं पुरुषमेध शांखायन श्रौतसूत्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

इस श्रौतसूत्र पर आनर्त्तीय भाष्य लिखा गया है।

1.2.2 यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र

शुक्ल एवं कृष्ण भेद से यजुर्वेद के दो भाग हैं। कर्मकाण्ड की दृष्टि से वैदिक साहित्य में यजुर्वेद का विशिष्टतम स्थान है। वर्तमान काल में यजुर्वेद से सम्बद्ध 09 श्रौतसूत्र प्राप्त होते हैं। इनमें शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध 01 तथा कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध 08 श्रौतसूत्र उपलब्ध होते हैं।

शुक्ल यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र

कात्यायन श्रौतसूत्र शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध एकमात्र श्रौतसूत्र है। यह शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन एवं काण्व दोनों शाखाओं से सम्बद्ध है। यह श्रौतसूत्रों का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। श्रौतयागों को जानने के लिए कात्यायन श्रौतसूत्र सबसे मुख्य है। इसके लेखक आचार्य कात्यायन हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र का मुख्य आधार शतपथ ब्राह्मण है। पूर्व मीमांसा में वर्णित श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या नामक छः प्रमाणों का इसमें उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे ज्ञात होता है कि इस श्रौतसूत्र पर पूर्वमीमांसा का भी प्रभाव है।

कात्यायन श्रौतसूत्र में याग सम्बन्धी विविध परिभाषाओं का उल्लेख है। इसके साथ ही दर्शपूर्णमास याग, पिण्ड पितृयज्ञ, द्राह्यायण यज्ञ, आग्रयणेष्टि, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, सोमयाग, द्वादशाह, गवामयन, वाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, सौत्रमणी याग, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध, एकाह, प्रायश्चित्त एवं प्रवर्ग्य आदि इसके प्रमुख वर्ण्य विषय हैं।

कृष्ण यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों की संख्या 08 हैं। वर्तमान में कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ, कपिष्ठ आदि 04 शाखाएँ विद्यमान हैं। इनमें तैत्तिरीय एवं मैत्रायणी शाखाओं पर ही श्रौत सूत्र उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध श्रौतसूत्र 06 हैं। इनके नाम हैं- बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, वैखानस एवं वाधूल। मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध श्रौतसूत्र 02 हैं। इनके नाम मानव श्रौतसूत्र एवं वाराह श्रौतसूत्र हैं।

बौधायन श्रौतसूत्र

श्रौतसूत्रों में इसका अत्यधिक महत्त्व है। इस श्रौतसूत्र पर ब्राह्मण साहित्य का प्रभाव परिलक्षित होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही इसकी रचना भी प्रवचन शैली में हुई है। इसका रचना काल 900 ई0पू0 से 850 ई0पू0 के मध्य स्वीकार किया जाता है। इसके लेखक ऋषि बोधायन हैं। बौधायन श्रौतसूत्र में 30 प्रश्नों के माध्यम से विषयवस्तु का प्रतिपादन किया गया है।

बौधायन श्रौतसूत्र में दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, पशुबन्ध, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम, प्रवर्ग्य, अग्निचयन, वाजपेय, राजसूय, इष्टिकल्प, औपानुवाक्य, अश्वमेध, द्वादशाह, अतिरात्र, एकाह तथा प्रायश्चित्त आदि का वर्णन है। इस श्रौतसूत्र में शत से लेकर परार्द्ध तक की संख्याओं का उल्लेख है। बौधायन श्रौतसूत्र में याग के अनुष्ठानों का दार्शनिक एवं रहस्यात्मक दृष्टि से वर्णन किया गया है तथा राष्ट्रभृत, वशिष्ठ एवं इन्द्र की आख्यायिकाओं का उल्लेख है।

बौधायन श्रौतसूत्र पर अनेक भाष्य प्राप्त होते हैं, जिनमें भव स्वामी, देव स्वामी एवं महादेव वाजपेयी के भाष्य प्रमुख हैं। बौधायन श्रौतसूत्र पर भव स्वामी का भाष्य प्राचीनतम एवं प्रामाणिक माना जाता है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का सम्बन्ध तैत्तिरीय शाखा से है। इसके लेखक आपस्तम्ब ऋषि हैं। ऋषि आपस्तम्ब ऋषि बोधायन के शिष्य कहे जाते हैं। कात्यायन एवं भारद्वाज श्रौतसूत्र के साथ इसकी अत्यधिक समानता दिखाई देती है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का समय 07 वीं ई0पू0 स्वीकार किया जाता है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में 30 प्रश्न (अध्याय) हैं। इसके 30 प्रश्नों (अध्यायों) में 24 प्रश्नों तक श्रौतसूत्र हैं, 25 एवं 26 प्रश्नों में गृह्यकर्मों से सम्बद्ध मन्त्रों का संकलन है, 27 वें प्रश्न में गृह्यसूत्र, 28 एवं 29 वें प्रश्न में धर्मसूत्र तथा 30 वें प्रश्न में शुल्वसूत्र हैं। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में 588 कण्डिकाएँ तथा 759 सूत्र हैं। इस श्रौतसूत्र के प्रतिपाद्य विषयों में दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, निरूढपशुबन्ध, चातुर्मास्य, प्रायश्चित्त, अग्निष्टोम, उक्थ्य, सोम संस्थाएँ, प्रवर्ग्य, अग्निचयन, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, द्वादशाह, एकाह आदि प्रमुख हैं।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में परिभाषाओं का व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त होता है। इसमें शाखान्तरीय विधियाँ, मन्त्र एवं उद्धरण प्रचुरता से दिखाई देते हैं। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र पर धूर्त स्वामी का भाष्य प्रसिद्ध है।

भारद्वाज श्रौतसूत्र

भारद्वाज श्रौतसूत्र का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से है। इसके लेखक ऋषि भारद्वाज हैं। भारद्वाज श्रौतसूत्र 15 प्रश्नों (अध्यायों) में विभक्त है। इस श्रौतसूत्र में तैत्तिरीय, मैत्रायणी एवं काठक संहिता से अनेक मन्त्र उद्धृत हैं, जिसमें सर्वाधिक मन्त्र तैत्तिरीय शाखा से लिए गए हैं। भारद्वाज श्रौतसूत्र में तैत्तिरीय ब्राह्मण के वाक्यों के '**इति विज्ञायते**' संकेत के साथ उद्धृत किया गया है। भारद्वाज श्रौतसूत्र का रचना काल 600 ई0पू0 स्वीकार किया जाता है। कुछ अंशों में भारद्वाज श्रौतसूत्र की बौधायन श्रौतसूत्र से समानता दृष्टिगोचर होती है। भाषा एवं लेखन शैली आदि की दृष्टि से भारद्वाज श्रौतसूत्र बौधायन श्रौतसूत्र से परवर्ती तथा आपस्तम्ब

श्रौतसूत्र से पूर्ववर्ती प्रतीत होता है।

दर्शपूर्ण मास, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, आग्रयण, निरूढपशुबन्ध, चातुर्मास्य, पूर्वप्रायश्चित्त तथा ज्योतिष्टोम आदि इसके मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

सत्याषाढ या हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र

सत्याषाढ श्रौतसूत्र तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध है। इसका अन्य नाम हिरण्यकेशी प्रसिद्ध है। इसके लेखक सत्याषाढ हैं। सत्याषाढ श्रौतसूत्र में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनेक सूत्र अनुवर्तित हैं। इसमें 29 प्रश्न (अध्याय) हैं। इसमें श्रौतसूत्रों के मध्य गृह्यसूत्र भी उल्लिखित हैं। सत्याषाढ श्रौतसूत्र में धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्र का भी समावेश है। इसके प्रतिपाद्य विषय बौधायन श्रौतसूत्र के समान हैं। दर्शपूर्णमास, ऐन्द्रदृष्टि, वैमृधेष्टि, पिण्डपितृयज्ञ, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, सोमाग्रयणेष्टि, पशुबन्ध, निरूढपशुबन्ध, चातुर्मास्य, अग्निचयन, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, प्रायश्चित्त, द्वादशाह, गवामयन, एकाह, विवाह, गर्भाधान आदि स्मार्त कर्म, समयाचार, धर्म, मृतक कर्मविधान, दहन प्रकार, अस्थिसञ्चय आदि विषयों का वर्णन सत्याषाढ श्रौतसूत्र में प्राप्त होता है। इस श्रौतसूत्र पर महादेव दीक्षित कृत वैजयन्ती, गोपीनाथ दीक्षित कृत ज्योत्स्ना, महादेव शास्त्री रचित प्रयोग चन्द्रिका तथा महादेव कृत उज्ज्वला भाष्य प्राप्त होते हैं।

वैखानस श्रौतसूत्र

वैखानस श्रौतसूत्र तैत्तिरीय शाखा की अवान्तर शाखा औखेय से सम्बद्ध है। यद्यपि यह शाखा इस समय उपलब्ध नहीं होती। इसके लेखक आचार्य विखनस हैं। वैखानस श्रौतसूत्र वैखानस कल्प का भाग है। वैखानस कल्प में 32 अध्याय हैं, जिनमें 12 से 32 अध्याय तक के भागों को वैखानस श्रौतसूत्र कहते हैं। इस श्रौतसूत्र पर बौधायन, आपस्तम्ब एवं सत्याषाढ श्रौतसूत्रों का प्रभाव दिखाई देता है।

अग्न्याधेय, पुनराधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढ पशुबन्ध, सौत्रामणी, परिभाषाएँ, अग्निष्टोम, उक्थ्य-षोडशी, अतिरात्र, आप्योर्याम, वाजपेय, अग्निचयन, इष्टि एवं सोम विषयक प्रायश्चित्त आदि प्रमुख विषयों का वर्णन इस श्रौतसूत्र में प्राप्त होता है। अन्य श्रौतसूत्रों की भाँति इसमें अश्वमेध याग का वर्णन नहीं है।

वैखानस वैष्णवों का विशिष्टाद्वैतवादी सम्प्रदाय है। अतः इस श्रौतसूत्र में वैष्णवों के अनुरूप यजमान को गार्हपत्य की भस्म से ऊँचा पुण्ड्र शरीर के अंगों पर लगाने का निर्देश है। विष्णु का ध्यान लगाने का उल्लेख इस श्रौतसूत्र में प्राप्त होता है। अन्य श्रौतसूत्रों की अपेक्षा इस श्रौतसूत्र में विषयों का प्रतिपादन अधिक स्पष्टता से किया गया है। अन्य श्रौतसूत्रों में पृथक्-पृथक् स्थानों पर वर्णित होता, ब्रह्मा, यजमानादि का वैखानस श्रौतसूत्र में एक साथ ही वर्णन प्राप्त होता है।

वाधूल श्रौतसूत्र

वाधूल श्रौतसूत्र भी तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। वाधूल श्रौतसूत्र बौधायन श्रौतसूत्र के समान प्राचीन है। इसकी रचना शैली भी बौधायन के समान है। इसमें उद्धृत मन्त्र पूर्ण नहीं हैं। वाधूल श्रौतसूत्र में 15 प्रपाठक हैं। प्रपाठक अनुवाक एवं पटल में विभक्त हैं।

अग्न्याधेय, पुनराधेय, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान, प्रवासोपस्थान, पुरोडाशी, याजमान, आग्रयण,

ब्रह्मत्व, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, ज्योतिष्टोम, अग्निचयन, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, आप्तोर्याम, अग्निष्टोम, अहीन एवं एकाह आदि इसके प्रमुख वर्ण्य विषय हैं।

वाराह श्रौतसूत्र

वाराह श्रौतसूत्र का सम्बन्ध मैत्रायणी संहिता से है। इसमें प्राक् सौमिक, अग्निचयन तथा वाजपेयादि तीन खण्ड हैं। प्राक् सौमिक भाग में 07 अध्याय, अग्निचयन भाग में 01 अध्याय तथा वाजपेयादि भाग में 04 अध्याय हैं। प्राक् सौमिक भाग में परिभाषा, याजमान, ब्रह्मत्व, दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, पुनराधेय, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान, आग्रयण, पशुबन्ध तथा चातुर्मास्य वर्णित हैं।

अग्निचयन भाग में नाम के अनुरूप अग्निचयन से सम्बद्ध विषयों का वर्णन है। वाजपेय भाग में वाजपेय, द्वादशाह, गवामयन, उत्सर्गाणामयन, महाव्रत, एकादशिनी, सौत्रामणी, राजसूय तथा अश्वमेध का वर्णन है। वाराह श्रौतसूत्र में अपत्नीक को भी अग्न्याधान का अधिकार दिया गया है। इस पर कोई व्याख्या प्राप्त नहीं होती है।

मानव श्रौतसूत्र

मानव श्रौतसूत्र मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है। यह अत्यधिक प्राचीन श्रौतसूत्र है। यह पाँच भागों में विभक्त हैं तथा ये पाँच भाग 11 अध्यायों विभक्त हैं। प्राक् सोम, इष्टिकल्प, अग्निष्टोम, राजसूय तथा चयन इसके 05 भाग हैं। इन पाँच भागों में दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, प्रवर्ग्य, इष्टिकल्प, चयनकल्प, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, एकाह, अहीन सत्र, श्राद्ध, पितृयज्ञ, प्रायश्चित्त, शुल्वसूत्र एवं परिशिष्ट आदि विषय वर्णित हैं।

1.2.3 सामवेदीय श्रौतसूत्र

संताओं में क्रम की दृष्टि से सामवेद का तृतीय स्थान है। वैदिक साहित्य में सामवेद को अत्यधिक आदर सम्मान प्राप्त हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण का यह सर्वाधिक प्रिय वेद है- **वेदानां सामवेदोऽस्मि।** शाखाओं की दृष्टि से प्राचीन काल में यह सबसे समृद्ध वेद था किन्तु दुर्भाग्य से वर्तमान में सामवेद की 03 शाखाएँ ही उपलब्ध होती हैं।

सामवेदीय साहित्य के अनुरूप ही इसके श्रौतसूत्र भी अत्यन्त उपादेय हैं। अद्यावधि प्रकाशित सामवेदीय श्रौतसूत्र 04 हैं, जिनके नाम आर्षेय कल्प, लाट्यायन श्रौतसूत्र, द्राह्यायण श्रौतसूत्र तथा जैमिनीय श्रौतसूत्र हैं। इनसे अतिरिक्त अप्रकाशित सामवेदीय श्रौतसूत्रों में कल्पानुपद सूत्र, उपग्रन्थ सूत्र, निदान सूत्र, अनुपदसूत्र और उपनिदान सूत्र प्रमुख हैं।

आर्षेय कल्प या मशक कल्पसूत्र

यह श्रौतसूत्र सामवेदीय ताण्ड्य महाब्राह्मण से सम्बद्ध है। इसके कुछ अंशों का सम्बन्ध षड्विंश ब्राह्मण से भी है। इसके लेखक मशक या मशक गार्ग्य माने जाते हैं। इसीलिए इसे मशक कल्पसूत्र भी कहा जाता है। यह कल्पसूत्र आर्षेय कल्प सूत्र एवं क्षुद्र कल्प सूत्र दो भागों में विभक्त है। आर्षेय कल्प सूत्र में विशाल यागों का वर्णन है तथा क्षुद्रकल्प सूत्र में छोटे यागों का वर्णन है।

सामवेदीय श्रौतसूत्रों में इसका विशिष्ट महत्त्व है। आर्षेय कल्पसूत्र ताण्ड्य ब्राह्मण के क्रम का अनुसरण करता है। परिणाम की दृष्टि से यह 11 अध्यायों में विभक्त है, जिनमें विभिन्न

सोमयागों में गेय स्तोमों की क्लृप्तियाँ दी गई हैं। सोमयाग तीन प्रकार के होते हैं-

1. एकाह- एक दिन में पूर्ण होने वाले याग।
2. अहीन- दो दिन से लेकर ग्यारह दिनों में पूर्ण होने वाले याग।
3. सत्र- बारह दिन से लेकर एक वर्ष या उससे भी अधिक समय में पूर्ण होने वाले याग।

आर्षेय कल्प सूत्र में एक दिन से लेकर हजार संवत्सर में पूर्ण होने वाले सोमयागों से सम्बद्ध साम एवं उनकी स्तोत्रीय ऋचाओं की सूची प्रदत्त है।

साम गान के पूर्व गान एवं उत्तर गान दो भेद हैं। पूर्व गान के ग्राम गेय गान एवं उत्तर गेयगान नाम से दो भेद हैं। इन्हें प्रकृति गान भी कहते हैं। सोमयागों में मुख्यतया उत्तरगान का ही प्रयोग होता है। ये गान सामवेद के उत्तरार्चिक पर आधृत हैं।

इस श्रौत सूत्र में गवामयन सत्र (एक वर्ष तक चलने वाला), एकाह, चातुर्मास्य, वाजपेय, राजसूय, अहीन याग, ज्योतिष्टोम, सप्तरात्र, अष्टरात्र, नवरात्र, दशरात्र, एकादशरात्र, द्वादश रात्र, षष्टिरात्र, शतरात्र तथा संवत्सररात्र यागों का वर्णन है।

आर्षेय कल्प श्रौतसूत्र पर वरदराज की विवृति नामक टीका प्राप्त होती है।

क्षुद्रकल्प सूत्र

इसके लेखक भी मशक गार्ग्य हैं। यह आर्षेय कल्प का ही भाग है, जिसे कालान्तर में व्याख्याकारों ने स्वतन्त्र कल्पसूत्र स्वीकार कर लिया। निदानसूत्र एवं उपग्रन्थ सूत्र भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं। श्रीनिवास ने इसे उत्तर कल्पसूत्र माना है। यह कल्पसूत्र तीन प्रपाठकों तथा छः अध्यायों में विभक्त है। क्षुद्र श्रौतसूत्र के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें क्षुद्र श्रौतयागों (सोमयागों) का प्रतिपादन किया गया है।

भाषा शैली एवं वर्णन दृष्टि से इसका अन्तिम भाग ब्राह्मण ग्रन्थों के समान प्रतीत होता है। आर्षेय कल्प की अपेक्षा क्षुद्र कल्प सूत्र में याग क्लृप्ति अधिक विस्तार से दी गई है। इसमें अनेक स्थानों पर छान्दस प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं।

विभिन्न काम्येष्टियाँ, प्रायश्चित्त, पृष्ठ्, षडह, द्वादशाह, अनुकल्प आदि का इसमें विस्तार से वर्णन है।

लाट्यायन श्रौतसूत्र

सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बद्ध श्रौतसूत्र में लाट्यायन श्रौतसूत्र का विशिष्ट स्थान है। लाट (गुजरात) प्रदेश में रचना होने के कारण इसका नाम लाट्यायन पडा है अथवा किसी लाटीय (गुजराती) व्यक्ति के द्वारा लिखित होने के कारण इसका नाम लाट्यायन पडा है। इसमें 10 प्रपाठक हैं, 129 खण्डिकाएँ हैं तथा 2641 सूत्र हैं। इस श्रौतसूत्र पर ताण्डय ब्राह्मण का प्रभाव दिखाई पडता है। ब्राह्मणोक्त विधियों के स्पष्टीकरण के लिए आचार्य सायण भी इसी श्रौतसूत्र का उल्लेख करते हैं।

परिभाषाएँ, ऋत्विक् वरण, अग्निष्टोम, वाजिभक्षण, चातुर्मास्य, वरुण प्रघास, सामविधान, चतुरक्षर, प्रतिहार, गायत्र गान, एकाह, अहीन, वाजपेय याग, राजसूय याग एवं सत्रयाग आदि विषयों का लाट्यायन श्रौतसूत्र में वर्णन है।

द्राह्यायण श्रौतसूत्र

यह सामवेदीय राणायनीय शाखा से सम्बद्ध है। छान्दोग सूत्र, प्रधान सूत्र एवं वशिष्ठ सूत्र इसके अन्य प्रमुख नाम हैं। इसके लेखक द्राह्यायण हैं। इसका प्रभाव दक्षिण भारत के कर्नाटक, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश तथा ओडिशा में अधिक है। यह लाट्यायन श्रौतसूत्र के अत्यधिक समान है। दोनों के सूत्र भी प्रायः समान हैं। इसमें लाट्यायन श्रौतसूत्र की अपेक्षा सूत्र अधिक हैं। लाट्यायन श्रौतसूत्र में केवल 13 सूत्र ऐसे हैं, जिसके समानान्तर सूत्र द्राह्यायण श्रौतसूत्र में प्राप्त नहीं होते हैं तथा द्राह्यायण श्रौतसूत्र में 250 सूत्र ऐसे हैं, जिनके समानान्तर सूत्र लाट्यायन श्रौतसूत्र में प्राप्त नहीं होते हैं। प्रो0 नेल्लिकोत्तु रामचन्द्र शर्मा का मत है कि लाट्यायन श्रौतसूत्र में सुरक्षित सूत्र को ही द्राह्यायण ने पुनः सम्पादित रूप में प्रस्तुत किया है।

द्राह्यायण श्रौतसूत्र में 31 पटल (अध्याय) हैं। पटल (अध्याय) खण्डों में विभक्त हैं। ज्योतिष्टोम, गवामयन, सत्र याग, ब्रह्मा के कार्य, हविर्याग एवं सोमयाग से सम्बद्ध क्रियाएँ, एकाह याग, अहीन याग, सत्र याग, अयन याग, वाजपेय याग, राजसूय याग एवं अश्वमेध का वर्णन द्राह्यायण श्रौतसूत्र में वर्णित है। इस पर धन्विन् कृत दीप भाष्य प्राप्त होता है।

जैमिनीय श्रौतसूत्र

इस श्रौतसूत्र का सम्बन्ध सामवेदीय जैमिनीय शाखा से है। इसके लेखक जैमिनि मुनि हैं। इसकी शैली ब्राह्मण ग्रन्थों के समान है। बौधायन श्रौतसूत्र के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसमें ताण्ड्य ब्राह्मण को भी उद्धृत किया गया है। कौथुम शाखीय व्याख्याकारों ने भी इसको बहुधा उद्धृत किया है।

जैमिनीय श्रौतसूत्र सूत्र, कल्प तथा पर्याध्याय या परिशेष नामक तीन खण्डों में विभक्त है। इसमें 18 अध्याय हैं। सूत्र खण्ड अत्यन्त लघु है। इस खण्ड में दीर्घ वाक्यों में 26 कण्डिकाओं में ज्योतिष्टोम, अग्न्याधान तथा अग्निचयन से सम्बद्ध सामों का वर्णन है।

कल्प खण्ड कौथुमीय मशक कल्प के समानान्तर प्रणीत प्रतीत होता है। इसमें स्तोम, प्रकृति, संज्ञा तथा विकृति नामक 04 उपखण्ड हैं। स्तोम कल्प में विविध स्तोत्रों के लिए स्तोमों का वर्णन है। इस कल्प में सोम याग के याग दिवस तथा यज्ञ के अनुष्ठान के क्रम का भी वर्णन है।

प्रकृति कल्प में एकाह, अहीन तथा सत्र यागों की प्रकृतियों में प्रयुक्त होने वाले सामों का वर्णन है।

संज्ञाकल्प में पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या है।

विकृति कल्प में एकाह, अहीन तथा सत्रयाग की विकृतियों का सामगान की दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है।

पर्याध्याय परिशेष खण्ड में 12 अध्याय हैं। इसमें यज्ञीय दिनों का तन्त्र, सामगान के विभिन्न विषय, सामगान की विभिन्न विभक्तियाँ तथा प्रयुक्त होने वाले साम का प्रतिपादन किया गया है।

अप्रकाशित सामवेदीय श्रौतसूत्र

कल्पानुपदसूत्र, उपग्रन्थ सूत्र, अनुपद सूत्र, उपनिदान सूत्र आदि सामवेदीय श्रौतसूत्र अद्यावधि अप्रकाशित हैं।

कल्पानुपद सूत्र

इसमें 02 प्रपाठक हैं तथा प्रत्येक प्रपाठक में 12 पटल हैं। कालन्द के अनुसार यह आर्षेय कल्प और क्षुद्र सूत्र का परिशिष्ट है। इसका आधार यह है कि इन दोनों ही ग्रन्थों से प्रायः नामोल्लेख किए बिना उद्धरण कल्पानुपदसूत्र में दिए गए हैं। केवल एक स्थान पर मशक का नामोल्लेख लेखक ने किया है। बलदेव उपाध्याय ने वैदिक साहित्य एवं संस्कृति नाम पुस्तक में इसके काशी से प्रकाशित होने का उल्लेख किया है।

उपग्रन्थ सूत्र

उपग्रन्थ सूत्र प्रपाठकों में विभक्त है। इसमें 04 प्रपाठक हैं। इसके लेखक आचार्य कात्यायन माने जाते हैं। उपग्रन्थ श्रौत सूत्र में श्रौतयागों में विनियुक्त सामों की सम्पत्-सिद्धि, प्रायश्चित्त, पृष्ठानुकल्प आदि का विवेचन है। प्रो0 बी0आर0 शर्मा के अनुसार यह पूर्वोत्तर भाग सहित आर्षेय कल्प, द्राह्यायण और लाट्यायन श्रौतसूत्रों को मिलाकर बने किसी श्रौतसूत्र का परिशिष्ट भाग प्रतीत होता है।

अनुपदसूत्र

अनुपद सूत्र में 10 प्रपाठक हैं। कालन्द का मत है कि अनुपदसूत्र स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर ताण्ड्य ब्राह्मण पर लिखी एक वृत्ति है।

निदान सूत्र

निदान शब्द नि उपसर्गपूर्वक दा धातु से निष्पन्न होता है। निदान शब्द का अर्थ है- आदि कारण। किन्तु निदान सूत्र में निदान शब्द का अर्थ है- किसी विशेष विषय के विवेचन करने वाला सूत्र ग्रन्थ मानना समीचीन प्रतीत होता है। आचार्य सायण ने ताण्ड्य ब्राह्मण भाष्य में पतञ्जलि के नाम से जो उद्धरण प्रदान किया है, वह निदान सूत्र में प्राप्त होता है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस ग्रन्थ के रचयिता महर्षि पतञ्जलि हैं।

यह 10 प्रपाठकों में विभक्त है। प्रथम प्रपाठक को छन्दोविचिति नाम से भी जाना जाता है। याग विवेचना की दृष्टि से निदान सूत्र और ताण्ड्य ब्राह्मण परस्पर घनिष्ठता से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। लाट्यायन श्रौतसूत्र से भी इसकी साम्यता है। निदान श्रौतसूत्र में सामगान की प्रक्रिया का गम्भीरता से विवेचन किया गया है। धानञ्जय, गौतम, वसिष्ठ, भारद्वाज और शाण्डिल्यायन आदि अनेक आचार्यों के मतों को यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

1.2.4 अथर्ववेदीय श्रौतसूत्र

वैदिक संहिताओं में क्रम की दृष्टि से अथर्ववेद अन्तिम क्रम पर है। शाखाओं की दृष्टि से भी सबसे कम शाखाएँ अथर्ववेद की हैं। शाखाओं के समान ही अथर्ववेद से सम्बद्ध साहित्य भी स्वल्प ही है। वर्तमान काल में अथर्ववेद से सम्बद्ध केवल 01 श्रौतसूत्र ही प्राप्त होता है।

वैतान श्रौतसूत्र

वैतान श्रौतसूत्र अथर्ववेद का एकमात्र श्रौतसूत्र है। वैतान श्रौतसूत्र के प्रथम सूत्र **अथ वितानस्य** के आधार पर ही सम्भवतः इसका नामकरण वैतान किया गया है। इसमें 08 अध्याय हैं तथा 43 कण्डिकाएँ हैं। यह गोपथ ब्राह्मण पर आधृत है। इसके पूर्वार्ध पर कात्यायन श्रौतसूत्र का

अत्यधिक प्रभाव है।

अन्य श्रौतसूत्र जहाँ अपने गृह्यसूत्रों के पूर्ववर्ती स्वीकार किए जाते हैं, वहीं वैतान श्रौतसूत्र को अपने गृह्य सूत्र कौशिक पर आधृत माना जाता है। इस श्रौतसूत्र में विनियुक्त अधिकांश मन्त्र अथर्ववेद की शौनक शाखा के 20 वें काण्ड से लिए गए हैं।

परिभाषा, दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, आग्रयणीय इष्टि, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, उक्थ्य षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय, आप्तोर्याम, अग्निचयन, सौत्रामणी, गवामयन, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, एकाह एवं अहीन याग तथा काम्येष्टियाँ श्रौतसूत्र के प्रतिपाद्य विषय हैं।

1.3 गृह्यसूत्रों का परिचय

कल्पसूत्रों में गृह्यसूत्रों का द्वितीय स्थान है। ये वैदिक आर्यों के गृहस्थ तथा पारिवारिक जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। श्रौतसूत्रों के समान ही गृह्यसूत्रों की विषयवस्तु भी ब्राह्मण ग्नन्थों से प्रभावित प्रतीत होती है। गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्र प्राचीनतम भी हैं और नवीनतम भी हैं। जहाँ श्रौतयागों के सम्पादन के लिए अनेक ऋत्विकों की आवश्यकता होती है, वहीं गृह्यकर्मों का अनुष्ठान यजमान स्वयं भी कर सकता है। श्रौतयाग आहिताग्नि पुरुष के द्वारा ही सम्पादित किए जा सकते हैं, किन्तु गृह्यकर्म आहिताग्नि पुरुष तथा अनाहिताग्नि पुरुष दोनों के द्वारा ही सम्पादित किए जा सकते हैं।

'गृह्यसूत्र' संज्ञा से ही गृह्यसूत्र के अर्थ को स्पष्ट किया जा सकता है। 'गृह्य' शब्द का अर्थ है गृहस्थ-जीवन से सम्बन्धित धार्मिक कर्म। विवाहोपरान्त घर में स्थापित की जाने वाली गृह्याग्नि तथा उसमें किए जाने वाले संस्कारों के क्रम का औचित्यानुसार विवरण प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों को 'गृह्यसूत्र' कहा जाता है।

गृह्यसूत्र गार्हस्थ्य-जीवन से सम्बद्ध धार्मिक अनुष्ठानों, आचार-विचारों एवं गृह्य यज्ञों का विवेचन करते हैं। इनमें गर्भाधान से लेकर मृत्यु-पर्यन्त और मृत्यु के बाद किये जाने वाले संस्कारों तथा अनुष्ठान-विधियों का विवरण प्राप्त होता है। गृह्यसूत्रों में 42 संस्कारों का वर्णन है किन्तु गौतम 40 संस्कार ही मानते हैं। इनमें गर्भाधान से विवाह पर्यन्त अठारह संस्कार कायिक संस्कार कहलाते हैं। शेष 22 संस्कार यज्ञपरक हैं। संस्कार विवेचन के अतिरिक्त सात पाकयज्ञों का विधान भी इन सूत्रों में किया गया है।

गृहस्थ द्वारा नित्य क्रियमाण पांच महायज्ञों का विवेचन गृह्यसूत्रों की अन्यतम विशेषता है। पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत ही अतिथिज्ञ (अतिथि सत्कार) भी एक है, इसे ही 'मनुष्य यज्ञ' कहा जाता है।

गृह्यसूत्रों में कौटुम्बिक आचारों के साथ ही साथ सामाजिक आचारों का भी विचार हुआ है। चातुर्वर्ण्य के आचार, उनके कर्तव्य एवं अधिकारों का विवेचन प्रमुख रूप से गृह्यसूत्रों में हुआ है।

इनके अतिरिक्त इनमें विविध प्रकार के जादू-टोनों, भूतापसारण रोगों एवं अपशकुनों का उपशमन, गृहनिर्माण, पशुपालन, कृषि-विधान तथा आचारव्यवहारों का समुचित निरूपण है। इनमें सत् आचरण और सद्गुणों पर ऋषियों ने विशेष जोर दिया है।

गृह्यसूत्रों की संख्या श्रौतसूत्रों के समान ही है। श्रौतसूत्रों के समान ही गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध भी वेद की भिन्न-भिन्न शाखाओं से है। वर्तमान काल में ऋग्वेद के 03, यजुर्वेद के 10 सामवेद के 05 (01 अप्रकाशित) तथा अथर्ववेद का 01 गृह्यसूत्र प्राप्त होता है।

13.1 ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र

वर्तमान काल में ऋग्वेद के 03 गृह्यसूत्र प्राप्त होते हैं। इनके नाम आश्वलायन गृह्यसूत्र, शांखायन गृह्यसूत्र एवं कौषीतकि गृह्यसूत्र हैं।

आश्वलायन गृह्यसूत्र

इसके रचयिता आश्वलायन ऋषि हैं। ये शौनक ऋषि के शिष्य थे। गृह्यसूत्रों में आश्वलायन गृह्यसूत्र प्राचीनतम माना जाता है। यह शांखायन गृह्यसूत्र की अपेक्षा भी प्राचीन प्रतीत होता है। इस गृह्यसूत्र में प्रयुक्त अधिकांश मन्त्र आश्वलायन संहिता से उद्धृत है किन्तु कुछ मन्त्र आश्वलायन संहिता के नहीं हैं। अन्य गृह्यसूत्रों की अपेक्षा आश्वलायन गृह्यसूत्र में वर्णित विवाह, पुंसवन, जातकर्म आदि संस्कारों की विधियाँ सरल हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र में वर्णित अन्त्येष्टि संस्कार अन्य गृह्यसूत्रों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित है। इस गृह्यसूत्र पर नारायण द्वारा लिखित विवरण टीका प्राप्त होती है। नारायण से पूर्व देव स्वामी ने इस पर भाष्य लिखा था, जो अब तक मुद्रित नहीं हुआ है। आश्वलायन गृह्यसूत्र पर वैयाकरण हरदत्त मिश्र ने अनाविला नामक टीका लिखी है। कुमारिलकृत कारिकाएँ भी आश्वलायन गृह्यसूत्र में प्रकाशित हो चुकी हैं। इसमें चार अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में पाकयज्ञ, दैनिक होम, स्थालीपाक, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, अन्नप्राशन, चौलकर्म (मुण्डन), उपनयन, ब्रह्मचर्यनियम, मधुपर्क एवं गोदान का वर्णन है।

द्वितीय अध्याय में श्रवणाकर्म, आश्वयुजी, वास्तुनिर्माण एवं गृह-प्रवेश का वर्णन है।

तृतीय अध्याय में पञ्च महायज्ञ, ऋषितर्पण, वेदाध्ययन, उपाकर्म, समावर्तन तथा राज सन्नाहन का वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय में दाहकर्म, श्राद्ध तथा शूलगव का वर्णन है।

शांखायन गृह्यसूत्र

इसका सम्बन्ध ऋग्वेद की बाष्कल शाखा से है। इसके रचयिता 'सुयज्ञ' हैं। इसमें 6 अध्याय हैं। टीकाकार नारायण के मत में शांखायन गृह्यसूत्र का पञ्चम अध्याय परिशिष्ट है। शांखायन गृह्यसूत्र में विषयवस्तु चतुर्थ अध्याय तक ही पूर्ण हो जाती है। पञ्चम अध्याय में वर्णित उद्यान, कूप एवं तडाग की प्रतिष्ठा सदृश विषय वस्तुतः पुराण एवं धर्मसूत्र के विवेच्य विषय हैं। षष्ठ अध्याय में वैदिक संहिताओं और उपनिषदों आदि के अध्ययन के नियम हैं। इस प्रकार इसके चार अध्यायों में ही गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषयों का उल्लेख है।

इसके प्रतिपाद्य विषय आश्वलायन गृह्यसूत्र के समान हैं कौषीतकि एवं पारस्कर गृह्यसूत्रों से भी इसकी समानता है। शांखायन गृह्यसूत्र में उद्धृत श्लोक मनुस्मृति के श्लोकों के सदृश ही हैं।

शाखांयन गृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय में पाकयज्ञ, दर्शपूर्णमास, ब्रह्मयज्ञ, विवाहयोग्य कन्या के गुण, प्रातिश्रुत्क, होमविधान, समञ्जनप्रभृति वैवाहिक कृत्य, चतुर्थीकर्म, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, मेधाजनन, अन्नप्राशन एवं चूडाकरण का वर्णन है।

द्वितीय अध्याय में उपनयन, वेदाध्ययन, शुक्रिय, शाक्वर, व्रातिक, औपनिषद व्रत, वैश्वदेव बलि तथा मधुपर्क का वर्णन है।

तृतीय अध्याय में समावर्तन, वास्तोष्पति के निमित्त होम, आग्रयणेष्टि, वृषोत्सर्ग तथा अष्टकाओं का वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय में पार्वण श्राद्ध, एकोदिष्ट, सपिण्डीकरण, आभ्युदयिक, उपाकरण, उत्सर्ग (अनध्याय), देव तर्पण, पितृ तर्पण, ऋषि तर्पण, स्नातक का आचार, क्षेत्रकर्षण, श्रावण होम, आश्वयुजी, आग्रहायणेष्टि तथा प्रत्यवरोहण का वर्णन है।

ओल्डेन बर्ग ने इसका जर्मन भाषा में अनुवाद किया था। रामगोपाल भट्ट ने बनारस से तथा सीताराम सहगल ने दिल्ली से सम्पादित कर इसको प्रकाशित किया है।

कौषीतकि गृह्यसूत्र

इसके लेखक शाम्भव्य या शाम्बव्य हैं। कौषीतकि गृह्यसूत्र में 5 अध्याय हैं। इसके प्रथम चार अध्यायों के विषय प्रायः शांखायन के तुल्य हैं। जैमिनीय श्रौतसूत्र के भाष्यकार भवत्रात के मत में शाम्बव्य गृह्यसूत्र में 24 पटल थे। इसके अन्तिम अध्याय में अन्त्येष्टि का निरूपण है। इसका पञ्चम अध्याय शांखायन से भिन्न है तथा अन्य अध्यायों में यह शांखायन गृह्यसूत्र का पदशः अनुकरण करता है। शांखायन गृह्यसूत्र का सपिण्डीकरण प्रकरण भी कौषीतकि गृह्यसूत्र के सदृश नहीं है। दोनों ही गृह्यसूत्रों की ऋषितर्पण विधि कि प्रासंगिकता में भी अन्तर है। अतः शांखायन और कौषीतकि गृह्यसूत्रों को एक ही ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। किन्तु दोनों गृह्यसूत्रों के मध्य विद्यमान घनिष्ठता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसका प्रथम संस्करण टी0आर0 चिन्तामणि द्वारा मद्रास विश्वविद्यालय से तथा द्वितीय संस्करण पं0 रत्नगोपाल द्वारा काशी से प्रकाशित किया गया है।

1.3.2 यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र

कर्मकाण्ड की दृष्टि से वैदिक साहित्य में यजुर्वेद में उससे सम्बद्ध साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान काल में यजुर्वेद संहिता से सम्बद्ध गृह्यसूत्र ही सर्वाधिक हैं।

शुक्ल-यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र

वर्तमान काल में शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध एकमात्र पारस्कर गृह्यसूत्र ही उपलब्ध होता है।

पारस्कर गृह्यसूत्र

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी और काण्व दोनों ही शाखाओं का यही एकमात्र प्रतिनिधि गृह्यसूत्र है। इसमें 3 काण्ड हैं। प्रत्येक काण्ड का विभाजन कण्डिकाओं में हुआ है। तीनों कांडों में 51 कण्डिकाएँ हैं। इसके रचयिता आचार्य पारस्कर हैं। पारस्कर का समय 200 ई0पू0 के लगभग माना जाता है। इस गृह्यसूत्र में लगभग 66 विषयों का वर्णन है। इसके मुख्य प्रतिपाद्य विषय ये हैं -

प्रथम काण्ड में होम के सामान्य नियम, विवाह-विधि, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण तथा अन्नप्राशन आदि का वर्णन है।

द्वितीय काण्ड में चूडाकर्म, उपनयन, समावर्तन, पञ्च महायज्ञ, उपाकर्म, अनध्याय, इन्द्रयज्ञ

तथा सीतायज्ञ आदि का वर्णन है।

तृतीय काण्ड में आग्रहायणी कर्म, अष्टका, शाला-कर्म, दाहविधि, सभाप्रवेश, रथारोहण तथा हस्ति-आरोहण आदि का वर्णन है।

परिशिष्ट में वापी, कूप, तडाग आदि की स्थापना, ब्रह्मयज्ञविधि, तर्पणविधि, श्राद्धसूत्र आदि हैं।

बंगाल को छोडकर प्रायेण सम्पूर्ण भारत वर्ष में पारस्कर गृह्यसूत्र के द्वारा प्रतिपादित गृह्यकर्मों का ही अनुष्ठान किया जाता है। अन्य कोई गृह्य सूत्र इस क्षेत्र में प्रभावी नहीं है। पारस्कर गृह्यसूत्र पर कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर एवं विश्वनाथ के संस्कृत भाषा में भाष्य प्रकाशित हुए हैं। वासुदेव, गंगाधर, हरिहर और रेणु दीक्षित ने भी पारस्कर गृह्यसूत्र पर भाष्य किया है।

कृष्ण-यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र

श्रौतसूत्रों के समान ही कृष्ण यजुर्वेद के गृह्यसूत्रों की संख्या प्रचुर है। इस समय कृष्ण यजुर्वेद के लगभग 9 गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं।

बौधायन गृह्यसूत्र

इसके रचयिता बौधायन हैं। इनका समय 900 ई0पू0 के लगभग माना जाता है। यह बोधायन कल्पसूत्र का एक विशिष्ट अंश है। श्री शामशास्त्री द्वारा संपादित इसका संस्करण 1920 ई0 में मैसूर से प्रकाशित हुआ था। इसमें चार प्रश्न (अध्याय) हैं। इसकी कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 10 प्रश्न भी हैं।

पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रभाव क्षेत्र जहाँ उत्तर भारत है, वहीं बौधायन गृह्यसूत्र का प्रभाव क्षेत्र दक्षिण भारत है। बौधायन गृह्यसूत्र में दक्षिण भारत में ममेरी फुफेरी बहिनों में होने वाले विवाह सम्बन्ध की आलोचना की गई है।

इसमें मुख्य वर्ण्य-विषय ये हैं: विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपनयन, समावर्तन, वैश्वदेव, पञ्च महायज्ञ, गोदान, दीक्षा, वास्तुशमन, श्राद्ध एवं प्रायश्चित्त आदि इसके मुख्य वर्ण्य विषय हैं।

आग्निवेश्य गृह्यसूत्र

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखान्तर्गत वाधूल शाखा की 04 उपशाखाएँ बताई जाती हैं- कौण्डिन्य, आग्निवेश्य, गालव एवं शांख। आग्निवेश्य गृह्यसूत्र आग्निवेश्य शाखा से सम्बद्ध है।

इसके रचयिता आचार्य अग्निवेश हैं। इसमें 3 प्रश्न (अध्याय) हैं। बौधायन, हिरण्यकेशी और भारद्वाज गृह्यसूत्रों से इसका बहुत साम्य है। इसमें अनेक नए विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इसमें मूर्तिपूजा का भी विधान है। इसमें तान्त्रिक यन्त्रों का उल्लेख है तथा तान्त्रिक शब्दावली भी है। इस पर धार्मिक सम्प्रदायों का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इसके मुख्य वर्ण्यविषय उपनयन, समावर्तन, विवाह, गृहप्रवेश, बलिवैश्वदेव, दर्श-पूर्णमास, स्थालीपाक, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, शाला निर्माण, यज्ञोपवीत-विधि, गृहयज्ञ, भूतबलि, देवयज्ञ, मधुपर्क, प्रायश्चित्त, वानप्रस्थ विधि, संन्यासविधि, अन्त्येष्टि, श्राद्ध, नारायण- बलि आदि हैं।

भारद्वाज गृह्यसूत्र

यह भारद्वाज कल्पसूत्र का एक अंश है। इसका सम्बन्ध तैत्तिरीयों की भारद्वाज शाखा से है। भारद्वाज गृह्यसूत्र में युक्तिसंगत क्रम का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इस गृह्यसूत्र में अनेक नवीन मन्त्र विनियुक्त हैं। भारद्वाज गृह्यसूत्र की शैली सरल एवं स्वाभाविक है। बौधायन गृह्यसूत्र से इस गृह्यसूत्र की अत्यधिक समानता दिखाई देती है। यह गृह्यसूत्र कात्यायन से पूर्ववर्ती है। इसके भाष्यकार का नाम अज्ञात है।

इसमें तीन प्रश्न (अध्याय) हैं। इसके मुख्य वर्ण्यविषय उपनयन, विवाह, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, शालाकर्म, गृहप्रवेश, रथारोहण, प्रायश्चित्त, श्राद्ध आदि हैं।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र

यह आपस्तम्ब कल्पसूत्र का एक अंश है। इसके लेखक आपस्तम्ब हैं। इस कल्पसूत्र में 30 प्रश्न (अध्याय) हैं। 27 वें अध्याय में गृह्यकर्मों का वर्णन है। 25 और 26 अध्यायों में विनियोज्य मन्त्रों का वर्णन है। सम्पूर्ण गृह्यसूत्र 08 पटल तथा 23 खण्डों में विभक्त है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में गृह्यसूत्रों का वर्णन स्थूल रूप से किया गया है। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र के साथ इस गृह्यसूत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस गृह्यसूत्र में विनियोज्य मन्त्रों का संग्रह मन्त्रपाठ के अन्तर्गत किया गया है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र पर हरदत्त मिश्र कृत अनाकुला तथा सुदर्शनाचार्य कृत तात्पर्य दर्शन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। इसके मुख्य वर्ण्य विषय परिभाषाएँ, पाकयज्ञ, विवाह, स्थालीपाक, वैश्वदेव कर्म, उपाकरण, उपनयन, गायत्री – उपदेश, ब्रह्मचर्य के नियम, ऋषितर्पण, समावर्तन, मधुपर्क, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, होम, स्विष्टकृत्, रथारोहण, प्रायश्चित्त आदि हैं।

हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र

इसे सत्याषाढ गृह्यसूत्र' भी कहते हैं। 'हिरण्यकेशि-कल्पसूत्र' के 19 और 20 प्रश्न गृह्यसूत्र कहलाते हैं। प्रत्येक प्रश्न में 8 पटल (खण्ड) हैं। भारद्वाज और आपस्तम्ब गृह्यसूत्र से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसमें सूत्रशैली का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। इसमें विनियोग वाले मन्त्र पूरे दिए हैं। अनेक अपाणिनीय प्रयोग भी इसमें दिखाई देते हैं।

प्रथम प्रश्न में उपनयन, समावर्तन, प्रायश्चित्त, विवाह, शालाकर्म, क्रोधविनयन, पण्यसिद्धि, अर्घ्य, दारगुप्ति, अमात्यान्तेवासिगुप्ति आदि विषय वर्णित हैं।

द्वितीय प्रश्न में सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, मेधाजनन, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपाकरण, श्वग्रह प्रायश्चित्त, शूलगव, मासिक श्राद्ध, अष्टका, श्रवणाकर्म, आग्रहयेष्टि तथा उत्सर्जन आदि का वर्णन है।

हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र पर मातृदत्त का भाष्य प्राप्त होता है।

काठक गृह्यसूत्र

'लौगाक्षि - गृह्यसूत्र' इसका अन्य नाम है। इसका सम्बन्ध कठ (काठक) शाखा से है। पतञ्जलि मुनि ने महाभाष्य में कठ शाखा का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया है। मानव और वाराह गृह्यसूत्रों से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। बहुत से स्थलों पर शब्दशः साम्य मिलता है।

इसमें 5 अध्याय और 75 कण्डिकाएँ (खण्ड) हैं। इसके मुख्य वर्ण्यविषय ब्रह्मचर्य के नियम, समावर्तन, उपाकर्म, पाकयज्ञ, विवाह, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपनयन, वेदाध्ययन, होम, स्वस्त्ययन, श्राद्ध आदि हैं।

वैखानस गृह्यसूत्र

इसका सम्बन्ध तैत्तिरीय शाखा से है। इसके रचयिता विखनस् मुनि माने जाते हैं। इसमें विनियोग वाले मन्त्र प्रतीकरूप में दिए गए हैं। इन मन्त्रों का एक संकलन 'वैखानसीया मन्त्रसंहिता' नाम से प्रकाशित हुआ है। इस गृह्यसूत्र में 7 प्रश्न (अध्याय) और 120 खण्ड हैं।

18 संस्कारों का इसमें वर्णन है। इन्हें 'शारीर' नाम दिया गया है। मुख्य संस्कार गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, चूडाकर्म, उपनयन, उपाकर्म, समावर्तन, पाणिग्रहण आदि हैं। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ तथा मनुष्ययज्ञ नामक पञ्च महायज्ञों का वर्णन भी इसमें है। अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, सौत्रामणी आदि हविर्याग तथा अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम आदि सोमयाग इस गृह्यसूत्र में वर्णित हैं। भाषा एवं रचना शैली आदि की दृष्टि से इसे परकालीन माना जाता है।

मानव गृह्यसूत्र

यह मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है। इसको मैत्रायणीय मानव गृह्यसूत्र भी कहते हैं। इसके रचयिता आचार्य मानव माने जाते हैं। इस पर अष्टावक्र का भाष्य है। इसमें दो पुरुष (अध्याय) हैं। इनके उप-विभाग (खण्ड) 41 हैं। खण्ड के अन्त में पूरण शब्द का प्रयोग किया गया है। इस श्रौत सूत्र में चक्र पूजन, वधूस्वप्न एवं वस्त्रालंकार दान आदि ऐसे विषय वर्णित हैं, जिनका वर्णन अन्य गृह्यसूत्रों में प्राप्त नहीं होता है। 04 विनायकों की पूजा का विधान भी इसमें प्राप्त होता है। मानव, काठक एवं वाराह गृह्यसूत्र में परस्पर अत्यधिक समानता दिखाई देती है। ब्रह्मचारी के कर्तव्य, समावर्तन संस्कार, प्रायश्चित्त, वेदाध्ययनविधि, अनध्याय, विवाह, वर-वधू के लक्षण, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, उपनयन, चातुर्मास्य, शालाकर्म, पञ्च महायज्ञ, विनायक – शान्ति, पुत्रेष्टियाग, सामान्य परिभाषाएँ आदि इसके मुख्य प्रतिपाद्य-विषय हैं।

वाराह गृह्यसूत्र

इसका सम्बन्ध मैत्रायणीय संहिता की वाराह शाखा से है। इसमें उसी के मन्त्रों का प्रयोग है। वाराह गृह्यसूत्र में 17 खण्ड हैं। इसका प्रारम्भ वाराह श्रौत परिशिष्टों से हुआ है। इसका मानवगृह्यसूत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसमें एक नया संस्कार 'दन्तोद्गमन' (दाँत निकलना) दिया गया है।

वाराह श्रौतसूत्र में मैत्रायणीसूत्रपरिशिष्टसंख्यानम्, पाकयज्ञ, जातकर्म, नामकरण, दन्तोद्गमन, अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, व्रत, वेदव्रत, उपाकरण, अनध्याय, उत्सर्जन, उपनिषद्, गोदान, समावर्तन, स्नातकधर्म, कन्यावरण, मधुपर्क, अलंकरण, प्रवदनकर्म, विवाह, गृह-प्रवेश, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन एवं वैश्वदेवकर्म आदि विषय विवेचित हैं।

1.3.3 सामवेदीय गृह्यसूत्र

वर्तमान समय में सामवेद के 04 गृह्यसूत्र प्राप्त होते हैं। इनके नाम गोभिल, खादिर, द्राह्यायण और जैमिनीय हैं। डा0 सूर्यकान्त ने कौथुम गृह्य नाम से एक गृह्यसूत्र सदृश ग्रन्थ का सम्पादन किया है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

गोभिल गृह्यसूत्र

यह सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बद्ध है। यह सामवेद का सबसे प्रसिद्ध गृह्यसूत्र है। 'मन्त्रब्राह्मण' नामक एक सामवेदीय ग्रन्थ है, जिसमें गृह्यकर्मों में प्रयोज्य मन्त्रों का संकलन है। गोभिल गृह्य सूत्र में मन्त्र ब्राह्मण से मन्त्र उद्धृत किए गए हैं। इसमें मन्त्र प्रतीकरूप में दिए हैं। सामसंहिता के भी मन्त्र इसमें प्रयुक्त हैं।

इसमें चार प्रपाठक और उनमें 39 खण्ड हैं। इसके मुख्य वर्ण्य-विषय ये हैं- प्रथम प्रपाठक में सामान्य विधियाँ, होम के अधिकारी, अग्न्याधान, आचमनविधि, वैश्वदेव विधि, दर्श-पूर्णमास आदि का वर्णन है। द्वितीय प्रपाठक में विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, उपनयन आदि का वर्ण है। तृतीय प्रपाठक में गोदान, ब्रह्मचारी के कर्म, उपाकर्म, अनध्याय, समावर्तन आदि का वर्णन है तथा चतुर्थ प्रपाठक में पितृयज्ञ, काम्यकर्म, वास्तुनिर्माण, वास्तुयाग, यशस्काम कर्म। विषयवस्तु की दृष्टि से इस गृह्यसूत्र का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। यह अत्यन्त प्राचीन गृह्यसूत्र माना जाता है।

खादिर गृह्यसूत्र

यह सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बद्ध है। यह वस्तुतः गोभिल गृह्यसूत्र का संक्षिप्त संस्करण है। इस पर रुद्रस्कन्द की वृत्ति प्राप्त होती है। इसके लेखक खादिर हैं। इसकी विषयवस्तु 04 पटलों में विभक्त है। प्रथम पटल में गृह्यकर्मसमुद्देश, समान्य अनुष्ठानकाल, यज्ञोपवीत, आचमन, दर्भासन, दिग्विधि, होमस्थान, स्नान, हस्त, पाकयज्ञ, ब्रह्मा, उपलेपनादि, प्रपदान्त, प्राक् होमीय कर्म, विवाह, गर्भाधान, गृह्याग्नि और वैश्वदेव का वर्णन है।

द्वितीय पटल में दर्शपूर्णमास, आग्नेय, स्थालीपाक, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, सोष्यन्तीहोम, निष्क्रमण, नामकरण, चौल, उपनयन एवं गोदानादिव्रत का वर्णन है।

तृतीय पटल में आप्लावन (स्नान), पुष्टिकरण का उपदेश, उपाकर्म, अनध्याय, आश्वयुजीकर्म, आग्रहायण एवं अष्टकाएँ वर्णित हैं।

चतुर्थ पटल में ब्रह्मवर्चसादिपरक काम्यकर्म, पुष्टिकामार्थक कर्म, मधुपर्कयोग्य व्यक्तियों का उल्लेख आदि का वर्णन है।

द्राह्यायण गृह्यसूत्र

खादिर गृह्यसूत्र से इसका अत्यन्त साम्य है। आनन्दाश्रम पूना से तथा मुजफ्फपुर से यह प्रकाशित हुआ है।

जैमिनीय गृह्यसूत्र

यह गोभिल गृह्यसूत्र से कई रूपों में सम्बद्ध हैं। इसमें दो अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय कण्डिकाओं में विभक्त है। प्रथम अध्याय में 24 और द्वितीय में 9 कण्डिकाएँ हैं। प्रथम अध्याय

में संस्कारों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में श्राद्ध, अष्टकाएँ, अन्त्येष्टि और शान्तिकृत्य का वर्णन है। मन्त्रों के उद्धरण बहुत हैं। इनमें से कुछ मन्त्र ही मन्त्रब्राह्मण में प्राप्त होते हैं।

कौथुम गृह्यसूत्र

इसका सम्पादन डा0 सूर्यकान्त ने किया है। इसका प्रकाशन एशियाटिक सोसायिटी कलकत्ता से हुआ है। कौथुम गृह्यसूत्र अत्यन्त लघु है। इसका पाठ भी शुद्ध नहीं है। विद्वानों का मत है कि यह किसी लुप्त पद्धति का भ्रष्ट रूप है। कौथुम गृह्यसूत्र में प्रायश्चित्त कर्मों का वर्णन है।

1.3.4 अथर्ववेदीय गृह्यसूत्र

कौशिक गृह्यसूत्र

अथर्ववेद का एकमात्र यही गृह्यसूत्र है। यह अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बद्ध प्रतीत होता है। इसकी भाषा नवीन है। यह गृह्यसूत्र कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें 14 अध्याय 141 कण्डिकाएँ हैं। अथर्ववेद में वर्णित शान्तिकर्म और अभिचार कर्मों का इसमें विशद विवेचन है। इसमें अथर्ववेद से सम्बद्ध क्रिया-कलापों का वर्णन अधिक है तथा गृह्यकर्मों का वर्णन कम है। अभिचार कर्मों, यातुविद्या अर्थात् जादू-टोने, मन्त्र-तंत्र, रोगनाशक उपाय, अभयप्राप्ति हेतु कर्म, पुष्टिकर्म, जय-पराजय के उपाय, मांडलिक राजाओं के अभिषेक आदि कर्मों का वर्णन बहुत अधिक है। इसको 'वैतान सूत्र' का उपजीव्य ग्रन्थ माना जाता है। यह अथर्ववेद की सभी शाखाओं के कर्मकाण्ड का विशद वर्णन करता है। इसको ही 'कौशिक सूत्र' भी कहते हैं।

1.4 सारांश

वैदिक साहित्य विश्व का प्राचीनतम एवं समृद्धतम साहित्य है। भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं परम्परा के विस्तार में इस साहित्य का अतुलनीय योगदान है। वैदिक साहित्य को सरल, सुबोध एवं सुगम बनाने के लिए तपःपूत ऋषिओं ने वेदांग साहित्य की रचना की। शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द एवं ज्योतिष नामक वेदांग छः हैं। वेद के अर्थ कोसमझने में सहायक होने के कारण ही इस साहित्य को वेदांग कहा जाता है।

श्रुति में वर्णित याग, संस्कार आदि का क्रमपूर्वक वर्णन करने वाला साहित्य कल्प कहलाता है। यह सूत्र शैली में लिखा गया है अतः इसे कल्प सूत्र कहते हैं। कल्प सूत्रों के चार भेद हैं- श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र, धर्म सूत्र एवं शुल्ब सूत्र। श्रौतसूत्रों में श्रुति में प्रतिपादित यागादि कर्मों की विधिवत् व्याख्या एवं विधि बतलाई गई है। गृह्यसूत्रों में मुख्यतया गृहस्थ के द्वारा आचरणीय पञ्च महायज्ञ एवं संस्कार आदि का वर्णन है। धर्मसूत्रों में प्रमुखतया आचार मीमांसा का विवेचन प्राप्त होता है। कल्पसूत्र के अन्तिम भाग शुल्ब सूत्र में यज्ञ वेदि की निर्माण विधि एवं महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

यद्यपि वेदों में प्राणिमात्र के कर्तव्य, आचार-व्यवस्था एवं विविध ज्ञान विज्ञान का विस्तार से वर्णन है। किन्तु श्रौतसूत्र के सन्दर्भ में श्रौत शब्द यज्ञादि क्रियाओं का ही प्रमुखता से वाचक है। वेद की प्रत्येक शाखा पर स्वतन्त्र रूप से श्रौतसूत्र लिखे गये थे। पुराकाल में ऋग्वेद की 21, यजुर्वेद की 100, सामवेद की 1000 तथा अथर्ववेद की 09 शाखाएँ विद्यमान थीं। किन्तु वर्तमान समय में वेद की सहस्राधिक शाखाएँ लुप्त हो गई हैं तथा उनके श्रौतसूत्र भी लुप्त हो गए। पुनरपि वर्तमान काल में 18 श्रौतसूत्र प्राप्त होते हैं।

इन श्रौतसूत्रों में श्रुति प्रतिपादित सात हविर्यागों तथा सात सोमयागों का क्रमबद्ध वर्णन प्राप्त होता है। अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढ पशु बन्ध एवं सौत्रामणी सात हविर्याग हैं तथा अग्निष्टोम, अत्यष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम सात सोमयाग हैं।

कल्प सूत्रों में गृह्यसूत्रों का विशिष्ट महत्त्व है। गृह्यसूत्र शब्द भी गृह्य और सूत्र इन दो शब्दों के योग से बना है। गृह्य शब्द का अर्थ है- गृहस्थ-जीवन से सम्बन्धित धार्मिक कर्म तथा सूत्र का अर्थ है- सरलता, संक्षिप्तता और क्रमबद्धता से विषय का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र। इस प्रकार विवाहोपरान्त घर में स्थापित की जाने वाली गृह्याग्नि तथा उसमें किए जाने वाले संस्कारों के क्रम का औचित्यानुसार विवरण प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों को 'गृह्यसूत्र' कहा जाता है।

गृह्यसूत्र गृहस्थ-जीवन से सम्बन्धित हैं। गृहस्थ-जीवन से सम्बद्ध सभी संस्कार इसमें संगृहीत हैं, अतः जीवन के सबसे बहुमूल्य काल का यह पथप्रदर्शक है। इनमें जीवन से सम्बद्ध सभी 16 संस्कार आते हैं। संस्कार जीवन को परिष्कृत करने की एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया का आधार होने के कारण ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें संस्कारों की समग्र विधि दी गई है, जो किसी समाज या राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना के उद्घोषक हैं। ये वैदिक संस्कृति और सभ्यता के परिचायक हैं। इनसे आर्यों की सामाजिक स्थिति और परम्पराओं का ज्ञान होता है। इनसे भारोपीय समुदाय में प्रचलित धार्मिक और सामाजिक परंपराओं, रीतिरिवाजों और प्रथाओं पर प्रकाश पड़ता है। गृह्यसूत्रों से जनपदों और ग्रामों में प्रचलित लोकधर्म और प्रथाओं का ज्ञान होता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि विवाह आदि में जनपद और ग्रामों में प्रचलित रीति-रिवाजों एवं प्रथाओं का पालन करना चाहिए - '**अथ खलु उच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च, तान् विवाहे प्रतीयात्**' (आश्व0 1.5.1-2)। गृह्यसूत्रों को ही यह श्रेय है कि हजारों वर्ष बाद भी सम्पूर्ण भारत में विभिन्न गृह्य संस्कार, विशेषतः विवाह एवं उपनयन संस्कार आदि में एकरूपता आजतक अक्षुण्ण है। इनका वैदिक धर्म और संस्कृति की सुरक्षा में बहुत बड़ा योगदान है।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

कल्प- वेद में वर्णित यागादि कर्मों की क्रमपूर्वक व्याख्या करने वाले ग्रन्थ कल्प कहलाते हैं।

श्रौतयाग- श्रुति में प्रतिपादित यागों को श्रौत याग कहते हैं।

सोमयाग- अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोर्याम।

हविर्याग- अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशु बन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञ।

संस्कार- मनुष्य का गुणात्मक परिवर्तन करने वाली क्रियाएँ संस्कार कहलाती हैं।

पञ्च महायज्ञ- ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ, अतिथि यज्ञ एवं पितृयज्ञ।

1.6 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग 1-5) श्री पी0बी0 काणे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

वैदिक साहित्य का इतिहास- प्रो0 पारस नाथ द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

वैदिक साहित्य का इतिहास- डा0 बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी

श्रौतयज्ञ परिचय- श्री वेणीराम शर्मा गौड, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप- प्रो0 ओमप्रकाश पाण्डेय, विश्व प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

वैदिक साहित्य एवं लौकिक संस्कृति- विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

1.7 बोध प्रश्न

दीर्घोत्तरीय प्रश्न

1. श्रौतसूत्रों की उपादेयता प्रतिपादित कीजिए।
2. ऋग्वेदीय श्रौतसूत्रों का विस्तार से परिचय दीजिए।
3. सामवेदीय श्रौतसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय लिखिए।
4. यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों को विस्तारपूर्वक समझाइए।
5. गृह्यसूत्र कालीन संस्कृति का वर्णन कीजिए

लघूत्तरीय प्रश्न

1. ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों के नाम लिखिए।
2. संस्कार शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. पञ्च महायज्ञों के नाम लिखिए।
4. सामगान को स्पष्ट कीजिए।
5. बौधायन श्रौतसूत्र का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

इकाई 2 धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्र की विषयवस्तु

इकाई की संरचना

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन समाप्त कर लेने पर आप –

- धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्र को परिभाषित करेंगे।
- धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्र में अन्तर स्पष्ट करेंगे।
- धर्मसूत्रों एवं शुल्बसूत्रों की संख्या और नाम बताएँगे।
- धर्मसूत्रों एवं शुल्बसूत्रों की विषयवस्तु पर अनुच्छेद लिखेंगे।
- धर्मसूत्रों एवं शुल्बसूत्रों का महत्त्व और उपयोग स्पष्ट करेंगे।
- वर्तमान सन्दर्भ में धर्मसूत्रों एवं शुल्बसूत्रों की प्रासंगिकता स्थापित करेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारतवर्ष अनादिकाल से जिन गुणों और विशेषताओं के लिए विख्यात रहा है, उनमें इसकी ज्ञान के प्रति उन्मुखता तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष सर्वोपरि हैं। जिस युग में विश्व की अन्य सभ्यताएँ जीवन–यापन के उपाय तलाशने में हैरान थीं, तब आर्य–सभ्यता अपने उत्कर्ष को वैदिक वाङ्मय के रूप में सँजो रही थी। यह साहित्य भी कोई सामान्य नहीं था अपितु विश्व में उत्कृष्टतम और मात्रा की दृष्टि से विशाल था। इसकी सबसे बड़ी विशेषता मौखिकता थी, जिसके माध्यम से वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, सूत्र, स्मृति, उपवेद आदि बड़े–बड़े ग्रन्थ भी गुरु–शिष्य परम्परा के माध्यम सेएक से दूसरी पीढ़ी को सदियों तक अन्तरित किए जाते रहे। यह सब–कुछ बिना किसी प्रक्षेप और काट–छाँट के वैदिक काल से लिपियों और लेखन कला के विकास तक अनवरत जारी रहा।

भारत की परम्परा वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानती है। इन्हें जानना–समझना जनसाधारण के लिए सहज नहीं है। इसलिए वेदों को समझने के लिए छह वेदांगों की रचना की गई, उनमें कल्पसूत्र भी सम्मिलित हैं। कल्प का व्यावहारिक अर्थ है वेदों में बताए गए कर्मकांडों या अनुष्ठानों को व्यावहारिक रूप से संभव बनाने वाले शास्त्र। इनके अन्तर्गत चार प्रकार के सूत्रग्रन्थ हैं जिनके नाम हैं – श्रौतसूत्र, स्मार्तसूत्र, धर्मसूत्रएवं शुल्बसूत्र। आज इस इकाई के माध्यम से हम सूत्र साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग धर्मसूत्र और शुल्बसूत्र का सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे।

धर्मसूत्र वैदिक साहित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं। जिस प्रकार चार वेदों की 1,131 शाखाएँ बताई जाती हैं; उसी प्रकार उन सब शाखाओं के अलग–अलग धर्मसूत्र भी कहे जाते हैं। लेकिन जैसे वेद की सभी शाखाएँ उपलब्ध नहीं है उसी प्रकार सभी धर्मसूत्र भी आज प्राप्त नहीं होते। धर्मसूत्र का संबंध यज्ञ, संस्कार, अनुष्ठान आदि से है। अपनी इस विशेषता के कारण धर्मसूत्र वैदिक परंपरा के सभी विद्वानों के लिए स्वीकार्य रहे हैं। वे इन्हें वैदिक संहिताओं के साथ ही परंपराओं को भी समझने का प्रामाणिक माध्यम मानते हैं। वैदिक अनुष्ठानों के उद्‌देश्य और विधि बताने के कारण धर्मसूत्र उस समय के सामाजिक जीवन की झांकी प्रस्तुत करते हैं। आज भी हम अपने परिवार और समाज में विभिन्न अवसरों पर जिन यज्ञ आदि का आयोजन करते हैं, उनके बीज कहीं न कहीं धर्म सूत्रों में ही दिखाई देते हैं।

शुल्ब का शाब्दिक अर्थ सूत्र या धागा है। लेकिन इस धागे का तात्पर्य कोई सामान्य सूत्र न होकर मापनी या नापने वाला धागा है। इसका भाव है कि जब वेदों में विधान

किए गए यज्ञों, कर्मकांडों, अनुष्ठानों या संस्कारों का आयोजन किया जाता था तो यजमान के मन में उसके आयोजन की व्यवस्था से सम्बन्धित प्रश्न उठना स्वाभाविक था। वह जानना चाहता था कि अनुष्ठान के लिए किस प्रकार की भूमि का चयन किया जाए और उस भूमि पर किस अनुपात में यज्ञ की वेदी का निर्माण हो। शुल्बसूत्र यजमान को यह जानने में भी सहायता करते थे कि अनुष्ठान में प्रयोग किए जाने वाले उपकरणों के निर्माण में किस आकार, प्रकार, संख्या आदि का ध्यान रखा जाना है।

शुल्बसूत्रों का मुख्य उद्देश्य यज्ञ आदि अनुष्ठानों की विधि बताने से संबंधित ना होकर उस विधि को व्यावहारिक रूप से अमल में लाने के लिए की जाने वाली व्यवस्थाओं से संबंधित है। अपनी इस विशेषता के कारण शुल्बसूत्रों को भारतीय गणित और स्थापत्य विद्या के जनक माने जाते हैं। जिसका भाव है कि इन्हीं ग्रन्थों के सूत्रों का बाद में अंकगणित, बीजगणित, ज्यामिति, स्थापत्य जैसे विषयों में प्रयोग होने लगा। यज्ञ और कर्मकाण्ड से सम्बद्ध होने के कारण यजुर्वेद और शुल्बसूत्रों का निकट सम्बन्ध पाया जाता है। संख्या की दृष्टि से कुल सात शुल्बसूत्र उपलब्ध होते हैं जिनमें से अधिकांश का सम्बन्ध यजुर्वेद से है।

2.2 धर्मसूत्र की परिभाषा

संस्कृत भाषा और भारतीय परंपरा के अनुसार धर्म शब्द का अर्थ वे गुण, कर्म और स्वभाव होते हैं जो किसी व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। जैसे गर्मी, चमक और ऊर्जा आग के धर्म हैं या तरलता, रंगहीनता, गंधहीनता और शीतलता पानी के धर्म हैं उसी प्रकार कुछऐसे गुण, कर्म स्वभाव भी हैं जिनके कारण कोई मानव शरीरधारी व्यक्ति मनुष्य कहलाता है। मनु ने अपनी स्मृति में इस परिभाषा को बहुत स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है – 'धारणात् धर्म इत्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः' इसका अर्थ है कि धारण करने के कारण इसे धर्म कहा जाता है।

दूसरी ओर सूत्र शब्द का अर्थ है कई चीजों कोएक साथ बांधने का माध्यम। इस प्रकार धर्मसूत्र शब्द का सामान्य अर्थ होता है मनुष्यों के गुण, कर्म, स्वभाव निर्धारित करने वाले नियमों, नीतियों मूल्यों या व्यवस्थाओं का संग्रह। भारतीय परम्परा में धर्मसूत्र व्यक्ति, समाज और जीवन–परंपरा को व्यवस्थित करने वाले ग्रंथ माने जाते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जिन ग्रंथों में मनुष्य के आचरण को व्यवस्थित करने के नियमों का संग्रह पाया जाता है, वे धर्मसूत्र कहलाते हैं।

2.3 धर्मसूत्रों के विषय

परिभाषा के अनुसार धर्मसूत्र व्यक्ति और समाज के आचरण, व्यवहार और चरित्र को निर्देशित करने वाले ग्रंथ हैं। इस दृष्टि से इनमें मनुष्य जीवन को बाल्यावस्था से वृद्धावस्था, ब्रह्मचर्य से संन्यास और वैचारिक से लेकर व्यावहारिक सन्दर्भों में व्यवस्थित करने के लिए नियम और उपनियम संग्रहीत किए गए हैं। इनमें धैर्य, क्षमा, संयम, इन्द्रियनिग्रह, स्वच्छता, आदि व्यक्तिगत और सत्य, अहिंसा, परोपकार, सहिष्णुता, शांति और सद्भाव जैसे सामाजिक गुण, कर्म और स्वभाव को ग्रहण करने और सभी स्थितियों में उनका पालन करने के लिए उपदेश और लाभ बताए गए हैं।

धर्मसूत्रों में उन सभी व्यवस्थाओं का निर्देश पाया जाता है जो किसी व्यक्ति के आचरण और चरित्र को उन्नत करने में सक्षम हैं। हम सब जानते हैं कि कोई भी

व्यक्ति माता के गर्भ से श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं होता। परिवार और परिवेश से उन्हें व्यक्तिगत और सामाजिक गुण, कौशल और स्वभाव प्राप्त होते हैं, जिनसे उनके व्यक्तित्व का स्वरूप निर्धारित होता है। इस दृष्टि से व्यक्ति में शिक्षा और संस्कार स्थापित करना, सामाजिक रुप से महत्त्वपूर्ण आचरणों का अभ्यास और उत्कृष्ट परम्पराओं का पालन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। धर्मसूत्रों में इन सभी विषयों के बीज उपलब्ध होते हैं।

धर्मसूत्रों में लोकव्यवहार के साथ वैदिक परम्पराओं का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। इनमें चार आश्रमों, पंचमहाव्रत, पंचमहायज्ञ, श्राद्ध, राजधर्म, कर–व्यवस्था, दण्डविधान, भक्ष्य–अभक्ष्य (अर्थात् क्या खाना–पीना चाहिए और क्या नहीं, इसका विचार), प्रायश्चित्त जैसे गम्भीर विषयों का भी प्रामाणिक विवरण है। इनके अलावा वैदिक नियम व्यवस्था के अन्तर्गत पाप, अपराध, और उनके दण्ड, करव्यवस्था, चतुर्वर्ण यानि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण, कर्म और स्वभाव, वर्णसंकर, राजा के कर्तव्य, आठ प्रकार के विवाह, दायभाग तथा उत्तराधिकार जैसे राजनीतिक विषयों में वैदिक व्यवस्थाओं का भी उल्लेख पाया जाता है।

मानव जीवन को व्यवस्थित करने और समाज तथा राज्य के विकास के लिए इस प्रकार के नियमों की आवश्यकता होती है। इन विषयों के महत्त्व के कारण ही धर्मसूत्रों को वैदिक और उत्तरवैदिक काल में बहुत आदर प्राप्त था। बाद में इन विषयों को न केवल बाद में स्मृतियों में स्वीकार किया गया बल्कि उनके आधार पर भारत की राजनीतिक, प्रशासनिक न्यायिक और आर्थिक नीतियों का गठन और विस्तार भी हुआ। इस अर्थ में धर्मसूत्र वैदिक समाज और जीवन का समाजशास्त्रीय पक्ष भी प्रस्तुत करते हैं। इनसे तत्कालीन जीवन और परंपराओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन्हीं के माध्यम से वर्ण, आश्रम और संस्कारों जैसी भारतीय संस्कृति की केन्द्रीय व्यवस्थाओं की जानकारी प्राप्त करने में सक्षम हैं।

2.4 धर्मसूत्रों का महत्त्व

भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपने विचार के साथ व्यवहार की श्रेष्ठता के लिए भी विश्व भर में विख्यात रही है। परंपरा के अनुसार वेद भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के साथ–साथ सभ्यता के भी आधार हैं। इसका अर्थ है कि ज्ञान का होना ही व्यवहार में परिवर्तन का कारण नहीं होता, बल्कि ज्ञान को व्यवहार में लाने के लिए भी अलग से प्रयास करना होता है। हम अपने अनुभव और आसपास की परिस्थितियों से जान सकते हैं कि अनेक विषयों में ज्ञान तो सभी के पास होता है, लेकिन व्यवहार में उसकी झलक दिखाई नहीं देती। भारतीय परंपरा में ज्ञान और व्यवहार के बीच जो समन्वय पाया जाता है, उसमें धर्मसूत्रों का महान योगदान रहा है। इन्हीं के कारण हमारे समाज और देश में प्राचीन काल से आज तक शांति, सद्भाव, करुणा और सहयोग के भाव पाए जाते हैं। इन अर्थों में ये ग्रन्थ भारतीय संस्कृति और सभ्यता के पोषक कहे जा सकते हैं। अपनी इसी उपयोगिता के कारण धर्मसूत्र आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं।

धर्मसूत्र व्यक्ति को अपने और समाज के प्रति सम्मान और सहयोग के लिए प्रेरित करते हैं। इससे न केवल व्यक्ति निज कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य के प्रति सजग होता है, अपितु समाज भी नियमित और व्यवस्थित होता है।ऐसा होने पर ही ज्ञान और विज्ञान की उन्नति होती है और समाज में साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान आदि आयामों के विकास का मार्ग भी प्रशस्त होता है। आज के समय में सनातनी हिन्दू अपनी जिन

विशेषताओं और श्रेष्ठताओं पर गर्व करते हैं, उनमें से अधिकांश का उद्भव और प्रचार–प्रसार धर्मसूत्रों के माध्यम से ही होना पाया जाता है। भारत को विश्वगुरु बनाने में धर्मसूत्रों में वर्णित व्यवस्थाओं, परम्पराओं और मानवमूल्यों का बहुत योगदान रहा है। आज भी यदि युवावर्ग धर्मसूत्रों में वर्णित नियमों और व्यवस्थाओं को आत्मसात् करे तो भारत सुख, शान्ति, सन्तोष और समृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

2.5 धर्मसूत्रों का रचनाकाल

अभी तक आप जान चुके हैं कि धर्मसूत्रों का सम्बन्ध विशेष रूप से भारतीय सामाजिक, राजनीतिक और साँस्कृतिक नियमों और परम्पराओं के वर्णन और विवेचन से है। इनका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से वेदों से भी सिद्ध होता है। इस कारण इनकी प्राचीनता भी स्वाभाविक ही है। जिन इतिहासकारों ने धर्मसूत्रों के रचनाकाल पर विचार किया है उनका मानना है कि ये ग्रन्थ मानव जीवनव्यवहार को व्यवस्थित करने के सर्वप्रथम प्रयास रहे हैं। इसका कारण यह भी है कि इनमें जिन परम्पराओं का उल्लेख पाया जाता है, उनका स्वरूप वर्तमान की अपेक्षा अत्यन्त भिन्न है। उदाहरण के लिए इनमें वर्ण, आश्रम और कर्त्तव्यकर्मों की जिस व्यवस्था का विधान पाया जाता है, उनके नाम और नियम आज प्रचलित व्यवस्थाओं से अनेकधा परिवर्तित हैं। इस भिन्नता सेएक ओर धर्मसूत्रों की प्राचीनता का आभास होता है तो साथ ही उनकी स्वीकार्यता भी प्रमाणित होती है।

धर्मसूत्रों की प्राचीनता का अन्य प्रमाण उन वर्णनों के माध्यम से प्राप्त होता है जिनमें मानवजीवन के चार आश्रमों के नाम उद्धृत हैं। ज्ञातव्य है कि इनमें से अनेक नाम आज प्रचलित नामों से पृथक हैं। कहीं ब्रह्मचर्य को आचार्यकुल या वैखानस, गृहस्थ को गार्हस्थ्य या गार्हपत्य, वानप्रस्थ को मौन या भिक्षु और संन्यास को वैखानस या परिव्राजक के नाम से जाना जाता था। इससे पता लगता है कि धर्मसूत्रों की रचना वैदिक काल में ही आरम्भ हो गई थी और जीवन के नियमों और परम्पराओं के परिवर्तन काल में भी जारी रही। इस विषय में वैदिक साहित्य के इतिकासकार भीएककत हैं और मानते हैं कि गौतम, बोधायन और आपस्तम्ब द्वारा लिखित धर्मसूत्र अन्य धर्मसूत्रों की तुलना में अधिक प्राचीन हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान और वेदों के रचनाकाल पर विश्वव्यापी चर्चा के सूत्रधार फ्रैडरिक मैक्समूलर ने ग्रीक इतिहासकारों को प्रमाण मानकर वैदिक ग्रन्थों के कालनिर्धारण का प्रयास किया है। उनके अनुसार सूत्रकाल की अवधि 600 ईपू. से 200 ईपू. है। प्रस्तुत तथ्यों और भाषा, विषय और शैली के आधार पर विशेषज्ञों ने धर्मसूत्रों का रचनाकाल ईसापूर्व 600 से 300 वर्ष का स्वीकार किया है। आज इसी मत को समस्त विश्व में प्रतिष्ठा प्राप्त है।

2.5 धर्मसूत्रों के नाम और कर्त्ता

वैदिक आचारशास्त्रों के रूप में प्रसिद्ध धर्मसूत्रों को प्राचीन काल का विधिशास्त्र कहा जा सकता है। इनमें न केवल वैदिक नियमों और व्यवस्थाओं का विवरण संग्रहीत है अपितु समय–समय पर तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार विकसित और परिवर्तित विधि–विधानों का भी उल्लेख है। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त विवरणों के अनुसार प्रमुख ऋषियों द्वारा कुल आठ प्रमुख धर्मसूत्र लिखे गए। इन ग्रन्थों और उनके रचनाकारों के नाम अनेक स्रोतों से ग्रहण किए गए हैं। इनका विवरण इस प्रकार है –

1. ऋषि आपस्तम्ब द्वारा लिखित आपस्तम्ब धर्मसूत्र,

2. गौतम ऋषि का गौतम धर्मसूत्र,
3. बोधायनकृत बौधायन धर्मसूत्र,
4. ऋषि वसिष्ठ का वसिष्ठ धर्मसूत्र,
5. विष्णु द्वारा लिखित विष्णु धर्मसूत्र,
6. वैखानस द्वारा लिखा वैखानस धर्मसूत्र,
7. हारीत मुनि द्वारा प्रणीत हारीत धर्मसूत्र और
8. हिरण्यकेशि द्वारा लिखित हिरण्यकेशि धर्मसूत्र

इनके अतिरिक्त महर्षि भरद्वाज, महर्षि कश्यप, ऋषि अत्रि, आचार्य बृहस्पति, ऋषि कण्व, गर्ग, आचार्य शंख, देवल, ऋषि च्यवन, जातूकर्ण्य, सुमन्तु आदि के नाम भी धर्मसूत्रों के उपदेशकों के रूप में प्राप्त होते हैं। यद्यपि इनके द्वारा लिखित ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होते, लेकिन उनके उद्धरण अनेक स्थानों पर मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आजकल उपलब्ध धर्मसूत्रों के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थ प्राचीनकाल में पढ़े–पढ़ाए जाते थे, लेकिन किन्हीं कारणों से वे ग्रन्थ अभी प्रकाशित रूप में उपलब्ध नहीं होते।ऐसा भी हो सकता है कि इन शास्त्रों में दिए गए उपदेश अन्य ग्रन्थों में शामिल कर लिए गए हों, और इस कारण वे ग्रन्थ अनुपयोगी समझे जाने लगे हों। बात जो भी हो, हमें ध्यान रखना चाहिए कि धर्मसूत्रों का साहित्य उतना ही नहीं था, जितना आज उपलब्ध होता है। उनका ज्ञान और साहित्य कहीं अधिक व्यापक और विशाल था, जिससे इन ग्रन्थों की उपयोगिता और महत्त्व स्पष्ट होता है।

2.6 प्रमुख धर्मसूत्रों का परिचय

धर्मसूत्रों के विषय में इतना कुछ जानने के पश्चात् यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि जो प्रमुख धर्मसूत्र कहे गए हैं उनका स्वरूप क्या है? उनमें किन विषयों का वर्णन उपलब्ध होता है? और वे किन विषयों मेंएक–दूसरे के समान या विशेष हैं। कुछ विद्यार्थियों के मन में यह बात भी हो सकती है कि जब सभी धर्मसूत्रों मेंएक समान विषयों का ही ज्ञान प्राप्त होता है, तो अनेक धर्मसूत्रों के होने का क्या कारण है? हमें यह भी जानने की आवश्यकता है कि यदि किन्हीं दो धर्मसूत्रों मेंएक ही विषय के सम्बन्ध में भिन्न मत या विधान उपलब्ध हो तो किसे सही अथवा अनुपालनीय माना जाए? इस सभी जिज्ञासाओं की शान्ति के लिए सम्प्रति उपलब्ध प्रमुख धर्मसूत्रों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

2.6.1 गौतम धर्मसूत्र

यह ग्रन्थ सभी उपलब्ध धर्मसूत्रों में प्राचीनतम है। इसके रचयिता ऋषि गौतम माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में तीन प्रश्नों पर विचार किया गया है। ये प्रश्न वर्ण, आश्रम और निमित्त (प्रायश्चित्त) से सम्बन्धित हैं और इनकी व्याख्या 28 अध्यायों में की गई है। इनके अन्तर्गत चार आश्रमों अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास और चार वर्णों से संबंधित संस्कारों और कर्तव्यों का सविस्तार विवेचन किया गया है। इन विषयों के नियमों पर बल देने के लिए वेदों के मन्त्रों या मन्त्रांशों को प्रमाणों के रूप में उद्धृत किया गया है। इन उद्धरणों में यजुर्वेद और सामवेद के मन्त्रों की प्रमुखता है।

2.6.2 आपस्तम्ब धर्मसूत्र

यह ग्रन्थ कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। इसका स्रोत आपस्तम्ब कल्पसूत्र का 28वाँ तथा 29वाँ अध्याय है। आपस्तम्ब ऋषि द्वारा रचित इस धर्मसूत्र में आश्रमों से सम्बन्धित व्यवस्थाओं तथा नियमों और दायभाग, दण्ड, राजसभा के सदस्यों के कर्त्तव्य जैसे सामाजिक नियमों की व्याख्या की गई है।

2.6.3 बोधायन धर्मसूत्र

आपस्तम्ब धर्मसूत्र की तरह यह ग्रन्थ भी बोधायन कल्पसूत्र का ही अंश है, जिसमें उसके 46 से 49 तक के चार प्रश्नों की व्याख्या की गई है। ये प्रश्न चार वर्णों के नियमों, ब्रह्मचारियों की दिनचर्या, गृहस्थियों व संन्यासियों के कर्त्तव्यों, वानप्रस्थों द्वारा पालन किए जाने वाले व्रतों और प्रायश्चित्त तथा काम्य कर्मों से सम्बन्धित हैं। इनके माध्यम से तत्कालीन समाज और जीवनशैली का चित्र उपस्थित होता है।

2.6.4 वसिष्ठ धर्मसूत्र

महर्षि वसिष्ठ द्वारा लिखित इस धर्मसूत्र का सम्बन्ध ऋग्वेद से माना जाता है। इस ग्रन्थ में कुल 30 अध्याय हैं। अधिकांश विद्वानों का विचार है कि इनमें से अन्तिम छह प्रक्षिप्त या बाद में जोड़े गए हैं। इस दृष्टि से उनकी प्रामाणिकता पर भी सन्देह व्यक्त किया जाता है। इस ग्रन्थ में मनुष्यों के आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त सम्बन्धी नियमों का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। इस ग्रन्थ में आचरण अथवा व्यवहार को मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया गया है। यही बात समाज के सन्दर्भ में भी अनुपालनीय है।

2.6.5 विष्णु धर्मसूत्र

यजुर्वेद से सम्बन्धित इस धर्मसूत्र में 100 अध्याय उपलब्ध होते हैं। इस ग्रन्थ की विशालता ही इसका सबसे बड़ा गुण है। सूत्र, गद्य और पद्य शैली में लिखे गए इस ग्रन्थ में प्रस्तुत अधिकांश नियम और उपदेश बाद में लिखी गई स्मृतिग्रन्थों में भी पाए जाते हैं। इसके 160 श्लोक तो मनुस्मृति में अक्षरशः समान हैं। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति में भी विष्णु धर्मसूत्र के अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अतिसरल और लोकप्रचलित है।

2.6.6 वैखानस धर्मसूत्र

यह ग्रन्थ वैखानस स्मृतिसूत्र के आठ से दसवें प्रश्नों से मिलकर बना है। इसमें कुल मिलाकर चार प्रश्नों पर विचार किया गया है, जो मुख्य रूप से वर्ण और आश्रम से सम्बन्धित हैं। गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के विषय में इस ग्रन्थ के विवरण बहुत विस्तृत और स्वीकार्य हैं। वर्णों और वर्णसंकर के सम्बन्ध में इस धर्मसूत्र के नियमों का मनुस्मृति में यथारूप स्वीकार किया गया है। इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य बात है कि भिन्न वर्णों के स्त्री–पुरुषों की बीच विवाह सम्बन्ध को वर्णसंकर सम्बन्ध कहा जाता है। इस प्रकार के सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान को भी वर्णसंकर कहा जाता है। इस प्रकार के विषयों की व्याख्या के कारण यह ग्रन्थ बहुत स्वीकार्य और व्यावहारिक है।

2.6.7 हारीत धर्मसूत्र

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित इस ग्रन्थ में 30 अध्याय उपलब्ध होते हैं। इसमें पंचमहायज्ञ और गृहस्थ आश्रम से सम्बन्धित अन्य कर्त्तव्यों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया है।

प्रकरण के अनुसार इसमें विवाह, प्रायश्चित्त, शौच–अशौच यानि करने योग्य और न करने योग्य कर्मों का भी उपदेश किया गया है। इस धर्मसूत्र में दिए गए नियमों के उद्धरण अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं, जिससे पता लगता है कि इसकी रचना बहुत विचार और चिन्तन के बाद की गई होगी। इसके अनेक संस्करण प्राप्त होते हैं, जिससे इसकी व्यापक स्वीकार्यता और प्रसिद्धी का पता लगता है।

2.6.8 हिरण्यकेशि धर्मसूत्र

यह ग्रन्थ आपस्तम्ब धर्मसूत्र से सम्बन्धित है। इसका स्रोत हिरण्यकेशि कल्पसूत्र है जिसके 26वें और 27वें काण्डों से इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इसके अधिकांश नियम और उपदेश आपस्तम्ब धर्मसूत्र के समान हैं इसलिए अनेक विद्वान इसे स्वतन्त्र रचना न मानकर, आपस्तम्ब धर्मसूत्र का ही संस्करण मानते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इस ग्रन्थ में भी वर्ण, आश्रम और संस्कारों से सम्बन्धित नियम और उनकी व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं।

धर्मसूत्रों के इस परिचय से स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों में लगभग समान विषयों परएक जैसे ही विचार उपलब्ध होते हैं। विषयों और व्यवस्थाओं की समानता होने पर भी अनेक धर्मसूत्रों की उपलब्धता इसलिए पाई जाती है क्योंकि इनके रचनाकाल और स्थान भिन्न हैं। इस तथ्य से स्पष्ट है कि धर्मसूत्र तत्कालीन समाज में न केवल स्वीकार्य थे अपितु इनकी रचना विविध कालखण्डों और स्थानों पर हुई जिससे इनकी स्वीकार्यता और व्यापकता प्रमाणित होती है।

2.7 शुल्बसूत्र की परिभाषा

शुल्ब या शुल्वएक पारिभाषिक शब्द है जिसका तात्पर्य हैऐसा यन्त्र या उपकरण जिसका प्रयोग करके मापन यानि नपाई की जाती है। हम सभी जानते हैं कि दिन–प्रतिदिन से लेकर धार्मिक कर्मकाण्डों तक में उपयोग होने वाली वस्तुओं और स्थानों के उत्पादन के लिए हमें अनेक प्रकार की नाप–जोख और अनुपात का ध्यान रखना होता है। प्राचीन काल में भी जब विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान आयोजित होते थे तो इनकी व्यवस्था के लिए यह जानने की आवश्यकता होती थी कि यज्ञ के लिए कितने स्थान की ज़रूरत होगी, कितने और किस क्षमता के पात्र ज़रूरी होंगे और उपलब्ध स्थान का प्रबन्धन किस प्रकार किया जाए, आदि। इस प्रकार के अवसरों की सफल व्यवस्था के लिए जो ज्ञान और कौशल अपेक्षित होता था, उससे सम्बन्धित उपयोगी जानकारी जिन ग्रन्थों में संकलित की जाती थी, उन्हें शुल्बसूत्र नाम दिया गया था।

इस प्रकार परिभाषा की दृष्टि से कहा जा सकता है कि वैदिक कर्मकाण्डों के आयोजन के लिए स्थान और संसाधनों के मापन और प्रबन्धन से सम्बद्ध शास्त्र को शुल्बसूत्र कहा जाता है। इन ग्रन्थों की विशेषता के आधार पर हम इन्हें प्राचीनकाल का वैदिक मापनशास्त्र भी कह सकते हैं। शुल्बसूत्रों की परिभाषा जानने के साथ हमें यह भी ज्ञात होना चाहिए कि इन ग्रन्थों की उपयोगिता तथा महत्त्व के कारण ही इन्हें आगम शास्त्रों और तन्त्रविद्या के ग्रन्थों में भी स्थान प्राप्त हुआ। अनेक आगमों में मन्दिर, देवालय, मूर्ति, पूजा–सामग्री आदि के लिए स्थान के चयन, आकार–प्रकार का मापन, आयतन और अनुपात का ज्ञान शुल्बसूत्रों से ही ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। यह तथ्य इन ग्रन्थों की उपयोगिता और महत्त्व को स्थापित करने के लिए पर्याप्त है।

2.8 शुल्बसूत्रों के विषय

जैसा कि शुल्बसूत्रों के परिचय में बताया गया है कि ये ग्रन्थ मापन और प्रबन्धन से सम्बद्ध हैं तो यह समझना आवश्यक है कि इनमें किस प्रकार के विषय संकलित हैं। इन ग्रन्थों के उपयोगकाल में कर्मकाण्डों और अनुष्ठानों का बहुत महत्त्व था। इनके आयोजन को इतनी गम्भीरता से लिया जाता था कि इससे जुड़े सभी पक्ष किसी प्रकार की कमी या उपेक्षा नहीं बरतते थे। इस दृष्टि से शुल्बसूत्रों में कर्मकांड के लिए भूमि के चुनाव, उसके मापन, यज्ञवेदी की रचना और निर्माण, यज्ञ में भाग लेने वाले ऋत्विकों या सहभागियों के हिसाब से उपकरणों की व्यवस्था जैसे विषय पाए जाते हैं। इन ग्रन्थों में जो विषय शामिल हैं जिन्हें आज अभियांत्रिकी यानि इंजीनियरिंग और स्थापत्य या आर्किटैक्चर के अन्तर्गत रखा जाता है। इनमें यज्ञशाला, यज्ञवेदी, यज्ञकुण्ड और यज्ञपरिसर के निर्माण, उनके आकार–प्रकार, सामग्री और बनावट या डिजाइन आदि विषय शामिल होते थे।

चूंकि, इन ग्रन्थों में मापन या नाप से सम्बन्धित वर्णन उपलब्ध होते हैं तो यहाँ गणित और ज्यामिति या रेखागणित की चर्चा भी अनिवार्य है। इस सन्दर्भ में यह जानना आवश्यक है कि इन ग्रन्थों में आयतन, वर्गफल, वर्गमूल, क्षेत्रफल, विकर्ण या डायग्नल, मान आदि के मापन और गणना का भी प्रावधान है। अनेक शुल्बसूत्रों में गणित के इतने गूढ़ सूत्र और जटिल गणनाएँ वर्णित हैं, कि उनकी चर्चा विश्वपटल पर प्रायः होती है। उदाहरण के लिए बौधायन शुल्बसूत्र में वर्ग, आयत, समद्विबाहु चतुर्भुज, समलम्ब चतुर्भुज, समद्विबाहु त्रिभुज, समचतुर्भुज, वृत्त आदि की रचना, मापन, गणना आदि विषयों की चर्चा पाई जाती है। इस दृष्टि से इन ग्रन्थों को आधुनिक गणित के सूत्रधान कहा जाता है तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। सार रूप में कहा जा सकता है कि शुल्बसूत्र उत्तरवैदिक काल के गणितीय और स्थापत्यज्ञान के विश्वकोश हैं जिनमें यज्ञीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मापन, गणना और आकलन से सम्बन्धित ज्ञान का संकलन है। इनका स्रोत वेद है और ये उनके कर्मकाण्ड सम्बन्धी उपदेशों के कार्यान्वयन के लिए उपयोगी ग्रन्थ रहे हैं।

2.9 शुल्बसूत्रों का महत्त्व

शुल्बसूत्रों के परिचय और विषयों को जानने के बाद इनके महत्त्व को समझना कोई कठिन कार्य नहीं है। यदि कोई जिज्ञासु वेद के विषय में सामान्य ज्ञान रखता है तो वह आसानी से समझ सकता है कि वेदों में ज्ञान के साथ ही कर्म का भी उपदेश है। वेदों के इस कर्मकाण्ड को व्यावहारिक रूप से करने के लिए भी कुछ ज्ञान, कौशल और योजना की आवश्यकता होती है। केवल ज्ञान से ही हम वेद की आज्ञाओं का अनुपालन नहीं कर सकते। इस दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक प्रकार के यज्ञों और अनुष्ठानों का उपदेश किया गया है। लेकिन वहाँ इस विषय की चर्चा नहीं पाई जाती कि इन कर्मकाण्डों को करने के लिए जो तैयारी अपेक्षित है उसकी व्यवस्था किस प्रकार की जाए। इस प्रश्न का उत्तर शुल्बसूत्र प्रस्तुत करते हैं। उस युग में किए जाने वाले यज्ञादि अनुष्ठान समय की दृष्टि से भी विविध होते थे। कुछ यज्ञ दैनिक थे तो कुछ का आयोजन सप्ताह, पक्ष अथवा माह तक भी चला करता था। इस दृष्टि से भी उपके आयोजन में व्यवस्था की व्यापकता बढ़ जाती थी। इन व्यवस्थाओं में प्रबन्ध और विज्ञान की दृष्टि से उपयोगी विधियों और उपायों का विधान पाया जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर शुल्बसूत्रों का महत्त्व सहज ही समझा जा सकता है।

शुल्बसूत्रों का महत्त्व यदि कर्मकाण्डों के सम्पादन में सहायता तक ही सीमित होता तो आज ये हमारे लिए केवल श्रद्धा का विषय होते और इसके माध्यम से हम केवल अपनी श्रेष्ठ ज्ञानपरम्परा का गर्व करते; लेकिन इनकी विशेषता यहीं तक सीमित नहीं है। जैसा कि हम इनके परिचय और विषयों के अध्ययन से जान चुके हैं कि इनमें गणित के विविध पक्षों और स्थापत्य के मौलिक सिद्धान्त भी उपलब्ध हैं तो इससे स्पष्ट है कि आज भी इनकी उपयोगिता कम नहीं हुई है। जब हम जानते हैं कि पश्चिमी जगत में जिन गणितीय सन्दर्भों का श्रेय लेने की होड़ दिखाई देती है वे शुल्बसूत्रों में बहुतायत से उपलब्ध होते हैं। इस सन्दर्भ में विशेष ध्यातव्य है कि इन ग्रन्थों के वर्णन वैज्ञानिक या तकनीकी न होकर पूर्णतः मानवीय और आध्यात्मिक हैं जो भारतीय संस्कृति को प्रतिबिम्बित करते हैं। यही कारण है कि शुल्बसूत्र सभी वर्गों और परम्पराओं के यज्ञकर्त्ताओं और अध्येताओं में समान रूप से स्वीकार्य रहे थे और आज भी सभी के लिए सम्मान के विषय हैं। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि शुल्बसूत्र भारतीय ज्ञान परम्परा के अनुपमघटक हैं और वैदिक गणित और स्थापत्य के बीज, संरक्षक और परिचायक हैं। भारतीय गणित, विशेष रूप से ज्यामिती (ज्योमैट्री) और स्थापत्यकला का स्वरूप जानने के लिए शुल्बसूत्रों का अध्ययन अनिवार्य है।

2.10 शुल्बसूत्रों का रचनाकाल

शुल्बसूत्र कल्पसूत्रों के अभिन्न अंग और भारतीय अनुष्ठान परम्परा के उपयोगी ग्रन्थ हैं। इनका प्रणयन वैदिक कर्मकाण्डों के व्यावहारिक उपयोग को सम्भव बनाने के उद्देश्य से हुआ। इस दृष्टि से आभास होता है कि इनका प्रणयन ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ ही हुआ होगा। आप जानते होंगे कि ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदों में संकेत किए गए अनुष्ठानों के आयोजन के विधि–विधान बताए गए हैं। इन अनुष्ठानों को करने के लिए स्थान और साधन–सामान तैयार करने का वर्णन शुल्बसूत्रों में है, इसलिए यह मानना स्वाभाविक है कि ब्राह्मणों और शुल्बसूत्रों का सम्बन्धएक दूसरे पर आश्रित है और इनके रचनाकाल आसपास ही रहे होंगे। साथ ही यह जानना भी उपयोगी है कि भारतीय परम्परा में ग्रन्थरचना की विषयवस्तु पर अधिक ध्यान दिया जाता था, न कि उसके रचयिता, रचनाकाल और स्थान आदि विषयों पर। यही कारण है कि इनमें से अधिकांश के विषय में सटीक जानकारी का अभाव है।

दूसरी ओर वैदिक साहित्य के इतिहासकार सूत्रग्रन्थों का रचनाकाल 600 से 200 वर्ष ईसापूर्व मानते हैं। उनका यह मत प्रसिद्ध जर्मन विद्वान मैक्समूलर द्वारा की गई कालगणना पर आधारित है। उन्होंने वेदों का रचनाकाल निर्धारित करने के लिए वैदिक साहित्य की रचना–प्रक्रिया को चार भागों में बाँटा है जिसमें सबसे पहले सूत्रकाल आता है। यद्यपि, उन्होंने अपने मत को सुदृढ करने के लिए अनेक प्रमाण दिए, लेकिन यह सभी विद्वानों को स्वीकार्य नहीं हुआ।ऐसा होने पर भी यह तो निर्विवाद है कि शुल्बसूत्र वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग में लिखे गए। अधिकांश विद्वान यही स्वीकार करते हैं कि समस्त सूत्र साहित्य सूत्रकाल के दौरान रचा गया होगा।

2.11 शुल्बसूत्रों के नाम और कर्त्ता

वैदिक, बौद्ध और जैन शास्त्रों तथा वैदिक साहित्य के इतिहासग्रन्थों में बड़ी संख्या में शुल्बसूत्रों के नाम और परिचय प्राप्त होते हैं। इनमें से अनेक ग्रन्थों के तो केवल नाम या उद्धरण ही प्राप्त होते हैं, वे ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। जो शुल्बसूत्र

वर्तमान में उपलब्ध हैं उनका विवरण इस प्रकार है –

1. महर्षि बोधायन का बौधायन शुल्बसूत्र,
2. ऋषि आपस्तम्ब द्वारा लिखित आपस्तम्ब शुल्बसूत्र,
3. कात्यायन ऋषि का कात्यायन शुल्बसूत्र,
4. अज्ञातकृत मानव शुल्बसूत्र

इनके अतिरिक्त यजुर्वेद पर आधारित मैत्रायणीय, वाराह और वाधुल शुल्बसूत्रों का भी संकेत प्राप्त होता है। किन्तु इनके कर्त्ता और विषय की जानकारी उपलब्ध नहीं है। वैदिक साहित्य के रचनाकारों ने अन्यत्र उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर मषक और हिरण्यकेशी शुल्बसूत्रों का नाम भी अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है, यद्यपि ये ग्रन्थ केवल उद्धरणों में ही पाए जाते हैं।

2.12 प्रमुख शुल्बसूत्रों का परिचय

श्रौतकर्मों यानि वेदों में संकेतित यज्ञादि अनुष्ठानों के सम्पादन में सहायक शुल्बसूत्र प्राचीनकाल से ही सबके लिए जिज्ञासा के विषय रहे हैं। इसका कारण है कि प्राचीनकाल मे ंयज्ञों का आयोजन धर्म और अध्यात्म के केन्द्र में था और उनका सही विधि–विधान से आयोजन सभी के लिए गम्भीरता का विषय था। आज हम प्राचीन परम्पराओं से परिचित होने और आजकल प्रचलित अनुष्ठानों का सही स्वरूप जानने के लिए शुल्बसूत्रों का अध्ययन करना चाहते हैं। इन दोनों दृष्टियों से शुल्बसूत्रों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

2.12.1 बोधायन शुल्बसूत्र

उपलब्ध शुल्बसूत्रों मे बोधायन द्वारा लिखित बोधायन शुल्बसूत्र सर्वाधिक प्राचीन है। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इस ग्रन्थ के रचयिता ऋषि बोधायन हैं। उनके द्वारा लिखित अन्य ग्रन्थों के प्रमाण से बोधायन ऋषि का समय ईसा से लगभग 900 वर्ष पूर्व स्वीकार किया जाता है। बोधायन शुल्बसूत्र काफी विस्तृत ग्रन्थ है और इसमें 3 परिच्छेद पाए जाते हैं जिनमें 510 सूत्र संकलित हैं। इनमें अनेक प्रकार की यज्ञीय वेदियों के निर्माण, गार्हपत्य चिति अनुष्ठान और 17 प्रकार की काम्य इष्टियों (यज्ञकर्मों) के लिए यज्ञवेदी–निर्माण की विधियों का वर्णन पाया जाता है।

2.12.2 आपस्तम्ब शुल्बसूत्र

इस ग्रन्थ के रयचिता ऋषि आपस्तम्ब माने जाते हैं। इसका सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से माना जाता है। यहएक स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर आपस्तम्ब कल्पसूत्र का ही 30वाँ अध्याय है। इसमें छह पटल, इक्कीस अध्याय और 323 सूत्र संकलित हैं। इन सूत्रों के माध्यम से वैदिक यज्ञों के आयोजन के लिए वेदी निर्माण के गणितीय सिद्धान्त, स्थान का चयन, वेदियों के रूप तथा प्रकारों का सविस्तार वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ की व्याख्या के लिए अनेक टीकाएँ उपलब्ध होती हैं जिनमें करविन्द स्वामी की शुल्बप्रदीपिका और सुन्दरराजकृत शुल्बप्रदीप प्रमुख हैं।

2.12.3 कात्यायन शुल्बसूत्र

ऋषि कात्यायन द्वारा लिखे गए इस ग्रन्थ का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से माना जाता है। इस ग्रन्थ को कातीय शुल्ब के नाम से भी जाना जाता है। यह दो भागों में

विभक्त है जिनमें छह खण्ड (या कण्डिकाएँ) हैं। प्रथम भाग सूत्रात्मक है जिसमें 102 सूत्र हैं, जबकि द्वितीय भाग श्लोकात्मक है और इसमें 40 श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में अन्य शुल्बसूत्रों के विषयों से हटकर वेदी का निर्माण करने वालों के गुणों तथा कौशलों का भी वर्णन है। वेदी निर्माण के लिए दिशाविचार, पंडालों के निर्माण, अश्वमेध जैसे काम्य और पौर्णमास जैसे नैमित्तिक कर्मों की व्यवस्था से सम्बन्धित प्रबन्ध भी इस ग्रन्थ के विषय हैं।

2.12.4 मानव शुल्बसूत्र

यह ग्रन्थ अपने प्रस्तोता यानि 'मानव' के नाम और उनकी व्यापक लोकप्रियता के लिए विशेष रूप से विख्यात है। इसके लेखक का समय ईसा से 750 वर्ष पूर्व का है, इसलिए बोधायन के बाद इस ग्रन्थ को प्राचीन शुल्बसूत्रों में शामिल किया जाता है। अधिकांश साहित्यकारों की दृष्टि में यह शुल्बसूत्र मानवधर्मसूत्र के पूरक के रूप में गणितीय और स्थापत्यसम्बन्धी सूत्रों का संकलन है। विषय की दृष्टि से इस ग्रन्थ में भी वृत्तरचना, वर्गरचना, यज्ञवेदियों के निर्माण के लिए मापन, सामग्री का आकलन और निर्माणविधि का उल्लेख पाया जाता है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता पाई के सर्वाधिक शुद्ध और सटीक मान की गणना है जो 25/8 = 3.125 है। इसमें पाइथागोरस की प्रमेय को भीएक श्लोक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है –

> आयाममायामगुणं विस्तारं विस्तरेण तु।
> समस्य वर्गमूलं यत्तत्कर्णं तद्विदो विदुः।। 10।।

इसका अर्थ है कि समकोण त्रिभुज की लम्बाई को लम्बाई से गुणा करके और चौड़ाई को चौड़ाई से गुणा करके, इन दोनों के योग का वर्गमूल उनके कर्ण के बराबर होगा। इस प्रकार यह ग्रन्थ अपनी श्रेणी के अन्य शुल्बसूत्रों की तरह भारतीय गणितीय और स्थापत्य परम्परा के अमूल्य रत्नों को सँजोए हुए है।

2.13 सारांश

प्रस्तुत इकाई की रचना धर्मसूत्रएवं शुल्बसूत्र की परिभाषा करने, इन ग्रन्थों के बीच अन्तर स्पष्ट करने, धर्मसूत्रोंएवं शुल्बसूत्रों की संख्या और नाम जानने, इनकी विषयवस्तु का ज्ञान प्राप्त करने और आधुनिक समय में धर्मसूत्रोंएवं शुल्बसूत्रों की प्रासंगिकता स्थापित करने के उद्देश्य से की गई है। इस खण्ड के अन्तर्गत इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों के विषय में दी गई जानकारी को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है –

वेदों के ज्ञान को जीवन–व्यवहार में अपनाने के लिए कल्पसूत्रों की उपयोगिता अद्वितीय है। कल्पसूत्र वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों के क्रियान्वयन के लिए तो उपयोगी रहे ही हैं, साथ ही मानव जीवन को व्यवस्थित करने के लिए प्रकाशस्तम्भ का भी काम करते रहे हैं। इनमें से धर्मसूत्र और शुल्बसूत्रों की उपयोगिता सबसे अधिक है। धर्मसूत्रों का उद्देश्य वेदविहित उपदेश के माध्यम से मनुष्यों के जीवन को उन्नत और उपयोगी बनाना है। इसके लिए व्यक्तिगत स्तर पर तीन ऋणों, चार आश्रमों, पुरुषार्थों और प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को जीवन के प्रथम चरण में शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक दृष्टि से सक्षम बनाने का उपदेश है।

दूसरे चरण में व्यक्ति गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके अपनी सन्तानों को सक्षम और समाज को उन्नत तथा समृद्ध करते हैं। यही मातृ/पितृ और देव ऋणों से मुक्त होने का माध्यम है। तीसरे चरण में मानव को चिन्तन और मनन के माध्यम से जीवन के लक्ष्य को जानने के लिए प्रेरित किया जाता था। इस अवस्था में वानप्रस्थों को समाज का कल्याण करते हुए ऋषियों के ऋण से मुक्त होने का उपदेश दिया गया था। जीवन के अन्तिम चरण संन्यास या परिव्राजक अवस्था में व्यक्ति को समस्त राग और द्वेष से मुक्त होकर आत्मकल्याण के लिए प्रयास करने का निर्देश था।

व्यक्तिगत के साथ ही सामाजिक स्तर पर भी धर्म और मर्यादा का उपदेश धर्मसूत्रों की विशेषता है। इस दृष्टि से इन ग्रन्थों में चार आश्रम, राजधर्म, कर–व्यवस्था, दण्डविधान जैसे गम्भीर विषयों के साथ ही पाप तथा प्रायश्चित्त, अपराध और दण्ड वर्णसंकर, आठ प्रकार के विवाह, जैसे व्यक्तिगत सन्दर्भों का विवरण भी उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों में कुछऐसे विषय भी वर्णित हैं जो न्याय व्यवस्था की दृष्टि से उपयोगी हैं। इनमें दायभाग, उत्तराधिकार, राजा के कर्त्तव्य और सत्य, अहिंसा, परोपकार, सहिष्णुता, शांति और सद्भाव जैसे सामाजिक गुण सम्मिलित हैं। प्रस्तुत तथ्यों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि धर्मसूत्र प्राचीन भारतीय के मार्गदर्शक रहे हैं जो व्यक्ति, समाज और राज्य को जीवन–व्यवस्था के विषय में मार्गदर्शन प्रदान किया करते थे।

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत हमने जाना है कि शुल्ब का अर्थ वह मापनी, फीता या पैमाना है जिससे मापन या नपाई का कार्य किया जाता है। भारतीय जीवनशैली में धर्म अथवा अध्यात्म का केन्द्रीय स्थान रहा है। उस समय प्रचलित यज्ञ, अनुष्ठान और कर्मकाण्ड के आयोजन में अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ अपेक्षित होती थीं, जिनमें यज्ञशाला, यज्ञकुण्ड, यज्ञपात्र और अन्य उपकरण सम्मिलित होते थे। इनके निर्माण और व्यवस्था के लिए विशेषज्ञता और निपुणता की अपेक्षा थी, जिसकी पूर्ति शुल्बसूत्रों के माध्यम से सुनिश्चित की गई।

शुल्बसूत्रों के रचनाकाल के विषय में दो प्रकार के मत प्राप्त होते हैं। परम्परागत भारतीय मत के अनुसार इनकी रचना वेदों के उत्तरवर्ती समय यानि उत्तरवैदिक काल में हुई होगी। दूसरी ओर, वैदिक साहित्य के इतिहासकार सूत्रग्रन्थों का रचनाकाल 600 से 200 वर्ष ईसापूर्व मानते हैं। इन दोनों मतों में कितना भी अन्तर हो; किन्तु इतना तय है कि ये ग्रन्थ वैदिक कर्मकाण्डों के सम्पादन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। वर्तमान में उपलब्ध शुल्बसूत्रों में बौधायन, आपस्तम्ब, कात्यायन और मानव शुल्बसूत्र प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त मैत्रायणीय, वाराह और वाधुल शुल्बसूत्र भी उद्धरण रूप में प्राप्त होते हैं।

2.14 पारिभाषिक शब्दावली

प्रस्तुत इकाई में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

- वेद – आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, सृष्टि, मानवजीवन आदि विषयों पर प्रामाणिक ज्ञान देने वाले विश्व के सर्वप्राचीन ग्रन्थ।
- वेदांग – वेदों के पठन, अर्थज्ञान और उपयोग में सहयोगी ग्रन्थ। ये ग्रन्थ ''शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष'' इन छह प्रकार के हैं।
- सूत्रग्रन्थ – कम से कम शब्दों का प्रयोग करते हुए संकेत रूप में विषय का ज्ञान कराने वाले ग्रन्थ।

- धर्मसूत्र – मनुष्यों, समाज और राज्य के विषय में कर्त्तव्य/अकर्त्तव्य का बोध कराने वाले ग्रन्थ।
- शुल्बसूत्र – यज्ञादि अनुष्ठानों के लिए स्थान तथा उपकरणों के निर्माण और उपयोग की विधि बताने वाले ग्रन्थ।
- ब्राह्मणग्रन्थ – वेदों के यज्ञ और संस्कार सम्बन्धी आयोजनों की विधि, निषेध, कारण और महत्त्व आदि बताने वाले ग्रन्थ।
- आरण्यक ग्रन्थ – अरण्यवासियों द्वारा लिखे गए ग्रन्थ जो वानप्रस्थों के लिए चिन्तन और साधना में उपयोगी थे।
- उपनिषद – वेदों के आध्यात्मिक भाव को प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ, जिनमें आत्मा, परमात्मा, मोक्षादि विषयों की विवेचना है।
- कर्मकाण्ड – नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं के लिए विधिपूर्वक किए जाने वाले अनुष्ठान।

2.15 सन्दर्भग्रन्थ–सूची

- उपाध्याय बलदेव, वैदिक साहित्य का इतिहास, शारदा संस्थान, वाराणसी, 2006
- द्विवेदी पारसनाथ, वैदिक साहित्य का इतिहास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2017
- द्विवेदी कपिलदेव, वैदिक साहित्यएवं संस्कृति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उत्तरप्रदेश, 2018
- त्रिपाठी राधावल्लभ, संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2016
- वेदालंकार रघुवीर वेदाचार्य, वैदिक साहित्य का इतिहास, चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 2019
- मुसलगाँवकर गजाननशास्त्री, वैदिक साहित्य का इतिहास, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2009

2.16 बोध–प्रश्न

प्रस्तुत इकाई के आधार पर कुछ प्रश्न यहाँ दिए जा रहे हैं। इनके उत्तर लिखकर आप अपने अधिगम का आकलन कर सकते हैं।

2.16.1 लघूत्तर प्रश्न

- धर्मसूत्रोंएवं शुल्बसूत्रों को परिभाषित कीजिए।
- धर्मसूत्रों के रचनाकाल पर अनुच्छेद लिखिए।
- प्रमुख धर्मसूत्रों और उनके रचनाकारों के नाम लिखिए।
- शुल्बसूत्र से आप क्या समझते हैं?
- शुल्बसूत्र में वर्णित विषयों का परिचय दीजिए।

2.16.2 विस्तृत–उत्तरीय प्रश्न

- धर्मसूत्रों एवं शुल्बसूत्रों का सामान्य परिचय दीजिए।
- क्या धर्म और शुल्बसूत्र आज भी प्रासंगिक हैं? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
- धर्मसूत्रों में प्रमुख रूप से किन विषयों का विवेचन किया गया है? किन्हीं तीन का परिचय दीजिए।
- शुल्बसूत्रों को भारतीय गणित और स्थापत्य का आधार कहे जाने के कारणों की समीक्षा कीजिए।
- धर्मएवं शुल्बसूत्रों के माध्यम से भारतीय–ज्ञान–परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

इकाई 3 षड्दर्शनों का प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप

- दर्शन शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय को जानेंगे।
- दर्शन के प्रमुख आचार्यों से परिचित होंगे।
- भारतीय ज्ञान मीमांसा को जानेंगे।
- भारतीय तत्त्व मीमांसा को जानेंगे।
- भारतीय दार्शनिक परम्परा के वैशिष्ट्य से परिचित होंगे।

3.1 प्रस्तावना

जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्राणी का सुख एवं दुःख से सम्बन्ध रहता है। सामान्य मनुष्य अपनी साधारण दृष्टि से जिसको शाश्वत सुख समझता है, वह वास्तव में क्षणिक दुःख अथवा दुःख का मूल है। दुःख के ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक विनाश के मार्ग को प्रदर्शित करने वाला शास्त्र दर्शन शास्त्र कहलाता है।

दृशिर् प्रेक्षणे धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर दर्शन शब्द निष्पन्न होता है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- **दृश्यते ज्ञायते वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्** अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु के सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप का परिज्ञान हो, वह दर्शन है। दर्शन वास्तव में मनुष्य को वह दृष्टि प्रदान करता है, जिससे वह सद् एवं असत् का सम्यक्तया विवेचन करने में समर्थ होता। दर्शन का निर्माण विचार के आधार पर होता है। एक तर्कनिष्ठ विचार ज्ञान का साधन माना जाता है। दर्शन तर्कनिष्ठ विचार के द्वारा सत्ता के स्वरूप को समझाने का प्रयास करता है।

भारतीय दर्शन शास्त्र निश्चित रूप से एक आध्यात्मिक गवेषणा है। भारतीय दर्शन की मुख्यतया दो शाखाएँ उपलब्ध होती हैं- आस्तिक व नास्तिक। जो वेद को प्रमाणरूप में स्वीकार करते हैं, उन दर्शनों का आस्तिक दर्शन कहा जाता है तथा जो वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते हैं, उन्हें नास्तिक दर्शन कहा जाता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में आस्तिक दर्शनों का विकास सूत्र साहित्य के माध्यम से हुआ है। पुराकाल में लेखन की परम्परा नहीं थी। श्रुति (श्रवण) परम्परा के द्वारा ही ज्ञान का आदान-प्रदान किया जाता था। कालान्तर में दार्शनिक चिन्तन को संक्षिप्त रूप से सूत्रों में निबद्ध किया गया।

3.2 षड् दर्शनों का परिचय एवं प्रतिपाद्य

न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, मीमांसा दर्शन एवं वेदान्त दर्शन 06 आस्तिक दर्शन हैं। न्याय दर्शन का ज्ञान महर्षि गौतम के न्याय सूत्र से, वैशेषिक दर्शन का ज्ञान महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्र से, सांख्य दर्शन का ज्ञान महर्षि कपिल के सांख्य सूत्र से, योगदर्शन का ज्ञान महर्षि पतञ्जलि के योग सूत्र से, मीमांसा दर्शन का ज्ञान महर्षि जैमिनि के मीमांसा सूत्र से तथा वेदान्त दर्शन का ज्ञान महर्षि बादरायण के ब्रह्म सूत्र से प्राप्त होता है। सूत्र का अर्थ है- अत्यन्त गम्भीर, संक्षिप्त एवं साररूप में विषय को प्रतिपादित करने की शैली। दार्शनिक सूत्रों के गूढार्थ को समझना प्रत्येक मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होता परिणामतः सूत्रों को सरल एवं सुगम बनाने के लिए अनेक आचार्यों ने भाष्य एवं टीकाएँ लिखीं, जिनमें न्याय सूत्र पर महर्षि वात्स्यायन का, वैशेषिक सूत्र पर महर्षि प्रशस्तपाद का, सांख्य सूत्र पर महर्षि विज्ञानभिक्षु का, योग सूत्र पर महर्षि व्यास का, मीमांसा सूत्र पर शबर स्वामी का तथा वेदान्त सूत्र पर आचार्य शंकर का भाष्य प्रमुख है।

3.2.1 योगदर्शन

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रणीत योगदर्शन आस्तिक दर्शनों में श्रेष्ठतम स्थान रखता है। योग शब्द **युजिर् योगे** धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। **योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः** महर्षि के इस वचन से ज्ञात होता है कि पञ्चविध चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। योगदर्शन में चित्त की पाँच वृत्तियाँ निरूपित की गई हैं। क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध पाँच चित्तवृत्तियाँ हैं।

योगसूत्र के सुप्रसिद्ध भाष्यकार महर्षि व्यास अपने भाष्य में योग को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- **योगः समाधिः**। वस्तुतः योग सांख्यदर्शन की भाँति तत्त्वज्ञान पर विशेष बल देता है। परन्तु यह तत्त्वज्ञान को ही पर्याप्त न मानते हुए योगाभ्यास पर भी बल देता है।

महर्षि पतञ्जलि प्रणीत योग सूत्र में 04 पाद व 195 सूत्र हैं। इनमें प्रथम पाद में समाधि के स्वरूप व भेदों का वर्णन है। द्वितीय साधन पाद में अष्टांग योग को प्रतिपादित किया गया है। तृतीय पाद विभूति पाद में यौगिक विभूतियों का वर्णन है तथा चतुर्थ पाद में कैवल्य अथवा

मोक्ष का वर्णन प्राप्त होता है।

महर्षि पतञ्जलि प्रणीत योगसूत्र पर महर्षि व्यासकृत व्यासभाष्य, विज्ञानभिक्षुकृत योगवार्तिक, वाचस्पति मिश्र कृत तत्त्ववैशारदी तथा राजा भोज कृत भोजवृत्ति भाष्य प्रमुख हैं।

3.2.1.1 योगदर्शन का प्रतिपाद्य

प्रमाण

प्रमाण के विषय में योगदर्शन सांख्यदर्शन का ही अनुसरण करता है। योगदर्शन सांख्यदर्शन सम्मत प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करता है- **प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।**

ईश्वर

योगदर्शन 26 तत्त्वों को स्वीकार करता है। इन 26 तत्त्वों ईश्वर सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। योगदर्शन में ईश्वर का स्वरूप निरूपित करते हुए महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं कि वह पुरुष विशेष है। सामान्य पुरुष क्लेश, कर्म, कर्म फल इत्यादि के द्वारा प्रभावित रहता है, परन्तु पुरुष विशेष परमात्मा इन सबसे परे रहते हैं अतः वे पुरुष विशेष कहलाते हैं- **क्लेशकर्मविपाकाश्रयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।** (यो0द01.24) वह पुरुष विशेष ईश्वर सर्वज्ञता का बीज है। वह परिपूर्णज्ञान का आधार है। वह परमात्मा काल से भी परे होने के कारण शाश्वत है, अविनाशी है। अविनाशी एवं सर्वज्ञ होने के कारण अनादि काल से चली आ रही विद्या परम्परा का वह आदि गुरु है। वह सभी पूर्व के गुरुओं का भी गुरु है- **स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।** (यो0द01.26) उस पुरुष विशेष ईश्वर का नाम प्रणव है अर्थात् ओ3म् है। उस ईश्वर के वाचक ॐ कार का जप करने से साधक को यौगिक लाभ प्राप्त होता है- **तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थ भावनम्।** (यो0द0 1.27, 1.28)

अष्टांग योग

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि भेद से योग के 08 अंग हैं।

यम- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह 05 यम हैं- **अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।** (यो0द0 2.30)

नियम- शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान 05 नियम हैं- **शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।** (यो0द0 2.32)

आसन- स्थिर एवं सुखद मुद्रा में स्थित होना या बैठना ही आसन है- **स्थिरसुखमासनम्।** (यो0द0 2.46) परवर्ती आचार्यों ने इसके आधार पर अनेक आसनों व बैठने की मुद्राओं की कल्पना की।

प्राणायाम- श्वासों को नियन्त्रित करना तथा निश्चित एवं अनुकुल प्रक्रिया के द्वारा उनका सञ्चालन करना प्राणायाम कहलाता है- **तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः**। प्राणायाम के द्वारा मन की चञ्चलता पर विजय प्राप्त की जा सकती है। (यो0द0 2.49)

प्रत्याहार- इन्द्रियों को उनके विषयों से दूर करना ही प्रत्याहार है। इन्द्रियाँ सर्वदा अपने विषय के

प्रति आकृष्ट होती हैं अतः समाधि के लिये इन्द्रियों को विषयभोग से हटाना आवश्यक है। इससे साधक का मन अन्तर्मुखी स्वभाव वाला हो जाता है- **स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः**। (यो0द0 2.54)

धारणा- चित्त को एक विषय पर केन्द्रित रखना धारणा कहलाती है- **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**। (यो0द0 3.1)

ध्यान- जब ध्येय वस्तु का चिन्तन करते हुए चित्त तद्रूप हो जाता है तो उसे ध्यान कहते हैं। पूर्ण ध्यान की स्थिति में किसी अन्य विषय मे चित्तवृत्ति नहीं जाती है- **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**। (यो0द0 3.2)

समाधि- यह चित्त की वह अवस्था है, जहां चित्त ध्येय वस्तु के चिन्तन में पूर्णतः लीन हो जाता है- **तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः**। (यो0द0 3.3)

समाधि के भेद

योग दर्शन में समाधि दो प्रकार की मानी गयी है- (1) सम्प्रज्ञात समाधि और (2) असम्प्रज्ञात समाधि।

सम्प्रज्ञात समाधि में साधक को ध्येय विषय का सम्यक्तया ज्ञान रहता है। इसमें ध्येय विषय पर तो मन केन्द्रित रहता है परन्तु ध्येय के विषय में भिन्नता रहती है।

असम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का विषय ही नहीं रहता है। इस अवस्था में मन की समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। आत्मा अपनी वास्तविक अवस्था को जान लेता है। यही आत्मा की मोक्ष की अवस्था है। इसको निर्बीज समाधि भी कहा जाता है।

द्वैतवाद

योगदर्शन सांख्य की ही भाँति द्वैतवाद को स्वीकारता है। सांख्य के तत्त्वज्ञान को योगशास्त्र पूर्णतः स्वीकारता है, उसमें यह ईश्वर को जोड़ देता है इसलिए इसे सेश्वर सांख्य के नाम से भी जाना जाता है।

3.2.2 सांख्य दर्शन

भारतीय षड् दर्शनों की परम्परा में सांख्य दर्शन को सर्वप्राचीन दर्शन माना जाता है। सम् उपसर्गपूर्वक ख्या प्रकथने धातु से अण् प्रत्यय करने पर सांख्य शब्द की निष्पत्ति होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि तत्त्वों की संख्या का ज्ञान कराने के कारण इसका नाम सांख्य पडा। सांख्य सूत्र के प्रवर्तक परावरज्ञ महर्षि कपिल का उद्देश्य तत्त्वों की संख्या का ज्ञान कराना मात्र नहीं हो सकता है। यह नामकरण इसके एक विशिष्ट सिद्धान्त में छिपा है और यह सिद्धान्त है- पुरुषान्यथाख्याति अर्थात् प्रकति - पुरुष विवेक। महाभारत में सांख्य को परिभाषित करते हुए कहा है-

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन संख्या प्रकीर्तिताः।। महा012.32.42

सांख्य सूत्र में 06 अध्याय व 537 सूत्र हैं। इस पर अनेक टीकाएँ एवं भाष्य उपलब्ध होते हैं, जिनमें सांख्य प्रवचन भाष्य, लघु सांख्य वृत्ति, सांख्यवृत्ति सार, अनिरुद्ध वृत्ति सार आदि प्रमुख

हैं। सांख्य सूत्र के प्रकरण ग्रन्थ के रूप में ईश्वर कृष्ण विरचित सांख्यकारिका अत्यन्त सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है, इसमें कारिकाओं के माध्यम से महर्षि कपिल के मन्तव्य को सरलतया स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

3.2.2.1 सांख्य दर्शन का प्रतिपाद्य

प्रमाण

सांख्य दर्शन योग दर्शन के समान प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द 03 प्रमाणों को स्वीकार करता है- **द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम्।** (सां0सू0 1/87) महर्षि कपिल का मत है कि इन 03 प्रमाणों से भिन्न उपमानादि अन्य प्रमाणों की सिद्धि भी इन्हीं 03 प्रमाणों से ही हो जाती है-

तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः। सां0सू0 1/88

प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द आदि त्रिविध प्रमाणों के माध्यम से प्रकृति व पुरुष का सम्यक्तया विवेक होने पर आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक दुःखों से आत्यन्तिक निर्वृत्ति कराना ही इस दर्शन का मुख्यतम उद्देश्य है।

पदार्थ/तत्त्व

सांख्य सूत्र सांख्य दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है, जिसमें 25 तत्त्वों की चर्चा प्राप्त होती है। इन 25 तत्त्वों में प्रकृति, पुरुष, महत् (बुद्धि), अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ, एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्च महाभूतों की गणना की जाती है। सांख्य दर्शन में शब्दशः ईश्वर की चर्चा प्राप्त नहीं होती है, अतः इसे निरीश्वर सांख्य भी कहा जाता है।

सांख्य दर्शन में मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि दुःखत्रय की निवृत्ति ही मोक्ष है- अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः यही परमपुरुषार्थ है। सांख्य दर्शन में जीवनमुक्ति तथा विदेहमुक्ति दोनों को स्वीकार किया गया है। सांख्यदर्शन का कहना है कि तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति मिल सकती है। तत्त्वज्ञान हो जाने के उपरान्त भी संस्कार के कारण चेतन पुरुष प्रारब्ध कर्म की समाप्ति होने तक शरीर धारण करता हुआ रहता है। प्रारब्धकर्म के फल को भोग लेने के उपरान्त शरीर से चैतन्यपुरुष के वियुक्त होने पर वह ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक दोनों प्रकार के कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। कैवल्य का अर्थ होता है-**केवलस्य आत्मस्वरूपस्य भावः कैवल्यम्**, अर्थात् केवलमात्र आत्मस्वरूप का अस्तित्व रह जाना, भान होना ही कैवल्य है।

द्वैतवाद

सांख्यदर्शन मूलरूप से केवल दो तत्त्वों का चिन्तन करता है। एक पुरुष तथा दूसरा प्रकृति। पुरुष चेतन तथा प्रकृति अचेतन है। चेतन पुरुष परमात्मा के रूप में एक तथा जीवात्मा के रूप में अनन्त है। अचेतन प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अर्थात् वह सत्त्व, रज एवं तमोगुण से प्रभावित होती है। यह प्रकृति विविधरूपों में परिणमित होती है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के प्रभाव में आकर अकर्ता पुरुष स्वयं को कर्ता अनुभव करने लगता है।

सत्कार्यवाद

सत्कार्यवाद सांख्य का सर्वप्रमुख सिद्धान्त है। कार्य उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में विद्यमान रहता है, इसी सिद्धान्त को सत्कार्यवाद कहते हैं। कारण में विद्यमान कार्य अनभिव्यक्त अवस्था

में रहता है, उसकी कार्य रूप में अभिव्यक्ति मात्र होती है। यह कार्य इदंप्रथमतया उत्पन्न नहीं होता है। सत् से ही सत् पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है, यह सांख्य का मूल सिद्धान्त है- **सतः सज्जायते**।

सत्कार्यवाद के दो रूप हैं- परिणामवाद एवं विवर्तवाद। परिणामवाद के अनुसार कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है- कारण का कार्यरूप में वास्तविक रूपान्तरण। यथा दुग्धरूप कारण का दही रूप कार्य में रूपान्तरण। विवर्तवाद के अनुसार कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है- कारण का कार्य के रूप में अवास्तविक (आभासीय) परिवर्तन। यथा रस्सी रूपी कारण का सर्परूप कार्य के रूप में रूपान्तरण। परिणामवाद एवं विवर्तवाद दोनों ही मानते हैं कि कार्य उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में विद्यमान रहता है।

3.2.3 न्याय दर्शन

आस्तिक दर्शनों में न्याय दर्शन का विशिष्ट महत्त्व है। **नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थः अनेन इति न्यायः** इस व्युत्पत्ति से प्रतीत होता है कि जिस साधन के द्वारा मनुष्य अपने विवक्षित (ज्ञेय) तत्त्व को जान सके, वह साधन न्याय है। न्यायसूत्र के भाष्यकर्ता महर्षि वात्स्यायन न्याय को परिभाषित करते हुए लिखते हैं- **प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः** अर्थात् विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु तत्त्व की परीक्षा करना ही न्याय है। न्याय दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं। इन्हें अक्षपाद नाम से भी जाना जाता है। इसी कारण इस दर्शन का नाम अक्षपाद दर्शन भी है। न्याय दर्शन के तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतु विद्या, वादविद्या तथा आन्वीक्षिकी आदि नाम भी प्रसिद्ध हैं। न्याय दर्शन में तर्क विद्या एवं प्रमाणों का प्रबलता से प्रतिपादन किया गया है। यही कारण है कि न्याय दर्शन को तर्कशास्त्र का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है।

इस ग्रन्थ में 05 अध्याय, 10 आह्निक, 84 प्रकरण तथा 528 सूत्र हैं। न्यायसूत्र पर भाष्य लिखकर न्याय दर्शन के साहित्य को समृद्ध करने वाले भाष्यकारों में वात्स्यायन, वाचस्पति मिश्र और उदयनाचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

न्याय दर्शन के सम्पूर्ण साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- एक प्राचीन न्याय तथा दूसरा नव्य न्याय। प्राचीन न्याय में तत्त्वशास्त्र पर तथा नव्य न्याय में तर्कशास्त्र पर विशेष बल दिया गया है। प्राचीन न्याय का सर्वश्रेष्ठ एवं प्रामाणिक ग्रन्थ महर्षि गौतम के न्याय सूत्र को माना जाता है। गंगेश उपाध्याय का तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ नव्य न्याय का प्रवर्तक ग्रन्थ है।

न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन कृत न्यायभाष्य, उद्योतकर भारद्वाज कृत न्यायवार्तिक, वाचस्पति मिश्र कृत न्यायवार्तिक तात्पर्यार्थ टीका, उदयनाचार्य कृत तात्पर्यपरिशुद्धिटीका प्रसिद्ध हैं। विश्वनाथ पञ्चानन की न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, आचार्य केशव मिश्र की तर्कभाषा एवं आचार्य अन्नम्भट्ट का तर्कसंग्रह न्याय दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

3.2.3.1 न्याय दर्शन का प्रतिपाद्य

न्याय दर्शन का चरम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करना है। मोक्ष की अनुभूति तत्त्वज्ञान अर्थात् वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानने से ही हो सकती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए न्यायदर्शन में 16 पदार्थों की व्याख्या की गई है। ये 16 पदार्थ हैं- 01 प्रमाण, 02 प्रमेय, 03 संशय, 04 प्रयोजन, 05 दृष्टान्त, 06 सिद्धान्त, 07 अवयव, 08 तर्क, 09 निर्णय, 10 वाद, 11 जल्प, 12 वितण्डा, 13 हेत्वाभास, 14 छल, 15 जाति, 16 निग्रह स्थान- **प्रमाण-प्रमेय-**

संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानेन निःश्रेयसाधिगमः। न्या0द0 1.1.1

प्रमाण

यथार्थ ज्ञान के करण को प्रमाण कहते हैं। जो वस्तु जैसी है, उसको उसी रूप में जानना यथार्थ ज्ञान कहलाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्द के भेद से न्याय दर्शन चार प्रमाणों को स्वीकार करता है- **प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।** न्याय दर्शन 1.1.13

इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले यथार्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है- **इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।** यहाँ इन्द्रिय से तात्पर्य ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत्र, चक्षु, रसन, घ्राण एवं त्वक्) से है। शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। विषयों का ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्बन्ध सन्निकर्ष कहलाता है। न्याय दर्शन में (1) संयोग, (2) संयुक्त समवाय, (3) संयुक्त समवेत समवाय, (4) समवाय, (5) समवेत समवाय एवं (6) विशेषण विशेष्य भाव के भेद से छः प्रकार के सन्निकर्ष माने गये हैं।

जहां इन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है, परन्तु व्याप्ति विशिष्ट परामर्श से विषय का ज्ञान होता है, वह अनुमान है। अनुमान दो प्रकार का होता है- स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। स्वार्थानुमान स्वयं के लिए तथा परार्थानुमान स्वयं से भिन्न व्यक्ति के लिए होता है। परार्थानुमान में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन इन पांच अवयवों के द्वारा स्वयं से भिन्न व्यक्ति को किसी विषय का ज्ञान कराया जाता है।

जब किसी प्रत्यक्षज्ञाता के द्वारा बताये गये चिह्न को स्मरण करते हुये उपस्थित विषय को देख कर ज्ञान होता है, उसे उपमान प्रमाण कहते हैं।

वेदादि ऋषिग्रन्थों एवं महापुरुषों के वाक्यों के द्वारा होने वाले ज्ञान को शब्द प्रमाण कहते हैं।

प्रमेय

प्रमाण के द्वारा जो विषय जाने जाते हैं, उन्हें प्रमेय कहते हैं। महर्षि गौतम के मत में प्रमेय 12 हैं- (1) आत्मा (2) शरीर (3) इन्द्रियाँ (4) विषय (5) बुद्धि (6) मन (7) प्रवृत्ति (8) दोष (9) प्रेत्यभाव (10) फल (11) दुःख (12) अपवर्ग।

संशय

जब एक ही विषय अथवा वस्तु के सम्बन्ध में मन में दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे संशय कहते हैं।

प्रयोजन

जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्राणी कार्य करता है, उसे प्रयोजन कहते हैं।

दृष्टान्त

सर्व सम्मत उदाहरण को दृष्टान्त कहते हैं।

सिद्धान्त

किसी भी दर्शन के अनुसार युक्ति सिद्ध सत्य को सिद्धान्त कहते हैं।

अवयव

किसी प्रमा अथवा सिद्धान्त की सिद्धि के लिए प्रयुक्त होने वाले अनुमान प्रमाण के पाँच वाक्य अवयव कहलाते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन अनुमान प्रमाण के पाँच अवयव हैं।

तर्क

किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि के लिए जब उसकी विपरीत कल्पना के लिए दोष दिखलाए जाते हैं, वह युक्ति तर्क कहलाती है।

निर्णय

किसी भी विषय का निश्चयात्मक ज्ञान निर्णय कहलाता है।

वाद

यथार्थ ज्ञान हेतु तर्क शास्त्र के नियमों के अनुसार क्रियमाण विवाद को वाद कहते हैं।

जल्प

वादी एवं प्रतिवादी का निरर्थक वाद-विवाद, जिसका उद्देश्य यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना नहीं होता है, उसे जल्प कहते हैं।

वितण्डा

जब वादी अपने पक्ष को स्थापित न करते हुए केवल प्रतिपक्षी के मत का खण्डन मात्र करता है, उसे वितण्डा कहते हैं।

हेत्वाभास

जो हेतु तो नहीं होता किन्तु हेतु के समान आभासित होता है, उसे हेत्वाभास कहते हैं।

छल

जब प्रतिवादी वादी के वाक्य के विवक्षित अर्थ का परित्याग कर अन्यार्थ को ग्रहण कर दोष प्रकट करता है, उसे छल कहते हैं।

जाति

जब वादी की दोषरहित युक्ति का खण्डन करने के लिए किसी भी प्रकार के साम्य या वैषम्य पर अवलम्बित दुष्ट अनुमान की सहायता लेते हैं, उसे जाति कहते हैं।

निग्रह स्थान

वाद-विवाद के प्रसंग में जब वादी ऐसे स्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ उसे हार माननी पडती है, उसे निग्रह स्थान कहते हैं।

उपर्युक्त 16 पदार्थ ही न्याय दर्शन के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

मोक्ष

मोक्ष की प्राप्ति सभी दर्शनों का प्रमुख लक्ष्य है। न्यानदर्शन के अनुसार जन्मरूपी दुःख से पूर्णरूप से मुक्त हो जाना मोक्ष (अपवर्ग) है- **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।** न्यायसूत्र 1.1.12

मोक्ष को स्पष्ट करते हुए न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन लिखते हैं कि मोक्ष की अवस्था को प्राप्त कर लेने पर उपात्त जन्म का त्याग हो जाता है तथा दूसरा जन्म ग्रहण नहीं करना पडता। यह मोक्ष की अवस्था अविनाशी अपवर्ग स्वरूप है। यह अवस्था सर्वथा भयरहित, जरा रहित, शाश्वत, ब्रह्मस्वरूप एवं नित्य सुख स्वरूप है- **उपात्तस्य जन्मनो हानम्, अन्यस्य चानुपादानम्। एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्गं मन्यन्तेऽपवर्गविदः। तदभयम्, अजरम्, अमृत्युपदं ब्रह्म, क्षेमप्राप्तिः।** (न्यायभाष्य 1.1.22) मिथ्याज्ञानादि मोक्ष का बाधक तत्त्व है तथा 16 पदार्थों का ज्ञान मोक्ष प्राप्ति में सहायक है।

कार्यकारणवाद

न्याय दर्शन में कार्यकारण वाद का सर्वाधिक विस्तार से विवेचन किया गया है। न्याय दर्शन के अनुसार जिसकी सत्ता कार्य से पूर्व निश्चित हो तथा जो अन्यथासिद्ध हो, उसे कारण कहते हैं- **यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्।** जो कारण के अनन्तर उत्पन्न होता है, उसे कार्य कहते हैं।

असत्कार्यवाद

न्याय दर्शन कारण में कार्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। अतः इस सिद्धान्त को असत्कार्यवाद कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार कार्य की सत्ता कारण की सत्ता से पृथक् है अतः कारण में कार्य की विद्यमानता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। इस प्रकार न्याय कार्य कारण के विषय में सांख्य दर्शन के अनुसार सत्कार्यवादी अथवा परिणामवादी नहीं है। न्याय कारण में कार्य की विद्यमानता को न मानकर कार्य की सृष्टि को नवीन मानता है।

3.2.4 वैशेषिक दर्शन

विशेष नामक पदार्थ का मुख्यतया प्रतिपादन करने वाला वैशेषिक दर्शन आस्तिक दर्शनों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। वैशेषिक के ज्ञान का आधार वैशेषिक सूत्र को माना जाता है, जिसके रचयिता महर्षि कणाद हैं। महर्षि कणाद के काश्यप एवं उलूक आदि अन्य नाम भी प्रसिद्ध हैं। आचार्य व्योमशिव ने कणाद शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है- **कणान् अत्तीति कणादः तमिति। विशिष्टाहारनिमित्तसंज्ञोपदर्शनेन असच्चोद्यनिरासः। तच्च कणान् वा भक्षयेत् कामं म (मा) हिषाणि दधीनि च इत्यादि युक्तिसिद्धम्।**

आचार्य श्रीधर ने भी कणाद की व्युत्पत्ति इसी प्रकार प्रदान की है- **कणादमिति तस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठतः रथ्यानिपातितान् तण्डुलकणान् आदाय प्रत्यहं कृताहारनिमित्ता संज्ञा। अत एव निरवकाशः कणान् वा भक्षयतु इति तत्र तत्र उपालम्भः तत्रभवताम्।**

कुछ आचार्य परमाणुवाद के आधार पर इनका नामकरण कणाद करते हैं-

कणान् परमाणून् अत्ति सिद्धान्तत्वेन आत्मसात् करोतीति कणादः।

वैशेषिक सूत्र में दस अध्याय तथा प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। वैशेषिक सूत्र की सूत्र संख्या 370 है। महर्षि कणाद, प्रशस्तपाद, शिवादित्य मिश्र, वल्लभाचार्य इत्यादि को वैशेषिक दर्शन के प्रमुख आचार्य के रूप में स्वीकार किया जाता है।

3.2.4.1 वैशेषिक दर्शन का प्रतिपाद्य

प्रमाण

वैशेषिक दर्शन प्रत्यक्ष एवं अनुमान भेद से दो ही प्रमाण स्वीकार करता है। वैषेषिक मत में अन्यदर्शनों में स्वीकृत शब्दप्रमाण एवं अर्थापत्ति आदि अनुमान के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। शब्दप्रमाण का अनुमान वक्ता के आप्तत्व से होता है। वेदों के वक्ता ऋषि होने से उसका प्रामाण्य भी ऋषियों के आप्तत्व से हो जाता है- **तद्वचनादाम्नायप्रामाण्यम्**। द्रव्य, गुण, कर्म, त्र्यणुक एवं अन्य स्थूल वस्तुएं प्रत्यक्षगम्य होती हैं। परमाणु एवं द्व्यणुक प्रत्यक्षगम्य नहीं होते हैं, वे अनुमानप्रमाण का विषय हैं। न्यायदर्शन आत्मा को मानस प्रत्यक्ष का विषय मानता है, परन्तु वैशेषिक इसे अनुमान के विषय के रूप में स्वीकार करता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख एवं ज्ञान - इन गुणों का आधार आत्मा है एवं इन्हीं गुणों के द्वारा आत्मा का अनुमान होता है।

पदार्थ

गुण तथा कर्म के आधार तथा समवायिकारण को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य 09 हैं- पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, आत्मा एवं मन। जो द्रव्य में समवेत होकर रहता है, उसे गुण कहते हैं। गुण 24 हैं- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म एवं शब्द।

मूर्त द्रव्यों के गतिशील व्यापार को कर्म कहते हैं। मूर्त द्रव्य पाँच हैं- पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और मन। कर्म 05 हैं- उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन। जिस पदार्थ के कारण एक ही प्रकार के अनेक व्यक्तियों को एक जाति के अन्दर रखा जाता है, उसे सामान्य कहते हैं। सामान्य को जाति भी कहते हैं। सामान्य नित्य एवं अनेकगत होता है। पर एवं अपर भेद से सामान्य 02 प्रकार का होता है। विशेष वह पदार्थ है, जिसके कारण एक द्रव्य की दूसरे द्रव्य से भिन्नता ज्ञात होती है। विशेष अनन्त हैं। समवाय 01 होता है।

महर्षि कणाद ने सातवें पदार्थ (अभाव) का उल्लेख नहीं किया है। श्रीधर, उदयन और शिवादित्य ने अभाव को सातवें पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। किसी वस्तु का न होना अभाव कहलाता है। वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य एवं समवाय छः भाव पदार्थ हैं तथा 01 अभाव पदार्थ है। अभाव के मुख्य दो भेद हैं- संसर्गाभाव एवं अन्योन्याभाव। किसी एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव संसर्गाभाव कहलाता है। यथा- जल में अग्नि का अभाव।

संसर्गाभाव 03 प्रकार का होता है- प्रागभाग, प्रध्वंसाभाव एवं अत्यन्ताभाव।

प्रागभाग- उत्पत्ति से पूर्व कार्य का जो अभाव होता है, उसे प्रागभाव कहते हैं। यथा- घट की उत्पत्ति (बनने) से पूर्व उसका जो अभाव है, उसे प्रागभाव कहते हैं।

प्रध्वंसाभाव- उत्पन्न होने के बाद कार्य का नष्ट हो जाना प्रध्वंसाभाव कहलाता है। यथा- उत्पत्ति के बाद घट के नष्ट हो जाने पर घट का जो अभाव होता है, उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं।

अत्यन्ताभाव- दो वस्तुओं के त्रैकालिक सम्बन्ध के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। रूप वायु में न भूत काल में था, न वर्तमान काल में है और न भविष्य काल में रहेगा। इसलिए रूप

का वायु में अत्यन्ताभाव है।

अन्योन्याभाव- दो वस्तुओं में संसर्ग या सम्बन्ध के अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। यथा- घट में पट का अभाव है।

मोक्ष- वैशेषिक दर्शन के अनुसार निःश्रेयस ही मोक्ष हे। निःश्रेयस का हेतु द्रव्यादि पदार्थों का तत्त्वज्ञान है। यह तत्त्वज्ञान ईश्वर की प्रेरणा से प्रतिपादित धर्म से ही होता है।

परमाणुकारण वाद- वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु नित्य एवं शाश्वत हैं। पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु के नित्य परमाणु होते हैं, जिनके संयोग से अनित्य मूर्त द्रव्य होते हैं। आकाश एक विभु एवं नित्य है। परमाणु अविभाज्य एवं नित्य होते हैं। वे वस्तुओं के सूक्ष्मतम अवयव हैं। परमाणु ईश्वर की तरह अनादि एवं अनन्त हैं। वे संसार के उपादान कारण हैं और ईश्वर निमित्त कारण है। परमाणु से बनी हुईं स्थूल वस्तुएँ विभाज्य एवं अनित्य हैं। परमाणु के संयोग की भी एक प्रक्रिया है- दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक बनता है। तीन द्व्यणुक के संयोग से एक त्र्यणुक बनता है। चार त्र्यणुक के संयोग से एक चतुरणुक बनता है। चतुरणुकों का छोटी या बडी संख्या में संयोग होने से छोटे-बडे द्रव्य बनते हैं। स्थूल द्रव्य पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु इन चतुरणुकों के संयोग से ही बने हैं। परमाणुओं के संयोग से ही पदार्थ बनते हैं तथा उन परमाणुओं से सृष्टि होती है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु इस संसार की उत्पत्ति एवं विनाश का कारण हैं।

पीलुपाकवाद- वैशेषिक दर्शनकार का मानना है कि पकाने पर पहले घट के परमाणुओं में विशीर्ण होने पर परमाणुओं का रंग लाल पड जाता है। यह परमाणु फिर घटरूप में परिवर्तित हो जाता है। एक घट के नष्ट होने पर दूसरा घट उत्पन्न होता है। पीलुपाकवादी होने के कारण वैशेषिक दर्शन का नाम पैलुकदर्शन भी है।

3.2.5 मीमांसा दर्शन

मीमांसा शब्द **मानबधदानशानभ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य** इस पाणिनीय सूत्र से मान धातु से जिज्ञासा अर्थ में सन् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। यद्यपि पाणिनीय धातु पाठ में मान धातु स्पष्टतः जिज्ञासा अर्थ में पठित नहीं है। पुनरपि समस्त वैयाकरण जिज्ञासा अर्थ में ही मीमांसा शब्द की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। लोक में भी जिज्ञासा अर्थ में मीमांसा शब्द की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार मीमांसा का अर्थ हुआ जिज्ञासा अथवा जानने की इच्छा। जिज्ञासा (जानने की इच्छा) होने पर भी इच्छा की कार्य रूप में परिणति विचार से ही होती है अतः मीमांसा शास्त्र को विचार शास्त्र भी कहा जाता है।

मीमांसा दर्शन के रचयिता महर्षि जैमिनि हैं। दर्शन शास्त्र में मीमांसक आचार्यों की सुदीर्घ परम्परा दृष्टिगोचर होती है। न्याय रत्नाकर के लेखक पार्थ सारथि के अनुसार ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, आदित्य, वसिष्ठ, पराशर, कृष्ण द्वैपायन तथा जैमिनि अनुक्रम से मीमांसा के आचार्य हुए हैं। भागवत पुराण के अनुसार व्यास ने जैमिनि को सामवेद की संहिता पढायी थी।

मीमांसा सूत्र में 12 अध्याय हैं। मीमांसा दर्शन के तृतीय, षष्ठ तथा दशम अध्यायों में 06 पाद हैं तथा शेष अध्यायों में 04 पाद हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि मीमांसा सूत्र में 16 अध्याय हैं। 13-16 तक के 04 अध्याय संकर्ष काण्ड अथवा संकर्षण काण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। किन्तु पठन पाठन की शिथिलता के कारण ये 04 अध्याय (13-16) उत्सन्न प्रायः हो गये हैं। इसकी

उत्सन्नता का सर्वप्रमुख कारण शबर स्वामी द्वारा इन 04 अध्यायों पर भाष्य न लिखना है। परिणाम स्वरूप शबर स्वामी के अनुयायियों द्वारा इन 04 अध्यायों की उपेक्षा की गई। मीमांसा दर्शन की सुदीर्घकालीन परम्परा में कुछ व्याख्याकारों ने ही इन अध्यायों पर संक्षिप्त व्याख्यान लिखे हैं। इस विषय में भास्कर भट्ट रचित भाट्ट चन्द्रिका एवं देवस्वामी कृत टीका प्रमुख हैं।

बोधायन, उपवर्ष, देव स्वामी, भवदास एवं शबर स्वामी का मीमांसा सूत्रों के व्याख्याकार के रूप में प्रपञ्च हृदयकार ने उल्लेख किया है।

प्रपञ्च हृदयकार के मतानुसार भगवान् बोधायन ने सम्पूर्ण मीमांसा शास्त्र पर कृतकोटि नामक अति विस्तृत व्याख्या लिखी थी। आचार्य रामानुज ने भी वेदान्त सूत्र की व्याख्या में बोधायन वृत्ति का उल्लेख किया है-

भगवन् बोधायनकृतं विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिषुः।
तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते। श्रीभाष्य 1/1/1

आचार्य वेदान्त देशिक ने भी सेश्वर मीमांसा की व्याख्या में बोधायन कृत वृत्ति का उल्लेख किया है-

उभयाभिप्रायवादी भगवान् बोधायनो विंशतिलक्षणीं मीमांसां परस्परसंगमार्थं विस्तरेण व्याख्यायद् इति वृद्धा विदामासुः। सेश्वर मीमांसा 1/1/5

3.2.5.1 मीमांसा दर्शन का प्रतिपाद्य

मीमांसा सूत्र के प्रत्येक अध्याय में विशिष्ट विषय (लक्षण) का प्रतिपादन किया गया है, इसी कारण मीमांसा सूत्र का अपर नाम द्वादशलक्षणी भी प्रसिद्ध है। मीमांसा सूत्र के 12 अध्यायों में क्रमशः 1. धर्म, 2. कर्मों के भेद, 3. शेषत्व, 4. कर्मों में प्रयोज्य प्रयोजक भाव, 5. क्रम, 6. अधिकार, 7. सामान्यातिदेश, 8. विशेषातिदेश, 9. ऊह, 10. बाध तथा अभ्युदय, 11. सामान्य तन्त्र (केन्द्रीकरण), 12. असामान्य आवाप (विकेन्द्रीकरण) आदि विषयों का वर्णन है।

प्रमाण

ज्ञान मीमांसा के विषय में योगदर्शन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। मीमांसा दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि भेद से 06 प्रमाण स्वीकार करता है।

पदार्थ

पदार्थ के विषय में मीमांसकों में अत्यधिक मत वैभिन्य है। भाट्ट मीमांसक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य एवं शक्ति छः पदार्थों को स्वीकार करते हैं। प्रभाकर के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, संख्या और सादृश्य 08 प्रमेय हैं।

मीमांसा दर्शन जगत् एवं उसके पदार्थों को सत्य मानता है। मीमांसा दर्शन दृश्यमान जगत् के अतिरिक्त आत्मा, स्वर्ग, नरक, वैदिक यज्ञों के देवता एवं परमाणु की सत्ता स्वीकार करता है। न्याय वैशेषिक मत में परमाणु ईश्वर द्वारा सञ्चालित माने जाते हैं किन्तु मीमांसा दर्शन परमाणु को ईश्वर द्वार गतिशील नहीं मानता अपितु मीमांसा दर्शन के अनुसार कर्म के नियम के द्वारा परमाणु गतिशील होते हैं।

मोक्ष

मीमांसा दर्शन के अनुसार दुःख के अभाव की अवस्था ही मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान एवं कर्म के द्वारा ही सम्भव है। आत्मज्ञान मोक्ष के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आत्मज्ञान ही धर्माधर्म के सञ्चय को रोक कर शरीर के आत्यन्तिक उच्छेद का कारण बन जाता है। मोक्षाभिलाषी व्यक्ति को नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए तथा काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। मीमांसा दर्शन के अनुसार आत्मा में चैतन्य का सञ्चार तभी होता है, जब आत्मा का शरीर, इन्द्रिय एवं मन से संयोग होता है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा चैतन्य से शून्य हो जाता है।

3.2.6 वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्म शाखा का मुकुटमणि माना जाता है। वेदान्त का मूल उपनिषद् हैं। श्रुति के चरम सिद्धान्त के अर्थ में वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषद् में ही सबसे पहले उपलब्ध होता है। ब्रह्मर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों का निर्माण किया। वेदान्त दर्शन का अपर नाम ब्रह्मसूत्र, वेदान्तसूत्र तथा उत्तर मीमांसा है।

यह ग्रन्थ 555 सूत्रों का है। इसमें 191 अधिकरण एवं 04 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में 04 पाद हैं।

प्रथम पाद के प्रथम चार सूत्र विषयदृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं, अतः इन्हें चतुःसूत्री कहते हैं।

ब्रह्मसूत्र पर बहुत से भाष्य लिखे गए हैं। उनमें सबसे प्रसिद्ध भाष्य शंकराचार्य द्वारा रचित शारीरक भाष्य है। जिस पर वाचस्पति मिश्र ने भामती टीका लिखी। रामानुज, मध्व, भास्कर, निम्बार्क आदि अनेक आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य किया।

3.2.6.1 वेदान्त दर्शन का प्रतिपाद्य

ब्रह्म एवं जीव के ऐक्य का प्रतिपादन ही वेदान्त दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अध्यारोप एवं अपवाद के माध्यम से ही ब्रह्मवेत्ता गुरु जिज्ञासु शिष्य को ब्रह्म एवं जीव के ऐक्य का तथा जगत् के मिथ्यात्व का बोध कराता है।

अध्यारोप

वस्तु में अवस्तु का आरोप करना अध्यारोप है। यथा रस्सी में सर्प का आरोप करना अर्थात् रस्सी को सर्प समझ लेना। इसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म में जगत् का आरोप कर लेना अध्यारोप है।

अपवाद

वस्तु में आरोपित अवस्तु का निराकरण कर देना अर्थात् ब्रह्म में आरोपित संसार का निराकरण कर देना अपवाद है।

प्रमाण

वेदान्त दर्शन भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि छः प्रमाणों को स्वीकार करता है।

विवर्तवाद

विवर्तवाद वेदान्त दर्शन का मूल सिद्धान्त है। वेदान्त का मानना है कि यह सम्पूर्ण चराचर जगत् ब्रह्म का विवर्तरूप है। विवर्तवाद का सामान्य आशय भ्रमात्मक ज्ञान से है। आचार्य सदानन्द वेदान्तसार में लिखते हैं-

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदाहृतः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

अर्थात् जो वस्तुतः दूसरे रूप में परिवर्तित होता है, उसे विकार कहते हैं, जैसे दूध का दधि में परिवर्तन होना। परन्तु जब परिवर्तन केवल भ्रान्तिवश हो एवं वास्तविक न हो, जैसा कि रात्रि में रस्सी की सांप के रूप में प्रतीति होना। अवास्तविक एवं भ्रान्तिवश परिवर्तन होने के कारण इसे विवर्त कहा जाता है। वेदान्त इसी प्रकार से समस्त संसार को शुद्धब्रह्म का विवर्तरूप प्रतिपादित करता है।

वेदान्त दर्शन के 04 प्रमुख सम्प्रदाय अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद तथा द्वैताद्वैतवाद हैं।

अद्वैतवाद

अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य शंकर हैं। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद का प्रमुख आधार आचार्य बादरायण का ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषद् साहित्य है। आचार्य शंकर जीव तथा ब्रह्म में भेद नहीं मानते तथा दोनों को एक ही तत्त्व मानते हैं। अतः इनके दर्शन को अद्वैत दर्शन कहा गया है। अद्वैत का अर्थ होता है- दो तत्त्वों का न होना। वेदान्त की दृष्टि में यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म का ही विवर्तरूप है- **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः**। आचार्य शंकर ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं तथा जगत् की सत्ता उनके मत में मायिक है।

ब्रह्म को परिभाषित करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं- **अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकाल - निमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्ग यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति, तद् ब्रह्म।** (शा0 भा0, ब्र0 सू0 11 12)

अर्थात् नाम-रूप के द्वारा अव्यक्त, अनेक कर्ताओं एवं भोक्ताओं से संयुक्त, ऐसे क्रिया और फल के आश्रय जिसके देश, काल और निमित्त व्यवस्थित हैं, मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है। शंकराचार्यकृत उपर्युक्त लक्षण के अनुसार ब्रह्म की विशेषतायें सर्वव्यापकता, अधिष्ठानता, सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता हैं।

आचार्य शंकर ने जगत् और ब्रह्म की द्वैत बुद्धि का हेतु अविद्या को कहा है। अविद्या का ही अपरनाम माया है। इस अविद्या को जगत् की उत्पन्नकर्त्री बीजशक्ति कहा गया है। यह बीजशक्ति परमात्मा की शक्ति है। इस अविद्यारूप बीज शक्ति का विनाश आत्मविद्या के द्वारा ही सम्भव है- **अविद्यया तस्या बीजशक्तेः दाहाभावात्।** ब्र0सू0 शा0भा0 1.4.3

विशिष्टाद्वैतवाद

विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक आचार्य रामानुज हैं। रामानुज के अनुसार चित्, अचित् एवं ईश्वर ये तीन मूलतत्त्व हैं। इन तीन तत्त्वों में ईश्वर प्रधान है तथा चित् एवं अचित् ईश्वर के विशेषण हैं।

चित् तत्त्व जीवात्मा है। यह जीवात्मा देह, इन्द्रिय, मन, प्राण एवं बुद्धि से पृथक् है। यह आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञान का आश्रय है। ईश्वर इसका नियामक है।

अचित् तत्त्व जड तथा विकारवान् है। अचित् के संसर्ग से आत्मा में अविद्या, कर्म, वासना तथा रुचि उत्पन्न होती है और अचित् के निवृत्त होने से अविद्या आदि की निवृत्ति होती है।

रामानुज का मानना है कि ब्रह्म एवं जीव में भिन्नता केवल संसार दशा में है। मुक्त होने पर सभी जीव समान हैं तथा मोक्ष की दशा में इन जीवों का परमात्मा के साथ साम्य हो जाता है। उन्होंने अनेक रूपों में अद्वैत का समर्थन किया है। इसी कारण रामानुज के दर्शन को विशिष्टाद्वैत दर्शन कहा जाता है।

द्वैतवाद

द्वैतवाद के प्रवर्तक मध्वाचार्य हैं। आचार्य मध्व स्वतन्त्र एवं परतन्त्र भेद से दो प्रकार की सत्ता स्वीकार करते हैं। इनके मत में ईश्वर स्वतन्त्र सत्ता है तथा जीव एवं जगत् परतन्त्र सत्ताएँ हैं। ईश्वर सत्, चित् एवं आनन्दमय है। जीव ज्ञाता, भोक्ता एवं कर्ता है। यह सुख एवं दुःख से प्रभावित होता है। इनके मत में ईश्वर और जीव, ईश्वर और जड जगत्, जीव और जगत्, जीव और जीव तथा जड और जड में भेद है। इस भेद के आधार पर इनके दर्शन को द्वैतवादी कहा जाता है।

द्वैताद्वैतवाद

निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य हैं। इनके मत में जीवात्मा एवं प्रकृति परमात्मा से भिन्न तत्त्व हैं। इस दृष्टि से इनका दर्शन द्वैतवादी दर्शन कहा जाता है। इनके मत में जीव एवं प्रकृति परमात्मा के अधीन हैं। परमात्मा से जीवात्मा एवं प्रकृति की इतनी ही भिन्नता है, जितनी समुद्र की उसकी तरंगों से है। इस दृष्टि से दोनों में अभेद है। अतः इनके दर्शन के अद्वैतवादी कहा जाता है। द्वैत तथा अद्वैत दोनों मतों का ही प्रतिपादन करने से इनके दर्शन को द्वैताद्वैतदर्शन कहा जाता है।

3.3 सारांश

मानवता के कल्याण के निमित्त किया जाने वाला युक्तिपूर्वक चिन्तन दर्शन कहलाता है। जिस विद्या के द्वारा प्राणी सांसारिक मोह माया से मुक्त होकर परमात्मा का दर्शन कर लेता है अथवा परमात्मा का सायुज्य प्राप्त कर लेता है, वह विद्या दर्शन कहलाती है।

भारतीय दर्शन की दृष्टि अत्यधिक व्यापक है। यद्यपि भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाएँ हैं।, उनमें मत वैभिन्न्य है, पुनरपि सबका मूल ध्येय समान है। आस्तिक एवं नास्तिक भेद से भारतीय दर्शन की मुख्य दो शाखाएँ हैं। वेद को प्रमाणरूप में स्वीकार करने वाले दर्शन आस्तिक तथा वेद को प्रमाणरूप में स्वीकार न करने वाले दर्शन नास्तिक कहलाते हैं। आस्तिक दर्शन विश्व का एकमात्र ऐसा दर्शन है, जो इहलोक के साथ - साथ परलोक में भी विश्वास रखता है, जो कर्मफल एवं पुनर्जन्म की व्यवस्था को स्वीकार करता है। इससे इतर नास्तिक दर्शन परलोक, कर्मफल एवं पुनर्जन्म की व्यवस्था में विश्वास नहीं रखते। चार्वाक्, बौद्ध एवं जैन भेद से नास्तिक दर्शन 03 हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदान्त भेद से आस्तिक दर्शन 06 हैं।

सभी दर्शनों का प्रधान लक्ष्य प्राणिमात्र को दुःख से मुक्ति प्रदान करना है। न्याय दर्शन ने 16 पदार्थ माने हैं। न्याय दर्शन का मत है कि प्रमाणादि 16 पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से ही प्राणी मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

महर्षि कणाद वैशेषिक दर्शन में धर्म का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित करते है, जिससे सांसारिक उन्नति व निःश्रेयस की सिद्धि होती है। वैशेषिक दर्शन में 06 पदार्थ- द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, समवाय के साधर्म्य व वैधर्म्य से उत्पन्न निःश्रेयस प्राप्ति का वर्णन प्राप्त होता है।

न्याय दर्शन व वैशेषिक दर्शन को एक दूसरे के पूरक के रूप में देखा जाता है। ऐसा मानने का कारण है कि दोनों ने मोक्ष की प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य कहा है। मोक्ष दुःख विनाश की अवस्था है। मोक्ष की अवस्था में आनन्द का अभाव रहता है। दोनों ने माना है कि बन्धन का कारण अज्ञान है। अतः तत्त्वज्ञान के द्वारा मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। इस सामान्य लक्ष्य को मानने के कारण दोनों दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

सांख्य व योग दर्शन में अत्यन्त निकटता का सम्बन्ध है। दोनों दर्शनों का मुख्यतम उद्देश्य प्रकृति- पुरुष का विवेक कर मोक्षानुभूति कराना है। मोक्ष का अर्थ आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखों से छुटकारा पाना है। बन्धन का कारण अविवेक है और मोक्षप्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञान को आवश्यक माना गया है। एक ओर जहाँ सांख्य केवल प्रकृति पुरुष के विवेक मात्र से त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति स्वीकार करता है वहीं योग दर्शन व्यावहारिक पक्ष पर ध्यान आकृष्ट करता हुआ तत्त्वज्ञान के लिए योगाभ्यास को महत्त्वपूर्ण मानता है। सांख्य दर्शन 25 तत्त्वों का प्रतिपादन करता है तथा योगदर्शन 26 तत्त्वों को स्वीकार करता है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में मीमांसा दर्शन का विषयवस्तु, विषय प्रतिपादन शैली एवं आकार की दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व है। इसमें प्रमुख रूप से वैदिक वाक्यों के विषय में चिन्तन किया गया है। मीमांसा शास्त्र के बिना वैदिक वाक्यों के विषय में विचार करना दुष्कर ही नहीं असम्भव कार्य है। विधिवाक्य कौन -सा है? अर्थवाद वाक्य कौन-सा है? इसका ज्ञान मीमांसा सूत्रों से ही हो सकता है। मीमांसा दर्शन के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान एवं कर्म से ही हो सकती है। ज्ञान ही धर्माधर्म के सञ्चय को रोक कर शरीर के आत्यन्तिक उच्छेद का कारण बन जाता है।

वेदान्त दर्शन वेद एवं समस्त दर्शनों का सार है। ब्रह्म एवं जीव की एकता का प्रतिपादन करना ही वेदान्त दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। वेदान्त दर्शन 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा जीव ब्रह्मैक्य का प्रतिपादन करता है। जिसका अर्थ है- त्वम् (जीव) तत् (ब्रह्म) हो। अज्ञान से उपहित ब्रह्म ही जीव है किन्तु जब ब्रह्म अज्ञान/माया से मुक्त हो जाता है, तब वह अपने नित्य, बुद्ध, मुक्त स्वरूप को प्राप्त कर ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। वेदान्त दर्शन में अध्यारोप एवं अपवाद का विशिष्ट महत्त्व है। अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा ही आचार्य जिज्ञासु शिष्य को ब्रह्म एवं जीव की एकता का बोध कराता है। वस्तु में अवस्तु का आरोप करना अध्यारोप है तथा वस्तु में आरोपित अवस्तु का निराकरण कर देना अपवाद है।

3.4 पारिभाषिक शब्दावली

प्रमाण- यथार्थ ज्ञान के करण को प्रमाण कहते हैं।

प्रमा- प्रमाण के द्वारा होने वाले यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं।

हेत्वाभास- हेतु न होने पर भी जो हेतु के समान प्रतीत होता है, उसे हेत्वाभास कहते हैं।

सत्कार्यवाद- कार्य उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में कारण में विद्यमान रहता है, यह मत सांख्य का है। इसे ही सत्कार्यवाद कहते हैं।

अध्यारोप- वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप है।

अपवाद- वस्तु में आरोपित अवस्तु का निराकरण करना अपवाद है।

विवर्त- कारण का कार्य के रूप में अतात्त्विक परिवर्तन विवर्त है। यथा- रस्सी में सर्प की प्रतीति।

3.5 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, जवाहर नगर, नई दिल्ली

भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा, प्रो0 राममूर्ति शर्मा, मणिद्वीप, शालीमारबाग, नई दिल्ली 52

भारतीय दर्शन, उमेश मिश्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, उ0प्र0

सांख्य दर्शन का इतिहास, पं0 उदयवीर शास्त्री, विरजानन्द वैदिक संस्थान, ज्वालापुर, हरिद्वार

3.6 बोध प्रश्न

दीर्घोत्तरीय

1. न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाणों की विवेचना कीजिए।
2. योगदर्शन के अनुसार अष्टाङ्ग योग को लिखिए।
3. आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को प्रतिपादित कीजिए।
4. वैशेषिक दर्शन के पदार्थों को स्पष्ट कीजिए।
5. विवर्तवाद को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

लघूत्तरीय

1. दर्शन शब्द का अर्थ लिखिए।
2. नास्तिक शब्द का अर्थ लिखकर नास्तिक दर्शनों के नाम लिखिए।
3. द्वैतवाद को स्पष्ट कीजिए।
4. मीमांसा दर्शन के अनुसार मोक्ष का स्वरूप लिखिए।
5. योग दर्शन के अनुसार ईश्वर का स्वरूप प्रतिपादित कीजिए।

खण्ड 5
आगम एवं संगम साहित्य

खण्ड 5 परिचय

वेद में जिन सिद्धान्तों का सूत्र के रूप में उल्लेख मिलता है उनमें यदि कहीं कोई वर्जना प्राप्त हो तो उसके स्वीकृत स्वरूप की प्राप्ति आगम ग्रन्थों में हो जाती है। जब वेद में अधिकार की बात की जाती है तो उसका समर्थन आगम करते हैं। आगम को शास्त्र शब्द भी दिया गया। प्रस्तुत खण्ड में तीन इकाईयो के माध्यम से आगम एवं संगम साहित्य का वर्णन किया गया है। प्रथम इकाई में आप आगम के अर्थ, उनके प्रकार, आगमों के विषय वस्तु का अध्ययन करेंगें। जिससे आपको निगम और आगम के सम्बन्ध का बोध हो जाएगा। दूसरी इकाई में आगमों की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। संगम साहित्य भी भारतीय साहित्य में आभूषण का कार्य करता है। संगम साहित्य में काव्य परम्परा है। इनमें भी भारतीय ज्ञान परम्परा का निदर्शन है। इस खण्ड की तीसरी इकाई में संगम साहित्य ही बताया गया। इसके अध्ययन से आपको संगम साहित्य की विषयवस्तु और उसके महत्व का बोध होगा। सम्पूर्ण खण्ड का अध्ययन कर लेने पर आपकों हिन्दू अध्ययन के मूल स्रोत के रूप में आगम एवं संगम साहित्य की भूमिका का भलीभॉंति परिचय प्राप्त हो जाएगा। इसी क्रम में आगम और संगम साहित्य के महत्व का उल्लेख भी कर पायेंगें।

इकाई 1 आगम : अर्थ, प्रकार, प्रतिपाद्य

इकाई की संरचना

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन समाप्त कर लेने पर आप –

- आगम शब्द का अर्थ और परिभाषा स्पष्ट करेंगे।
- आगम ग्रन्थों के विषयों की सूची बनाएँगे।
- आगम ग्रन्थों का महत्त्व स्थापित करेंगे।
- आगमों के रचनाकाल पर टिप्पणी करेंगे।
- वैदिक, जैन और शैव आगमों का सामान्य परिचय प्रस्तुत करेंगे।
- आगमों के प्रतिपाद्य विषयों पर अनुच्छेद लिखेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारत प्राचीनकाल से ज्ञान, धर्म, दर्शन और अध्यात्म की भूमि के रूप में स्थापित रहा है। यहाँ मनुष्य जाति के सर्वांगीण विकास में उपयोगी ज्ञान–विज्ञान का अथाह भंडार युगों–युगों से अद्भूत होता रहा है। इसी के आधार पर भारत को विश्वगुरु कह कर सम्मानित किए जाने की परंपरा रही है। आज हम इस अथाह ज्ञान–राशि को पूरी तरह तो नहीं जानते; लेकिन फिर भी इसका जितना भी अंश हस्तलेखों, पांडुलिपियों,

पुस्तकों आदि के रूप में उपलब्ध होता है वह इतना अधिक और उपयोगी है कि आज भी मानव जाति का मार्गदर्शन करने में सक्षम है।

विश्वविख्यात वैदिक साहित्य का जो अंश आज प्रकाशित अथवा अप्रकाशित रूप में उपलब्ध है उनमें वेद निःसन्देह सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध हैं। उनके आधार पर लिखे गए ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, वेदांग, उपवेद, दर्शन, स्मृतियाँ आदि भी अधिकांश विद्वानों के लिए परिचित हैं। संस्कृत भाषा की परंपरा को जानने वाले विद्वान इन ग्रन्थों को पढ़ने और समझने का प्रयास करते हैं। वे इनके आधार पर कथा, प्रवचन, लेखन और शिक्षण के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रचार और प्रसार भी करते हैं। लेकिन बहुत सा साहित्यऐसा भी है, जिस की ओर इन उपलब्ध ग्रंथों में संकेत तो मिलता है किंतु वह साहित्य न तो आज हमारे पठन–पाठन के लिए उपलब्ध है और न हीऐसे साहित्य को सामान्य विद्वानगण जानते–समझते हैं। विद्वानों के प्रयासों के बाद भी ऋषि–मुनियों और मनीषियों द्वारा विकसित कुछ विषयों का ज्ञान हमें पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है। इस श्रेणी के ज्ञान का अधिकांश भाग केवल संदर्भों और उद्धरणों के रूप में प्राप्त होता है। इसी परंपरा का कुछ साहित्यऐसा भी है जिसका मौलिक विवरण आज उपलब्ध नहीं है। उनके स्थान पर परवर्ती विद्वानों द्वारा लिखे गए ग्रंथ हमारे सामने हैं, जिनका अध्ययन करने से पता लगता है कि वह अपने मूल साहित्य की तुलना में बहुत ही सामान्य है। आगम या तन्त्र इसी श्रेणी का साहित्य है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि आगम साहित्य वैदिक ग्रन्थों की तुलना में न केवल कम उपलब्ध है बल्कि उसे जानना–समझना भी अपने आप मेंएक बहुत बड़ी चुनौती है। इस तथ्य को जानकरऐसी पीड़ा होना स्वाभाविक है जो किसी बहुमूल्य रत्न को पा लेने के बाद उसके खो जाने से उत्पन्न होती है। सामान्य रूप से सुनते आए हैं कि भारत में आगम और निगम साहित्य सदा से सम्मानित और चर्चा का विषय रहा है। लेकिन सत्य यह है कि इनमें से केवल निगम साहित्य जो वेदों और उससे संबंधित ग्रंथों के लिए सामान्यतः प्रयोग किया जाता है; ही अधिक ज्ञात और प्रसिद्ध रहा है। जबकि, आगमएक अलग परंपरा का ज्ञान है, जो ज्ञान कर्म और उपासना की तीन प्रमुख पद्धतियों से आगे बढ़कर साधना और सिद्धियों की पद्धति की ओर इशारा करता है। यह मंत्र (वेद) यंत्र (कर्मकाण्ड/अनुष्ठान) के पूरक के रूप में तंत्र (गुप्त या गूढ़ साधना) का विज्ञान है।

मानव जीवन की सफलता के लक्ष्य की प्राप्ति के साधन मानी जाने वाली ये तीनों पद्धतियाँ सदियों से भारतीय जीवन परंपरा का हिस्सा रही हैं और आज भी इनका अनुष्ठान हमारे समाज में प्रचलित है। इनमें से आगम साहित्य और तन्त्र की साधना कहीं अधिक गंभीर और रहस्य पूर्ण है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता इस प्रकार के साधना की गोपनीयता और संवेदनशीलता है, जिसे समझना और यथारूप निर्वाह कर पाना किसी सामान्य व्यक्ति के बस की बात नहीं है। कुछ लोग इसे वामाचरण के नाम से भी बुलाते हैं, जिसका तात्पर्य केवल इतना है कि बहुसंख्यक लोग तुलनात्मक रूप से अधिक प्रचलित वैदिक ज्ञान, कर्म और उपासना का आचरण करने को वरीयता देते थे, जबकि तन्त्र की साधना कठिनता और जटिलता के कारण इस प्रकार की साधना पद्धति को न तो समझ पाते हैं और न ही उसका आचरण कर पाते हैं। इसलिए अधिकांश लोगों के लिए सरल, सहज और स्वीकार्य मंत्र और यंत्र को सांसारिक व्यवहार और ईश्वरीय साधना के दृष्टि से मुख्य मार्ग कहा गया, जबकि इससे भिन्न साधना–विधि को वामाचरण के नाम से जाना जाता है। प्रस्तुत इकाई के माध्यम से इस साधना प्रद्धति की जटिलता और रहस्य को स्पष्ट करेंगे। सर्वप्रथम आगम शब्द के

अर्थ, परिभाषा और विषयों का परिचय देते हुए इनका महत्त्व स्पष्ट किया जाएगा। तदुपरान्त आगमों के रचनाकाल, प्रकारों और प्रतिपाद्य विषयों का भी परिचय दिया जाएगा।

1.2 आगम की परिभाषा

जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि आगम शब्द संस्कृत भाषा से लिया गया है, जिसमें 'आ' उपसर्ग और 'गम्' धातु का समावेश है। सामान्य रूप में इसका अर्थ होता है 'किसी स्थान पर जाना' या 'किसी स्थान से आना'। हम संस्कृत और हिन्दी भाषाओं में 'आगमन' शब्द का सामान्यतः प्रयोग करते हैं, जो इसी उपसर्ग और धातु से बना है; लेकिन आगम साहित्य के विषय में यह अर्थ प्रासंगिक नहीं है, बल्कि अध्यात्मिक साधना और उपासना से संबंधित है। इसके अंतर्गत शरीर और मन की सिद्धियाँ प्राप्त करके आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार 'आगम' शब्द अर्थ ज्ञान का अर्जन और उपयोग है। किसी व्यक्ति या साधक द्वारा सचेतन या प्राकृतिक रूप से अर्जित ज्ञान की ओर संकेत करने के लिए भी 'आगम' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। जिस प्रकार वेदमन्त्रों के पाठ से शब्दशक्ति जागृत की जाती है और कर्मकाण्ड के द्वारा देवोपासना की जाती है, उसी प्रकार आगमशास्त्रों के माध्यम से सिद्धियाँ प्राप्त की जाती हैं और आध्यात्मिक उन्नति का प्रयास किया जाता है। आगमशास्त्र में साधना के तरीकों, पूजा पद्धतियों और ध्यान की तकनीकों का वर्णन पाया जाता है, जिनसे आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार विधि अथवा प्रक्रिया की दृष्टि से भिन्न होने पर भी आगम मूलतः अध्यात्म की साधना के मार्ग हैं, जिनकी उत्पत्ति वैदिक परम्परा से ही मानी जाती है।

परम्परा से इस शब्द को निगम अर्थात् वेद के साथ 'निगमागम' के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। वैदिक साहित्य और विद्वानों में इसे 'तंत्रशास्त्र' के नाम से भी जाना जाता है। निगम और आगम शब्द परस्पर स्वतंत्र होने पर भीएक दूसरे के साथ जुड़े हैं क्योंकि इनमें से 'निगम' अर्थात् वेदों में कर्म, ज्ञान तथा उपासना का वर्णन है, जबकि आगम या तन्त्रशास्त्र में इनके उपायों या साधनाओं का उल्लेख है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि निगम और आगम मिलकर व्यक्ति को सांसारिक और आध्यात्मिक रूप से पूर्ण होने के लिए मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। वाचस्पति मिश्र ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्ववैशारदी' में आगम शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि ''आगच्छंति बुद्धिमारोहंति अभ्युदयनिरूश्रेयसोपाया यस्मात् स आगम। इस व्युत्पत्ति के अनुसार आगम की परिभाषा है कि ''जिस ज्ञान के माध्यम से अभ्युदय या सांसारिक उन्नति और निःश्रेयस् अर्थात् आध्यात्मिक कल्याण प्राप्त करने के उपाय बुद्धि में आते हैं वह आगम है।'' आगम परम्परा के सुप्रसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में लिखा है कि ''आगमशास्त्र में समस्त जागतिक ज्ञान, पुरातन व्यवहार और प्रसिद्धि अर्थात् प्रामाणिक विद्वानों के वचन समाहित होते हैं।''

यहाँ प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार आगम का मुख्य लक्ष्य ज्ञान–प्राप्ति की प्रक्रिया है, लेकिन आगम शास्त्रों में सेएक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाराहीतंत्र' के अनुसार इन ग्रन्थों में सात लक्षणों का होना अनिवार्य है, जिनके नाम हैं; सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म और साधन तथा ध्यानयोग। इनमें से षट्कर्म के अन्तर्गत शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण की क्रियाएँ सम्मिलित हैं। इन लक्षणों से स्पष्ट है कि आगमएक विज्ञान है जो ध्यान और साधना के अनेक विधानों और

विकल्पों से युक्त है। इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए महानिर्वाण तन्त्र नामक आगमग्रन्थ में बताया गया है कि इस ज्ञान और साधना की उत्पत्ति महादेव शिव ने अपनी दिव्यदृष्टि से की और जनकल्याण के लिए उसे अपनी पत्नी पार्वती को सविस्तार बताया। इसकी क्रियाएँ इतनी सहज और प्रभावशाली हैं कि हर युग में उनकी साधना द्वारा आत्मकल्याण का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग निगम अर्थात् वेद की पद्धति से आत्मज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, वे भी इसके माध्यम से जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। विद्वानजन ''कलौ आगमसम्मतं'' कहकर बताते हैं कि कलियुग में आगम की उपासना पद्धति विशेष उपयोगी तथा लाभदायक मानी जाती है। यहाँ दिए गए तथ्यों के प्रकाश में आगम की परिभाषा है; ''सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म और साधन तथा ध्यानयोग रूपी सात लक्षणों से लौकिक उन्नति और आध्यात्मिक कल्याण प्राप्त करने के साधन का नाम आगम है।''

1.3 आगमों के विषय

आगम नाम से स्पष्ट होता है कि इन ग्रंथों में वैदिक परंपरा की ही तरह सांसारिक उन्नति और आध्यात्मिक कल्याण के उद्देश्य से ज्ञान कर्म और उपासना का विधान पाया जाता है। इन ग्रंथों के प्रकार और विषयों के वर्णन से यह भी स्पष्ट होता है कि इनकी प्रकृति वैदिक परंपरा से कुछ भिन्न है। इस भिन्नता को समझने के लिए इन ग्रंथों में वर्णित विषयों पर दृष्टि रखना श्रेयस्कर होगा। आगम ग्रन्थ वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीन संप्रदायों द्वारा विकसित और स्वीकृत कहे गए हैं। इनमें से वैदिक मत में पुनः तीन उप– परंपराएँ प्राप्त होती हैं, जो इनके अंतर्गत आने वाली पूजा–पद्धतियों के उपास्य देव की ओर संकेत करती हैं। इनमें से प्रथम है वैष्णव आगम; जिसे पंचरात्र जिसमें और वैखानस उपशाखाएँ आती हैं। इसके बाद शैव आगमों का स्थान है, जिनमें पाशुपत और त्रिकादि उपभेद प्राप्त होते हैं। तीसरा प्रकार शाक्त आगमों का है, जिनमें अष्टदेवियों की स्तुति का विधान पाया जाता है।

आगमों के विषयों की चर्चा करते हुए इन प्रकारों और उप–प्रकारों का उल्लेख आवश्यक है क्योंकि इससे इन ग्रन्थों की प्रकृति और उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है और उनके विषयों का आभास किया जा सकता है। वैदिक आगमों परंपरा में मुख्य रूप से ब्रह्मांड विज्ञान, ज्ञान–मीमांसा, दार्शनिक सिद्धांत और साधना पद्धतियों का उल्लेख पाया जाता है, जिन्हें योग, मंत्र, मंदिर–निर्माण और देवपूजा; इन चार भागों के अंतर्गत रखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि आगमों में शरीर को स्वस्थ और सशक्त रखने के लिए योग, आसन, हठयोग और साधनाओं के विषय में विवरण प्राप्त होते हैं। मन को वश में करने और अध्यात्म की ओर केन्द्रित करने के लिए मन्त्रसाधना, देवपूजा के लिए देवालय निर्माण और पूजा की पद्धतियों का वर्णन भी इन ग्रन्थों में पाया जाता है। शैव, वैष्णव और शाक्त परंपराओं में योग और आत्म–साक्षात्कार का लक्ष्य समान रूप से पाया जाता है। इसके उपायों के रूप में आगम ग्रंथों में कुंडलिनी–जागरण, ध्यान, साधना और प्रतीक–पूजा का वर्णन भी प्राप्त होता है।

आगम परंपरा के विद्वानों के अनुसार संरचना की दृष्टि से आगमग्रन्थों में चार खण्ड अनिवार्य रूप से पाए जाते हैं जिन्हें 'पाद' कहा जाता है। इनके नाम ज्ञानपाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापाद हैं। इनके अन्तर्गत वर्णित विषय इस प्रकार हैं –

- ज्ञानपाद – दार्शनिक विषय, प्रमुख आगम सिद्धांत, आध्यात्मिक अवधारणाएँ, निर्वाण–साधना और सांसारिक तथा आत्मिक बंधनों से मुक्ति का ज्ञान।

- क्रियापाद – सन्ध्यावन्दन, पूजा, जाप, होम, आचार्याभिषेक, देवालय की स्थापना, मूर्ति–निर्माण व प्रतिष्ठापना मूर्तिकला, मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा दीक्षा और विविध प्रार्थना।
- योगपाद – यम, नियम, आसन, समाधि, अष्टांगयोग साधना, शरीर को स्वस्थ और सुदृढ़ करने के उपाय, हठयोग के द्वारा शारीरिक और मानसिक अनुशासन की सिद्धियाँ।
- चर्यापाद – व्रत, उपवास, संकल्प, प्रायश्चित विधि, शिवलिंग लक्षण, जापमाला, मूर्ति की पूजा, उत्सव, अध्यात्म की दृष्टि से अनिवार्य आचरण, धार्मिक अनुष्ठान, इन अनुष्ठानों की तैयारी, विविध साधनाओं के नियम।

आगम परंपरा के अनुसार अध्यात्म साधना के लिए तीन विषय अनिवार्य हैं जिनके बिना इस विषय में प्रगति सम्भव नहीं है। ये विषय हैं – मंदिर, मूर्ति और तीर्थ। यही कारण है कि आगम ग्रंथों में मंदिर निर्माण के लिए स्थान के चयन, सामग्री की व्यवस्था, देवालय निर्माण की विधि, भवन, मंदिरों में प्रकाश और वायु के आवागमन की व्यवस्था और वहाँ आयोजित किए जाने वाले अनुष्ठानों के नियम और उपनियम मूर्तिशिल्प यानि मूर्तिकला के नियम विस्तार से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक परंपरा के अतिरिक्त जो भी पूजा पद्धतियाँ आज हम अपने समाज में प्रचलित पाते हैं वे सभी कहीं न कहीं आगम ग्रंथों से अनुप्राणित और प्रेरित हैं।

1.4 आगमों के स्रोत

आगम साहित्य के विषय में होने वाली चर्चाओं में सर्वप्रमुख है; इनका उद्‌गम या स्रोत। भारतीय परंपरा में वेदों को सभी प्रकार के ज्ञान और विज्ञान का आदि मूल स्वीकार किया जाता है। इस दृष्टि से सामान्यतः माना जाना चाहिए कि आगम साहित्य भी वेदों से उत्पन्न या प्रभावित है। इसके पक्ष में तर्क दिया जाता है कि वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शनों में कहीं केवलमात्र ब्रह्म की चर्चा है, जिसे अद्वैत कहा जाता है। किन्हीं सम्प्रदायों में ब्रह्म और जीव के रूप में द्वैतवाद का सिद्धांत प्राप्त होता है और कहीं ईश्वर, जीव और प्रकृति के रूप में त्रैतवाद का विधान पाया जाता है। इनके अतिरिक्त भी द्वैताद्वैत, विशिष्टद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि सम्प्रदायों की उपस्थिति देखी जाती है। इन सम्प्रदायों में परस्पर विभेद होने पर भी वेद को इनके आदिस्रोत की रूप में स्वीकार किया जाता है। जैसे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, योग वेदान्त और द्वैत, अद्वैत आदि दार्शनिक सम्प्रदायों का उद्‌गम वेद से संभव है, वैसे ही तंत्रों का आदिस्रोत भी वेदों को ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

सैद्धान्तिक रूप में आगमों की वेदों से उत्पत्ति सिद्ध होने पर भी व्यवहार मेंऐसा होना सम्भव नहीं दिखता। वैदिक और आगम परंपराओं के बीच अनेक प्रकार के विभेद पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए वेद प्रकृति और उसकी शक्तियों के प्रशंसक हैं, वहाँ किसी विशेष व्यक्ति या शक्ति की पूजा का विधान नहीं मिलता। जबकि आगमों में प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण और उनकी पूजा का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। जहाँ तक वेदों का प्रश्न है तो वहाँ अग्नि, वायु, रुद्र, आदित्य, अदिति, इन्द्र, वरुण, उषा, अश्विनौ जैसी शक्तियों का वर्णन और स्तुतिगान उपलब्ध होता है। दूसरी ओर आगमशास्त्रों में योग, ध्यान और साधना के साथ मन्दिर निर्माण, देवी–देवताओं की मूर्ति बनाने, उनमें प्राणप्रतिष्ठा करने और उनकी औपचारिक पूजा के साथ ही व्रत,

तीर्थ, जप, दान आदि की विधियों का वर्णन पाया जाता है, जो वैदिक प्रणाली से नितान्त भिन्न है। आगमों में वर्णित शिव, पार्वती आदि देवी–देवताओं का उल्लेख वेदों में न होकर पुराणों में पाया जाता है। इस अर्थ में इन शास्त्रों पर वेदों के स्थान पर पुराणों का प्रभाव स्वीकार करना अधिक तार्किक होगा।

आगम शास्त्र को वेदों और पुराणों के समान प्रभाव को स्वीकार करने की दिशा मेंएक अन्य तथ्य पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। वह सत्य है कि आगम ग्रन्थ केवल वैदिक या हिन्दू परम्परा में ही प्राप्त नहीं होते, अपितु इनके समानान्तर विकसित हुए सम्प्रदायों में भी उपलब्ध होते हैं। जिनमें जैन आगमों की चर्चा विशेष रूप से की जानी चाहिए। जैन सम्प्रदाय में आगमों की बहुत पुरानी और बड़ी परम्परा पाई जाती है जो बारह भागों में विभक्त किया जाता है जिन्हें द्वादशांग का नाम दिया गया है। इनमें से ग्यारह आज भी उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार वैदिक परम्परा के विरोध में उपजे बौद्ध सम्प्रदाय में भी आगमों की परम्परा उपलब्ध होती है। बौद्ध धर्म में आरम्भिक ग्रन्थों का संग्रह आगम कहलाता है। जिन्हें 'सुत्तपिटक' या थेरावाद सम्प्रदाय में 'निकाय' के नाम से जाना जाता है। इन तथ्यों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि जो शास्त्र परंपरा वैदिक के साथ ही जैनों और बौद्धों में भी समान रूप से पाई जाती है, साथ ही जिनमें ज्ञान, कर्म, उपासना और साधना की अधिकांश विधियाँ वैदिक विचारधारा से इतर हो, उसे केवल वेदों से अनुप्राणित मानना ठीक नहीं है। सारतः कहा जा सकता है कि आगमएक स्वतन्त्र शास्त्र प्रणाली है जो इतनी सशक्त, परिपूर्ण और प्रचलित हुई कि उसे तत्कालीन समाज में अन्य सम्प्रदायों ने भी सादर स्वीकार किया। इस पर वेदों के साथ ही पौराणिक, जैन और बौद्ध शास्त्र परम्परा का भी प्रभाव स्वीकार किया जाता है।

1.5 आगमों का रचनाकाल

परम्परा के अनुसार वेद सब सत्य विद्याओं के आदिस्रोत कहे जाते हैं।ऐसे में आगमों को भी इन पर आधारित मानने से इनका रचनाकाल वैदिक अथवा उत्तरवैदिक काल माना जाना चाहिए। किन्तु यह मत सभी विद्वानों और वैदिक साहित्य के इतिकासकारों को स्वीकार्य नहीं है। इस दृष्टि से विद्वानों के दो वर्ग दिखाई देते हैं;एक धारा में आगमों को वैदिक परम्परा के ग्रन्थ सिद्ध करने वाले विद्वानगण हैं तो दूसरी ओर आगमों को वेदों से भिन्न और विपरीत परम्परा के ग्रन्थ बताने वाले साहित्यकार हैं। इन दोनों दलों के अपने तर्क हैं जिन पर विचार करने से आगमों के रचनाकाल पर विचार करना सरल हो सकता है। इन मतों का तार्किक विश्लेषण इस खण्ड में प्रस्तुत किया जा रहा है –

वेदों में अनेक देवियों और देवताओं की स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें इन्द्र, अग्नि, वायु, रुद्र, आदित्य, वरुण, विष्णु, अश्विनौ, उषा, अदिति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ विद्वान इन देवताओं को पौराणिक देवी–देवताओं ब्रह्मा, विष्णु, शिव, लक्ष्मी, पार्वती आदि की पूर्व–परम्परा मानते हैं। वेदों में जो संवादसूक्त उपलब्ध होते हैं, उन्हें भी कुछ विचारक पुराणों के आदिस्रोत के रूप में देखते हैं। ऋग्वेद में इंद्र के संदर्भ में सोमरस की चर्चा प्राप्त होती है। वेदों और ब्राह्मणों में अनेक स्थानों पर यज्ञ अथवा अन्य अवसरों पर यजमान द्वारा सोमपान का संकेत प्राप्त होता है। आगम शास्त्र के विद्वान इन उद्धरणों को तंत्र का प्रारंभिक रूप मानते हैं। वैदिक यज्ञों में सामग्री के रूप में वनस्पतियों के मिश्रण और दक्षिणा के रूप में गौ आदि पशुधन का उल्लेख प्राप्त होता है, इन्हें भी आगम अथवा तांत्रिक अनुष्ठानों का मौलिक स्रोत माना जाता

है। इसी कड़ी में वैदिक मन्त्रपाठ और कर्मकाण्डों में हस्त–मुद्राओं और स्वाहाकार या आहुति को भी तंत्र से जोड़कर देखा जाता है। इन आधारों पर अनेक विद्वान वैदिक साहित्य को आगमों का उपजीव्य अथवा उत्प्रेरक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इससे आगमों का रचनाकाल वैदिककाल के समकक्ष सिद्ध होता है।

आगमों को वेदों के समकालीन बताने के मत में अनेक कमियाँ प्राप्त होती हैं, जिनके कारण इस विचार पर सर्वसम्मति नहीं है। विद्वानों के मत में आदि शंकराचार्य ने उपनिषदों की अपनी व्याख्या में वैदिक के अतिरिक्त अन्य साधना–पद्धति की ओर संकेत नहीं किया है। भारतीय इतिहास का विवरण प्रस्तुत करने वाले विद्वान मानते हैं कि ईसा की सातवीं शताब्दी में अनेक विदेशी विद्वान जिनमें चीनी यात्री इत्सिंग, ह्येनसांग और फाह्यान आदि भारत आए थे। इन यात्रियों ने अपनी यात्राओं के विवरण काफी विस्तार से लिखे हैं। इनमें उन्होंने उस समय प्रचलित अनेक मतों, पंथों और संप्रदायों का उल्लेख किया है; लेकिन उनमें आगम अथवा तंत्र संबंधी कोई विवरण उपलब्ध नहीं होने के कारण माना जाता है कि सातवीं शताब्दी तक आगम ग्रंथों का कोई अस्तित्व नहीं था। यद्यपि नवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में तिब्बती भाषा में अनुवाद किए गए अनेक ग्रन्थों में हिंदू और बौद्ध तंत्र का वर्णन प्राप्त होता है, जिससे आभास होता है कि आगम ग्रंथों की उत्पत्ति का समय नवीं शताब्दी स्वीकार किया जा सकता है। भगवान शिव को तंत्र का आदिपुरुष माना जाता है, उनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति पौराणिक काल में जाकर स्पष्ट होती है। इस दृष्टि से कुछ विद्वानगण आगमग्रन्थों को चौथी शताब्दी ईसापूर्व से लेकर नवीं शताब्दी के बीच विकसित परंपरा मानते हैं।

सारतः, आगम ग्रंथों के लेखनकाल के संदर्भ में उपलब्ध चर्चाओं के आधार पर साहित्य के इतिहासकारों का कहना है कि इनकी रचना तीन चरणों में हुई, जिन्हें क्रमशः प्राचीन तंत्र, माध्यमिक तंत्र और उत्तरवर्ती तंत्रसाहित्य के नाम से जाना जाता है। इनमें से प्राचीन तंत्र साहित्य की रचना वैदिक काल से लेकर नवीं शताब्दी तक मानी जाती है। जबकि माध्यमिक तंत्र साहित्य का काल नवीं शताब्दी से 11वीं शताब्दी तक स्वीकार किया जाता है। इसके बाद लिखे गए आगम ग्रंथों को उत्तरवर्ती आगम साहित्य का नाम दिया जाता है। जिनकी रचना अवधि 11वीं सदी के बाद से वर्तमान समय तक जारी है।

1.6 आगमों के प्रकार

प्रकार की दृष्टि से आगम ग्रंथों को मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है, जिनमें प्रथम हैं वैदिक अथवा सनातन प्रकृति के आगम। इस कोटि के आगमों में उपास्य देवों की भिन्नता के अनुसार तीन उप–प्रकार पाए जाते हैं। इनके नाम हैं – वैष्णव आगम, शैव आगम और शाक्त आगम। इनके अतिरिक्त जैन साहित्य में भी आगमों के नाम से अनेक ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, जो तीन उपभागों में विभक्त हैं। ये उपभाग 'सूत्रागम' या सुत्तागम, अर्थागम अथवा अत्थागम और तदुभयागम के नाम से जाने जाते हैं। अन्य परम्परा में इन ग्रन्थों को आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम के रूप में भी कहा जाता है। जैन साहित्य में आगम ग्रंथों की कुल संख्या 46 है। इसी क्रम में बौद्ध धर्म में भी आगम ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, जिन्हें सुत्तपिटक भी कहा जाता है। ये बौद्ध परम्परा के आरंभिक ग्रन्थ हैं, जिनमें पाँच ग्रंथ प्रमुख हैं। इनके नाम हैं, दीर्घागम, मध्यमागम, संयुक्तागम,एकोत्तर आगम और क्षुद्रक आगम। इन्हीं ग्रंथों को बौद्ध धर्म के थेरवाद संप्रदाय में आगम के स्थान पर 'निकाय' शब्द के द्वारा जाना जाता है। इन तीन प्रकार के ग्रन्थों का सामान्य परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

1.6.1 वैदिक आगम

प्रस्तुत इकाई की प्रस्तावना में आगमों के वैदिक साहित्य से सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है, जिससे आभास होता है कि ये ग्रन्थ वैदिक परम्परा के हैं।ऐसा होने पर भी आगम ग्रन्थ अपने स्वरूप और प्रकृति में भिन्न हैं। फिर भी यह भिन्नता इन ग्रन्थों को अवैदिक सिद्ध नहीं करती है। आगमों को वैदिक परम्परा से जोड़ने वाले विद्वानों ने इन ग्रन्थों को अनेक प्रकार से विभक्त किया है, जो इन परम्पराओं के आराध्य अथवा परमपुरुष के आधार पर निर्भर है। इनमें प्रमुख हैं शैव, शाक्त और वैष्णव परम्परा के आगम। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

शैव आगम – इन ग्रन्थों का उद्भव सृष्टिरचना के उपरान्त प्रकट हुए दस शिवों के माध्यम से माना जाता है। शैव आगमों में शिव को ही सृष्टि का उत्पादक, संरक्षक और संहारक माना गया है। इस परम्परा में बिना किसी भेदभाव के सभी मनुष्यों को ध्यान, योग और तन्त्र के माध्यम से जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। शैव आगम ग्रन्थ मुख्यतः चार प्रकार के हैं जिनके नाम कपाल, कालमुख, पाशुपत और शैव हैं। इनकी कुल संख्या 28 है।

शाक्त आगम – शाक्त आगमों को तंत्रशास्त्र के रूप में भी जाना जाता है। इस परम्परा में स्त्री शक्ति को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है और उसे ऊर्जा और शक्ति के रूप में ब्रह्मांडीय अस्तित्व का समकक्ष माना जाता है। शाक्त आगम स्त्रीत्व को ब्रह्मांडीय शक्ति, सृजन की देवी और जीवनतत्त्व के रूप में मान्यता देता है। यही जीवनी शक्ति पंचतत्त्वों में जीवन का संचार करती है। इस शक्ति के अभाव में शिव शव हो जाते हैं। शक्ति के बिना जीवन का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। शक्ति ही सर्वोच्च सत्य है। शाक्त आगमों की संख्या 64 हैं।

वैष्णव आगम

भगवान विष्णु को सृष्टि का सर्वोच्च देव मानने वालों और उनकी पूजा के सिद्धान्तों तथा विधि–विधान को प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों को वैष्णव आगम के नाम से जाना जाता है। इन ग्रन्थों में विष्णु को सृष्टिकर्ता और पालनकर्त्ता स्वीकार किया गया है और उनके दस अवतारों को जन्म–मरण के चक्र से मुक्ति का मार्ग बताया गया है। इन ग्रन्थों को चार श्रेणियों वैखानस, पंचरात्र, प्रतिष्ठासार और विज्ञानललित में विभक्त किया गया है। इनमें से प्रथम का उपदेश ऋषि वैखानस द्वारा भृगु, मरीचि, अत्रि और कश्यप को दिया गया था। इन ग्रन्थों की ज्ञात संख्या 28 है। जिनमें से भृगु द्वारा रचित ग्रन्थ 13, मरीची रचित 8, कश्यपकृत 3 और अत्रि द्वारा प्रणीत 4 आगम हैं।

पंचरात्र वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख आगम हैं जो रामानुजाचार्य के श्रीवैष्णव सम्प्रदाय द्वारा विकसित हैं। इस नाम का अभिप्राय है कि भगवान विष्णु द्वारा अनन्त, गरुड, विश्वसेन, ब्रह्मा और रुद्र को दिया गया ज्ञान। यहाँ पंचरात्र का अन्य तात्पर्य सृष्टि के पाँच कारणों से भी है जिनमें पुरुष, प्रकृति, स्वभाव, कर्म और दैव सम्मिलित हैं।एक अन्य विचार के अनुसार पंचरात्र सम्प्रदाय में पंच से तात्पर्य सृजन, योग, मन्त्र, अनुष्ठान और आचारसंहिता नामक पाँच विषय हैं। पंचरात्र ग्रन्थों में ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करते हुए यज्ञ, स्वाध्याय, दान आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। इस परम्परा के 200 से अधिक ग्रन्थों की सूची उपलब्ध होती है किन्तु आजकल उनमें से लगभगएक सौ आगम ही उपलब्ध होते हैं।

1.6.2 जैन आगम

जिस प्रकार वैदिक साहित्य के अंतर्गत बहुत से ग्रंथ प्राप्त होते हैं और उनमें अनेक प्रकार की ज्ञान, कर्म, उपासना पद्धतियाँ मिलती हैं, उसी प्रकार जैन संप्रदाय का साहित्य भी बहुत विशाल है। उसमें अनेक प्रकार की पूजा और साधना पद्धतियों का वर्णन है, जो वैदिक आगम या तन्त्र साधनाओं के समकक्ष है। जैन साहित्य में आगम शब्द का उपयोग बहुत प्राचीन है। जैन परम्परा में आगम शब्द साहित्य के समानार्थी माना जाता है। अनेक स्थानों पर जैन ग्रंथों को आगम के स्थान पर श्रुत, देशना, प्रज्ञापना, जिनवचन,ऐतिह्य, आम्नाय भी कहा गया है। कहीं–कहीं प्राकृत भाषा के प्रभाव से इन्हें सुत्त या देशना का नाम दिया जाता है।

जैन संप्रदाय में आगम शब्द की परिभाषा है ''जिस वस्तु या तत्व के ज्ञान से किसी रहस्य का पूर्ण ग्रहण किया जा सके वही आगम है।''एक अन्य मत के अनुसार जिनेश्वरों या जैन तीर्थंकरों, अरिहंतों या साधुओं के उपदेशों को जब गंधर्वों या जैन परंपरा के शिष्यों द्वारा ग्रंथों के रूप में लिखा जाता है, तब उनका नाम आगम होता है। जैन परंपरा में आगम साहित्य के दो विभाग हैं, जिन्हें 'अंग–प्रविष्ट' और 'अंग–बाह्य' नामों से जाना जाता है। इनमें अंग–प्रविष्ट का अर्थ है 'अंग' शाखा के अंतर्गत आने वाले ग्रंथ और अंग–बाह्य का तात्पर्य है,ऐसे ग्रन्थों का संग्रह जो ग्रंथ अंगों के अतिरिक्त हैं अथवा इस श्रेणी में नहीं आते।

अंग–प्रविष्ट आगम

जैन धर्म चौबीस तीर्थंकरों विशेष रूप से भगवान महावीर के उपदेशों पर आधारित है। इन तीर्थंकरों और परवर्ती जिनेश्वरों ने जैन पन्थ को विकसित और प्रचारित करने के लिए जो उपदेश दिए, उनका संग्रह अनेक विद्वान और कुशल शिष्यों द्वारा किया गया है, जिन्हें गणधर कहा जाता है। यह संग्रह ही जैन परम्परा में अंगप्रविष्ट आगम कहलाता है। ये आगम ग्रन्थ बारह भागों में विभक्त हैं। ये बारह ग्रन्थ गुरु–शिष्य परम्परा से पीढ़ी दर पीढ़ी प्रसारित किए जाते रहे और इनमें से ग्यारह आज भी उपलब्ध होते हैं। यह ग्यारह अंग–प्रविष्ट आगमों के नाम हैं; आचारांग, सूत्रकृतांग, सीानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासक दसांग, अंतकृत दसांग, प्रश्नव्याकरण, अनुत्तरोपपातिक और विपाक आगम। इनके अतिरिक्त पूर्वधर आचार्यों द्वारा लिखित सूत्र भी अंग–प्रविष्ट आगमों की श्रेणी में आते हैं। इनमें बारह उपांग, छह छेद, दस प्रकीर्णक, चार मूलसूत्र, औरएक–एक अनुयोगद्वार और नंदी को मिलाकर कुल पैंतालीस आगम वर्तमान में पाए जाते हैं। इन्हीं 45 आगमों का प्रभाव सम्पूर्ण जैन साहित्य पर पाया जाता है।

अंगबाह्य आगम

अंग–प्रविष्ट आगमों के अतिरिक्त सभी जैन शास्त्रों को अंगबाह्य हैं। इनकाएक अन्य लक्षण है कि अंगप्रविष्ट आगम तो केवल गणधरों द्वार संगृहीत हैं जबकि अंगबाह्य आगम श्रुतकेवली, पूर्वधर आदि ज्ञानी पुरुषों द्वारा रचित और संगृहीत हैं। इन आगमों का अधिकांश आजकल उपलब्ध नहीं होता है। उदाहरण के लिए श्वेतांबर परंपरा के 84 आगमों का संकेत मिलता है किन्तु इनमें से अधिकांश अभी उपलब्ध नहीं हैं। माना जाता है कि इन ग्रन्थों में आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त समाज, राज्य, शिक्षा, व्यापार जैसे व्यावहारिक विषयों का ज्ञान भी संकलित किया गया था। इनका लोप भारतीय ज्ञान परम्परा का बहुत बड़ा ह्रास माना जाता है।

1.6.3 बौद्ध आगम

बौद्ध आगम ग्रन्थ अपने स्वरूप और प्रकृति में जैन आगमों के ही समान हैं। जिस प्रकार जैन आगम जिनेश्वनों के वचनों का संग्रह हैं, वैसे ही बौद्ध आगम ग्रन्थों में भगवान बुद्ध के उपदेश प्राप्त होते हैं। ये उपदेश कहीं संवादों के रूप में हैं तो कहीं छन्दों और कहानियों के माध्यम से लिखे गए हैं। इस अर्थ में इन्हें बौद्ध धर्म मौलिक और प्रामाणिक ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है। ये ग्रन्थ पाँच निकायों या प्रकारों में विभक्त हैं जिन्हें सम्मिलित रूप से 'सुत्तपिटक' कहा जाता है। बौद्ध धर्म में शामिलएक सम्प्रदाय थेरवाद में इन ग्रन्थों के लिए 'आगम' के स्थान पर 'निकाय; शब्द का उपयोग किया जाता है। इन पाँच आगमों के नाम; दीर्घ आगम, मध्यम आगम, संयुक्त आगम,एकोत्तर आगम और क्षुद्रक आगम हैं।

1.7 आगमों के प्रतिपाद्य

हम परंपरा से सुनते आए हैं कि ईश्वर के स्वरूप को आगम और निगम विस्तार से बताते हैं। इनमें से निगम तो वेद हैं, जिनकी चार संहिताएँ हैं और उनसे संबंधित ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, दर्शन, स्मृतियाँ, वेदांग आदि उपलब्ध होते हैं। लेकिन आगम के विषय में स्थिति उतनी स्पष्ट नहीं है। इसका कारण है कि वे वैदिक मत से भिन्न परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं जो भारतीय साहित्य की मुख्यधारा न होकर गौण परंपरा मानी जाती है। यद्यपि आगम साहित्य भी बहुत प्राचीन, समृद्ध और व्यापक है लेकिन इसे वैदिक वाङ्मय के समकक्ष ख्याति और मान्यता न मिलने के अनेक कारण हैं। इनमें सर्वप्रमुख है इनके स्वरूप और वर्ण्यविषय की भिन्नता। इन ग्रंथों की अनेक श्रेणियाँ पाई जाती हैं, जिनमें वैदिक और वैदिक दोनों प्रकार की परंपराओं के आगम सम्मिलित हैं। वैदिक परंपरा में भी इनके तीन प्रकार उपलब्ध होते हैं जिनके नाम शैव, वैष्णव और शाक्त हैं। इनके अतिरिक्त आगम ग्रन्थ अवैदिक अथवा नास्तिक मानी जाने वाले जैन और बौद्ध संप्रदायों में भी पाए जाते हैं। इन पन्थों में आगम ग्रन्थों का पर्याप्त महत्व है।

आगम ग्रंथों की यह व्यापकता उनके विषयों के सम्बन्ध में भी अनुभव की जा सकती है। कुछ विषयऐसे हैं जो सभी प्रकार के आगमों में समान रूप से पाए जाते हैं जबकि कुछ विषयों की चर्चा विशेष प्रकार के आगम ग्रन्थों में ही पाई जाती है। वैदिक परम्परा के शैव, वैष्णव और शाक्त आगमों में सृष्टि, देवपूजा, क्रियाविधि, मन्त्र साधना, सिद्धान्त चर्चा, वशीकरण, स्वास्थ्य विज्ञान, मारण और उच्चाटन जैसे विषयों की प्रधानता है। जबकि, जैन तथा बौद्ध आगमों में प्रमुख रूप से अरिहन्तों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं के वचनों और उपदेशों का संग्रह पाया जाता है। जैन आगमों में आचार या आचरण की शुद्धता, साधु और श्रमणों के कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, साधना की पद्धतियों, ज्ञान प्राप्ति, भिक्षाटन और शरीरशुद्धि जैसे विषयों की प्रमुखता है। जबकि बौद्ध आगम परम्परा मुख्य रूप से भगवान बुद्ध के वचनों, उपदेशों, जीवन कथाओं और उदाहरणों को सँजोए हुए है। इस प्रकार वैदिक, जैन और बौद्ध आगमों में विषय के आधार पर स्पष्ट भिन्नता अनुभव होती है।

जहाँ तक वैदिक परंपरा के आगम ग्रंथों के विषयों का प्रश्न है तो उनमें इतने प्रकार के और इतने अधिक विषय वर्णित हैं कि उनके स्वरूप की कोई निश्चित रूपरेखा स्पष्ट करना सरल नहीं है। उदाहरण के लिए वैष्णव आगमों के अनुसार भगवान विष्णु ही संसार के सृजनकर्ता, पालक और नियामक हैं, जबकि शैव आगम ग्रंथों में इन्हीं सब भूमिकाओं का दायित्व भगवान शिव पर आरोपित किया जाता है। जहाँ तक शाक्त

संप्रदाय का प्रश्न है तो वहाँ भी दो प्रकार की परंपराएँ उपलब्ध होती हैं। इनमें सेएक में शक्ति काएक रूप अति सौम्य और और सुंदर है तो दूसरा अति रौद्र और भयंकर पाया जाता है। इनमें से प्रथम श्रेणी की देवियों में शारदा, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती आदि हैं तो दूसरी परम्परा में चण्डी, दुर्गा, काली आदि का नाम अग्रगण्य है। इनसे सम्बन्धित आगमों में इन शक्तियों की अनेक प्रकार की पूजा–उपासना की विधियाँ प्राप्त होती हैं जिनमें सात्विक और वामाचार; दोनों शामिल हैं। यही बात वैष्णव और शैव आगमों की विषयसूची पर भी लागू होती है। उनके विषय भी कितने विविध हैं और व्यापक हैं कि वेएक प्रकार से पूरे भारतीय जीवन दर्शन को अभिव्यक्त करते हैं।

आगम ग्रन्थों के वर्ण्य विषयों की जो चर्चा यहाँ विहित है उससे स्पष्ट है कि आज हम अपने समाज में स्तुति, प्रार्थना, पूजा, उपासना आदि की जो भी परंपराएँ पाते हैं वे सब किसी न किसी रूप में आगम ग्रन्थों से प्रेरित है। ये पूजा और साधना की विधियाँ पूरे भारत में प्रचलित सभी देवी–देवताओं के लिए व्यवहार की जाती हैं। उनमें विष्णु, शिव, गणेश, जगन्नाथ, बलभद्र, दुर्गा, काली, लक्ष्मी, कामाख्या, सुभद्रा आदि सभी उपास्य शामिल हैं। इनमें शारीरिक बल, सामर्थ्य, सिद्धियाँ, तर्पण, बलि, अनुष्ठान, वशीकरण का वर्णन भी विस्तार से प्राप्त होता है। कहीं शारीरिक सिद्धियाँ प्राप्त करने पर पूरा बल है, तो कहीं शत्रु विनाश की मारण और उच्चाटन की गतिविधियों का उल्लेख पाया जाता है। कहीं पर आयुर्वेद का प्रभाव दिखाई देता है तो कहीं कुण्डलिनी जागरण और चक्रों के उन्नयन का विधान पाया जाता है। इनमें से कुछ में मानसिक शक्तियों को जागृत करके उनके सदुपयोग का विधान पाया जाता है तो कहीं शरीर की सात धातुओं की पुष्टि के लिए रसायनों और भस्मों के प्रयोग का विधान है। सार रूप में कहा जा सकता है कि आगम ग्रंथों में वैदिक परंपरा से भिन्न ज्ञान–विज्ञान और परंपराएँ हैं। इन ग्रंथों के माध्यम से भारतीय ज्ञान परंपरा के बहुत से अज्ञान और अनछुए पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। साथ ही इस ज्ञान का सदुपयोग करके व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति सुनिश्चित की सकती है।

1.8 सारांश

भारत अनेक प्रकार की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परंपराओं का देश रहा है। यहाँ की धरती मानव जीवन के उन्नत लक्ष्यों को पहचानने और प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के मार्गों का उद्गम स्थल रही है। इस परिप्रेक्ष्य मेंएक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के अनेक मार्गों का प्राप्त होना भारतीय ज्ञान परंपरा की महती विशेषता है। प्रस्तुत अध्याय में हमने भारतीय चिंतन और व्यवहार कीएक विशेष धारा यानि आगम साहित्य के विषय में सामान्य परिचय प्राप्त किया है। इस सन्दर्भ में इन ग्रन्थों के तात्पर्य, परिभाषा, क्षेत्र और विस्तार का वर्णन विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है। इसके अनुसार जहाँएक और वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, उपवेद, वेदांग, सूत्र, स्मृति आदि का विपुल साहित्य मनुष्य के जीवनलक्ष्य और आध्यात्मिक उन्नति का मार्गदर्शक रहा है; वहीं इसकी समानांतर धारा के रूप में आगम साहित्य भीएक सशक्त विकल्प के रूप में उपस्थित दिखाई देता है। यह साहित्य अपने लक्ष्य में वैदिक विचारधारा के समकक्ष होने पर भीएक नए प्रकार की पूजा उपासना और साधना पद्धति के लिए जाना जाता है।

आगम का सामान्य अर्थ है क्रियाओं पर आधारित ज्ञान और साधना की पद्धति। इस प्रकार की ज्ञान परंपरा में माना जाता है कि समय के अनुसार वैदिक मंत्र, साधना,

और अनुष्ठान अपनी उत्कृष्टता और विशिष्ट शैली के कारण जनसामान्य के लिए उपयोगी नहीं रहेंगे।ऐसे समय में सामान्य व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति के वैकल्पिक मार्ग होना बहुत आवश्यक है। आगम के ग्रंथ इस आवश्यकता की पूर्ति के माध्यम हैं। आगम की परंपरा वैदिक अथवा हिंदू विचारधारा के अतिरिक्त उस समय विकसित हो रहे जैन और बौद्ध संप्रदायों में भी स्वीकृत हुई और वहाँ भी अपनी–अपनी शैली के आगम ग्रंथ लिखे गए। वैदिक मत में उपास्य देव के अनुसार तीन प्रकार के आगम उपलब्ध होते हैं। इनमें प्रथम वैष्णव आगम, उनके बाद शैवागम और अंत में शाक्त आगम; ये तीन प्रमुख भेद हैं। इनके अतिरिक्त भी अद्वैत वेदांत की परंपरा में अनेक आगम परंपराएँ उपलब्ध होती हैं। ये परंपराएँ अपने स्वरूप में भिन्न होने पर भी परस्पर निर्भर और संबद्ध हैं। यही इनका आंतरिक बल है और इसी माध्यम से येएक दूसरे को भी संबल प्रदान करते हैं।

जहाँ तक जैन आगमों का प्रश्न है तो वे मुख्यतः जिनेश्वर या जैन परंपरा के अग्रणी पुरुषों की वाणियों या उपदेशों के संग्रह हैं। इन उपदेशों के संग्रहकर्त्ता भी कोई सामान्य व्यक्ति न होकर आप्तपुरुष या गणधर कहे जाते हैं। इन गणधरों ने अरिहंत, तीर्थंकर, उपाध्याय और आचार्य गणों द्वारा दिए गए ज्ञान को संरक्षित करने और जनसामान्य को सुलभ कराने के लिए महान परिश्रम किया है। जैन आगमों के मुख्य रूप से दो विभाग हैं जिन्हें अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य नाम से जाना जाता है। इनमें से अंगप्रविष्ट ग्रंथों की संख्या 12 और अंगबाह्य श्रेणी के 84 आगमों के नाम उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार की आगम परंपरा बौद्ध मत में भी प्राप्त होती है, जो भगवान बुद्ध के उपदेशों, उनके जीवन पर आधारित कथाओं और उदाहरणों के संग्रह हैं। इन ग्रंथों को सुत्तपिटक के नाम से भी जाना जाता है। इन्हें पाँच प्रकारों में विभक्त किया जाता है, जिनके नाम दीर्घ, मध्यम, संयुक्त,एकोत्तर और क्षुद्रक आगम के नाम से जाना जाता है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि आगम ग्रंथों की परंपरा भारतीय ज्ञान प्रणाली का महत्वपूर्ण अंग है। इनसे ज्ञान, उपासना और साधना कीएक समानांतर धारा का परिचय प्राप्त होता है, जो वैदिक साहित्य के समकक्ष होते हुए भी जैन और बौद्ध धर्म में भी समान रूप से प्रचलित रही है। यह व्यापक स्वीकृति ही इन ग्रंथों की सबसे बड़ी विशेषता है।

1.9 पारिभाषिक शब्दावली

आगम – भारतीय साहित्य में वैदिक ग्रन्थों की समान्तर परम्परा, जिसमें ज्ञान, साधना और उपासना के नए, सहज और सरल उपाय बताए गए। वेदों में जिस ज्ञान, कर्म और उपासना का परिचय है; आगम ग्रन्थों में उन्हें प्राप्त करने के उपायों का वर्णन पाया जाता है।

वैदिक आगम – वेदों में जिन देवताओं की स्तुति की गई है उनसे अलग देवों को सृष्टि का उत्पादक, पालनकर्त्ता और नियामक मानने वाले ग्रन्थ। इन ग्रन्थों में भगवान विष्णु, शिव और शक्तिस्वरूपा देवियों को उपास्य माना गया है। इन ग्रन्थों की तीन श्रेणियाँ हैं जिनके नाम वैष्णव, शैव और शाक्त आगम हैं।

वैष्णम आगम – भगवान विष्णु को ही सर्वस्व और सबसे बड़ी सत्ता के रूप में स्वीकार करने वाले आगम ग्रन्थों को वैष्णव आगम के नाम से जाना जाता है। इनके चार मुख्य प्रकार वैखानस, पंचरात्र, प्रतिष्ठासार और विज्ञानललित हैं।

शैव आगम – शैव आगम भगवान शिव द्वारा देवी पार्वती को प्रदत्त रहस्यों पर केन्द्रित हैं। इनमें मुख्य रूप से तान्त्रिक सिद्धान्तों, वशीकरण के मोहिनी मन्त्रों, शारीरिक सामर्थ्य को बढ़ाने वाले अगम सिद्धान्तों और शत्रुविनाश के मारण, उच्चाटन आदि मन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। शैव आगमों को ईसानम्, तत्पुरुषम्, अघोरम्, वामदेवम् और सत्योजाथम् में विभाजित किया जाता है।

शाक्त आगम – सृष्टि की आदिशक्ति को वेदों में प्रकृति अथवा पराशक्ति के रूप में स्वीकारा जाता है। इसके मानवीकरण द्वारा अनेक रूप प्रकाशित होते हैं जिनमें शारदा, लक्ष्मी और सरस्वती जैसे पालिका और मोहिनी देवियों के साथ चण्डी, काली और दुर्गा जैसे दुष्टों का दमन करने वाली शक्तियाँ भी शामिल हैं। इन दोनों प्रकार की देवियों की स्तुति और प्रार्थना आवश्यक है, ताकि मनुष्य अपने जीवन में बाधाओं को पार करते हुए लक्ष्य को प्राप्त कर सके। शाक्त आगमों में इन देवियों को प्रसन्न और सन्तुष्ट करने की अनेक विधियाँ उपलब्ध होती हैं।

जैन आगम – जैन सम्प्रदाय को प्राचीनता के विषय में तो वैदिक परम्परा के समान्तर माना जाता ही है साहित्य और परम्पराओं पर भी ये दोनों मत अनेक प्रकार से समकक्ष हैं। यही बात आगमों के विषय में भी सटीक है। जैन आगमों में अरिहन्त अथवा तीर्थंकरों की वाणियों को विद्वान गणधरों द्वारा संग्रहीत किया गया है। ये ग्रन्थ अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रेणियों में विभक्त किए गए हैं।

बौद्ध आगम – बौद्ध मत में भगवान बुद्ध का स्थान सर्वोपरि है। उनके उपदेश और विचार सभी बौद्ध मतावलम्बियों के लिए ईश्वरीय सन्देश हैं। इस धारणा के अनुसार भगवान बुद्ध के जीवनचरित, उपदेशों और सिद्धान्तों को त्रिपिटकों में सग्रहीत किया गया है। इनमें से उनके उपदेशों के संग्रह यानि सुत्तपिटक को बौद्ध आगम के नाम से जाना जाता है।

अंग–प्रविष्ट आगम – जैन आगमों कीएक श्रेणी जिनमें जैन तीर्थंकरों, विशेष रूप से भगवान महावीर के उपदेशों का संग्रह उपलब्ध होता है।

अंगबाह्य आगम – जैन सम्प्रदाय चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य सम्माननीय पुरुषों जैसे उपाध्याय, आचार्य और साधुओं के उपदेशों और व्याख्याओं के संग्रह अंगबाह्य आगम के नाम से जाने जाते हैं।

1.10 सन्दर्भग्रन्थ–सूची

- आनंद कौसल्यायन भदंत, आगम शास्त्र; बुद्धोत्तर वेदांत, राष्ट्र भाषा प्रेस, वर्धा, महाराष्ट्र, 1965
- द्विवेदी पंडित बृजवल्लभ, आगम और तंत्र शास्त्र : दार्शनिकएवं सांस्कृतिक विवेचन, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1984.
- गिरधरवाल सुमित, योगेश्वरानंद, आगम रहस्य तंत्रोक्त साधनाएँ, आस्था प्रकाशन मंदिर, बागपत उत्तरप्रदेश, 2003.

1.11 बोध–प्रश्न

प्रस्तुत इकाई में आपने वैदिक अथवा हिन्दू परम्परा और जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों के आगम ग्रन्थों के विषय में सामान्य परिचय प्राप्त किया है। प्रस्तुत विवरण के आधार पर

कुछ प्रश्न आपके अधिगम के आकलन हेतु प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इनके उत्तर लघुएवं विस्तृत रूप में लिखे जा सकते हैं –

1.11.1 लघूत्तर प्रश्न

- आगम शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
- आगम की परिभाषा और विषय स्पष्ट कीजिए।
- आगमों और वैदिक ग्रन्थों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
- वैदिक परम्परा के आगमग्रन्थों के नाम और प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
- जैन परम्परा में आगमों से क्या तात्पर्य है? ये वैदिक आगमों से किस प्रकार भिन्न हैं?
- बौद्ध आगमों का सामान्य परिचय दीजिए।

1.11.2 विस्तृत–उत्तर प्रश्न

- वैष्णम आगमों की प्रकृति और प्रकारों का सामान्य परिचय दीजिए।
- ''शैव आगमों का भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में विशेष स्थान है।'' सटीक उदाहरणों द्वार इस कथन का समर्थन कीजिए।
- ''जैन आगम अपने स्वरूप और प्रकृति में वैदिक आगमों से भिन्न हैं। इस कथन की व्याख्या कीजिए।
- बौद्ध और वैदिक आगमों की तुलना कीजिए।

इकाई 2 आगमों का वैशिष्ट्य

इकाई की संरचना

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन समाप्त कर लेने पर आप –

- आगम साहित्य की सामान्य प्रकृति का वर्णन करेंगे।
- वैदिक आगमों के विभागों की विशेषताओं की सूची बनाएँगे।
- शैव, वैष्णव और शाक्त आगमों की परस्पर तुलना करेंगे।
- जैन और बौद्ध आगम ग्रन्थों के स्वरूप पर टिप्पणी करेंगे।
- आगम ग्रन्थों की व्यापकता और विस्तार का वर्णन करेंगे।
- आगम साहित्य और इनमें वर्णित साधनों की सामयिकता स्थापित करेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारत में ज्ञान, विज्ञान और साहित्य की परंपरा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रही है इस परंपरा के अंतर्गतएक ओर वैदिक साहित्य है; जिसमें वेद और उन पर आधारित

ग्रंथों कीएक लंबी श्रृंखला है, जिनमें कर्मकांड को समर्पित ब्राह्मण ग्रंथ, चिंतन और अध्यात्म को समर्पित आरण्यक और दर्शन तथा जीवनदृष्टि को परिष्कृत करने वाले, जगत, परमात्मा, मोक्ष आदि विषयों पर चिंतन को प्रस्तुत करने वाले उपनिषद ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इसी श्रृंखला में वेद की उपयोगिता को सामने लाने वाले उपवेद, वेदों के पाठ, अर्थबोध और उपयोग को सहज बनाने वाले वेदांग, वैदिक विचारधारा को जीवन व्यवहारों में संभव बनाने वाले स्मृति ग्रंथ और भारतीय दार्शनिक विविधता को प्रस्तुत करने वाले नास्तिक और आस्तिक दर्शनशास्त्र प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथों के अर्थ और भाव को प्रस्तुत करने वाले बहुत से भाष्य और व्याख्या ग्रन्थ भी आर्ष साहित्य की परंपरा में सम्मिलित हैं।

किन्तु भारत जैसे ज्ञान के भण्डार में वैदिक ज्ञान–विज्ञान हीएकमात्र ज्ञानधारा नहीं रही है। इस धारा के समानांतर ही ज्ञान, उपासना और साधना कीएक और परंपरा भी भारतीय साहित्य में प्रचलित रही है जिसे आगम शास्त्र अथवा तंत्रविज्ञान के नाम से जाना जाता है। आगम ग्रन्थों की परंपरा भारतीय मूल से उत्पन्न होने पर भी वैदिक परंपरा की समान प्रसिद्ध नहीं रही। इसका सबसे उल्लेखनीय कारण इन ग्रंथों की विविधता है। यह विविधता कहीं–कहीं इतनी अधिक व्यापक हो जाती है कि इस परंपरा के सभी ग्रंथों कोएकरूप मानना भी कठिन हो जाता है। इसकाएक अन्य कारण यह है कि वैदिक परंपरा के अंतर्गत जो वैष्णव परंपरा है, वह इतनी अधिक विष्णु–केंद्रित है कि उसके समानांतर किसी अन्य विचारधारा का होना असंभव प्रतीत होता है। यहाँ तक तो इस विषय में कोई विचित्रता नहीं है, लेकिन जब इसी प्रकार की बात शैव संप्रदाय में भी पाई जाती है और फिर शाक्त संप्रदाय भी इन्हीं आधारों पर स्थापित दिखाई देता है तो उन सबमें से कौन यथार्थ और मान्य है? यह जानना कठिन हो जाता है। यह विविधताएक ओर तो व्यक्ति को आध्यात्मिक विकल्प उपलब्ध कराती है तो साथ ही अनेक आशंकाएँ भी उपजाती है। सामान्य व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि किस ज्ञान को सही माने या किस साधना का आश्रय ले; क्योंकि सभी अपने–अपने आराध्य और उपासना पद्धति कोएक दूसरे से श्रेष्ठतर सिद्ध करते हैं।

सामान्य रूप से विविध और अनेकरूपी होने पर भी आगम ग्रंथों में कुछ विशेषताएँ भी समान रूप से पाई जाती हैं। उनमें से प्रथम है कि यह सभी ग्रंथ ज्ञान और विज्ञान से युक्त हैं। इनमें मनुष्य जीवन के लक्ष्य, उद्देश्यों और उन्हें प्राप्त करने के साधनों का व्यापक वर्णन उपलब्ध होता है। इन ग्रंथों की दूसरी विशेषता शारीरिक क्षमता की वृद्धि और सिद्धियों की प्राप्ति तथा सदुपयोग के विषय में है। इन ग्रंथों में मनुष्य की सोई हुई शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों को जागृत करने और जीवनचर्या तथा अध्यात्म के लिए उनके सर्वश्रेष्ठ संभव प्रयोग को सुनिश्चित करने की बहुत सी पद्धतियाँ संकलित हैं। इन ग्रंथों की तीसरी विशेषता आराध्य देवी या देवताओं की स्तुति, उनके शक्ति व सामर्थ्य का वर्णन, उन्हें प्रसन्न करने के उपायों की व्याख्या और नियमित पूजा–पाठ से संबंधित विधानों की व्यवस्था है। ये ग्रंथ व्यक्तिगत के साथ–साथ सामाजिक स्तर पर भी व्यक्तियों कोएक दूसरे के साथ जोड़ने में महान भूमिका निभाते हैं। इन सभी में व्यक्तिगत पूजा–पाठ और स्वाध्याय के साथ ही सामूहिक साधना, व्रत, तीर्थ, उत्सव आदि के विषय में भी व्यापक वर्णन उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से ये ग्रंथ व्यक्ति के साथ समाज के लिए भी बहुत उपयोगी हैं। प्रस्तुत इकाई में आगम ग्रंथों के विशेष गुणों और उपयोगों की चर्चा के साथ वर्तमान समय में उनकी उपयोगिता को जानने का भी प्रयास किया गया है।

2.2 आगम साहित्य का वैशिष्ट्य

आगम साहित्य की परंपरा संपूर्ण विश्व को भारत कीएक अनूठी देन है। यह वैदिक साहित्य के समान ही बहुत विशाल और व्यापक है। यद्यपि इसका महत्व वैदिक साहित्य के समकक्ष नहीं आंका जाता; लेकिन इसका कारण इस परंपरा की कोई कमी या त्रुटि नहीं है; बल्कि इनके प्रति जनसामान्य की अनभिज्ञता है। इस साहित्य के विषय में सामान्य व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार के संशय, संदेह और जिज्ञासाएँ सदा से रही हैं क्योंकि इसे ज्ञान–विज्ञान और साधना से अधिक तन्त्र, मन्त्र और वामाचार से जोड़कर देखा जाता है। इस इकाई के माध्यम से इन भ्रान्तियों के निराकरण के लिए कुछ स्पष्टीकरण तो अवश्य ही उपलब्ध होगा।

आगम साहित्य अनेक दृष्टियों से विशेष है। इसमें वैदिक मत का आश्रय लेकर साधना की नई–नई विधियों का आविष्कार किया गया और उन्हें शिक्षण और प्रशिक्षण के माध्यम से सदियों तक भारत के कोने–कोने में पहुँचाया जाता रहा। यही कारण है कि भारत के विभिन्न भागों में आगमशास्त्र अनेक रूपों में उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थों में दिए गए वर्णन और उनमें बताई गई पूजा पद्धतियाँ, यौगिक क्रियाएँ, साधना की विधियाँ और तन्त्र–मन्त्र भारतभर में व्यवहार किए जाते हैं। यद्यपि इनका व्यवहार करने वाले सभी साधक इस बात से परिचित नहीं हैं कि ये अनुष्ठान और साधनाएँ आगम परम्परा की देन हैं। आगम परम्परा के ग्रन्थों की लोकप्रियता का अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि भारतीय आगमों की परम्परा के अनेक शास्त्र चीन, तिब्बत, लाओस, विएतनाम आदि समीपवर्ती देशों में भी अद्भुत हुए; लेकिन उनका स्वरूप मुख्य रूप से भारतीय ही है।

आगम परम्परा कीएक अन्य विशेषता इसकी व्यापक स्वीकार्यता है। वैदिक मत भारत के लगभग सभी भागों में समान रूप से पाया जाता है। उसकाएक निश्चित स्वरूप और प्रकृति है, जिसके माध्यम से उसे सहज ही समझा जा सकता है। लेकिन आगम शास्त्रों के साथऐसा नहीं है। आगम अपनी प्रकृति मेंएकरूप होने पर भी अनेक रूपों, शैलियों, आराध्यों और उपासनाविधियों तथा परम्पराओं को सँजोए हुए दिखाई देते हैं। इस विविधता की पराकाष्ठा इस बात से समझी जा सकती है कि वैदिक परम्परा में जैन, बौद्ध आदि जिन मतों, पन्थों या सम्प्रदायों नास्तिक कहकर अस्वीकृत किया जाता है; उनमें भी आगम परम्परा पूरी तरह स्वीकार्य है।

आगम साहित्य अपनी ज्ञान–विज्ञान सम्बन्धी व्यापकता के साथ ही आचरण और साधना के विकल्पों की दृष्टि से भी बहुत समृद्ध है। इसमें वैष्णव, शैव और शाक्त ग्रन्थों की पूर्ण विकसित परंपराएँ तो हैं ही; साथ ही इनकी उप–परंपराएँ, शाखाएँ और उपशाखाएँ भी उपस्थित हैं। वैदिक परम्परा से बाहर भी जैन संप्रदाय में अनेक प्रकार के आगम उपलब्ध होते हैं और यही बात बौद्ध आगमों के विषय में भी सत्य है। भारतीय ज्ञान, दर्शन और साधना परंपरा की इतनी व्यापक स्वीकृति अन्य किसी रूप में दिखाई नहीं देती। यह व्यापकता भी वैदिक आगम ग्रंथों की अद्वितीयता को प्रमाणित करती है। यहाँएक और बात जानने योग्य है कि आगम ग्रंथों में जिन साधना परंपराओं का उपदेश प्राप्त होता है वे भी वैष्णव, शैव, शाक्त आदि मतों के अनुसार बहुत गहन और विविध स्वरूप वाली हैं। इतनी विविधता और गहनता विश्व के किसी अन्य साहित्य में उपलब्ध होना असंभव है।

आगम ग्रंथों के रचनाकाल के विषय में अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं।ऐसा होना स्वाभाविक ही है क्योंकि इनके विषय वैदिक से लेकर पौराणिक ग्रंथों से लिए गए हैं।

जहाँ तक वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों से स्वीकार किए गए प्रतीकों और उपासना के साधनों का प्रश्न है, तो इनमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, सोम, रुद्र, अश्विनौ जैसे वैदिक देव उपास्य के रूप में स्वीकार किया गया है। वैदिक साधना पद्धतियों में से मन्त्रजाप, योगसाधना, यज्ञ, ध्यान और समाधि को आगम साहित्य में मान्यता प्राप्त हुई है। इन उपास्यों और उपासनाविधियों का आश्रय लेने वाले आगमों की रचना उत्तरवैदिक काल में स्वीकार की जाती है। इसी के साथ जिन आगमों में पुराण परम्परा के देवी–देवताओं और पूजा पद्धतियों की अधिकता है, उनका रचनाकाल छठी शताब्दी से आरंभ माना जाता है। इस प्रकार रचना परंपरा के विषय में भी आगम ग्रंथ अन्य साहित्य परम्पराओं की तुलना में बहुत व्यापक हैं। इतना सुदीर्घ रचनाकाल होने पर भी इनके स्वरूप में जोएकरूपता पाई जाती है, वह आगम परंपरा के सुदृढ़ आधार को प्रमाणित करती है। आगम ग्रन्थ धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में वैदिक यज्ञानुष्ठानों और कर्मकांड की व्यवस्था से आगे बढ़कर अंतःसाधना के क्षेत्र में भी अपनी गहन भूमिका से पहचाने जाते हैं। आगमों में वर्णित साधना परंपराएँ वैदिक यज्ञों के समकक्ष होकर भी उनसे भिन्न और कहीं–कहीं विपरीत भी पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए आगम ग्रंथ वैदिक साहित्य में वर्णित मन्त्रसाधना, यज्ञानुष्ठान, योगाचरण, ध्यान आदि को तो स्वीकार करते ही हैं लेकिन साथ ही हठयोग, बलिदान और वामाचार जैसी परम्पराओं के लिए भी जानी जाती है।

अंततः आगम ग्रंथों कीएक अन्य विशेषता पर ध्यान देना अनिवार्य हो जाता है कि इनमें वर्णित साधनाएँ और उपासना पद्धतियाँ अपनी प्रकृति में वैदिक अनुष्ठानों की अपेक्षा कहीं अधिक लोकतांत्रिक और समानतावादी हैं। आगमों में जिन पूजा, जप, तप, तीर्थ आदि उपासना पद्धतियों का उल्लेख किया गया है, वे सभी वर्णों और जातियों के साधकों के लिए समान रूप से उपलब्ध हैं। यहाँ तक कि उनके अनुष्ठान के लिए स्त्री, पुरुष, वर्ण, उपवर्ण जैसे किसी भी प्रकार का विभेद किया जाता है। इस विषय में आगम ग्रंथ बहुत उदार और सहानुभूतिपूर्ण शास्त्र कहे जा सकते हैं। इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त विभिन्न संप्रदायों के आगम ग्रंथों की भी अपनी–अपनी विशेषताएँ हैं, जिन का परिचय प्रत्येक आगम परंपरा के अनुसार इस इकाई के अंतर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है।

2.3 वैष्णव आगमों का वैशिष्ट्य

इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म, दर्शन, अध्यात्म, उपासनाएवं साधना परंपरा का मूल आधारएवं आदि स्रोत वैदिक साहित्य हैं। यह साहित्य बहुत विशाल होने के साथ विषयवस्तु, रचनाकाल, पठन–पाठन और प्रभाव की दृष्टि से बहुत व्यापक रहा है। इस परम्परा से प्रेरित और पोषित हुआ आगम साहित्य वैदिक संहिताओं से सम्बद्ध होने पर भी उससे भिन्न और विविधतापूर्ण है। इनमें ज्ञान को मोक्ष काएकमात्र साधन स्वीकार नहीं किया गया है अपितु उसके साथ क्रिया के समन्वय पर बल दिया गया है। उदाहरण के लिए वेद में अन्य देवों के साथ विष्णु की स्तुति भी उपलब्ध होती है, जिसे 'विश् लृ व्यापने' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण सर्वव्यापक परमात्मा के रूप में स्वीकार किया किया गया है। वैदिक यज्ञों में विष्णु के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए (विष्णवे नमः) आहुतियों का भी विधान है (विष्णवे स्वाहा)। जब इन्हीं विष्णु की चर्चा आगमों में होती है; तो वे न केवल निराकार से साकार रूप धारण कर लेते हैं, उनका मानवीकरण हो जाता है, उनके अनेक अवतार प्रकट हो जाते हैं और वे सृष्टि के उत्पादक, पालनकर्त्ता और नियामक बन जाते हैं। इन रूप में वे अनादिकाल से आज तक विभिन्न रूपों में व्यापक दिखाई देने लगते हैं। हम चाहे

रामोपासक हों या कृष्णोपासक; दोनों स्थितियों में भगवान विष्णु की जी पूजा होती है। आगम ग्रन्थों से आरम्भ हुई इसी परम्परा के द्वारा वैदिकएकेश्वरवाद बहुदेवतावाद के रूप में परिणत हो जाता है और उसमें वैखानस, पंचरात्र, प्रतिष्ठासार, विज्ञानललित आदि अनेक उपभेद प्राप्त होते हैं।

वैष्णव आगमों की परंपरा में भगवान विष्णु को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया जाता है। इन आगमों में से पंचरात्र सर्वप्रमुख हैं। मान्यता के अनुसार स्वयं भगवान विष्णु द्वारा प्रकट किए गए ये ग्रन्थ सात उपविभागों में विभक्त हैं। इनके नाम हैं; ब्राह्म, शैव, कौमार, वशिष्ठ, कपिला, गौतमीय और नारदीय। वैष्णव आगमों के अनुसार भगवान विष्णु ब्रह्मांड के सर्वोच्च देव हैं और उनकी भक्ति ही संसार–चक्र से पार होने काएकमात्र उपाय है। वैष्णव परंपरा के आगम ग्रंथों की कुल संख्या 215 बताई जाती है, जिनमें से ईश्वर, अर्हिबुधन्य, पौष्कर, परम, सत्त्व, बृहद, ब्रह्म और ज्ञानामृतसार संहिता प्रमुख हैं।

2.3.1 पंचरात्र

पंचरात्र आगम वैष्णव परंपरा के सर्वप्रमुख शास्त्रों में अग्रगण्य हैं। पंचरात्र नाम अपने आप में अनेक प्रकार से सार्थक होता है। इस शब्द काएक तात्पर्य है कि जो ज्ञान भगवान विष्णु ने अपने पाँच शिष्यों को पाँच रात्रियों में प्रदान किया, उन्हें पंचरात्र के नाम से जाना जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यहाँ 'पंच' शब्द का अर्थ तो पाँच ही है, लेकिन 'रात्र' शब्द का भाव ज्ञान, बुद्धि या संस्कार है। इन अर्थों में पंचरात्र आगम पाँच प्रकार का ज्ञान उपलब्ध कराने वाले ग्रन्थ हैं। ये क्षेत्र और इनका सामान्य परिचय इस प्रकार है –

तत्व – ब्रह्मांड विज्ञान,

मुक्तिप्रदा – मोक्ष प्राप्ति के उपायों का ज्ञान,

भक्तिप्रदा – ईश्वर की भक्ति के साधनों और उपायों का ज्ञान

यौगिक – शरीर की शक्तियों के जागरण के लिए योग के उपायों का ज्ञान और

वैशयिका – संसार में उपभोग की विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान।

एक अन्य विश्लेषण के अनुसार ये आगम ईश्वर के पाँच गुणों की व्याख्या करते हैं जिनके नाम हैं; पार (परब्रह्म स्वरूप), व्यूह (सर्वव्यापक), विभाव (अवतार ग्रहण करने वाले) अंतर्यामी (सभी पदार्थों और प्राणियों में विराजमान) और अर्क (पूजनीय) का ज्ञान कराते हैं। इन पाँच गुणों का ज्ञान कराने के कारण भी इस ज्ञान परंपरा का नाम पंचरात्र है। इस प्रकार पंचरात्र शब्द अनेक प्रकार से सार्थक और अपनी ज्ञान–परंपरा का परिचय देने वाला है।

पंचरात्र परम्परा के आगम ग्रंथों की संख्या दो सौ से भी अधिक कही जाती है। यद्यपि उनमें से सभी आज उपलब्ध नहीं होते, लेकिन उनके नामों का उल्लेख अन्य कृतियों में उद्धरण के रूप में प्राप्त होता है। आज इस परंपरा के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें अहिर्बुध्न्य संहिता, अनिरुद्ध संहिता, हयशिरस संहिता, ईश्वर संहिता, जयाख्य संहिता, कश्यप संहिता, महासनत्कुमार संहिता, पद्म संहिता, परम संहिता, परमेश्वर संहिता, पराशर संहिता, पौस्कर संहिता, सुदर्शन संहिता, विहगेन्द्र संहिता, विष्णु संहिता और विष्णुतत्व संहिता के नाम प्रमुख हैं। इन आगमों में मुख्य रूप से भगवान विष्णु की स्तुतियों, अनुष्ठानों, प्रायश्चित, मूर्ति–निर्माण, मूर्ति पूजा, ध्यान, योगाभ्यास, मंत्र–साधना,

विष्णु–उपासना, अनेक प्रकार के होम, मंत्रोच्चार, प्राणायाम, समाधि, वैष्णव चिन्हों, शुद्धिकरण प्रक्रिया आदि का वर्णन उपलब्ध होता है।

2.3.2 वैखानस

वैखानस का शाब्दिक अर्थ है, ऋषि विखानस द्वारा प्रतिपादित या उनकी विचारधारा से संबंधित। इसका अर्थ ऋषि विखानस द्वारा लिखे गए ग्रंथों से भी लिया जाता है। यह वैष्णव आगमों के प्रमुख संप्रदायों में सेएक है। आगम परंपरा में ऋषि विखानस को विष्णु का अवतार माना जाता है। उन्होंने अपने आगम के माध्यम से वैखानस संप्रदाय को न केवल नई पहचान दी, अपितु लोकप्रिय भी बनाया। उन्होंने ऋषि अत्रि, भृगु, मैरिसी और कश्यप को अपने संप्रदाय की दीक्षा प्रदान की, जिन्होंने वैखानस सम्प्रदाय से सम्बद्ध आगम ग्रन्थों की रचना की। इन आगमों का सामान्य परिचय इस प्रकार है–

- अत्रि ऋषि द्वारा रचित आगम में अट्ठासी हज़ार श्लोक हैं और यह आत्रेय तन्त्र, पूर्वतन्त्र और उत्तरतन्त्र में विभाजित है। इस ग्रन्थ में भगवान विष्णु के स्वरूप, छवि–पूजन, विविध अनुष्ठानों और वास्तु सम्बन्धी वर्णन उपलब्ध होते हैं।

- चौंसठ हज़ार श्लोकों वाले भृगु आगम में तेरह खण्ड हैं जिनके नाम अर्चाधिकार, चित्राधिकार, खिलाधिकार, खिलतन्त्र, क्रियाधिकार, मानाधिकार, निरुक्ताधिकार, प्रकीर्णाधिकार, प्रतिगृह्याधिकार, पुरातन्त्र, वरुणाधिकार, वासाधिकार और यज्ञाधिकार हैं। इस ग्रन्थ में वैखानस शाखा के सभी महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों का सामान्य परिचय दिया गया है, साथ ही पूजा, यज्ञ, सकाम–उपासना जैसे अनुष्ठानों की विधियों की व्याख्या भी उपलब्ध होती है।

- ऋषि कश्यप ने चौंसठ हज़ार श्लोकों में ज्ञान, सत्य और तर्ककाण्डों के माध्यम से वैखानस सम्प्रदाय की विशेषताओं का वर्णन किया है। इसके अध्ययन से वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्धान्तों, पूजाविधियों और तार्किक आधारों का विवेचन किया है।

- वैखानस सम्प्रदाय के आगमों में मैरिसीकृत ग्रन्थ सबसे विशाल है। इसके आठ खण्डों में कुल मिलाकरएक लाख चौरासी हज़ार श्लोक हैं। यह ग्रन्थ आठ भागों में विभक्त है जिनके नाम आनंदसंहिता, जयसंहिता, ज्ञान संहिता, सद्ज्ञान संहिता, विजय संहिता, विमल संहिता और ऋषि संहिता हैं। इतने विशाल ग्रन्थ में इस सम्प्रदाय के समस्त दार्शनिक और व्यावहारिक पक्षों का उल्लेख पाया जाता है।

2.4 शैव आगमों का वैशिष्ट्य

शैव आगम भगवान शिव और उनकी परम्परा द्वारा प्रदान किए गए उपदेश, ज्ञान और साधना की विधियों को प्रस्तुत करता है। यह सम्प्रदाय विषयवस्तु, उपासना विधियों और व्यापकता के सन्दर्भों में अन्य सभी सम्प्रदायों से अधिक प्रसिद्ध है। इस परम्परा के अनुसार यह ज्ञान भगवान शिव से देवी पार्वती, पार्वती से नंदीजी, नन्दी से ब्रह्माजी, ब्रह्मा से सप्तर्षि, सप्तर्षियों से मनुष्यों को प्राप्त हुआ। शैव आगमों के चार उपप्रकार प्राप्त होते हैं, जिनके नाम कापाल, कालमुख, पाशुपत और शैव हैं। इन चारों प्रकारों के आगमों की कुल संख्या 28 है। शैव आगमों की उत्पत्ति से संबंधितएक धारणा के अनुसार यह ग्रंथ साक्षात् भगवान शिव द्वारा अपने श्री मुख से प्रस्तुत किए गए हैं। शिवजी द्वारा पाँच दिशाओं में अभिमुख होकर कहे गए इस ज्ञान को उनकी अर्धांगिनी

पार्वती ने माध्यम से ग्रहण किया। भगवाव शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर और तत्पुरुष मुखों से पांच–पाँच –पाँच तथा ईशान मुख से आठ आगमों की उत्पत्ति हुई।

इन आगमों की उत्पत्ति के विषय में किरणागम में बताया गया है कि जैसे वेदों की उत्पत्ति निराकार परमात्मा के माध्यम से हुई, उसी प्रकार शैव आगमों का उद्भव भी भगवान शिव के माध्यम से हुआ। वेदों का ज्ञान सबसे पहले अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक चार तपस्वी ऋषियों को हुआ। इसी प्रकार शैव आगमों का ज्ञान सबसे पहले दस शैवों (शिव के मानस स्वरूपों) को प्राप्त हुआ। जिस प्रकार वेदों की संख्या चार होने पर भी उनकी ज्ञानधाराएक ही है, उसी प्रकार अट्ठाइस आगमों में शैव विचारधारा का ही विस्तार है। शैव सिद्धान्तों का वर्णन इन आगमों के साथ हीएक सौ पचास उपागमों में भी उपलब्ध होता है।

शैवागम अपने ज्ञान और दर्शन के साथ–साथ संरचना के विषय में भी बहुत व्यापक और व्यवस्थित हैं। भगवान शिव प्रमुख रूप से तीन रूपों; शंकर, रुद्र और भैरव के माध्यम से ज्ञान प्रस्तुत करते हैं, इसलिए जिन ग्रंथों में यह ज्ञान प्राप्त होता है, उन्हें भी जय आगम, रुद्र आगम और भैरव आगम के नाम से जाना जाता है। इनमें से प्रत्येक में चार चरण अनिवार्य रूप से पाए जाते हैं, जिनके नाम और सामान्य परिचय यहाँ दिया जा रहा है –

चर्यापाद – चर्यापाद में शैव सम्प्रदाय के साधकों द्वारा किए जाने योग्य और न किए जाने वाले अर्थात् करणीय और अकरणीय आचरणों का उल्लेख मिलता है। इनमें नित्यकर्म, उपासनाकर्म और साधनाकर्म प्रमुख हैं। नित्यकर्म सन्ध्या, अग्निहोत्र, स्नान, भोजनादि क्रियाओं को कहा जाता है जिन्हें करने का तो कोई विशेष लाभ नहीं होता, लेकिन न करने से हानि होती है। उपासना द्वारा शरीर और मन का शोधन और सुदृढीकरण होता है। जबकि साधना से मनुष्य जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

क्रियापाद – शैव सम्प्रदाय की विशेष सिद्धियों की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले विशेष अनुष्ठानों का आचरण क्रियापाद के अन्तर्गत आता हैं। इनमें कर्मकांड, अलौकिक साधना, वशीकरण, उच्चाटन आदि साधनाओं का वर्णन है।

योगपाद – तीसरे भाग योग पाद में हठयोग के विभिन्न रूपों जैसे प्राण साधना, भाव साधना, योग मुद्रा, चक्र, कुण्डलिनी, समाधि जैसे विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है।

ज्ञानपाद – इन ग्रंथों के चौथे और अंतिम चरण में शैव दर्शन के सिद्धांत पक्ष का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें अनेक प्रकार की सिद्धियों उन्हें प्राप्त करने के उपायों और लाभों का वर्णन सम्मिलित है। इस खंड में व्यक्ति के शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास पर ध्यान दिया गया है। इस प्रकार शैव आगम व्यक्ति, समाज और अध्यात्म इन तीनों पक्षों के बीच न केवल समन्वय स्थापित करने; अपितु उच्चतम स्थान प्राप्त करने के लिए भी मार्गदर्शन प्राप्त उपलब्ध कराते हैं। इन आगमों के अन्तर्गत अनेक उपविभाग भी प्राप्त होते हैं, जिनमें से प्रमुख का परिचय यहाँ प्रस्तुत है–

2.4.1 शैव

शैव आगम परम्परा के ग्रन्थ दो उपभागों, दक्षिण और वामसिद्धान्त के रूप में प्राप्त होते हैं। इनमें से दक्षिण शैवागमों को फिर से भैरव और अघोरा के रूप में और वाम

शैवागमों को अनादि, पूर्व तथा पश्चिमागम इन तीन उपभागों में विभक्त किया गया है। ये उपभेद भी महाव्रत, कालमुख, कपाल, पाशुपत, शिवभेद, रुद्रभेद आदि में विभाजित हैं। इन भेदों और उपभेदों के विभाजन से स्पष्ट है कि शैव आगमों में ज्ञान और साधना का विस्तार बहुत अधिक है और ये ग्रन्थ अपनी साधना पद्धतियों को सभी उपासकों के लिए अधिक से अधिक सरल तथा सहज बनाने के लिए प्रयासशील रहा है।

2.4.2 पाशुपत

पाशुपत आगम शैव दर्शन परम्परा की चार प्रमुख शाखाओं में सेएक है, जो भगवान शिव की सर्वोच्चता को स्थापित करता है। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य होने पर भी कोई व्यक्ति जब तक इन ग्रंथों में वर्णित साधना के माध्यम से अपने शिव स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं करता तब तक वह पशु ही रहता है और इन पशु रूप मनुष्यों को जो शिवतत्व की प्राप्ति कराने वाले भगवान हैं उनका नाम पशुपति है। इस प्रकार पाशुपत अगमों में भगवान शिव को ज्ञान और साधना का सर्वप्रथम स्रोत माना गया है पाशुपत ग्रंथों का प्रसार मुख्य रूप से गुजरात, महाराष्ट्र और भारत से बाहर जावा, सुमात्रा, कंबोडिया आदि देशों में भी पाया जाता है। पाशुपत दर्शन में इंद्रिय भोगों में लिप्त रहने वाले मनुष्यों को पशु माना गया है। उसे सांसारिक बंधनों में बांधने वाले विषयों को पाश या बंधन कहा गया है। इन पाशों अथवा बंधनों से मुक्त कराने की शक्ति भगवान शिव में ही है। इसके लिए योग, ध्यान, जप और साधना का मार्ग पाशुपत आगमों में बताया गया है।

2.5 शाक्त आगमों का वैशिष्ट्य

शाक्त आगम ग्रन्थ सम्पूर्ण आगम परंपरा में सर्वाधिक अद्भुत और रहस्यमय हैं। इस परम्परा के ग्रन्थों में विधान है कि ब्रह्मांड की उत्पत्ति से पूर्व उसकी मातृशक्ति के रूप में देवी प्रकट हुई, जिसने अपनी मानसिक छवि या आत्मबिम्ब से जगत के आधार स्वरूप भगवान शिव को उत्पन्न किया। ब्रह्मांड की आदिशक्ति के द्वारा उत्पन्न होने पर भी शिव उनके पुत्र न होकर पति रूप में स्वीकार किए गए। लेकिन पति होकर भी वे शक्ति के स्वामी नहीं हैं, अपितु उनकी इच्छा के अनुरूप सृष्टि की रचना करने में माध्यम हैं। इस प्रकार काएक उद्धरण देवी भागवत में प्राप्त होता है; जहाँ भगवती पार्वती अपने पिता को बताती हैं कि ''मैं परब्रह्म स्वरूपा हूँ। सृष्टि से पहले मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता है। मैंने ''एकोऽहं बहुस्याम'' के संकल्प से सृष्टि के आधार भगवान शिव का सृजन किया और उनके माध्यम से इस जगत की रचना की। सृजन की प्रक्रिया मेंएकाकी समर्थ न होने से मैं सर्वव्यापी पराशक्ति और सच्चिदानंद स्वरूपा होकर भी शिव के स्वामित्व बंधन में रहती हूँ। यह सृजन के लिए भौतिक और अभौतिक शक्तियों के सामंजस्य का प्रतीक है। यही भगवान शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप का रहस्य है।

शाक्त आगमों में देवी के अनेक रूपों और नामों की चर्चा है, जो भिन्न कार्य करती हैं, विभिन्न शक्तियाँ धारण करती हैं और भिन्न नामों से जानी जाती हैं। देश के भिन्न भागों और पृथक भूमिकाओं के कारण इनके नाम काली, तारा, त्रिपुर सुंदरी, भुवनेश्वरी, त्रिपुर भैरवी, धूमावती, छिन्नमस्ता, बगलामुखी, मातंगी, कमला, प्रत्यंगिरा, दुर्गा, चंडिका, गायत्री, सावित्री सरस्वती, ब्रह्मानंद कला आदि कहे जाते हैं। इस वर्णन से स्पष्ट है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति के अतिरिक्त भारतीय परंपरा में स्त्रीशक्ति को भी सृष्टि की आद्या देवी, जननी और मातृशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। उनके

इन भिन्न रूपों को प्रस्तुत करने वाले आगमों को शाक्त आगम के नाम से जाना जाता है।

शाक्त आगमों में देवी के विभिन्न स्वरूपों के प्रतीकात्मक उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनमें साकार और निराकार दोनों सम्मिलित हैं। उनकाएक स्वरूप आध्या काली के रूप में महाभयंकर और काले रंग का है। यद्यपि वे दिगंबरा कही गई हैं, लेकिन गले में मुण्डमाला धारण करती हैं। समस्त जगत की स्वामिनी होकर भी वे श्मसान में निवास करती हैं। वे अपने हाथ में वह खड्ग यानि तलवार धारण करती हैं, लेकिन अपने भक्तों को समस्तऐश्वर्य प्रदान करती हैं। कुछ विद्वानों ने उन्हें वैदिक देवी उषा, मित्रा, वरुणा, अदिति का सम्मिलित स्वरूप स्वीकार किया है। इस मत को मानने वाले वेदों के व्याख्याकार ऋग्वेद के दसवें मंडल के मंत्रों का उद्धरण देकर बताते हैं किएक होते हुए भी अनेक रूप धारण करने वाली इस देवी का वर्णन वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद के आठवें अष्टक के अनेक मन्त्रों में देवी उद्घोष करती है कि ''अहं रूद्रेभिः वसुभिश्चरामि'', अहं मित्रावरूणा, अहं इन्द्राग्नी, अहं विष्णुमुरूक्रम, अहं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि'' इत्यादि। केनोपनिषद में वाणी स्वरूपा देवी का वर्णन करते हुए उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप और अवर्णनीय कहा गया है। ये सब भी देवी की स्तुतियों के ही उदाहरण हैं।ऐसा होने पर भी शाक्त आगमों में देवी के जिन स्परूपों का उल्लेख है वे वैदिक देवियों से भिन्न हैं; इस विषय में कोई सन्देह नहीं है। शाक्त आगमों में देवी के अनेक रूपों की स्तुति, प्रसन्नता और कृपा प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की साधनाओं का उल्लेख है। इनमें से अधिकांश वामाचार से प्रभावित हैं जिनमें मद्यपान, बलि, रात्रिजागरण आदि का विधान है। इस दृष्टि से शाक्त आगम वैदिक परम्परा के अन्य आगमों की अपेक्षा भिन्न हैं।

2.6 जैन आगमों का वैशिष्ट्य

जैन आगम भारतीय दार्शनिक साहित्य कीएक अनमोल विरासत हैं। यह इतना गहन, प्राचीन और विशाल है कि इसके स्वरूप का ठीक–ठीक मूल्यांकन करना आज बड़े–बड़े विद्वानों के लिए भी सरल नहीं है। जैन सम्प्रदाय में आगमों का उद्भव निश्चित रूप से वैदिक आगम परंपरा के अनुसरण में हुआ; लेकिन इनका स्वरूप पूरी तरह से भिन्न है। जैन आगम ग्रंथ मूल रूप से इस संप्रदाय के श्रेष्ठतम आचार्यों, जिनमें तीर्थंकर, आचार्य और उपाध्याय स्तर के तत्ववेत्ता शामिल हैं; उनके द्वारा दिए गए सिद्धांतों, प्रवचनों और आचारशास्त्र का संग्रह है। इन उपदेशों को सीधे ही गणधर प्राप्त करते हैं। जैन परम्परा के अनुसार ये गणधर आप्तजनों के उपदेशों के श्रवण, ग्रहण और संग्रह के समस्त कौशलों से युक्त होते हैं। ये गणधर तीर्थंकरों के उपदेशों को बारह विभागों से युक्त आगमों के माध्यम से पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इस अर्थ में आगम ग्रन्थ जैन सम्प्रदाय के श्रेष्ठतम आचार्यों और आज के समय के जैन मतावलम्बियों के बीच सीधे सम्पर्क का काम करते हैं।

जैन परंपरा के श्रेष्ठतम विद्वानों के उपदेशों को गणधरों ने सटीक रूप से संग्रहीत किया। लेकिन समय के साथ उनके विषय, भाषा और शैली आज के समय से बहुत भिन्न होती चली गई।ऐसे में सामान्य अध्येता या साधक उन आगमों का पूरा लाभ नहीं ले पाते। इस समस्या के निराकरण के लिए जैन संप्रदाय के विद्वानों ने आगम ग्रंथों के विषयों पर विस्तार, व्याख्या, टीका–टिप्पणी और उदाहरण के माध्यम से चर्चाएँ की हैं। ये व्याख्याएँ भी ग्रंथों के रूप में संग्रहीत हैं। इनके माध्यम से तीर्थंकरों और उपाध्यायों जैसे तत्त्ववेत्ताओं का ज्ञान सरल भाषा, कथा और उदाहरणों आदि के

माध्यम से जनसामान्य के लिए आसानी से समझने योग्य होता चला आया है। इन व्याख्या ग्रन्थों को भी आगम नाम से जाना जाता है। इस प्रकार जैन आगम ग्रंथों के दो प्रकार हो गए हैं जिनमें से प्रमुख जैन आचार्यों के गणधरों द्वारा किए गए संग्रह को अंगप्रविष्ट आगम और बाद में लिखे गए व्याख्या ग्रन्थों को अंगबाह्य या उपांग आगम ग्रंथों के रूप में जाना जाता है। इन दोनों प्रकार के आगमों की अपनी–अपनी विशेषताएँ और गुणधर्म हैं जिनका परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

2.6.1 अंग–प्रविष्ट आगम

जैनागमों की परंपरा में अंगप्रविष्ट आगमों का बहुत महत्व है। उसका स्पष्ट कारण है कि इन ग्रंथों की विषयवस्तु जैन संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों ,आचार्यों और तीर्थंकरों की वाणी का विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा किया गया संग्रह है। ये संग्रह गणधरों द्वारा किया गया है जो भाषा और विषय के विशेषज्ञ माने जाते हैं। इन आगमों के नामकरण कीएक व्याख्या के अनुसार आगम शब्द के 'आ' का अर्थ है आप्त पुरुषों द्वारा कहे गए वचनों का 'ग' अर्थात् गणधरों द्वारा किया गया और 'म' का तात्पर्य है, मुनियों के आचरण के उद्देश्य से किया गया संग्रह। इस प्रकार आगम शब्दएक प्रकार की संक्षिप्त संज्ञा है जिससे इसके अर्थ का सटीक बोध होता है। इन आगमों में सामान्य रूप से जैन सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक ज्ञान, जीवनदर्शन और व्यक्तिगत तथा सामाजिक आचरण के विषय में उपदेश प्राप्त होते हैं, जिनके पालन से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अंगप्रविष्ट आगमऐसे ही हैं जैसे वैदिक मत में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद ग्रंथ हैं। ये ग्रंथ सर्वाधिक पूजनीय जैन सिद्धांतों के संग्रह हैं और स्यादवाद के सिद्धांत से युक्त हैं। जिसका तात्पर्य है कि इन उपदेशों को अनेक प्रकार से या अनेक अर्थों में भी ग्रहण किया जा सकता है। ये ग्रंथ अत्यन्त प्राचीन हैं और इसीलिए इनमें से अधिकांश की भाषा अर्धमागधी है। इनकी रचना शैली गद्य और पद्य; दोनों प्रकार की विधाओं से युक्त है। कुछ आगमों में सूत्रात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है, जिसे स्पष्ट रूप से वैदिक साहित्य का प्रभाव माना जा सकता है। इसी प्रकार कुछ आगमों में प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग भी प्राप्त होता है। इन आगमों को चार खंडों में विभक्त किया जाता है जिनके नाम द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग हैं। इन खण्डों के माध्यम से सृष्टि, जीवन के लक्ष्य तथा उद्देश्यों, जीवन के सिद्धान्तों और जैन परम्परा की मान्यताओं का उपदेश प्रस्तुत किया गया है।

2.6.2 अंगबाह्य आगम

इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि जैन परंपरा में अंग प्रविष्ट आगमों का महत्व सर्वोपरि है। लेकिन भाषा, विषय और शैली के कारण वे सभी के लिए सरल और सुग्राह्य नहीं हैं। इसलिए समय–समय पर जैन दार्शनिकों और आचार्यों ने उनके आधार पर अनेक ग्रंथों की रचना की है। ये ग्रंथ अंगबाह्य आगमों के नाम से प्रसिद्ध हैं। अंगबाह्य आगमों की स्वीकृति, मान्यता और प्रामाणिकता के विषय में जैन समाज में अनेक विचार उपलब्ध होते हैं। इनमें सेएक के अनुसार जिन भिक्षुओं अथवा आचार्यों को दस से कम अंगप्रविष्ट आगमों का ज्ञान होता था, उन्हें शुद्ध केवली का नाम दिया जाता था। इस प्रकार के आचार्यों द्वारा दिए गए उपदेशों का संग्रह अंगबाह्य आगमों में उपलब्ध होता है।

इस प्रकार के आगम अंगप्रविष्ट ग्रंथों की अपेक्षा कम स्वीकृति के कारण बहुत समय तक प्रचलित नहीं रहते। इसकाएक प्रमाण दिगंबर संप्रदाय में प्रचलित उस विश्वास से मिलता है, जिसके अनुसार भगवान महावीर के निर्वाण के दो सौ वर्षों के भीतर ही

संपूर्ण जैन आगम साहित्य लुप्त हो गया। जबकि, अन्य संप्रदाय अपनी परम्परा के सभी अंगबाह्य आगमों के उपलब्ध होने का दावा करते हैं। इनमें मूर्तिपूजक श्वेतांबर संप्रदाय के चौंतीस और स्थानकवासी तथा तेरापंथी संप्रदायों के इक्कीस–इक्कीस आगम ग्रन्थ सम्मिलित हैं। अंगबाह्य आगमों के भी अनेक उपवर्ग हैं जिनमें उपांगसूत्र, छेदसूत्र, मूलसूत्र, चूलिकासूत्र, प्रकीर्णसूत्र आदि प्रमुख हैं।

2.6.3 बौद्ध आगमों का वैशिष्ट्य

जैन संप्रदाय के समान बौद्ध धर्म मत में भी आगम ग्रंथों में उपदेशों का संग्रह प्राप्त होता है। जैन संप्रदाय में तीर्थंकरों, आचार्यों, उपाध्यायों आदि की संख्या बहुत अधिक है, जबकि बौद्ध मत के सभी अंगों में केवल शाक्यमुनि अर्थात् भगवान बुद्ध की शिक्षाएँ ही संग्रहीत हैं। वहाँ आगम शब्द का अर्थ भी भगवान बुद्ध द्वारा अपने जीवनकाल में दी गई और उसी रूप में संरक्षित की गई शिक्षाओं का संग्रह है। इन ग्रंथों के दो प्रकार के संग्रह प्राप्त होते हैं, जिनमें सेएक भारतीय और दूसरा चीनी ग्रंथों का संग्रह है। इनकाएक नाम दीर्घ आगम, मध्यम आगम, विविध आगम औरएक–आगम प्राप्त होता है।एक अन्य परंपरा के अनुसार इनके नाम दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तर निकाय और खुद्दक निकाय हैं।

इस विवरण से ज्ञात होता है कि वैदिक और जैन की अपेक्षा बौद्ध संप्रदाय में आगम ग्रंथों की संख्या सीमित है। बौद्ध आगमों की भाषा प्रमुख रूप से पाली और प्राकृत है, लेकिन ये ग्रन्थ चीनी और तिब्बती के साथ संस्कृत और गांधारी (अफगानिस्तान की) भाषाओं में भी संरक्षित पाए जाते हैं। बौद्ध आगमों में जो उपदेश संग्रहीत हैं, उनके विषय बौद्ध सिद्धांत, बौद्ध जीवनशैली और बौद्ध साधना; इन तीन भागों में विभक्त हैं। इस प्रकार संख्या में सीमित होने पर भी बौद्ध आगम ग्रन्थ अपने दर्शन और आचारशास्त्र की सम्पूर्ण प्रस्तुति में समर्थ हैं।

विषय की दृष्टि से बौद्ध आगम ग्रन्थ वैदिक और जैन आगमों की तुलना में बहुत सीमित हैं। इन ग्रंथों में मुख्य रूप से बौद्ध सिद्धांतों और उनके व्यावहारिक अनुपालन से संबंधित नियम हैं। यहाँ ज्ञान को सर्वाधिक महत्व दिया गया है, जबकि साधना को केवल भिक्षुओं के लिए अनिवार्य माना गया है। आचरण की शुद्धता बौद्ध आगमों का सबसे बड़ा संदेश है, जो पूरी मानवता के लिए उपयोगी है। कोई भी ज्ञान तभी सफल माना जा सकता है, जब वह व्यक्ति के आचरण को शुद्ध और मर्यादित करने में समर्थ हो। बौद्ध संप्रदाय में बहुत समय तक साधना और जीवन व्यवहार कोएक समान महत्त्व दिए जाने की परंपरा स्थापित रही। यह परम्परा ही बौद्ध मत की सबसे बड़ी विशेषता थी, जिसके कारण यह सम्प्रदाय वैदिक और जैन मतों जितनी बड़ी दार्शनिक परंपरा न होने पर भी भारत और इससे बाहरएशिया तथा पूरे विश्व के देशों तक फैल गया और आज भी स्थापित है।

2.7 सारांश

आगम साहित्य भारतीय ज्ञान, दर्शन, अध्यात्म और साधना पद्धतियों को प्रस्तुत करने वाले साहित्य हैं। इनकी परंपरा वैदिक साहित्य के समान ही प्राचीन और व्यापक है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता ज्ञान को सरल और सहज रूप में व्यक्त करना है। साथ ही बिना किसी सामाजिक, लैंगिक, क्षेत्रीय अथवा अन्य भेदभाव के सभी मनुष्यों को जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन प्रदान करना इनकी सबसे बड़ी विशेषता है। आगम साहित्य विशेषज्ञता, भाषा संबंधी उत्कृष्टता और दार्शनिक सिद्धांतों

के विषय में वैदिक साहित्य के समकक्ष तो नहीं हैं; लेकिन फिर भी उनकी मान्यता और विस्तार वैदिक साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक है। यही कारण है कि आज सनातन धर्म में प्रचलित अधिकांश पूजा और उपासना की पद्धतियाँ वैदिक न होकर आगम ग्रंथों से प्रेरित हैं। यही नहीं, आज हम जिन देवी और देवताओं की पूजा करते हैं, वे चाहे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, कार्तिकेय, राम और कृष्ण हों और चाहे शारदा, सरस्वती, लक्ष्मी सहित वैष्णव देवियाँ अथवा दुर्गा, काली, चण्डिका आदि शाक्त देवियाँ; वे सभी आगम साहित्य से उत्प्रेरित हैं। इनके विषय में पूजा–पाठ और उनसे सम्बद्ध व्रत, उपवास, तीर्थ, दान आदि जिन परम्पराओं का प्रचलन पाया जाता है, वे सब भी प्रायः आगम ग्रन्थों से प्रेरित हैं।

आगम साहित्य के वैदिक संप्रदायों में शैव और वैष्णव मुख्य रूप से दक्षिण भारत में उपजे और वहीं से पूरे देश में व्यापक हो गए। इनमें से कौन अधिक प्राचीन है? और किस का किस पर प्रभाव है? यह निश्चित करना सरल नहीं है; क्योंकि शैव परंपरा में भगवान शिव के दस अवतारों की चर्चा है, जिनके माध्यम से यह दर्शन उपजा और विकसित हुआ। इसी प्रकार वैष्णव संप्रदाय में भी दस से लेकर चौबीस अवतारों की चर्चा है। ये भी सनातन परंपरा में स्वीकार्य और प्रसिद्ध हैं। जहाँ तक शाक्त संप्रदाय का प्रश्न है, तो उसकी मौलिक मान्यताएँ आज भी समाज में अधिकांश लोगों के लिए अज्ञात हैं। शाक्त परंपरा में जिस प्रकार आदि मातृशक्ति सृष्टि से पहले विराजमान रहती हैं और सृष्टि की उत्पत्ति के लिए मानस कल्पना द्वारा भगवान शिव की उत्पत्ति करके, उन्हें पति रूप में स्वीकार करती हैं; यह धारणा बहुत लोगों के लिए आश्चर्य का विषय हो सकती है।

इन तीनों परंपराओं के ग्रंथ मुख्य रूप से संस्कृत में और श्लोकों में निबद्ध उपलब्ध होते हैं। इन ग्रंथों की संख्या 200 से अधिक बताई जाती है। इनमें अपने–अपने संप्रदाय के विषय में लौकिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों का विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। प्रत्येक संप्रदाय कीएक से अधिक धारणाएँ देश के विभिन्न भागों में प्रचलित दिखाई देती हैं। जिस प्रकार वैदिक ग्रंथों के पठन–पाठन की परंपरा अनेक सहस्राब्दियों से आज तक प्रचलित पाई जाती है, वैसे ही आगम ग्रंथों के प्रभाव से साकार–पूजा की विविध परंपराएँ भी देश के सभी भागों में देखी जा सकती हैं। इन सभी परंपराओं के दार्शनिक आधार हैं, जिनका विस्तृत उल्लेख आगम ग्रंथों में उपलब्ध होता है।

जैन और बौद्ध आगम ग्रन्थ अपने स्रोत की दृष्टि सेएक समान प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनमें संग्रहीत ज्ञान इन संप्रदायों के सर्वोच्च दार्शनिकों, चिंतकों और विचारकों के उपदेशों का संग्रह है। यद्यपि इनमें समय के अनुसार कथाएँ, व्याख्याएँ, उद्धरण और उदाहरण समायोजित किए जाते रहे हैं, तथापि उनका मौलिक स्वरूप आप्तजनों के उपदेशों का संग्रह ही है। इन दोनों प्रकार के ग्रंथों में संस्कृत की अपेक्षा पाली, प्राकृत, चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं की प्रधानता दिखाई देती है। ये ग्रंथ आज भी जैन और बौद्ध संप्रदायों को जानने और समझने के बहुत बड़े माध्यम हैं। सार रूप में कहा जा सकता है कि आगम साहित्य भारतीय धर्म, दर्शन और अध्यात्म को जानने का महत्वपूर्ण माध्यम है। ये ग्रंथ बहुत विस्तृत कालखंड में और विद्वान दार्शनिकों द्वारा संग्रह किए गए विचारों और साधना परंपराओं पर आधारित हैं, इसलिए उनमें समाज का मार्गदर्शन करने का सामर्थ्य अनुभव किया जा सकता है।

2.8 पारिभाषिक शब्दावली

- **आगम साहित्य** – वैदिक साहित्य के समान्तर ज्ञान, भक्ति, अध्यात्म और साधना के विषयों का वर्णन करने वाला साहित्य, जो शैव, वैष्णव और शाक्त नामक हिन्दू दर्शनों के साथ ही जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी पाया जाता है। इनमें से वैदिक परम्परा के आगमों में देवपूजा, मन्दिर–निर्माण, मूर्तिशिल्प, शरीर और मन की सिद्धियों, जप, तप, दान, तीर्थ, हठयोग, ध्यान और समाधि जैसे लौकिक तथा आध्यात्मिक विषयों का वर्णन पाया जाता है, जबकि जैन और बौद्ध परम्पराओं के आगम मुख्य रूप से इन सम्प्रदायों के आप्तपुरुषों के उपदेश, धार्मिक सिद्धान्तों और कथाओं से युक्त हैं।

- **वैष्णम आगम** – यह भगवान विष्णु को सृष्टि का जनक, पालक और नियामक मानने वाली आगम साहित्य परम्परा है। इसके अनुसार श्रीविष्णु अपनी शक्ति 'लक्ष्मी' के साथ मिलकर जगत का संचालन करते हैं। ये ग्रन्थ मुख्यतः संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं।

- **पंचरात्र आगम** – यह वैष्णव आगमों कीएक शाखा है जिसके अनुसार भगवान विष्णु ने पाँच रात्रियों में आपने पाँच शिष्यों को पाँच प्रकार का ज्ञान और साधनापथ बताया था जिसका पालन करके मनुष्य संसार में अपना जीवन सुख और सन्तोष से बिता सकते हैं और मरणोपरान्त विष्णुलोक में आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

- **वैखानस आगम** – वैष्णम आगमों की वह शाखा जिसका आरम्भ ऋषि विखानस द्वारा संकलित और लिखित ग्रन्थों के माध्यम से हुआ। इस परम्परा के ग्रन्थों को विखानस ऋषि के चार शिष्यों अत्रि, भृगु, मैरिसी और कश्यप नामक ऋषियों ने अपने आगमों के माध्यम से आगे बढ़ाया।

- **शैव आगम** – भगवान शिव को ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च देव स्वीकार करने वाली शास्त्र परम्परा जिसके अनुसार आदिदेव शिव अपनी अर्धांगिनी पार्वती के सान्निध्य से जगत की रचना और नियन्त्रण करते हैं। माना जाता है कि इन आगमों की रचना भगवान शिव द्वारा पार्वती की दिए गए ज्ञान का विस्तार करने के लिए हुई।

- **पाशुपत आगम** – भगवान शिव के प्रजापालक और भवबन्धन रूपी पाश से मुक्त कराने वाले स्वरूप की आराधना को समर्पित ग्रन्थों की परम्परा। इन आगमों में भगवान शिव को प्रसन्न करने के उपायों का विशेष उल्लेख है जिनसे भक्तजन संसारचक्र से मुक्त हो सकते हैं।

- **शाक्त आगम** – शाक्त आगम विश्व केएकमात्र दर्शनग्रन्थ हैं जो स्त्रीशक्ति को विश्व की मातृस्वरूपा, पालनकर्तृ और संहारक स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार जगदम्बा शक्ति सृष्टि से पूर्व विद्यमान रहती है और वही शिव के सहयोग से जगत की रचना करती है। उसके विविध स्वरूप हैं जो मोहक और वात्सल्यपूर्ण होने के साथ ही भयंकर और संहारक भी हैं।

- **जैन आगम** – जैन साहित्य विश्व के सबसे पुराने दर्शनों में सम्मिलित है जिसके अनेक रूपों में आगमग्रन्थ भी शामिल हैं। जैन आगमों में इस सम्प्रदाय के आप्तजनों; तीर्थंकर, आचार्य आदि के उपदेशों का संग्रह है जिन्हें गणधरों या विद्वान भिक्षुओं द्वाराएकत्र किया गया है।

- **अंग–प्रविष्ट आगम** – ये प्रमुख आगम हैं जिनमें जैन सम्प्रदाय के सबसे अधिक पूजनीय और प्रामाणिक आचार्यों की वाणियों का संग्रह है। ये ग्रन्थ बहुत पवित्र और मानक समझे जाते हैं।
- **अंगबाह्य आगम** – जिन आगमों का विकास अंगप्रविष्ट शास्त्रों के आधार पर होता है अथवा जिन आगमों में आप्तजनों के उपदेशों की व्याख्या और विस्तार किया जाता है, वे अंगबाह्य आगम कहे जाते हैं। इनकी प्रामाणिकता अंगप्रविष्ट आगमों की अपेक्षा कमतर समझी जाती है।
- **बौद्ध आगम** – भगवान बुद्ध के वचनों और उपदेशों का संग्रह बौद्ध आगम के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार के ग्रन्थों को थेरवाद सम्प्रदाय में निकाय या सुत्तपिटक कहा गया है। इस प्रकार के पाँच आगम उपलब्ध होते हैं।

2.9 सन्दर्भग्रन्थ–सूची

उपाध्याय बलदेव, वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य तथा सिद्धान्त, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2006.

चतुर्वेदी चन्द्रा, वैष्णम आगम के वैदिक आधार, नाग पब्लिशर्स, 2005.

चतुर्वेदी परशुराम, भारतीय साहित्य में भक्तिधारा, भारती पुस्तक भण्डार, मेरठ, 2001.

जैन हस्तीमल, जैन आगम निर्देशिका, आगम अनुयोग प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001.

जैन त्रिलोकचन्द, आगम निबन्ध माला, श्री जैनागम नवनीत प्रकाशन समिति, राजकोट, गुजरात, 2017.

दाश अच्युतानन्द, निगम तथा शैव, शाक्त, वैष्णव आगम परम्पराओं का अन्तःसम्बन्ध, त्रिपाठी राधावल्लभ, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, 2010.

नगराजजी राष्ट्रसन्त, आगम और त्रिपिटकःएक अनुशीलन, कॉन्सैप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 1991.

पन्त कालीचरण, शाक्त दर्शन, कल्याण मन्दिर, प्रयाग, उत्तर प्रदेश, 2011.

मिश्रा रामप्यारे, वैष्णव पंचरात्र आगम – कतिपय पक्ष, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994.

राधाकृष्णन सर्वपल्ली, भारतीय दर्शन खण्डएकएवं दो, राजपालएण्ड सन्स, 1995.

वेदालंकार हरिदत्त, भारत का साँस्कृतिक इतिहास, आत्मारामएण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2005.

2.10 बोध–प्रश्न

इस इकाई के अन्तर्गत आगम ग्रन्थों के विषयों, विशेषताओं, गुणधर्मों, प्रकारों और उप–प्रकारों के विषय मे सविस्तार जानकारी प्रदान की गई है। इसके माध्यम से वैदिक परम्परा के वैष्णव, शैव और शाक्त के साथ जैन तथा बौद्ध आगमों के वैशिष्ट्य का आभास होता है। इनके अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थियों के मूल्यांकन हेतु कुछ लघू तथा विस्तृत प्रकृति के प्रश्नोत्तर अभ्यास हेतु दिए जा रहे हैं –

2.10.1 लघूत्तरीय प्रश्न

- वैष्णव आगमों से क्या तात्पर्य है?
- शैव आगमों का सामान्य परिचय दीजिए।
- शाक्त आगमों की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
- जैन आगम अपनी प्रकृति में वैष्णव और शैव आगमों से किस प्रकार भिन्न हैं?
- जैन और बौद्ध आगमों में सहसम्बन्ध स्थापित कीजिए।

2.10.2 विस्तृत–उत्तरीय प्रश्न

- वैष्णम आगमों के अनुसार भगवान विष्णु का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
- शैव सम्प्रदाय के आगमों और उपागमों का साामान्य परिचय दीजिए।
- जैन और बौद्ध आगमों में समानता और असमानता पर अनुच्छेद लिखिए।
- शाक्त आगमों की विषयवस्तु अन्य आगमग्रन्थों से किस प्रकार भिन्न है?
- आगम साहित्य की विशेषताओं पर निबन्ध लिखिए।

इकाई 3 संगम साहित्य की विषयवस्तु एवं महत्त्व

इकाई की संरचना

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन समाप्त कर लेने पर आप –

- संगम साहित्य का अर्थ स्पष्ट करेंगे।
- संगम साहित्य की विशेषताओं की सूची बनाएँगे।
- तीन साहित्य संगमों के आयोजन पर संक्षिप्त अनुच्छेद लिखेंगे।
- संगम साहित्य के रचनाकाल पर टिप्पणी करेंगे।
- संगम साहित्य की प्रमुख रचनाओं की विषय–वस्तु का परिचय प्रस्तुत करेंगे।
- संगम साहित्य के अन्तर्गत रचित तीन महाकाव्यों की कथा को अपने शब्दों में लिखेंगे।
- संगम साहित्य के महत्त्व पर निबन्ध लिखेंगे।

3.1 प्रस्तावना

भारत बहुत प्राचीन काल से ज्ञान और विज्ञान की जन्मभूमि रहा है। इसके विभिन्न क्षेत्रों में अनेक साहित्य धाराएँ उपजीं और उन्होंने वहाँ के निवासियों को अपनी संस्कृति के अनुरूप सुख और संतोषपूर्वक जीने के अतिरिक्त मनुष्य जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन भी दिया। यहाँ की संस्कृति में जितनी विविधता भाषाओं, विचारों और जीवन शैलियों की है, उतनी ही साहित्य और ज्ञान परंपराओं की भी है। आज भारत की जितनी भी विकसित भाषाएँ उपलब्ध हैं, उन सभी का विशेष प्रकार का साहित्य भी प्राप्त होता है। इन साहित्य प्रकारों में भाषा और पात्रों की भिन्नता है, जो इनके स्वतंत्र और विशिष्ट स्वरूप का आभास कराती है; लेकिन फिर भी उनके भीतर ज्ञान और जीवन दर्शन से संबंधितएकरूपता भी अनुभव की जा सकती है।एक ओर जहाँ सप्तसिंधु प्रदेश कहे जाने वाले उत्तर–मध्य भारत में वैदिक साहित्य की धारा का प्रवाह दिखाई देता है, वहीं सुदूर दक्षिण के तमिलनाडु में संगम साहित्य कीएक धारा दृष्टिगोचर होती है। यह साहित्य इस बात का प्रमाण है कि भारत के निवासियों में ज्ञान के प्रति सदैव रुचि रही है। यहाँ के विद्वानों ने अपने शिक्षण और चिंतन द्वारा जिस ज्ञान का सृजन किया, उसे अनेक माध्यमों तक समाज के प्रत्येक वर्ग तक पहुँचाने के लिए साहित्य की रचना भी की। आज जब हम उस साहित्य का अध्ययन करते हैं तो हमें न केवल उस समय के ज्ञान और परम्पराओं से परिचित होने का अवसर मिलता है; अपितु अपने जीवन को संतुलित और सफल बनाने के लिए मार्गदर्शन भी प्राप्त होता है।

संगम साहित्य न केवल हमारे देश केएक क्षेत्र में उत्पन्न ज्ञान परंपरा से हमें परिचित कराता है, अपितु तत्कालीन इतिहास के अनेक अज्ञात रहस्यों से भी अभिज्ञ कराता है। प्रचलित विश्वास के अनुसार संगम साहित्य ईसा पूर्व तीसरी सदी से चौथी शताब्दी ईस्वी तक भारतीय ज्ञान, दर्शन, सभ्यता, संस्कृति, विचार और जीवन शैली का महत्वपूर्ण विवरण है। यही कारण है कि जब भारतीय ज्ञान परंपरा की चर्चा होती है, तो संगम साहित्य के विषय में भी अवश्य विचार किया जाता है। इस संदर्भ में संगम शब्द यद्यपि विद्वानों की गोष्ठी या तमिल कवियों के उस समूह की ओर संकेत करता है, जो अपने रचनात्मक विचारों के साथएक दूसरे के परामर्श और ज्ञान–चर्चा के लिएएकत्रित होते थे, लेकिन फिर भी साहित्य रचना की दृष्टि से भी इसे संगम काल कहना उचित अनुभव होता है, क्योंकि यह प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के बीचएक सेतु का कार्य करता है। विषय–सामग्री और वर्णन–कला की दृष्टि से इस पर ईसा पूर्व के परिदृश्य का प्रभाव है, तो राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर संगम साहित्य को तत्कालीन समाज के दर्पण भी कहा जा सकता है।

संगम साहित्य का अध्ययन करते हुए हम उस समय की साँस्कृतिक परिस्थितियों से सभी अनिवार्य रूप से परिचित होते हैं, क्योंकि साहित्य जैसी संवेदनशील गतिविधियाँ कभी भी अशांति और विपन्नता में संचालित नहीं होतीं, बल्कि उनके लिएएक विशेष प्रकार के वातावरण की आवश्यकता होती है।ऐसा परिवेश राजनीतिक स्थिरता और कला, संस्कृति तथा साहित्य के मर्मज्ञ राजाओं के संरक्षण द्वारा निर्मित होता है। इसी प्रकार का वातावरण ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से आरम्भ होकर चार सौ ईस्वी. के बीच दक्षिण भारत की कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के बीच के क्षेत्र में निर्मित हुआ। इस सृजनकाल में विद्वान तमिल कवियों की अनेक संगोष्ठियों का आयोजन किया गया, जिन्हें मदुरई के पांड्य राजाओं ने आगे बढ़कर संरक्षण और सहयोग प्रदान किया। कुछ बुद्धिजीवी इस साहित्य को द्रविड़ साहित्य का नाम देने का प्रयास करते हैं।

लेकिन जिस क्षेत्र में संगम साहित्य की रचना हुई, वह विस्तार की दृष्टि से उतना व्यापक नहीं था, जिसे संपूर्ण दक्षिण भारत का प्रतिनिधि कहा जा सके। इसलिए, संगम साहित्य का नामकरण हर प्रकार से सटीक है।

तमिल जनश्रुतियों के अनुसार संगम साहित्य का उदय कवियों और रचनाकारों की तीन विशाल परिषदों या कविगोष्ठियों के माध्यम से हुआ। स्थानीय भाषा में इन्हें 'मुच्चंगम' कहा जाता था। प्रचलित रूप से इन्हें प्रथम संगम, द्वितीय संगम, और तृतीय संगम के नाम से जाना जाता है। पारंपरिक रूप से विश्वास किया जाता है कि इन तीनों संगमों का कुल समय विस्तार नौ हज़ार नौ सौ पचास वर्ष की अवधि में फैला हुआ था। इस अवधि में लगभग आठ हज़ार पाँच सौ अट्ठानवे कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं और संगम साहित्य की रचना में अपना योगदान दिया। इस सुदीर्घ कालखंड में पाण्ड्य राजवंश केएक सौ सत्तानवे शासक हुए, जिन्होंने तमिल विद्वानों के इन संगमों को सुरक्षा, धन–धान्य और प्रोत्साहन द्वारा संरक्षण प्रदान किया। इन मान्यताओं काऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर ये विवरण अतिरंजित अनुभव होते हैं, इसलिए संगम साहित्य के आधुनिक इतिहासकारों ने इन विषयों पर अनेक शोध किए हैं। इनमें से अधिकांश के अनुसार इन तीन में से तृतीय संगम ही वास्तविक है। उससे पूर्ववती जिन काव्य संगमों की बात प्रचलित है वे मिथक या पौराणिक विश्वास हैं। लेकिन यदि प्रथम और द्वितीय संगमों के आयोजन की बात को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो भी इस साहित्य की रचना अवधि लगभग सात सौ वर्ष सिद्ध होती है, जो अन्य प्रमाणों के अनुसार भी व्यावहारिक जान पड़ती है। इस अवधि में रचनाकारों द्वारा रचित अनेक संग्रह उपलब्ध होते हैं। इन संग्रहों के कुछ ग्रन्थ ही आज यथारूप उपलब्ध होते हैं, जबकि अधिकांश का नाम ही प्राप्त होता है। प्रस्तुत इकाई में इस महान साहित्य परम्परा के विषय और महत्त्व का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

3.2 संगम साहित्य का सामान्य परिचय

संगम साहित्य दक्षिण भारतीय ज्ञान परंपरा का महत्वपूर्णघटक है। साहित्य के इतिहासकारों में इसके रचनाकाल को लेकर अनेक मतभेद रहे हैं, लेकिन अधिकांश इतिहासज्ञ इसका रचनाकाल ईसा पूर्व तीसरी सदी से लेकर लगभग छठी शताब्दी के आरंभ तक विस्तृत मानते हैं। यह साहित्य तीन कवि गोष्ठियों या संगमों के माध्यम से अस्तित्व में आया, जिन्हें स्थानीय भाषा में 'मुच्चंगम' नाम से जाना जाता था। इन संगमों में लोकगायकों और चारण भाटों से लेकर विद्वान कवि और लेखक भी सम्मिलित होते थे। इनमें से प्रथम संगम तीन सौ वर्ष ईसापूर्व मदुरै नगर में आयोजित हुआ था। तमिलनाडु का यह महान नगर आज भी अपने सांस्कृतिक वैभव और आकर्षक मंदिरों के लिए जाना जाता है। लोकोक्ति के अनुसार इस संगम में अनेक महान संतों और विद्वान कवियों के साथ देवगण भी सम्मिलित हुए। प्रथम संगम सत्र की अध्यक्षता तमिल विद्वान सिद्धर अगस्त्यर ने की थी, जिन्हें पौराणिक परंपरा के महर्षि अगस्त्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस अर्थ में अगस्त्य ऋषि या सिद्धर अगस्त्यर को संगम साहित्य का जनक कहा जा सकता है। प्रथम संगोष्ठी में परिपदल, अकत्तियम, मुदुकुरुकु, मुदुनारै, कलिरियाविरै आदि अनेक ग्रंथों के लेखन का विवरण प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में ऋषि अगस्त्य अथवा अगस्त्यर द्वारा लिखित 'अकट्य' नामक ग्रंथ भी सम्मिलित है। इन ग्रंथों की चर्चा तो अनेक माध्यमों से प्राप्त होती है, लेकिन दुःख का विषय है कि इनमें से कोई रचना आज उपलब्ध नहीं होती। इस विषय में कुछ साक्ष्यों के अनुसार मदुरै नगर में भयानक बाढ़ या समुद्र का पानी

आ जाने के कारण इस संगोष्ठी में संकलित सभी ग्रंथ नष्ट हो गए और उनमें से कोई भी अब उपलब्ध नहीं है। यद्यपि यह मान्यता विश्वास के योग्य नहीं है क्योंकि उस समय ग्रन्थों का संरक्षण लिखित के स्थान पर मौखिक परम्परा द्वारा किया जाता था। कारण कोई भी हो, किन्तु सत्य यही है कि आज हमें प्रथम संगम का कोई भी काव्य उपलब्ध नहीं होता है।

बाढ़ अथवा जलाप्लावन के कारण मदुरै के पतन के बाद दूसरे तमिल संगम का आयोजन पांड्य शासकों के द्वारा 'अलवें' या कपाटपुरम नामक नगर में किया गया। इसकी अध्यक्षता ऋषि अगस्त्य के शिष्य तोलकापियर ने की थी। इस अवसर पर भी उस समय के महान विद्वान, विचारक और रचनाकार दूर–दूर से सम्मिलित हुए। इस संगम में उपस्थित हुए साहित्यकारों की कुल संख्या उनचास बताई जाती है। इस संगोष्ठी के माध्यम से अनेक ग्रन्थों का संकलन किया गया, जिनमें अंकतियम, मापुरानम्, कलि, व्यालमलय्, कुरुक और तोलकाप्पियम शामिल हैं। लेकिन उनमें सेएक ग्रंथ 'तोलकप्पियम' ही आज आंशिक रूप में उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ में तमिल भाषा के व्याकरण की व्याख्या की गई। साथ ही इसमें मानव जीवन के चारों पुरुषार्थों; धर्म अर्थ काम और मोक्ष के विषय में नियमों और व्यवस्थाओं का भी संग्रह किया गया है।

तमिल लोकमान्यता के अनुसार, कपाटपुरम के समुद्र में डूब जाने के कारण तृतीय संगम उत्तरी मदुरा राज्य में आयोजित हुआ। इस संगम की अध्यक्षता नक्कीकर नामक महाकवि ने की थी। इसमें भी स्थापित परंपरा के अनुसार चारणों, कवियों और रचनाकारों के बीच चर्चाओं के परिणाम स्वरूप अनेक काव्य रचनाएँ संकलित की गईं। साहित्यकारों का मानना है कि इस संगम में उनचास ग्रन्थों का लेखन या संकलन हुआ, किन्तु उनमें से अधिकांश उपलब्ध नहीं हैं।ऐसा होने पर भी जो ग्रन्थ आज भी प्राप्त होते हैं, उनमें से तीन ग्रन्थ संकलन और तीन महाकाव्य प्रमुख हैं। इन संकलनों के नाम हैं –

- एतुत्थोकई या आठ रचनाओं का संग्रह,
- पत्थुप्पात्तु अथवा दस काव्यों का संकलन और
- पदिनेकिकणक्कु अर्थात् नैतिक उपदेशों का संग्रह।

इस संगम में रचित प्रसिद्ध रचनाओं में परिपादल, पदिलुटपतु, नेडुण्थौके, कुरून्योके आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, परन्तु ये सभी अब अप्राप्य हैं। तीसरे संगम में इन कविता संग्रहों के अतिरिक्त तीन बड़े महाकाव्यों को भी शामिल किया जाता है। इनके नाम हैं; शिल्पादिकारम्, मणिमेखलय और जीवक चिन्तामणि ।

संगम साहित्य की प्रकृति मुख्य रूप से ज्ञान और नैतिकता का प्रस्तुतीकरण है, लेकिन साथ ही इस साहित्य में सामाजिक विषयों और राजाओं की प्रशंसा भी पाई जाती है। इन ग्रन्थों में विभिन्न मानवीय विषयों पर समाज के बुद्धिजीवी वर्ग की समझ का संकेत मिलता है। इस साहित्य के ग्रन्थों में तत्कालीन समाज की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है जिनमें राजनीतिक उपलब्धियाँ, सामाजिक मान्यताएँ, जीवनशैली, ज्ञान–विज्ञान, कलाएँ, लोकशिल्प और विविध क्षेत्रों की उपलब्धियों के विवरण भी सम्मिलित हैं। इस साहित्य में समाज के उन्नत पक्षों के साथ चुनौतियों और समस्याओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। संगम साहित्य की भाषा स्वाभाविक रूप से तमिल है, जो इस बात को दर्शाती है कि यह भाषा इतनी सक्षम और लोकप्रिय थी कि

इसके माध्यम से सब प्रकार की मानवीय गतिविधियाँ संचालित की जाती थीं। संगम साहित्य के माध्यम से तमिल भाषा की भी उन्नति हुई और वह राजनीति, व्यापार, समाज, शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, आदि सभी प्रकार के मानवीय क्रियाकलापों का माध्यम बनने के लिए सामर्थ्यवान बनी।

इन संगमों का उद्देश्य उन विद्वानों, कवियों और रचनाकारों की रचनाओं के विषय में चर्चा, विचार–विमर्श और अवलोकन करना था, जो अपने ग्रन्थों का प्रकाशन कराना चाहते थे। इन सभाओं का आयोजन पांड्य राजाओं के संरक्षण में हुआ। इस प्रकार के संगमों के परिणामस्वरूप केवल वही रचनाएँ प्रकाशन के लिए स्वीकृत मानी जाती थीं, जिन पर चर्चा और विचार विमर्श के उपरांत विद्वानों की सभा अर्थात् संगम के सदस्य अपनी सहमति प्रकाशित करते थे। इसेएक प्रकार से राजाओं के द्वारा विद्वान कवियों और लेखकों को उनकी रचनाओं के प्रकाशन के लिए सहायता के रूप में भी देखा जा सकता है। संगम साहित्य अपने युग का न केवल सम्मानित अपितु प्रामाणिक विवरण उपलब्ध कराता है। इस काल की प्रमुख रचनाओं में अनेक काव्य संग्रह, प्रशस्तियाँ, नैतिक पुस्तकें, और महाकाव्य सम्मिलित हैं।

इन तीनों संगमों के परिणाम स्वरूप जितने भी ग्रंथों की रचना हुई, उनमें से अधिकांश केवल नाममात्र को ही ज्ञात हैं। इनके अतिरिक्त कुछ लोकगीत भी इस संगम के माध्यम से संकलित किए गए जिन्हें पथु नामक संग्रह में संकलित किया गया है। इन गीतों को मेलकंकू नाम दिया गया। ये लोकगीत मुख्य रूप से तमिल परंपरा के विश्वासों को काव्यात्मक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास है। जिन आठ ग्रंथ संग्रहों की चर्चा यहाँ की गई है, उनमें तीन प्रकार के विषय देखे जाते हैं। सर्वप्रथम तत्कालीन राजाओं चेर, चोल और पांड्य शासकों के गुण, वैभव और वीरता की प्रशंसा। दूसरे प्रकार के विषयों में प्रेम, दया, करुणा, जैसे जीवन मूल्यों पर काव्य रचनाएँ और तीसरे स्थान पर सौंदर्यएवं भक्ति से संबंधित विषयों पर लिखी गई कविताएँ हैं। इन रचनाओं को अन्य भी अनेक प्रकारों में वर्गीकृत किया जाता है, जिनमें सेएक विभाजन 'अगम' और 'पुरम' के रूप में है। इनमें से 'अगम' का अर्थ अंतरंग या आतंरिक है। इस प्रकार की रचनाओं में प्रेम, दया, करुणा, नीति, जैसे माननीय भावों का वर्णन किया गया है। पुरम का अर्थ बाहरी या सांसारिक है, जिसमें राजाओं के स्तुति , प्रशंसा, गौरव गान किया गया है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि संगम साहित्य अपने युग का दर्पण है और भारतीय ज्ञान परम्परा के उपासकों के लिए गर्व का विषय है। इन साहित्यिक कृतियों का उपयोग न केवल तमिल साहित्य अपितु इस क्षेत्र के राजनीतिक इतिहास के पुनर्लेखन के लिए किया जाता है।

3.3 संगम साहित्य का रचनाकाल

पारंपरिक विश्वास के अनुसार संगम साहित्य को दस हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है, लेकिनऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार संगम साहित्य की रचना का समय ईसा पूर्व तीसरी सदी से तृतीय अथवा चतुर्थी शताब्दी ईस्वी के बीच माना जाता है। लेकिन कुछ साहित्यिक औरऐतिहासिक कारणों से अनेक इतिहासकार और साहित्यकार संगम साहित्य की रचना के समय को लेकरएकमत दिखाई नहीं देते। उनके अनुसार इन ग्रंथों को केवल साहित्य रचना की दृष्टि से देखना पर्याप्त नहीं है, अपितु इन्हें दो संस्कृतियों के संगम के रूप में भी देखा जा सकता है। उनका कहना है कि संगम साहित्य की रचना प्रकिया वैदिक वाङ्मय से मिलती है। जिस प्रकार वैदिक साहित्य ऋषि–मुनियों और चिंतकों की चर्चा का परिणाम माना जाता है, उसी के अनुकरण से

संगम साहित्य को भी विद्वानों की सभाओं में संकलित किया गया।

अनेक इतिहासकार पांड्य राजाओं के संरक्षण में तीन साहित्य संगमों के आयोजन का भी सही नहीं मानते। उनके अनुसार इस प्रकार के संगम अनेक अंतरालों पर आयोजित होते रहते थे। उदाहरण के लिए श्री नीलकंठ शास्त्री मानते हैं कि इस प्रकार की साहित्य गोष्ठियाँ पहली से तीसरी तीसरी शताब्दी के बीच आयोजित की गईं। इसके विपरीत श्रीनिवास आयंगर इस साहित्य की रचना ईसा के पाँच सौ वर्ष पहले से लेकर इतने ही वर्ष बाद के कालखंड में प्रमाणित करते हैं। जबकि श्री रामशरण शर्मा संगम साहित्य को ईसा पश्चात तीसरी से छठी शताब्दियों के बीच रचा गया मानते हैं। इस प्रकार संगम साहित्य की रचना के विषय में अनेक मत हैं, फिर भी अधिकांश इतिहासकारऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर इस साहित्य को ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी से लेकर चौथी सदी के बीच रचा गया स्वीकार करते हैं।

3.4 संगम साहित्य की श्रेणियाँ

संगम साहित्य को विषय वस्तु की दृष्टि से पाँच क्षेत्रों में विभक्त किया जाता है, जिन्हें 'तिनै' के नाम से जाना जाता है। इनमें से प्रथम है 'कुरुंजी' जिसका अर्थ है पर्वत। इस संग्रह के ग्रंथों में जनजातीय समाज के जीवन को प्रदर्शित करने वाली रचनाएँ संग्रहित हैं, जिनमें कृषि आखेट भोजन–संग्रह जैसी सामान्य गतिविधियों के साथ ही अनेक सामाजिक परंपराओं पर भी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। दूसरा संग्रह 'पलै' या 'पलई' के नाम से जाना जाता है जिसका अर्थ निर्जल स्थल है। इस प्रकार के साहित्य में ग्रामीण जीवन की समस्याओं को सामने लाने के लिए लिखी गईं रचनाएँ हैं जो मुख्य रूप सेएनियर और मरवर समुदायों की जीवन शैली के आसपास केंद्रित हैं।

इस समुदायों का जीवन मुख्य रूप से आखेट अर्थात शिकार पर निर्भर था। इस श्रेणी के साहित्य में प्रेम और विरह का वर्णन भी उपलब्ध होता है। तीसरे प्रकार की श्रेणी 'मुल्लै' या 'मुल्लई' साहित्य की है, जिसका अर्थ जंगल है। इस प्रकार की रचनाओं में साहसिक यात्राओं का वर्णन उपलब्ध होता है। जो आयर और इटैय्यर समुदायों के जीवन के आसपास केंद्रित हैं और चरवाहों की जीवन शैली को प्रस्तुत करते हैं। इस साहित्य में आर्थिक गतिविधि के रूप में झूम खेती की चर्चा उपलब्ध होती है।

चौथी श्रेणी का नाम मरुधर है जिसका तात्पर्य है कृषि के लिए जोता गया मैदान। इस श्रेणी का साहित्य ईश्वर और बिलार जाती जातियों से संबंधित है, जिनकी मुख्य आजीविका कृषि, पशुपालन, हस्तशिल्प और अन्य ग्रामीण उद्योगों से संबंधित थी। इस श्रेणी के साहित्य में विवाह, वैवाहिक प्रेम और वेश्याओं के कपट व्यवहार की चर्चा भी प्राप्त होती है। पाँचवें और अंतिम प्रकार का साहित्य 'नेयतल' कहलाता है, जिसका अर्थ समुद्र का किनारा है। इस श्रेणी की रचनाएँ मुख्य रूप से मछुआरों और समुद्र तट के आसपास रहने वाले लोगों के जीवन को चित्रित करती हैं। इनमें मछली पकड़ने के लिएघर से दूर रहने वाले मछुआरों के वियोग, उनके जीवन संघर्ष और आपसी मतभेदों का वर्णन दिखाई देता है। मछली पालन और पकड़ने के साथ इस साहित्य में मोती निकालने और नमक की खेती जैसे कार्यों में लगे हुए लोगों के जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है।

3.5 संगम साहित्य की विशय–वस्तु

तमिल विश्वास परंपरा में संगम साहित्य के अंतर्गत हजारों रचनाएँ लिखे जाने की बात कही जाती है। लेकिन वास्तव में इनमें से कुछ ही आज उपलब्ध होती हैं। अधिकांश रचनाएँ या तो अन्य ग्रंथों में उद्धरण के रूप में मिलती हैं या उनके नामों की सूची साहित्य के इतिहासकार उपलब्ध कराते हैं। उनके अनुसार प्रथम संगम का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जबकि दूसरे संगम काएकमात्र उपलब्ध काव्य संकलन 'तोलकाप्पियम्' है। तीसरे संगम के अनेक ग्रन्थ संग्रह उपलब्ध होते हैं जिनमें आठ और दस काव्यों के दो संकलन 'एत्तुतौकै' और 'पत्थुप्पात्तु', तीन महाकाव्य; शिल्पादिकारकम्, मणिमेखलाई और जीवक चिंतामणि तथाएक नैतिक उपदेश संग्रह 'पदिनेकिकणक्कु' मुख्यतः प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थ पूर्ण रूप में तो अन्य पुस्तकें अंशतः उपलब्ध होती हैं। इन रचनाओं का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

3.5.1 तोलकाप्पियम्

संगम साहित्य की सर्वप्रथम रचना तोलकाप्पियम् कही जाती है, जो द्वितीय संगम में संगलित काव्य संग्रह है। यह ग्रन्थ संगम साहित्य के आदिपुरुष सिद्ध्यर अगस्त्यर या ऋषि अगस्त्य के प्रमुख शिष्य 'तोलकपियर' के द्वारा रचित मानी जाती है। यह मुख्य रूप से तमिल व्याकरण का व्याख्या ग्रंथ है, लेकिन इसमें अपने से पहले की तमिल साहित्य परंपरा, व्यवहार के नियम, जीवन मूल्य आदि के विषय में भी वर्णन प्राप्त होता है। तमिल भाषा अथवा संगम साहित्य की प्रथम कृति होने के कारण इसे उत्तरवर्ती साहित्य का प्रेरणास्रोत भी माना जाता है।

3.5.2 एत्तुतौकै

तमिल कवियों और विद्वानों के तीसरे संगम में लिखी गईं अनेक पुस्तकों का संग्रह आज भी उपलब्ध होता है। इनमें सेएत्तुतौकै भीएक है।एत्तुतौकै का शाब्दिक अर्थ अष्ट पदावली या आठ काव्यों का संग्रह है। इन संकलनों के नाम हैं; नणिण्नै, कुरुन्थोकै,एन्कुरूनूर, परित्रपल्ल, परिपादल, कलिथौके, अहनानूरू और पुरनानूरु इन काव्य संग्रहों की विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

- **नणिण्नै** – यहएक काव्य संकलन है जिसमें लगभग 400 पद्य संकलित हैं। ये सभी कविताएँ किसीएक कवि की नहीं हैं, अपितु अनेक रचनाकारों की कृतियों का संकलन हैं। कुछ विशेषज्ञों के अनुसार इस ग्रन्थ में सम्मिलित पद्यएक सौ पचहत्तर कवियों द्वारा रचे गए थे।

- **कुरुन्थोकै** – यह भी छोटे–छोटे गीतों का संकलन है जिसमें चार सौ दो कविताएँ प्राप्त होती हैं। इन गीतों में मुख्य रूप से प्रेम का सन्देश दिया गया है। इस संकलन का श्रेय 'पूरिक्कों नाम केएक तमिल सामन्त को दिया जाता है।

- **एन्कुरूनूर** – इस काव्य संग्रह में पाँच सौ लघुगीत संकलित हैं। इन गीतों का संग्रह 'किलार' नामक विद्वान के नेतृत्व में किया गया। इस संग्रह के गीत सभी मनुष्यों को परस्पर प्रेम और समानता का सन्देश प्रदान करते हैं।

- **परित्रपल्ल** – यहएक छोटा काव्य संग्रह है जिसकी केवल आठ कविताएँ आजकल उपलब्ध होती हैं। इन रचनाओं में चेर वंश के राजाओं की उदारता, वीरता और संरक्षणवृत्ति की प्रशंसा की गई है। इस अर्थ में यह ग्रन्थ राज्याश्रित

कवियों द्वारा लिखा गया चारणगीतों का संग्रह प्रमाणित होता है।

- **परिपादल** – चौबीस कविताओं के इस संग्रह में अनेक देवी–देवताओं की स्तुति की गई है। इस अर्थ में इसे वैदिक साहित्य से प्रेरित माना जाता है।

- **कलिथौके** – इस काव्य संग्रह मेंएक सौ पचास कविताओं का संकलन किया गया है। इनमें से अधिकांश में मानवीय भावों के साथ ईश्वरीय प्रेम के महत्त्व का वर्णन पाया जाता है।

- **अहनानूरू** – इस ग्रन्थ में चार सौ कविताओं का संग्रह किया गया है। इनमें से अधिकांश में प्रेम और वात्सल्य जैसे मानवीय मूल्यों की प्रशंसा की गई है। अनेक छंदों में दाम्पत्य प्रेम का भी उल्लेख पाया जाता है। इन रचनाओं के संग्रह का श्रेय मदुरा निवासी रुद्रशर्मा नामक विद्वान को दिया जाता है।

- **पुरनानूरु** – यह गीत संग्रह अपने विषय की दृष्टि से अन्य ग्रंथों से पृथक है। इसमें चार सौ कविताएँ संग्रहीत हैं, जो तत्कालीन राजाओं की प्रशंसा को समर्पित हैं। इस दृष्टि से यह अद्वितीय काव्य है जो आश्रय और संरक्षण देने वाली राजाओं की उदारता और उत्कृष्ट विचारों की स्तुति करता है।

3.5.3 पत्थुप्पात्तु

पत्थुप्पात्तु या पट्टुप्पट्टू शब्द का अर्थ है दशगीत संग्रह। अपने नाम के ही अनुसार इस संग्रह में दस गीतसंकलन उपलब्ध हैं।एट्टुथोकई के बाद यह दूसरा ग्रन्थ संग्रह है जो संगम काल में लिखा गया और आज भी उपलब्ध होता है। इस संग्रह की प्रमुख रचनाओं के नाम हैं; तिरुमुरुकात्रुप्पदै, नेडुनल्वादै, पेरुम्पानात्रुप्पदै, पत्तिनपाल्लै, पोरुनरात्रप्पदै, मदुरैकांची, सिरुपानत्रप्पदै, मुल्लैप्पात्तु, कुरिन्विप्पात्तु और मलैपदुकदाम। इन गीतसंग्रहों की विषयवस्तु का सामान्य परिचय इस प्रकार है –

- **तिरुमुरुकात्रुप्पदै** – इस गीत संग्रह में 'नक्कीरर' नाम के कवि की रचनाओं का संकलन है। इस पुस्तक को 'मुरुगन' देवता की मनोहारी स्तुतियों के लिए जाना जाता है। साथ ही, इसमें तमिलनाडु के अनेक पर्वतीय स्थलों के सौंदर्य का वर्णन किया गया है।

- **नेडुनल्वादै** – यह काव्य अपने शब्द चयन, विषयवस्तु और भाव की दृष्टि के बहुत उत्कृष्ट है। इसका रचनाकार 'नक्कीरर' नाम के कवि को माना जाता है। यद्यपि संग्रह में प्रेम और विरह से सम्बंधित केवल दस गीत प्राप्त होते हैं, फिर भी इसकी तुलना ब्रिटिश लेखक 'जॉनसन' से की जाती है।

- **पेरुम्पानात्रुप्पदै** – 'रुद्रक कन्नार' नामक कवि द्वारा रचित इस संग्रह में पाँच सौ गीत संकलित हैं। इन रचनाओं में कांची नगर के तत्कालीन शासक 'तोण्डैमान इलण्डिरैयन' के जीवन, राज्य–व्यवस्था और प्रजा वत्सलता आदि विषयों मेंऐतिहासिक वर्णन उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ को इतिहास की दृष्टि से प्रामाणिक माना जाता है।

- **पत्तिनपाल्लै** – इस संग्रह के रचनाकार भी 'रुद्रक कन्नार' को ही स्वीकार किया जाता है। इस गीत संग्रह में मुख्य रूप से प्रेम और दाम्पत्य से सम्बंधित कविताएँ संकलित हैं। इस रचनाओं में इतने सुन्दर और भावपूर्ण रीति से प्रेम को जीवन का केन्द्र बताया गया है कि इनसे प्रभावित होकर चोल नरेश करिकाल ने उन्हें

बहुत–सा धन भेंट करके सम्मानित किया था। इस रचना में चोल शासकों द्वारा बनवाए गए कावेरीपट्नम बन्दरगाह के विषय में विस्तार से जानकारी मिलती है।

- **पोरुनरात्रप्पदै** – महाकवि 'कन्नियार' द्वारा रचित इस कविता संग्रह में चोल शासक करिकाल की उदारता और विद्वानों के संरक्षण की प्रशंसा की गयी है। इसके माध्यम से उनकी शासन पद्धति, निर्णयों और कार्यों कीऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है।

- **मदुरैकांची** – यहएक छोटा गीतसंग्रह है जिसकी रचना 'मागुदि मरुथानर' नामक राजकीय कवि द्वारा की गई थी। इन रचनाओं में मरुथानर ने अपने आश्रयदाता पाण्ड्य शासक 'तलैयालंगानम् नेडुन्जेलियन' के वंश, शिक्षा, गुणों और कार्यों की अनेक प्रकार से प्रशंसा की है। यह ग्रन्थ भीऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक है।

- **सिरुपानत्रप्पदै** – इस ग्रन्थ की रचना 'नथ्थनार' द्वारा की गई थी। यह मुख्य रूप सेएकऐतिहासिक पुस्तक है जिसमें अपने समय के चेर, चोल और पाण्ड्य राजाओं, उनकी राजधानियों, तत्कालीन राजनीति, समाज और नैतिक मूल्यों का विवरण प्राप्त होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ अपनी प्रकृति में विशुद्ध राजनीतिक है।

- **मुल्लैप्पात्तु** – यह 'नप्पुथनार' नामक कवि द्वारा रचितएक छोटा गीत संग्रह है, जो प्रेम और विरह के भावों को समर्पित है। इस साहित्यिक कृति मेंएक रानी के पति–विरह का वर्णन बहुत ही सूक्ष्मता से किया गया है। इसके माध्यम से तत्कालीन समाज में सम्बन्धों की गहनता का परिचय प्राप्त होता है।

- **कुरिन्विप्पात्तु** – यह काव्य संग्रह 'कपिलर' द्वारा रचित छोटी किन्तु भावपूर्ण कविताओं का संकलन है। इसके माध्यम से तत्कालीन समाज, विशेष रूप में ग्रामीण जीवन की विविधता, चुनौतियों और उपलब्धियों की झाँकी प्रस्तुत की गई है।

- **मलैपदुकदाम** – यह पत्थुप्पात्तु या दशगीत संग्रह की अन्तिम और अनुपम कृति है जिसकी रचना 'कौशिकनार' नामक कवि द्वारा की गई थी। इस विशाल संग्रह में छह सौ गीत संकलित हैं। इन रचनाओं में प्रकृति के विविध पक्षों के साथ मनुष्य जीवन के भी विविध पक्षों का चित्रण किया गया है।

3.5.4 पदिनेकिकणक्कु

पदिनेकिकणक्कु संगम साहित्य परम्परा का तीसरा और सबसे बड़ा काव्य संग्रह है। इसमें नैतिक नियमों, पारम्परिक मूल्यों और सामाजिक जीवन से सम्बन्धित अट्ठारह धर्मोपदेश संकलित हैं। कहा जाता है कि मौलिक रूप में यह संग्रह वैदिक साहित्य के अनुकरण में रचा गया था। महान दार्शनिक और तमिल कवि तिरुवल्लुवर द्वारा लिखा गया काव्यसंग्रह तिरुक्कुरल भी इसी संग्रह का अंग है। तिरुक्कुरल में दस–दस कविताओं के कुलएक सौ अट्ठारह भाग हैं, जो धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामसूत्र में विभक्त हैं। लेकिन इसका अधिक महत्व धार्मिक ज्ञान और नैतिक मूल्यों की जानकारी के लिए है। इस ग्रन्थ में भारतीय जीवन मूल्यों का इतना विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है कि इसे पाँचवाँ वेद कहकर सम्मानित किया जाता है। अपने नैतिक उपदेशों और कथात्मक वर्णनों के कारण इसे तमिल साहित्य की बाइबल भी कहा जाता है।

3.5.5 महाकाव्य साहित्य की विषय–वस्तु

संगम साहित्य के अंतर्गत उपलब्ध होने वाले महाकाव्यों में शिल्पादिकरम, मणिमेखलाई और जीवक चिंतामणि शामिल हैं इनमें से शिल्पादिकरम को संगम साहित्य की सर्वप्रमुख रचना के रूप में स्वीकार किया जाता है। कुछ विद्वान इसे तमिल साहित्य का राष्ट्रीय काव्य कहकर भी सम्मानित करते हैं। इन महाकाव्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

3.5.5.1 शिल्पादिकारकम्

इस महाकाव्य की रचना चेर वंश के शासक शेनगुट्टुवन के छोटे भाई इलगोअदिगल के द्वारा की गई। इसकी विषयवस्तु कावेरिपट्टनम के व्यापारी कोवलन के जीवन पर केंद्रित है, जिसमें उस समय के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश की बृहद झांकी उपलब्ध होती है। इस महाकाव्य के नायक कोवलन का विवाह कन्नगी नाम कीएक सुंदर कन्या से हुआ था। उपन्यास में कन्नगी कोएक पतिव्रता स्त्री के रूप में दर्शाया गया है, जबकि कोवलनएक रसिक युवक है। विवाह के बाद उसकी भेंट माधुरी नाम कीएक अत्यधिक सुन्दर और कुशल नृत्यांगना से होती है, जो कुलवधू न होकर वेश्या है। माधुरी के प्रेम में पड़कर कोवलन कन्नगी का तिरस्कार करने लगता है और अपना पूरा समय तथा धन माधवी पर अर्पित कर देता है। उधर, माधुरी वेश्या होने के नाते कोवलम से केवल धन का संबंध रखती है और उसके निर्धन हो जाने पर उसका त्याग कर देती है। माधवी द्वारा त्याग दिए जाने पर कोवलम को अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है और वह अपनी पत्नी कन्नगी के पास वापस पहुँच जाता है। कन्नगी उसके प्रति सहानुभूति रखती है और जीवन चलाने के लिए अपने पास बचाएक नूपुर भी उसे अर्पित कर देती है। वे दोनों व्यापार की योजना बनाकर मदुरा नामक नगर में पहुँचते हैं जहाँ वे नूपुर को बेचने का प्रयास करते हैं। लेकिन उसी प्रकार का नूपुर मदुरा की रानी के पास भी था, जो खो गया था। कोवलन को उस नूपुर को चुराने के आरोप में पकड़ लिया जाता है और मृत्यु दंड दे दिया जाता है। इससे आहत कन्नगी उस पूरे नगर को अपने श्राप से भस्म कर देती है और स्वयं भी आत्मदाह कर लेती है। महाकाव्य के अंत में स्वर्गलोक में कोवलन और कन्नगी के पुनर्मिलन को दर्शाया गया है।

3.5.5.2 मणिमेखलाई

संगम साहित्य का दूसरा प्रसिद्ध महाकाव्य मणिमेखलाई है। इस महाकाव्य का रचनाकार मदुरा केएक बौद्ध व्यापारी वैशतनर को माना जाता है। इसका महाकाव्य की कथा का संबंध शिल्पादिकरम में वर्णित माधवी नामक वेश्या की पुत्री मणिमेखलाई से है। इसकी विषयवस्तु के अनुसार वेश्या होने पर भी माधवी कोवलन के प्रति आसक्त थी। जब उसे मदुरा में कोवलन के मृत्युदण्ड का समाचार मिलता है तो वह निराश होकर बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है। उधर उसकी पुत्री मणिमेखलाई भी अपने माता का व्यवसाय अपनाकर राजमहल में नृत्यांगना का कार्य करने लगती है। मदुरा का राजकुमार उदयन उस पर आसक्त हो जाता है और मणिमेखलाई के साथ संबंध स्थापित करना चाहता है। लेकिन वह राजकुमार के गलत इरादों को भाँप जाती है और राजमहल से भागकर अपनी माँ के पास बौद्ध संघ में चली जाती है। वहाँ माधवी उसे सांत्वना देती है और संसार के सत्य से परिचित कराती है। अपनी माता माधवी की प्रेरणा से मणिमेखलाई भी बौद्ध धर्म स्वीकार करके भिक्षुणी बन जाती है। इस महाकाव्य के माध्यम से उस समय के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में बौद्ध धर्म की मान्यता का परिचय प्राप्त होता है।

3.5.5.3 जीवक चिंतामणि

इस शृंखला का तीसरा महाकाव्य प्रसिद्ध तमिल लेखक तिरुतक्कदेवर के द्वारा लिखा गया है। इस महाकाव्य का नाम नायक जीवक नाम काएक राजा है जो अपने वीरता शौर्य और युद्ध कौशल के लिए विख्यात है। वह अपने पिता के हत्यारे से प्रतिशोध लेता है और शत्रु द्वारा छीने गए उनके राज्य को पुनः प्राप्त कर लेता है। लेकिनएक जैन श्रमण के उपदेश का उस पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है और वह जैन धर्म की दीक्षा स्वीकार करके साधु बन जाता है। इन उपन्यासों में से शिल्पादिकरम और मणिमेखलाई स्पष्ट रूप से बौद्ध धर्म से प्रभावित हैं; जबकि जीवक चिंतामणि उपन्यास पर जैन धर्म का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

3.6 संगम साहित्य का महत्त्व

संगम की सबसे बड़ी विशेषता तमिल क्षेत्र में निवास करने वाले विद्वानों, लेखकों, रचनाकारों, बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों कोएक मंच पर लाने के रूप में है। इन संगमों की सबसे बड़ी विशेषता भाट, चारण, उदीयमान कवियों और नवोदित रचनाकारों के साथ स्थापित लेखकों, विचारकों और विद्वानों के मार्गदर्शन और परामर्श को सम्भव बनाना था। इससे नए और अध्ययनशील लेखकों तथा कवियों को विद्वान साहित्यकारों तथा स्थापित विशेषज्ञों के मार्गदर्शन में साहित्य रचना का कौशल विकसित करने का अवसर प्राप्त होता था। जो स्थापित विद्वान थे उन्हें अपने ज्ञान और रचना पर उस समय के प्रतिष्ठित विद्वानों का समर्थन उपलब्ध होता था, जिससे उनका उत्साहवर्धन होता था। साथ ही इन विद्वानों की चर्चाओं का आनंद लेने के लिए और उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए जो जनसामान्य उपस्थित होते थे, उन के माध्यम से समाज में उत्कृष्ट वातावरण तैयार करने सुविधा होती थी। विद्वानों के सानिध्य से पूरे समाज को अपने ज्ञान, कौशल, चरित्र और विचारों को उन्नत करने का सुअवसर प्राप्त होता था। इस अर्थ में संगम साहित्य राजाओं के द्वारा अपने पूरी प्रजा को बौद्धिक और वैचारिक दृष्टि से उन्नत करने का प्रयास कहा जा सकता है।

संगम साहित्य तत्कालीन समाज, राजनीति, जीवन दर्शन, राजनीतिक स्थितियों, आदि के विषय में साहित्यिक ज्ञान प्राप्त करने काएक बहुमूल्य माध्यम है। इन रचनाओं के अध्ययन से हमें भारत की ज्ञान परंपरा का परिचय प्राप्त होता है। संगम साहित्य इस बात का प्रतीक है कि ज्ञान का उद्भव और विकास भारत के किसीएक क्षेत्र में होने वाली गतिविधि न होकर पूरे भारतीय उपमहाद्वीप की विशेषता रही है। इस साहित्य में विविध सामाजिक, राजनैतिक, साँस्कृतिक, और दार्शनिक सांस्कृतिक विषयों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिससे यह स्थापित हो जाता है कि भाषा और क्षेत्र की दृष्टि से भिन्न होने पर भी संगम साहित्य पूरी भारतीय ज्ञान परंपरा के साथ अटूट रूप से जुड़ा हुआ है। इस साहित्य के माध्यम सेएक ओर तो तमिल भाषा और उसके व्याकरण की जानकारी प्राप्त होती है, तो साथ ही इस भाषा क्षेत्र के विद्वानों के राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और अर्थशास्त्रीय चिंतन पर भी प्रकाश पड़ता है। इस साहित्य के अंतर्गत उपलब्ध होने वाले महाकाव्यों के अध्ययन से स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में प्रेम हो या युद्ध, राजनीति हो अथवा अर्थशास्त्र और जन–सामान्य हो या कुलीन वर्ग; सभी क्षेत्रों और स्तरों पर नैतिकता, जीवन मूल्यों और आध्यात्मिकता का प्रभाव अनुभव किया जा सकता है। यह विशेषता संगम साहित्य और भारतीय जीवन शैली को सम्पूर्ण विश्व में उत्कृष्ट बनाती है।

संगम साहित्य के महत्व पर विचार करते हुए दक्षिण भारत का इतिहास नामक पुस्तक में श्री नीलकंठ शास्त्री जी ने कहा है कि संगम साहित्य आदर्शवाद और वास्तविकता, गरिमा तथा परिश्रम, और शक्ति के साथ नैतिकता का अद्भुत सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि संगम काल के ग्रंथों को तमिल साहित्य का स्वर्ण काल कहा जाता है। इस साहित्य परएक ओर संस्कृत का प्रभाव है तो दूसरी ओर तमिल लोक संस्कृति, मान्यताओं, मूल्यों और जीवन शैली का परछाईं भी दृष्टिगोचर होती है।ऐसा विश्वास है कि इस साहित्य की रचना राजाओं द्वारा आयोजित कवियों के संगम के माध्यम से हुई। लेकिन, इसी से जुड़ा सत्य यह भी है यह संपूर्ण साहित्य लोक परंपरा के कवियों के द्वारा रचित है, केवल दरबारी विद्वानों के द्वारा नहीं। यही कारण है कि यह साहित्य अपने समय के पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करता है।

3.7 सारांश

संगम साहित्य इस बात का प्रतीक है कि जब देश में शांति और सुरक्षा होती है, तभी समाज, साहित्य और संस्कृति का भी उत्कर्ष होता है। जिस काल अवधि में दक्षिण भारत में संगम साहित्य का उदय हुआ, वह तीन सबसे शक्तिशाली तमिल राजवंशों चेर, चोल और पांडय का शासन काल था। इनमें से पांड्य शासकों ने विद्वान कवियों, रचनाकारों और बुद्धिजीवियों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। समय–समय पर उनकी गोष्ठियाँ आयोजित की गईं। इन्हीं गोष्ठियों या विद्वत संगमों में जो साहित्य चर्चा और विचार विमर्श हुआ, उनके परिणाम स्वरूप संगम साहित्य अस्तित्व में आया।

संगम साहित्य का उद्भव निश्चित रूप से विद्वानों, कवियों, विचारकों, लेखकों आदि की संगोष्ठियों के माध्यम से हुआ। लेकिन इस विषय में यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि इस साहित्य को 'संगम साहित्य' का नाम पहली बार सातवीं शताब्दी के आरंभ में जन्मे शैव संप्रदाय के संत तिरुनवुक्कारासु नयनार ने दिया था। उन्होंने इस साहित्य के सृजन में पांड्य राजाओं और विद्वान आचार्यों के सहयोग की प्रशंसा करते हुए पहली बार इस साहित्य को संगम साहित्य कहकर संबोधित किया था। उसके बाद यह से यह शब्द तीसरी सदी ईसा पूर्व से चौथी शताब्दी ईस्वी के बीच रचे गए तमिल भाषा के साहित्य के लिए होने लगा। संगम साहित्य की परंपरा में जितनी भी रचनाएँ की गईं उनकी संख्या तो पारम्परिक रूप से तो लगभग दस हज़ार कही जाती है, लेकिन उनमें सेएक चौथाई और ठीक–ठीक कहें तो दो हजार दो सौ नवासी ही आज उपलब्ध होती हैं। इनमें से कुछ तो पूर्ण रूप में उपलब्ध हैं, जबकि कुछ के छोटे–छोटे अंश ही उद्धरणों के रूप में प्राप्त होते हैं।

संगम साहित्य की कविताएँ और गीत बहुत समय तक मौखिक परंपरा के माध्यम केएक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते रहे। बाद में लेखन कला के विकसित होने पर इन्हें लिपिबद्ध किया गया। यही कारण है कि संगम साहित्य के संदर्भ में जिन ग्रंथों का परिचय मिलता है और उन ग्रंथों में जितनी कविताओं के होने की बात कही जाती है; न तो वे सभी ग्रंथ उपलब्ध होते हैं और न हि उन ग्रंथों में उतनी संख्या में गीत पाए जाते हैं। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि मौखिक परंपरा से हस्तांतरित होने के विषय में संगम ग्रंथ वैदिक साहित्य के समकक्ष हैं। लेकिन संगम साहित्य को यथारूप बनाए रखने की उस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हो पाई, जैसी व्यवस्था वैदिक साहित्य को शब्दशः संग्रहीत करने के लिए की गई थी। उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार संगम साहित्य की रचनाओं का लिखित रूप में संरक्षण आठवीं शताब्दी से आरंभ हुआ।

अनेक कालखण्डों में रचित इस प्राचीन और मौखिक साहित्य को लिपिबद्ध करना भी कोई सामान्य कार्य नहीं था। फिर भी, आज हमें विभिन्न संगमों की रचनाएँ कालक्रम के अनुसार उपलब्ध होती हैं जो बहुत आश्चर्य और संतोष की बात है। इन ग्रन्थों के विषय में प्रामाणिक विवरण उपलब्ध कराने की दिशा में सबसे उल्लेखनीय कार्य नक्कीरनार नामक तमिल साहित्यकार ने आठवीं शताब्दी में किया। उन्होंने संगम साहित्य को उनके विषयों के आधार पर दो भागों में बाँटा है। इनमें सेएक खण्ड को 'अकम' और दूसरे को 'पुरम' कहा जाता है। इनमें से 'अकम' में संकलित रचनाएँ जनसामान्य के भावों, विचारों, अनुभवों आदि मानसिक विषयों से सम्बन्धित हैं। दूसरी ओर, 'पुरम' साहित्य के माध्यम से सामाजिक और राजनीतिक जीवन की झाँकी दिखाई देती है। संगम साहित्य के विषय में इस विवरण से स्पष्ट है कि यह परम्परा प्राचीन भारतीय ज्ञान, साहित्य और जनजीवन के विषय में जानकारी के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

3.8 पारिभाषिक शब्दावली

संगम साहित्य – ईसापूर्व तीसरी सदी से चौथी शताब्दी ईस्वी तक दक्षिण भारत की कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के बीच के भूक्षेत्र में पांड्य राजाओं के संरक्षण में आयोजित कवियों और लेखकों की मंडलियों में संकलित रचनाएँ संगम साहित्य के नाम से विख्यात हैं।

मुच्चंगम – संगम या साहित्य गोष्ठी का स्थानीय नाम। संगम इसी मुच्चंगम का संस्कृत अनुवाद है।

प्रथम संगम – प्रथम संगम का आयोजन ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व तमिलनाडु के मदुरै नगर में किया गया था। कहा जाता है कि इस अवसर पर महान संतों, कवियों और विद्वानों के साथ देवगण भी सम्मिलित हुए थे। इसकी अध्यक्षता तमिल विद्वान सिद्धर अगस्त्यर ने की थी, जिन्हें महर्षि अगस्त्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस अवसर पर ऋषि अगस्त्य अथवा अगस्त्यर द्वारा लिखित 'अकट्य' के साथ ही परिपदल, अकत्तियम, मुदुकुरुकु, मुदुनारै, कलिरियाविरै आदि अनेक ग्रंथों के लेखन का विवरण प्राप्त होता है, लेकिन इनमें से कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

द्वितीय संगम – दूसरे तमिल संगम का आयोजन कपाटपुरम नामक नगर में आयोजित किया गया। इसकी अध्यक्षता ऋषि अगस्त्य के शिष्य तोलकापियर ने की। इस अवसर पर अंकतियम, मापुरानम्, कलि, व्यालमलय्, कुरुक और तोलकाप्पियम शामिल हैं। 'तोलकप्पियम' में तमिल भाषा के व्याकरण और मानव जीवन के चारों पुरुषार्थों की व्याख्या पाई जाती है।

तृतीय संगम – तृतीय संगम का आयोजन मदुरा राज्य में हुआ। इसकी अध्यक्षता नक्कीकर नामक महाकवि ने की। इस अवसर पर रचित ग्रन्थों में तीन काव्य संग्रह और तीन महाकाव्य प्रमुख हैं। इन संकलनों के नाम 'एतुत्थोकई', 'पत्थुप्पात्तु' और पदिनेकिकणक्कु है जबकि महाकाव्यों के नाम शिल्पादिकारम्, मणिमेखलय और जीवक चिन्तामणि हैं।

तोलकाप्पियम् – इसे संगम साहित्य की सर्वप्रथम रचना के रूप में स्वीकार किया जाता है। संगम साहित्य के आदिपुरुष सिद्ध्यर अगस्त्यर के प्रमुख शिष्य 'तोलकपियर' के द्वारा रचित इस ग्रन्थ में तमिल व्याकरण की व्याख्या और नैतिक नियमों, जीवन मूल्यों तथा पारंपरिक विश्वासों का संग्रह है।

एत्तुतौकै – यह तीसरे संगम में संकलित आठ काव्यों का संग्रह है। जिनके नाम नणिण्नै, कुरुन्थोकै,एन्कुरूनूर, परित्रपल्ल, परिपादल, कलिथौके, अहनानूरू और पुरनानूरु हैं। इन काव्यों में प्रेम, वात्सल्य, भक्ति, राजाओं की प्रशंसा और प्राकृतिक सौन्दर्य जैसे विषयों की प्रधानता है।

पत्थुप्पात्तु – संगम काल में लिखे गए इस काव्य संग्रह में दस रचनाएँ सम्मिलित हैं। इनके नाम हैं; तिरुमुरुकात्रुप्पदै, नेडुनल्वादै, पेरुम्पानात्रुप्पदै, पत्तिनपाल्लै, पोरुनरात्रप्पदै, मदुरैकांची, सिरुपानत्रप्पदै, मुल्लैप्पात्तु, कुरिन्विप्पात्तु और मलैपदुकदाम। इन रचनाओं में धर्म, नीति, दर्शन, प्राकृतिक व मानवीय प्रेम, राजाओं की प्रशंसा और सामाजिक विषयों की चर्चा पाई जाती है।

पदिनेकिकणक्कु – यह संगम साहित्य परम्परा का तीसरा और सबसे बड़ा काव्य संग्रह है। इसमें नैतिक नियमों, पारम्परिक मूल्यों और सामाजिक जीवन से सम्बन्धित अट्ठारह धर्मोपदेश संकलित हैं। महान दार्शनिक तिरुवल्लुवर द्वारा लिखित 'तिरुक्कुरल' भी इसी संग्रह का अंग है।

शिल्पादिकारकम् – इस महाकाव्य की रचना चेर वंश के शासक शेनगुट्टुवन के छोटे भाई इलगोअदिगल के द्वारा की गई। इसकी विषयवस्तु कावेरिपट्टनम के व्यापारी कोवलन के जीवन पर केंद्रित है, जिसमें उस समय के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश की बृहद झांकी उपलब्ध होती है। इस महाकाव्य के नायक कोवलन का विवाह कन्नगी नाम कीएक सुंदर कन्या से हुआ था।

मणिमेखलाई – इस महाकाव्य की रचना मदुरा केएक बौद्ध व्यापारी वैशतनर ने की। इस ग्रन्थ में मणिमेखलाई नाम कीएक वेश्या की कहानी है जो संसार के आक्रामक और वासनामय व्यवहार से परेशान होकर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेती है। इस महाकाव्य के द्वारा तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक जीवन की वास्तविकता और बौद्ध धर्म के प्रभाव का आभास होता है।

जीवक चिंतामणि – इस महाकाव्य के लेखक प्रसिद्ध जैन कवि तिरुतक्कदेवर हैं। इसका नायक जीवक अपने वीरता शौर्य और युद्ध कौशल के लिए विख्यात है। लेकिनएक जैन श्रमण के उपदेश से प्रभावित होकर वह जैन धर्म की दीक्षा शिकार करके साधु बन जाता है

3.9 सन्दर्भग्रन्थ–सूची

दूबेएच.एन., दक्षिण भारत का इतिहास, शारदा पुस्तक भण्डार, प्रयागराज, 2002.

श्रीवास्तव चयनिका, दक्षिण भारत का राजनीतिक इतिहास,एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग् हाउस, आगरा, 2023.

मुरारी मयंक, जम्बूद्वीपे भरतखण्डे, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017.

माहेश्वरी आर., सिंह वीथिका, राष्ट्रगौरव और भारतीय चिन्तन,एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग् हाउस, आगरा, 2020.

वर्माएस. आर. भारतीय समाजएवं संस्कृति,एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग् हाउस, आगरा, 2006.

सिंह विपुल, भारतीय इतिहास; आरम्भ से 12वीं सदी तक, पीयरसन पब्लिकेशन्स, इण्डिया, नई दिल्ली, 2008.

3.10 बोध–प्रश्न

प्रस्तुत इकाई में आपने संगम साहित्य से सम्बन्धित प्रायः सभी विषयों का सामान्य विवरण प्राप्त किया है। इसमें संगम शब्द के तात्पर्य, तीन साहित्य संगमों, उनमें संकलित ग्रन्थों, उन काव्यों की विषयवस्तु और महत्त्व की चर्चा सम्मिलित है। यहाँ इन विषयों से सम्बन्धित कुछ लघूत्तर और विस्तृत उत्तर प्रश्न प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जिनके अभ्यास से आप अपने अधिगम का मूल्यांकन कर सकते हैं –

3.10.1 लघूत्तरीय प्रश्न

- संगम साहित्य से आप क्या समझते हैं?
- तीन संगमों का सामान्य परिचय प्रस्तुत कीजिए।
- संगम साहित्य के रचनाकाल पर टिप्पणी कीजिए।
- तीसरे संगम में संकलित काव्यों का सामान्य विवरण दीजिए।
- तोलकप्पियम के विषय में संक्षिप्त अनुच्छेद लिखिए।

3.10.2 विस्तृत–उत्तरीय प्रश्न

- एतुत्थोकई में सम्मिलित रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
- पत्थुप्पात्तु काव्य–संकलन का परिचय देते हुए अनुच्छेद लिखिए।
- पदिनेकिकणक्कु संग्रह की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
- संगम साहित्य के अन्तर्गत रचित तीन महाकाव्यों की कथा को अपने शब्दों में लिखिए।
- संगम साहित्य के महत्त्व पर निबन्ध लिखिए।

खण्ड 6
प्रमुख कवि

खण्ड 6 परिचय

हिन्दू अध्ययन के मूल स्रोत के रूप में निर्धारित द्वितीय पाठ्यक्रम के छठे खण्ड में आपका स्वागत है। इसके पूर्व आपने वेद पुराण, वेदांग, सूत्र, आगम,संगम साहित्य के माध्यम से अध्ययन के मूल स्रोतों को जाना प्रस्तुत खण्ड प्रमुख कवियों का है इस खण्ड में चार इकाइयों के माध्यम से विषयवस्तु का वर्णन किया गया है। महाकाव्य एवं नाटक भी भारतीय विद्याओं के पोषक हैं। इस क्रम में प्रथम इकाई में सर्वप्रथम भास एवं कालिदास के नाटकों का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। दूसरी इकाई में कालिदास रचित काव्यों में निरूपित मुख्य तथ्यों को विशेष अध्ययन के रूप में रखा गया है। तीसरी इकाई में राजतंरगिणी में निरूपित राजव्यवस्था , राजधर्म आदि का वर्णन किया गया है। जिसके अध्ययन से आपको इस ग्रन्थ की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त होगी। भारत में गाथा साहित्य का भी महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय ज्ञान परम्परा को गाथा साहित्य में भी देखा गया है। इसी हेतु इस खण्ड की चौथी इकाई में चन्दवरदायी को प्रस्तुत किया गया है। पूर्ण खण्ड में आप प्रमुख कवियों का विशेष अध्ययन कर लेने के पश्चात् नाटक, काव्य एवं गाथा , साहित्य में प्रतिबिम्बित भारतीय ज्ञान संगम का उल्लेख कर पायेंगें।

इकाई 1 भास एवं कालिदास के नाटकों का विशेष अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

"भास एवं कालिदास के नाटकों का विशेष अध्ययन" इस विषय में से संबंधित इस प्रथम इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप:-

- महाकवि भास के जीवन वृत्त तथा कृतित्व से परिचित हो सकेंगे।
- महाकवि भास के नाटकों के वैशिष्ट्य को जान सकेंगे।
- महाकवि कालिदास के जीवनवृत्त तथा नाटकों से परिचित हो सकेंगे।
- महाकवि कालिदास के नाटकों की विषयवस्तु का विश्लेषण कर सकेंगे।
- महाकवि भास तथा महाकवि कालिदास के नाटकों में अभिव्यक्त भारतीय संस्कृति के तत्वों से परिचित हो सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

हिंदू अध्ययन विषय से संबंधित इस इकाई के अंतर्गत हम संस्कृत साहित्य जगत् के दो महाकवियों भास एवं कालिदास के नाटकों का अध्ययन करेंगे। वस्तुतः इन दोनों ही महाकवियों में अपने नाटकों में लोक जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। तत्कालीन भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों को जानने की दृष्टि से इस इकाई का अध्ययन आपके लिए परम उपयोगी सिद्ध होगा।

इस इकाई के अंतर्गत भास एवं कालिदास के नाटकों में अभिव्यक्त भारतवर्ष की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा शैक्षणिक आदि स्थिति को कतिपय उदाहरणों के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आप अवगत हैं कि भारत एक धर्म प्रधान देश है वैदिक साहित्य तथा पुराणों का भारतीय समाज में प्रभाव अद्यावधि दृष्टिगत होता है। भास एवं कालिदास के नाटक के पात्रों में भी इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। भास के तेहर नाटकों में नौ नाटक रामायण, महाभारत, तथा पुराण साहित्य पर आश्रित हैं। इस प्रकार कालिदास के द्वारा प्रणीत तीन नाटकों में विक्रमोर्वशीय नाटक का उपजीव्य ऋग्वेद है| अभिज्ञानशाकुंतल नाटक महाभारत तथा पुराणों की कथा के आधार पर रचित है। ये वेद, रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि ग्रन्थ भारतीय समाज का मार्गदर्शन करते हैं| जिनकों आधार बना कर भास और कालिदास ने अपने नाटकों की रचना की है| यही कारण है कि भारतीय ज्ञान परम्परा के संवाहक भास एवं कालिदास के इन नाटकों में भारतीय धर्म, दर्शन तथा संस्कृति का दिग्दर्शन होता है।

1.2.1 भास का परिचय

संस्कृत नाटक साहित्य में महाकवि भास का स्थान अत्यन्त महनीय एवं उदात्त है| ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में जब नाट्य साहित्य तथा नाट्य सिद्धांतों का पर्याप्त विकास भी ना हो पाया था, उस समय भास ने अपने नाटकों की रचना की थी। महाकवि कालिदास, बाण, वाक्पतिराज तथा राजशेखर आदि प्राचीन कवियों ने एक महान नाटककार के रूप में उनका स्मरण किया है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक संस्कृत के विद्वान केवल भास के नाम मात्र से ही परिचित थे। उनकी प्रशस्तियां तो यत्र-तत्र प्राप्त हो जाती थी, किंतु उनकी रचनाएं प्राप्त नहीं थी। वर्ष 1910 ईस्वी में दक्षिण भारत के प्रख्यात संस्कृत विद्वान टी. गणपति शास्त्री ने भास के नाटकों की अप्राप्त पांडुलिपियों का अन्वेषण किया। टी. गणपति शास्त्री ने भास् के द्वारा लिखे गए 13 नाटकों की पांडुलिपियों का प्रकाशन भासनाटकचक्र नाम से किया। भास के नाटकों को प्रकाश में लाने का उनका यह कार्य नाट्य साहित्य के इतिहास में उनका अविस्मरणीय योगदान है।

महाकवि भास ने रामायण, महाभारत, पुराण तथा लोक कथाओं आदि के आधार पर विषय संग्रहित कर नाटकों की रचना की है तथा प्रतिनिधि कथाओं में आवश्यकता अनुसार उचित परिष्कार और परिमार्जन भी किया है। भास का कवि रूप भी इन नाटकों में अत्यन्त स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त होता है। अत्यन्त गहन मनोभावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति भास की अपनी विशेषता है। महाकवि भास के विषय में कतिपय महाकवियों की प्रशस्तियां अधोलिखित हैं-

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव।। (बाणभट्ट)

सुविभक्तमुखाद्यंगैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः।। (दण्डी)
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।। (जयदेव)

इस प्रकार भास की कीर्ति संस्कृत साहित्य जगत में प्रसिद्ध है| किंतु उनके स्थिति-काल के विषय में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता| भास के स्थिति-काल को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है| कुछ विद्वान भास को ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में मानते हैं, तो कतिपय विद्वान ईसा की 10

वीं शताब्दी में उनकी स्थिति मानते हैं। किंतु अंतःसाक्ष्य तथा बाह्यसाक्ष्यों के परीक्षण के आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भास का स्थिति-काल चतुर्थ तथा पंचम शताब्दी ईसा पूर्व में माना है।

भास के जीवन-वृत्त के संबंध में जानकारी का अभाव है| उनके नाटकों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वह उत्तर भारत के निवासी थे, क्योंकि उनके द्वारा रचित नाटकों में उत्तर भारत के नगरों, नदियों, पर्वतों तथा संस्कृति का व्यापक वर्णन प्राप्त होता है| उज्जैन, अयोध्या और मथुरा से उनका विशेष प्रेम प्रतीत होता है| उत्तर भारत की तुलना में उन्हें दक्षिण भारत का ज्ञान सीमित प्रतीत होता है| उन्होंने अपने ग्रंथों में राज प्रासादों, अंतःपुर आदि का सूक्ष्मता से वर्णन किया है| जिससे प्रतीत होता है कि भास का राज परिवारों से गहन संबंध रहा होगा। भास की रचनाएं रामायण तथा महाभारत आदि धार्मिक ग्रंथों के कथानकों के आधार पर निर्मित हैं| जिससे ज्ञात होता है कि भास वैष्णव धर्म के अनुयायी तथा वैदिक कर्मकांड में पूर्ण आस्था रखने वाले थे| भास कृत नाटकों के अनुशीलन से लक्षित होता है कि वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र आदि का उन्हें पर्याप्त ज्ञान था| काव्यशास्त्र में उनकी निपुणता सुस्पष्ट दिखाई देती है| जिससे उनकी विद्वत्ता प्रमाणित होती है।

1.2.2 भास के द्वारा रचित नाटकों का संक्षिप्त परिचय

आपने पूर्व में पड़ा है कि केरल के प्रख्यात संस्कृत विद्वान टी. गणपति शास्त्री ने भासनाटकचक्र नामक पुस्तक में भास के 13 संस्कृत रूपकों का प्रकाशन किया था। इन रूपको की विषयवस्तु की उपजीव्यता के आधार पर इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है-

(क) रामायण कथा पर आश्रित रूपक - प्रतिमानाटक, अभिषेक नाटक

(ख) महाभारत कथा पर आश्रित रूपक - मध्यमव्यायोग, पंचरात्र, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरूभंग।

(ग) श्री कृष्ण कथा पर आश्रित रूपक - बालचरित

(घ) लोककथाओं पर आश्रित रूपक - स्वप्नवासवदत्त, प्रतिज्ञायौगंधरायण, अविमारक, दरिद्रचारुदत्त।

अब हम क्रमशः इन रूपकों के कथानक का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे।

स्वप्नवासवदत्त

महाकवि भास के नाटकों में आप स्वप्नवासवदत्त को सर्वश्रेष्ठ नाटक कह सकते हैं। वत्स देश के राजा उदयन की कथा पर आश्रित यह नाटक 6 अंकों में विभक्त है। स्वप्नवासवदत्त के मूल कथानक के अनुसार वत्स देश के राजा उदयन का मंत्री यौगंधरायण शत्रु देश के राजा आरुणि को परास्त करने के लिए महारानी वासवदत्ता को विश्वास में लेकर गुप्त योजना बनाता है। जिसके अनुसार वह मगध देश की राजकुमारी पद्मावती से महाराजा उदयन का विवाह करा कर मगध देश की सहायता प्राप्त कर शत्रु राजा को परास्त करना चाहता है| इसके लिए योजना के अनुसार यौगंधरायण महारानी वासवदत्ता की दुर्घटना में मृत्यु की मिथ्या सूचना फैला देता है तथा राजकुमारी पद्मावती से राजा उदयन का विवाह करवा कर शत्रु राजा को परास्त कर देता है। बाद में नाटकीय घटनाक्रम के अनुसार महाराजा उदयन को सारी योजना का पता लग जाता है तथा महारानी वासवदत्ता से भी उनका मिलन हो जाता है| इस प्रकार स्वप्नवासवदत्ता

नाटकीयता और कथा-संविधान दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं।

प्रतिज्ञायौगंधरायण

महाकवि भास के द्वारा विरचित यह रूपक 4 अंकों में विभक्त है। कथावस्तु के दृष्टि से यह स्वप्नवासवदत्ता का पूर्वार्ध कहा जा सकता है। इस रूपक में भी राजा उदयन की कथा को आश्रित कर नाटक के संविधान की रचना की गई है। कथानक के अनुसार उज्जयिनी के राजा प्रद्योत जिनका दूसरा नाम चंड प्रद्योत या महासेन भी है, वे अपनी पुत्री वासवदत्ता का विवाह वत्सराज उदयन के साथ कराना चाहते थे। उन्हें भय था कि उदयन कहीं उनकी पुत्री से विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार न कर दें। इसीलिए उन्होंने कृत्रिम नील हस्ती के छल से उदयन को पकड़वा कर अपने राज प्रासाद में बंदी बना लिया। प्रद्योत की पुत्री राजकुमारी वासवदत्ता वीणा सीखने के लिए बंदी उदयन के पास आने लगी तथा दोनों के मध्य प्रेम हो गया| राजा उदयन का मंत्री यौगंधरायण कूट योजना बनाकर उदयन को छुड़ाने के लिए उज्जैन जाते हैं और अपने साथियों के साथ वेश बदलकर किसी तरह उन्हें बाहर निकाल देते हैं। उज्जैनी नरेश की सेना उन्हें घेर लेती है| यौगंधरायण पकड़ा जाता है, किंतु उज्जयिनी नरेश प्रद्योत अपनी पुत्री के विवाह से प्रसन्न हो कर यौगंधरायण को दंड के स्थान पर पुरस्कृत करते हैं तथा नाटक की समाप्ति होती है।

यह कोतुहल पूर्ण नाटक संविधान की दृष्टि से नाट्य साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यद्यपि यह नाटक किस कोटि का रूपक है, यह नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर निश्चित रूप से कह पाना कठिन है। इसे नाटक, नाटिका, ईहामृग अथवा प्रकरण इन रूपक भेदों में रखा जा सकता है। किंतु किसी भी रूपक के संपूर्ण लक्षण इसमें पूर्ण रूप से घटित नहीं होते हैं।

दरिद्रचारुदत्त

चारुदत्त की कथा पर आश्रित यह अपूर्ण रूपक 4 अंकों में विभक्त है| यह रूपक महाकवि शुद्रक द्वारा विरचित मृच्छकटिक के प्रारंभिक चार अंको से साम्यता रखता है। रुपक का नायक चारुदत्त एक ब्राह्मण व्यापारी है, जो अपनी दान शीलता के कारण दरिद्र हो चुका है| एक दिन चारुदत्त के घर वसंतसेना नाम गणिका, जिसका पीछा शकार और विट कर रहे होते हैं, वह प्रवेश कर जाती है तथा अपने आभूषण धरोहर के रूप में चारुदत्त के पास छोड़कर चली जाती है। इन आभूषणों को सज्जलक नामक व्यक्ति चारुदत्त के घर चुरा लेता है| चतुर्थ अंक में गणिका वसंतसेना चारुदत्त के पास अभिसार के लिए जाने को तैयार होती है। इस प्रकार यह रूपक अपूर्ण ही समाप्त होता है।

अविमारक

राजकुमार अविमारक की कथा पर आश्रित यह रूपक 6 अंकों में विभक्त है। अविमारक काशीराज की रानी सुदर्शना का पुत्र है, जिसका वास्तविक नाम विष्णुसेन है। अविमारक को उसकी मां ने अपनी बड़ी बहन सौवीरराज की पत्नी सुचेतना को बचपन में ही दे दिया था। चंडभार्गव ऋषि के श्राप के कारण सौवीरराज 1 वर्ष के लिए चांडाल हो कर कुन्तिभोज की नगरी में छुप कर निवास करने लगते हैं। जहां कुन्तिभोज की पुत्री कुरंगी को अविमारक एक हाथी के आक्रमण से बचाता है और इस घटना के बाद दोनों के मध्य प्रेम हो जाता है। वे दोनों गांधर्व विवाह कर लेते हैं। जब इस बात का पता सौवीरराज को लगता है तो वे क्रोधित हो कर अविमारक को पकड़ने का प्रयास करते हैं। किंतु नाटकीय घटनाक्रम के यह पश्चात् अंत में सभी

को अविमारक और कुरंगी का विवाह मान्य हो जाता है। इस नाटक का मुख्य रस श्रृंगार है। मध्य में अन्य रसों के साथ अद्भुत रस का भी चमत्कार अचंभित करता है।

मध्यमव्यायोग

महाभारत की कथा पर आश्रित यह व्यायोग कोटि का रूपक है। इसमें मुख्य पात्र तो महाभारत के हैं, किंतु जिस कथा का इसमें चित्रण है, वह महाभारत में प्राप्त नहीं होती है।

कथानक के अनुसार केशवदास नामक ब्राह्मण सपरिवार वन से गुजर रहा होता है जिसके मध्यम पुत्र को भीम व हिडिम्बा का पुत्र घटोत्कच अपनी माता के व्रत के पारायण हेतु ले जाता है। मार्ग में घटोत्कच उस ब्राह्मण पुत्र को "मध्यम" कह कर संबोधित करता है। इस "मध्यम" संबोधन को सुनकर महाबली भीम, जो अपने भाइयों में मध्यम क्रम में है, वह उपस्थित हो जाता है तथा ब्राह्मण पुत्र को बचाने के लिए उसके स्थान पर स्वयं घटोत्कच के साथ जाता है। घटोत्कच भीम को नहीं पहचानता है और उसे अपनी मां के समक्ष प्रस्तुत कर देता है। अंत में हिडिंबा घटोत्कच को इस भूल का बोध कराती है तथा इस सुखान्तक व्यायोग की समाप्ति होती है।

पंचरात्र

यह रूपक महाभारत की कथा पर आश्रित है। कथा के अनुसार दुर्योधन यज्ञ की समाप्ति पर गुरुजनों को दक्षिणा देता है, किंतु द्रोणाचार्य दक्षिणा में पांडवों के लिए आधा राज्य मांगते हैं, जिसके लिए दुर्योधन एक शर्त रखता है कि यदि गुरू द्रोण अज्ञातवास पर गए पांडवों का पता लगा दें, तो वह पांडवों को आधा राज्य दे देगा। इसके पश्चात कुरु एवं विराट के मध्य युद्ध प्रारंभ हो जाता है| युद्ध में बृहन्नला के वेश में छुपा अर्जुन विराट की ओर से युद्ध करता है तथा युद्ध में विराट की विजय होती है| प्रसन्न विराट अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के कहने पर अर्जुन के ही पुत्र अभिमन्यु से कराते हैं। पांच रात्रियों में पांडवों का पता हो जाने के कारण द्रोण के कहने पर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दुर्योधन पांडवों को आधा राज्य देने पर सहमत हो जाते हैं तथा कथानक की समाप्ति होती है।

इस रूपक में वर्णित कौरवों और विराट के युद्ध की घटना महाभारत में प्राप्त होती है I, किंतु पांडवों को आधा राज्य लौटा देने की प्रतिज्ञा तथा प्रतिज्ञा का पालन करते हुए आधा राज्य लौटा देने का प्रसंग महाकवि भास की अभिनव कल्पना है।

दूतवाक्य

यह रूपक भी महाभारत की कथा पर आश्रित है। कथानक के अनुसार महाभारत के युद्ध से पूर्व श्री कृष्ण पांडवों की ओर से संधि का प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास जाते हैं। दुर्योधन राजसभा में उन्हें अपमानित करने का प्रयास करता है तथा संधि के प्रस्ताव को स्वीकार न करते हुए उन्हें बंदी बनाने का आदेश देता है। किंतु जब कोई श्री कृष्ण को बंदी बनाने नहीं आता तब दुर्योधन स्वयं उन्हें बंदी बनाने का प्रयास करता है। उस समय श्रीकृष्ण अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं। अंत में दुर्योधन की अपराध के लिए महाराज धृतराष्ट्र तथा गांधारी कृष्ण से क्षमा याचना करते हैं। इसके पश्चात् नाटक की समाप्ति होती है। नाटक में नाटककार महाकवि भास ने दुर्योधन के घमंड तथा पांडवों और कृष्ण के प्रति उसके मन में तीव्र वैमनस्य के भाव का चित्रण सफलता के साथ नाटककार महाकवि भास ने किया है।

कर्णभार

महाभारत की कथा पर आधारित यह महाकवि भास का अभिनव रुपक है, जिसका नायक कर्ण है। महाभारत के युद्ध में अर्जुन से संग्राम के लड़ने के लिए जाते समय कर्ण अपने सारथी शल्य को ऋषि परशुराम से मिले हुए श्राप का वृतांत बताता है। इसी समय ब्राह्मण के भेष में देवराज इंद्र कर्ण को ठगने के लिए आ जाते हैं। अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए कर्ण ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र को अपने कवच और कुंडल दे देता है तथा नाटक की समाप्ति होती है।

दूतघटोत्कच

इस रूपक के पात्र महाभारत से संबंधित हैं, किंतु इसके कथानक से संबंधित इतिवृत्त के कुछ अंश महाभारत में प्राप्त नहीं होते हैं। वस्तुतः यह नाटककार की कल्पना पर आधारित मिश्र कथावस्तु से युक्त रुपक है। इसका कथानक महाभारत के युद्ध में अभिमन्यु की मृत्यु के उपरांत की घटनाओं से संबंधित है। जिसके अनुसार कौरवों ने छल कपट से एकाकी बालक, अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु को निहत्था कर उसका वध कर दिया था। जिसके पश्चात भीम का पुत्र घटोत्कच श्री कृष्ण की आज्ञा से क्रोधित पांडवों का संदेश लेकर कौरवों की सभा में प्रवेश करता है और उन्हें श्री कृष्ण का संदेश सुनाता है। दूत के रूप में घटोत्कच का वर्णन होने से इस नाटक का नामकरण दूतघटोत्कच किया गया है।

ऊरुभंग

महाभारत युद्ध के अंतिम अंश से संबंध रखने वाला ऊरुभंग एक अत्यन्त प्रशस्त रूपक है। यद्यपि नाट्य शास्त्र में दुखांत नाटकों का निषेध है, किंतु इसके विपरीत यह दुखांत नाटक है। नाटक का संपूर्ण केंद्र केवल एक बिंदु पर केंद्रित है = भीम द्वारा गदा युद्ध में दुर्योधन का ऊरु भंग करना। महाभारत के युद्ध में कौरवों और पांडवों की सेना युद्ध में नष्ट हो चुकी है| कौरव पक्ष में केवल नायक दुर्योधन बचा है, जिसके साथ पांडु पुत्र भीम का गदा युद्ध होता है। गदा युद्ध के समय श्री कृष्ण के संकेत प्राप्त कर भीम छल पूर्वक दुर्योधन की जांघ पर प्रहार करते हैं। जिसमें दुर्योधन मृत्यु को प्राप्त करता है। इस प्रकार युद्ध में ऊरू= जांघ का भंग होने के कारण नाटक अन्वर्थ नाम प्रतीत होता है।

बालचरित

यह रूपक पुराणों एवं महाभारत आदि में वर्णित श्री कृष्ण की बाल लीलाओं पर आधारित है। श्री कृष्ण के बाल रुप का चरित प्रदर्शित करने के कारण इस नाटक का नामकरण बालचरित किया गया लक्षित होता है। नाटक के 5 अंकों में श्री कृष्ण के जन्म और बाल लीलाओं का चित्रण किया गया है।

अभिषेक नाटक

महाकवि भास के रामकथा पर आश्रित दो रूपक हैं = एक प्रतिमा नाटक दूसरा अभिषेक नाटक। भगवान श्री राम का राज्याभिषेक, जो इस नाटक का फल भी है, के आधार पर इस नाटक का नामकरण किया गया है। इस नाटक में दो राज्याभिषेको का वर्णन है = एक बाली के वध के पश्चात सुग्रीव के राज्याभिषेक का तथा दूसरा रावण के वध के उपरांत श्री रामचंद्र जी के अयोध्या में राज्याभिषेक का। नाटक की कथावस्तु का उपजीव्य महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण का किष्किंधा कांड तथा लंका कांड है। रामायण की यह कथा भारतीय जनमानस में बहुचर्चित तथा सुविख्यात है।

प्रतिमा नाटक

महाकवि भास द्वारा रचित 13 नाटकों में यह नाटक महत्त्वपूर्ण नाटक माना जाता है। आदिकवि वाल्मिकी द्वारा विरचित रामायण की कथावस्तु पर आधारित इस नाटक के सात अंकों में श्री राम के युवराज पद पर अभिषेक से लेकर के 14 वर्षों के वनवास तथा तदुपरांत राज्याभिषेक की घटना का रोचक प्रकार से वर्णन है। नाटक का नामकरण का आधार प्रतिमा है। इक्ष्वाकु वंश के स्मृति शेष राजाओं की प्रतिमाओं का उल्लेख यहां विशेष रूप से किया गया है। महाकवि भास की यह अपनी मौलिकता है। प्रतिमा दर्शन से ही भरत को महाराजा दशरथ की मृत्यु तथा श्री राम के वनवास का संपूर्ण वृतांत ज्ञात होता है। इस नाटक में महाकवि भास ने रामायण की प्रचलित कथा को किंचित परिवर्तित रूप से प्रस्तुत कर उसे एक नवीन रूप प्रदान किया है।

1.2.3 भास के नाटकों का विशेष अध्ययन

नाटकान्तं कवित्वम् = कवित्व के चरम परिपाक को नाटक माना गया है। क्योंकि नाटक में त्रिलोक्य के भावों का अनुवर्तन होता है। इस दृष्टि से महाकवि भास के नाटकों की महत्ता और बढ़ जाती है। ईसा से प्रायः चार शतक पूर्व जब नाट्य-सिद्धांतों का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था, तथा भारतीय संस्कृति का विकास काल गतिमान था, तब महाकवि भास ने भारतीय संस्कृति के संवाहक ग्रन्थों यथा रामायण, महाभारत, पुराण तथा लोक कथाओं के आधार पर 13 नाटकों की रचना की है। समाज को कालानुरूप उचित संदेश देने के लिए भास ने कथानकों में अपेक्षित परिमार्जन भी किया है। विभिन्न सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की सफल अभिव्यक्ति भास की अपनी विशेषता है। भास के नाटकों में शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए भारतीय संस्कृति, समाज-व्यवस्था, राजनीतिक स्थिति तथा लोक-व्यवहार का विशिष्ट चित्रण किया गया है। यह दर्शकों का मनोरंजन करने के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक विरासत के सम्प्रेषण का गुरुतर कार्य भी करता है|

भास की नाट्यकला के अंतर्गत समस्त नाट्यशास्त्रीय तत्वों का समावेश दृष्टिगत होता है। नाटकों के कथानकों का विस्तृत क्षेत्र होने के कारण पात्रों की संख्या और कोटियों में वृद्धि स्वाभाविक रूप से वृद्धि हुई है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भारतीय संस्कृत के अनुरूप उदात्त आदर्श का प्रतिबिंब सर्वत्र दृष्टिगत होता है। पात्रों के उज्जवल चित्रांकन के लिए उन्होंने कथानक में यथावश्यक परिवर्तन भी किया है। पात्रों के कलुषित अंश का अपसारण यदि सम्भव नहीं हो सका है, तो उन्होंने उसे न्यून करने का प्रयास भी किया है।

आप जानते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। भास के नाटकों के अध्ययन से तत्कालीन धर्मपरायण समाज का दिग्दर्शन होता है। कर्णभार नाटक में कवि ने कहा है:-

धर्मो हि यत्नैः पुरूषेण साध्यो, भुजंगजिह्वाचपला नृपश्रियः।
तस्मात् प्रजापालनमात्रबुद्ध्या, हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते।।

देवराज इंद्र तथा कर्ण के संवादरूपी इस श्लोक में नाटककार कहता है कि केवल धर्म ही व्यक्ति के द्वारा प्रयत्न पूर्वक साध्य है। राजलक्ष्मी तो सर्प की जीभ की तरह चंचल होती है। अतः एव प्रजा का पालन करने वाला व्यक्ति अपनी मृत्यु के पश्चात दान, दया, क्षमा, सत्यभाषण, परोपकार आदि गुणों से अर्जित यश रूपी शरीर से जीवित रहता है। महाकवि भास ने अपने नाटकों में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को भी आभासित किया है। समाज की इकाईभूत

परिवार की रक्षा के लिए व्यक्ति प्राणों को भी अर्पित कर देता था। मध्यमव्यायोग में कहा गया है:-

मम प्राणैर्गुरुप्राणानिच्छामि परिरक्षितुम्।
रक्षणार्थं कुलस्यास्य मोक्तुमर्हति मां भवान्।।

यहां अपने वृद्ध पिता से विप्रपुत्र कहता है कि मैं अपने प्राणों को देकर भी अपने माता-पिता के प्राणों की रक्षा करना चाहता हूँ। अतः कुल की रक्षा के लिए आप मुझे इस राक्षस घटोत्कच के पास छोड़कर जा सकते हैं। अपने से बड़े भाई का परिवार के लिए बलिदान देख कर वृद्ध ब्राह्मण का द्वितीय पुत्र का कहा गया कथन भी भारतीय संस्कृति की उदात्तता को दर्शाता है:-

ज्येष्ठः श्रेष्ठः कुले लोके पितृणां च सुसम्प्रियः।
ततोऽहमेव यास्यामि गुरुवृत्तिमनुस्मरन्।।

अर्थात् बड़ा भाई परिवार तथा समाज में श्रेष्ठ होता है। पिता को अधिक प्रिय होता है। अतः गुरुजनों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करते हुए मैं (छोटा पुत्र) ही (राक्षस की भूख मिटाने के लिए) जाऊंगा। भास ने माँ का स्थान देवताओं से भी अधिक उच्च मानते हुए मध्यमव्यायोग में लिखा है:-

माता किल मनुष्याणां देवतानां च दैवतम्।

इस संसार में मनुष्य के लिए माता अवश्य ही देवताओं की भी देवता है। समाज में नैतिकता का विशेष महत्व माना जाता था। भास ने दुराचार की हानि बताते हुए लिखा है:-

शुष्केणैकेन वृक्षेण वनं पुष्पितपादपम्।
कुलं चारित्रहीनेन पुरूषेणैव दह्यते।।

अर्थात् एक चरित्रहीन पुरुष उसी तरह अपने समग्र कूल को दूषित कर देता है, जिस तरह एक सूखा वृक्ष पुष्पित- पल्लवित वन को जला देता है।

महाकवि भास में अपने नाटकों में दान का विशेष वर्णन किया है| कर्णभार नाटक में दानवीर कर्ण शल्य से दान तथा यज्ञ के महत्व का वर्णन करते हुए कहता है:-

शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्, सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति, हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति।।

इस श्लोक में कर्ण कहते हैं कि परिवर्तित होते हुए समय के साथ-साथ अधीत विद्या क्षीण होती जाती है, मजबूत जड़ वाले वृक्ष गिर जाते हैं, सरोवर में पानी सूख जाता है परंतु यज्ञाग्नि में प्रदत्त आहुती और सुपात्र को प्रदत दान कभी भी नष्ट नहीं होता है।

शास्त्रों में धर्म के अंगीभूत तत्वों में सत्य की गणना की गई है। भास ने अपने नाटकों में सत्य की प्रभूत प्रशंसा की है। पंचरात्र नाटक में दुर्योधन गुरु द्रोण को दिए गए वचन का पालन करता है तथा पांडवों को आधा राज्य देने की घोषणा करते हुए कहता है:-

बाढं दत्तं मया राज्यं पाण्डवेभ्यो यथापुरम्।
मृतेऽपि हि नराः सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति।।

इस श्लोक में दुर्योधन कहता है कि मैं पांडवों को उनका पूर्ववत् आधा राज्य प्रदान करने के अपने वचन का पालन करते हुए उन्हें आधा राज्य देता हूँ। क्योंकि सत्य का पालन करने से मनुष्य मृत्यु के उपरांत भी यश रूपी शरीर से जीवित रहते हैं।

इस प्रकार हमें भास के नाटकों में भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों का सजीव चित्रण दिखाई देता है। उन्होंने अपने नाटकों में पात्रों के चरित्र को आदर्श के रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है। इस हेतु उन्होंने कथानक में यथासंभव परिवर्तन भी किया है। उनके नाटकों के अध्ययन से हमें तत्कालीन सांस्कृतिक तत्व, राजनीतिक सिद्धांत, समाज व्यवस्था, मूल्यबोध आदि की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

संस्कृत साहित्य जगत् में महाकवि कालिदास कविकुलगुरु के रूप में प्रसिद्ध हैं। आदिकवि वाल्मीकि तथा आर्षकवि वेदव्यास द्वारा प्रवर्तित काव्यधारा को कालिदास ने दिशा दिखाई। प्रस्तुत इकाई में हम महाकवि कालिदास तथा उनकी रचनाओं के विषय में विस्तार से अध्ययन करेंगे।

1.3.1 कालिदास का परिचय

संस्कृत साहित्य-जगत् में महाकवि कालिदास कविकुलगुरु के रूप में प्रसिद्ध हैं। आदिकवि वाल्मीकि तथा आर्षकवि वेदव्यास द्वारा प्रवर्तित काव्यधारा को कालिदास ने दिशा दिखाई है। महाकवि कालिदास के विषय में संस्कृत साहित्य की परंपरा में अनेक कथाएं प्रचलित हैं। उनके जन्मस्थान तथा जन्म समय को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। यद्यपि उनके स्थितिकाल के विषय में स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त नहीं होता है पुनरपि अन्तः साक्ष्यों तथा बाह्य साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि वे लगभग 150 ईसा पूर्व में शासन करने वाले विदिशा नगरे के नरेश अग्निमित्र से पूर्ववर्ती नहीं थे, क्योंकि अग्निमित्र के कथावृत को आधार बनाकर उन्होंने मालविकाग्निमित्र नामक नाटक की रचना की थी। इस प्रकार लगभग 600 ई. में महाकवि बाण ने अपनी रचना में उनका उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है कि 150 ईसा पूर्व से 600 ई. के मध्य में महरकवि कालिदास का समय रहा है। महाकवि कालिदास के स्थिति काल के संबंध में विशेष रूप से प्रचलित मत के अनुसार वे विक्रमी संवत के प्रवर्तक उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य की राज सभा के नवरत्नों में सम्मिलित थे। जिनके द्वारा ईसा से 57 वर्ष पूर्व विक्रम संवत् प्रवर्तित किया गया है। जिसके कारण महाकवि कालिदास का स्थिति काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी माना जाता है।

महाकवि कालिदास के संबंध में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि वह बाल्यावस्था में विद्वान नहीं थे। कतिपय पंडितों ने विदुषी राजकुमारी विद्योत्तमा से प्रतिशोध लेने के लिए छलपूर्वक उसका विवाह कालिदास से करवा दिया। विवाहोपरान्त पत्नी विद्योत्तमा के द्वारा अपमानित होने पर कालिदास ने देवी की आराधना की, तदुपरांत उनकी कवित्व प्रतिभा प्रकट हुई।

कालिदास के जन्म स्थान के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उनका जन्म स्थान उज्जयिनी, उत्तराखंड, कश्मीर अथवा बंगाल स्वीकार किया है। अपने मत की पुष्टि के लिये तत्-तत् मतावलम्बी विद्वानों के द्वारा कतिपय प्रमाण भी प्रस्तुत किए जाते हैं। किंतु पुनरपि उनेक जन्म स्थान का निश्चित रूप से निर्धारण नहीं किया जा सकता है। किंतु उनकी रचनाओं, विशेष रूप से मेघदूत के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उज्जयिनी नगरी से उनका विशेष प्रेम था तथा उन्होंने वहां पर्याप्त समय निवास किया होगा।

कालिदास की रचनाओं के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि वे भगवान शिव के उपासक थे। अपने तीनों नाट्यग्रंथों के प्रारंभ में उन्होंने भगवान शिव की ही स्तुति की है। रघुवंश और कुमारसंभव महाकाव्यों में भी उन्होंने भगवान शिव का विशिष्ट चित्रण किया है।

महाकवि कालिदास की मृत्यु के संबंध में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि वे सिंहल नरेश कुमारदास के मित्र थे। एक बार कुमारदास ने निम्न श्लोकात्मक समस्यापूर्ति की पूर्ति पर पुरस्कार की घोषणा करवाईः- ''कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते।''

इस श्लोकात्मक समस्या की पूर्ति सिंहल देश की एक गणिका के निवेदन पर कालिदास ने इस प्रकार की- ''बाले तव मुखांभोजे कथमिन्दीवरद्वयम्।।''

राजा से इस समस्यापूर्ति के पुरस्कार को प्राप्त करने के लालच में गणिका ने कालिदास की हत्या कर दी। इस प्रकार महाकवि कालिदास की मृत्यु हुई।

कविकुलगुरु की उपाधि से विभूषित कालिदास के द्वारा विरचित सात रचनाएं सर्वमान्य रही है। जिनमें तीन नाटक, दो महाकाव्य तथा दो खंडकाव्य निम्नलिखित है:-

नाटक - मालविकाग्निमित्र, विक्रमार्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल।

महाकाव्य - रघुवंश तथा कुमारसंभव।

खंडकाव्य - ऋतुसंहार एवं मेघदूत।

1.3.2 कालिदास के द्वारा रचित नाटकों का संक्षिप्त परिचय

जैसा आपने पूर्व में अध्ययन किया है कि महाकवि कालिदास के द्वारा रचित सात काव्यों में मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल नामक तीन नाटक हैं। इन नाटकों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है:-

मालविकाग्निमित्र

शुंगवंशी राजा पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र के ऐतिहासिक इतिवृत्त पर आधारित यह नाटक पांच अंको में निबंद्ध है। इस नाटक में नायक अग्निमित्र तथा विदर्भ देश की राजकुमारी मालविका की प्रेम कथा को रोचक रूप में प्रस्तुत करते हुए नाट्यात्मक विन्यास प्रदान किया गया है। कथानक के अनुसार विपत्तिग्रस्त मालविका राजा अग्निमित्र की पत्नी महारानी धारणी के अन्तःपुर में दासी के रूप में छुपकर रहती है। अन्तःपुर में मालविका को देख कर राजा अग्निमित्र उस पर मोहित हो जाता है और मालविका से प्रणय-निवेदन करता है। किंतु यह जानकर महारानी धारणी दासी मालविका को कारागार में बंद कर देती है। अंत में मालविका का वास्तविक परिचय मिलने पर महारानी धारणी की सहमति से राजा अग्निमित्र और मालविका का विवाह संपन्न होता है।

विक्रमोर्वशीय

ऋग्वेद के पुरुरवोर्वशी संवाद के कथानक पर आश्रित विक्रमार्वशीय नाट्यशास्त्रीय नियमों के अनुसार त्रोटक नामक उपरुपक कोटि की रचना है। यह कथानक शतपथ ब्राह्मण तथा पुराणों में भी प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने अपने अप्रतिम नाट्यकौशल से इस परंपरागत कथानक को नवीन कलेवर में रंगमंच पर प्रस्तुत किया है। यह उपरुपक पाँच अंकों में निबद्ध है।

कथानक के अनुसार राजा पुरुरवा उर्वशी नामक अप्सरा को केशी नामक राक्षस से मुक्त कराता है। इस घटना के बाद में दोनों परस्पर आसक्त हो जाते हैं तथा विवाह करते हैं। एक श्राप के कारण उर्वशी को वापिस स्वर्ग जाना पड़ता है, किंतु उसी समय नारद मुनि देवराज इंद्र का संदेश देते हैं कि असुरों से संग्राम के लिए उन्हें राजा पुरुरवा के सहयोग की आवश्यकता है। इस सहायता के प्रतिफल के रूप में उर्वशी को सदैव के लिए पुरुरवा को प्रदान करते हैं तथा इस सुखद परिणति के साथ विक्रमार्वशीय की समाप्ति होती है।

अभिज्ञानशाकुन्तल

महाभारत के शाकुंतलोपाख्यान तथा पद्मपुराण की कथावस्तु पर आधारित यह नाटक न केवल कालिदास का अपितु संपूर्ण संस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है। जैसा कि कहा गया है:-

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि चतुर्थोऽङ्कतत्र श्लोकचतुष्टयम्।।

अभिज्ञानशाकुन्तल के सात अंकों में हस्तिनापुर के पुरुवंशी राजा दुष्यंत और विश्वामित्र तथा मेनका की पुत्री शकुन्तला के प्रेम की कथा चित्रित है। कथानक के अनुसार हस्तिनापुर से मृगया के लिये निकले हुए दुष्यन्त हिरण का पीछा करते हुए वन में स्थित महर्षि कण्व के आश्रम में पहुंच जाते हैं, जहां वे शकुंतला पर मोहित हो जाते हैं। दोनों गांधर्व विधि से विवाह करते हैं तथा तदन्तर राजा उदयन पुनः हस्तिनापुर चले जाते हैं। इस वृत्तान्त को जानकर महर्षि कण्व शकुंतला को दुष्यंत के पास भेजते हैं, किंतु महर्षि दुर्वासा के श्राप के कारण दुष्यंत शकुंतला को नहीं पहचान पाता है। बाद में अंगूठी रूपी अभिज्ञान चिह्न को देखकर राजा को पुनः शकुंतला की स्मृति आ जाती है। अंत में दोनों का मिलन होता है तथा भरतवाक्य के साथ इस सुखांत नाटक की कथावस्तु समाप्त होती है।

1.3.3 कालिदास के नाटकों का विशेष अध्ययन

पूर्व में आपने भास के नाटकों का विशेष अध्ययन किया है। अब इकाई के इस भाग के अंतर्गत हम कालिदास की नाट्यकृतियों का अध्ययन करेंगे। वस्तुतः कालिदास का स्थितिकाल भारत के सांस्कृतिक प्रकर्ष का समय कहा जा सकता है। उनके नाटकों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उनके समय में कला, साहित्य, शिल्प, ज्ञान-विज्ञान तथा दर्शन की विभिन्न धाराओं के अपूर्व संगमन तथा विकास हो चुका था।

कालिदास भगवान शिव के उपासक थे। स्वप्रणीत मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल नामक तीनों नाटकों का आरंभ उन्होंने शिव की वंदना से ही किया है। यद्यपि अन्य देवों के प्रति भी कालिदास का आदर भाव उनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है।

कालिदास के नाटकों में हमें उनकी आदर्श-प्रवणता तथा मूल्य-चेतना ज्ञात होती है। इन नाटकों में हमें कालिदास की जीवन दृष्टि का क्रमिक विकास और तत्कालीन लोक-जीवन की उत्कृष्टता दिखाई देती है। महाकवि कालिदास ने अपने नाटकों में भारत की राजनीतिक व्यवस्था का विस्तार से वर्णन किया है| विक्रमोर्वशीय नाटक में लोकतंत्र के प्रति राजा के कर्तव्य को दर्शाता यह कथन आज भी उपयोगी प्रतीत होता है:-

अविश्रमो ह्ययं लोकतन्त्राधिकारः।

अर्थात् लोकतंत्र अथवा प्रजापालन में निरत व्यक्ति को विश्राम = अवकाश प्राप्त नहीं होता है। इससे तत्कालीन राजनीतिक उच्चादर्श का ज्ञान होता है। एक अन्य स्थान पर कालिदास कहते हैं:-

नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय।
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्।।

राज्यभार श्रम के लिए होता है, थकान मिटाने के लिए नहीं। जिस प्रकार तेज धूप से बचने के लिए अपना छाता स्वयं उठाकर चलना होता है। इसी प्रकार राजा के दायित्व का बोध कराती हुई अभिज्ञानशाकुंतल की यह उक्ति भी पठनीय है:-

आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः।

अर्थात् विपदाग्रस्त जन को अभयदान देने के लिए पुरुवंश के राजाओं ने दीक्षा ग्रहण कर रखी है। इसी कर्तव्य-निष्ठता के परिणाम-स्वरूप कालिदास मालविकाग्निमित्र के भरतवाक्य में विश्वास के साथ कहते हैं:-

आशास्यमीतिविगमप्रभृतिप्रजानाम्।
सम्पत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे।।

अग्निमित्र राजा के शासन काल में नागरिकों की ईति, भीति आदि बाधाएं समाप्त न हों, ऐसा संभव ही नहीं है। कालिदास के नाटकों के अनुशीलन से आप जान सकते हैं कि शासन-व्यवस्था धर्माधारित थी। जिसमें वन-निवासी एक सामान्य तपस्वी भी दुष्यन्त जैसे राजा को निर्देशित कर सकता था:-

तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं, न प्रहर्तुमनागसि।।

हे राजा दुष्यंत! लक्ष्य = निरपराध मृग पर साधे गए अपने बाण को तुम वापस उतार लो, क्योंकि तुम्हारा = शासक के शस्त्र पीड़ित जनों की रक्षा के लिए होते हैं, निरपराध जनों पर प्रहार के लिए नहीं होते हैं।

कालिदास की तीनों नाट्यकृतियों में इस प्रकार की प्रशस्त राजनीतिक व्यवस्था के उदाहरण अनेकत्र समुपलब्ध होते हैं, जिनमें राजा के कर्तव्य तथा लोकहित की भावना दिखाई देती है।

हिंदू धर्म में मानव-जीवन रूपी शकट के दो चक्र माने गए हैं -पुरुष तथा स्त्री। प्रकृति के रूप में स्त्री सृष्टि का मूल कारण है। इसी दृष्टि से मानव जाति के विकास में नारी की विशेष भूमिका मानी गई है। स्त्रियों के सम्मान की परंपरा भारतीय समाज में सदैव से रही है| यही कारण है कि शास्त्रों में कहा गया –

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।।

अर्थात् जहां नारी का सम्मान होता है, वहां देवता प्रसन्न होकर रहते हैं। कालिदास ने अपने नाटकों में नारी के चित्रण मुख्य रूप से कन्या रूप में, पत्नी रूप में तथा मातृ रूप में किया है। अभिज्ञानशाकुंतल में शकुंतला की विदाई के समय कहे गए महर्षि कण्व के शब्द अपनी बेटी

के प्रति पिता की मनःस्थिति को वास्तविक रूप में व्यक्त करते हैं। जैसे:-

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कंठया,
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।

बैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनया विश्लेषदुःखैर्नवैः।।

इस श्लोक में शकुंतला के पालक पिता कण्व उसकी विदाई के समय कहते हैं कि आज शकुंतला चली जाएगी, इस कारण से हृदय उत्कण्ठित हो गया है। कण्ठ स्तम्भित हो गया है। आंसुओं के कारण मुख कलुषित हो गया है तथा आंखे जड हो गई हैं। वन में निवास करने वाले ऋषि की स्नेह के कारण यह विकल स्थिति है, तो समाज के मध्य में रहने वाले सामान्य गृहस्थ लोग कन्या की विदाई के दुख से कितने पीड़ित होते होंगे।

समाज की अनिवार्य आवश्यकताओं में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस राष्ट्र में शिक्षा का जितना अधिक प्रचार-प्रसार होता है, वह राष्ट्र उतना ही अधिक सभ्य एवं विकसित होता है। कालिदास के नाटकों के अनुशीलन से हमें ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में आश्रमों में शिक्षा होती थी। शिक्षा निःशुल्क थी। छात्र शिक्षा को पूर्ण कर आचार्य को गुरु-दक्षिणा प्रदान करते थे। गुरु को समाज में विशेष सम्मान प्राप्त था। राजा भी गुरु के समक्ष नतमस्तक रहते थे। शिक्षकों के वैशिष्ट्य को बताता मालविकाग्निमित्र का यह श्लोक विशेष रूप से प्रसिद्ध है:-

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था, संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।।

अर्थात् किसी शिक्षक को भीतर ही भीतर गहन ज्ञान होता है तथा कोई शिक्षक अपने ज्ञान को शिष्यों को संक्रमित करने में कुशल होता है। जिस शिक्षक में विषय का गहन ज्ञान तथा ज्ञान के संप्रेषण की कला, ये दोनों ही विद्यमान हो, उसे शिक्षकों में श्रेष्ठ माना जाना चाहिए।

कालिदास के नाटकों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि गुरु को निःस्वार्थ भावना से छात्रों को पढ़ाना चाहिए। उनके अनुसार ज्ञान जीविकोपार्जन का साधन नहीं बनाना चाहिए। जिसका ज्ञान केवल जीविकोपार्जन के लिए होता था, उसे हेय दृष्टि से देखा जाता था।

यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।।

अर्थात् जिस व्यक्ति का ज्ञान केवल जीवन-निर्वाह के लिए है, वह ज्ञान का व्यवसाय करने वाला व्यापारी कहा जाता है।

कालिदास को नाट्यशास्त्र एवं कलाओं के साथ-साथ दर्शन का भी पर्याप्त ज्ञान था। यद्यपि उन्होंने सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा अथवा वेदान्त आदि किसी भी दर्शन के सिद्धांत के लिए विशेष आग्रह प्रदर्शित नहीं किया है, तथापि उनके नाटकों में जो दार्शनिक मान्यताएं प्रतिबिम्बित होती हैं, उन पर वेद, उपनिषद, गीता आदि का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास ने अपने नाटकों में भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्वों को आभासित किया है।

1.4 सारांश

महाकवि भास तथा महाकवि कालिदास दोनों ही संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध कवि हैं। जिस प्रकार इन दोनों महाकवियों की कीर्ति प्रसृत है, उसी प्रकार उनका जीवनवृत्त भी अज्ञात है। इनके स्थितिकाल को लेकर भी अनेक मत प्रचलित हैं, किंतु अधिकतर विद्वानों के मतानुसार भास का स्थितिकाल ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से ईसा पूर्व पंचम शताब्दी के मध्य रहा है। इसी प्रकार कालिदास का स्थिति काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी माना गया है।

महाकवि भास के द्वारा रचित 13 नाटक प्राप्त होते हैं:- दूतघटोत्कच, कर्णभार, मध्यमव्यायोग, ऊरूभंग, दूतवाक्य, पंचरात्र, बालचरित, अभिषेकनाटक, प्रतिज्ञानाटक, अविमारक, प्रतिमानाटक, स्वप्नवासवदत्त तथा चारूदत्त। इन नाटकों में भी स्वप्नवासवदत्त विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

महाकवि कालिदास के द्वारा रचित तीन नाटक प्राप्त होते हैं :- मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल। इन तीनों नाटकों में अभिज्ञानशाकुन्तल को संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है।

भास तथा कालिदास के नाटकों के कथानक मुख्य रूप से रामायण, महाभारत तथा पुराणों से लिए गए हैं। यही कारण है इन नाटकों में प्राचीन भारतीय धार्मिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था आदि का स्पष्ट वर्णन दिखाई देता है। राम तथा कृष्ण के चरित्रों में भास की अनुरक्ति से ज्ञात होता है कि वे वैष्णव मत के अनुयायी थे। इसी प्रकार कालिदास ने अपने तीनों नाट्यग्रन्थों का मंगलाचरण शिव स्तुति से किया है, जिससे ज्ञात होता है कि वे शैव मत के अनुयायी थे। साथ ही साथ दोनों महाकवि वैदिक कर्मकाण्ड में पूर्ण विश्वास रखते थे।

भास एवं कालिदास के नाटकों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था प्रचलित थी। समाज में स्त्री को सम्मान प्राप्त था। वे विद्याओं तथा कलाओं में निपुण थी। शासन-व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी। जिसमें राजा प्रधान होता था, किंतु राजा की शक्ति निरंकुश नहीं थी। राजा ऋषियों तथा परामर्शकों की सलाह के आधार पर कार्य करते थे।

1.5 शब्दावली

नाटक - रूपक के दस भेदों में मुख्य पहला भेद|

भरतवाक्य - नाट्यरचनाओं के अंत में कहां जाने वाला वाक्य, जिसमें नट सामाजिकों को मंगलकामना या आशीर्वाद प्रदान करता है।

नायक - नाट्य का सर्वप्रधान पुरूष पात्र, जिसे फल की प्राप्ति होती है।

नायिका - नाट्य की प्रधान स्त्री पात्र।

उपजीव्य - स्रोत अथवा प्रामाणिक ग्रन्थ, जिससे मनुष्य सामग्री प्राप्त करे|

कथानक - कथा, कहानी|

अन्तःपुर - राज महल का अंदरूनी भाग, जो महिलाओं के रहने के लिए नियत किया गया हो|

1.6 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

क) भासनाटकचक्रम्, सम्पादक- आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

ख) अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदास, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

ग) कालविकाग्निमित्रम्, कालिदास, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

घ) विक्रमोर्वशीयम्, कालिदास, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

ङ़) संस्कृत साहित्य का समग्र इतिहास, राधावल्लभ त्रिपाठी, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नई दिल्ली।

च) संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नई दिल्ली।

1.7 बोध प्रश्न

क) महाकवि भास की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय लिखिए।

ख) महाकवि कालिदास का परिचय लिखिए।

ग) भास के नाटकों के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन कीजिए।

घ) कालिदास के नाटकों के महत्त्व का विश्लेषण कीजिए।

ङ़) महाकवि भास का परिचय लिखिए।

इकाई 2 कालिदास के काव्यों का विशिष्ट अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

"कालिदास के काव्यों का विशिष्ट अध्ययन" इस विषय से संबंधित इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप -

- महाकवि कालिदास के जीवन वृत्त तथा साहित्यिक अवदान से परिचित होंगे।
- महाकवि कालिदास के द्वारा रचित काव्यों को जान सकेंगे।
- महाकवि कालिदास के काव्यों की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
- महाकवि कालिदास के काव्यों की विषय-वस्तु का विश्लेषण कर सकेंगे|
- महाकवि कालिदास के काव्यों में वर्णित भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्वों को जान सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य जगत में महाकवि कालिदास का अत्यन्त गौरवपूर्ण और महनीय स्थान है। वे सम्राट विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में सम्मिलित विद्वानों में परिगणित हैं। षष्ठ खंडा की विगत प्रथम इकाई में आपने उनके जीवनवृत्त का अध्ययन कर चुके हैं। उनकी रचनाओं में श्रृंगार, सौंदर्य, प्रेम तथा प्राकृतिक सौंदर्य का हृदयावर्जक निरूपण तो हुआ ही है, साथ में भारतीय जीवन-दर्शन का सर्वांगीण चित्रण भी कवि ने सफलतापूर्वक किया है। जिसके अंतर्गत भारतवर्ष की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का जो चित्रण किया गया है, वह अद्भुत और अपूर्व है। महाकवि कालिदास के काव्यों में सौंदर्य बोध तथा मानव अभिव्यक्ति का सशक्त मिश्रण दृष्टिगत होता है। यही कारण है कि उनकी अधिकांश रचनाएं परवर्ती कवियों के लिए आज भी प्रेरणा के रूप में कार्य करती हैं।

महाकवि कालिदास द्वारा रचित सात रचनाएं सर्वमान्य हैं| जिनमें विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र तथा अभिज्ञानशाकुंतलम् नाट्य विधा में लिखी गई कृतियां हैं। ऋतुसंहार तथा मेघदूत गीतिकाव्य हैं तथा रघुवंश और कुमारसंभव महाकाव्य विधा में लिखी गई रचनाएं हैं। इन में से कालिदास के नाटकों का अध्ययन आप पूर्व में कर चुके हैं। प्रकृत इकाई के अंतर्गत हम कालिदास के काव्यों अर्थात् ऋतुसंहार, मेघदूत, रघुवंश और कुमारसंभव में अभिव्यक्त हिन्दू अध्ययन से संबंधित तत्त्वों का अनुशीलन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन से आप महाकवि कालिदास के काव्यों में प्रतिबिंबित भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन और संस्कृति के विभिन्न पक्षों को सोदाहरण समझ सकेंगे।

2.2 कालिदास का परिचय

कविकुलगुरू के रूप में प्रसिद्ध महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वप्रसिद्ध नाटककार एवं कवि हैं। उनके स्थिति काल के विषय में यद्यपि विद्वानों के मध्य भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं, तथापि अधिकतर विद्वान ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में कालिदास की स्थिति मानते हैं| कालिदास के द्वारा रचित अभिज्ञानशाकुंतलम् संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना गया है। इसी प्रकार संस्कृत के काव्यों में रघुवंश महाकाव्य और मेघदूत को विशेष सम्मान प्राप्त है।

महाकवि कालिदास का जीवन-वृत्त स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं है। उनके जीवन के संबंध में अनेक किंवदन्तियां समाज में प्रसिद्ध है। एक किंवदन्ती के अनुसार कालिदास युवावस्था में विद्वान नहीं थे। कुछ पंडितों ने विदुषी राजकुमारी विद्योत्तमा से ईर्ष्या होने के कारण मुर्ख कालिदास का विवाह करवा दिया था। किंतु जब विद्योत्तमा को कालिदास की मूर्खता का पता चला तो उन्होंने कालिदास को अपमानित कर दिया। जिसके पश्चात् कालिदास ने देवी की आराधना कर तपस्या पूर्वक विद्वत्ता अर्जित की। विद्वान कालिदास जब पुनः विद्योत्तमा के पास जाकर घर का द्वार खोलने के लिए खटखटाते हुए कहते हैं - "अनावृतं द्वारं कपाटं देहीं।" तब विद्योत्तमा पूछती है - "अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः?" विद्योत्तमा के द्वारा अपने वाक्य में कहे गए इन तीन संस्कृत के शब्दों को आधार बना कर महाकवि कालिदास ने तीन काव्यों की रचना की| जिसमें सर्वप्रथम "अस्ति" इस पद से प्रारंभ कर कुमारसंभव महाकाव्यकी, तत्पश्चात "कश्चित्" इस पद से प्रारंभ कर मेघदूत गीतिकाव्य की और अंतिम "वाग्" इस पद से प्रारंभ कर रघुवंश महाकाव्य की रचना की एवं अपनी पत्नी से ही नहीं अपितु समस्त विद्वत समुदाय में प्रभूत सम्मान प्राप्त किया। महाकवि कालिदास के जीवन वृत्त के संबंध में आप पूर्व की इकाई में अध्ययन कर चुके हैं। अतः अब पुनः उस विषय की चर्चा करना उचित नहीं है|

2.3 कालिदास के काव्यों का परिचय

वर्त्तमान में महाकवि कालिदास के द्वारा लिखी गई सात रचनाएं प्राप्त होती हैं:-

नाटक - विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र तथा अभिज्ञानशाकुंतलम्।

महाकाव्य - रघुवंश और कुमारसंभव।

गीतिकाव्य - ऋतुसंहार एवं मेघदूत।

इनमें से आपने नाटकों का अध्ययन पूर्व की इकाई में विस्तार पूर्वक कर लिया है। इस इकाई के अंतर्गत अब हम कालिदास के द्वारा रचित काव्यों का अर्थात् रघुवंश महाकाव्य, कुमारसंभव

महाकाव्य, ऋतुसंहार तथा मेघदूत में अभिव्यक्त हिन्दू अध्ययन से संबंधित तत्त्वों का अध्ययन करेंगे।

क) रघुवंश महाकाव्य

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के द्वारा विरचित रामायण के आधार पर महाकवि कालिदास के द्वारा लिखा गया रघुवंश 19 सर्गों में विभक्त महाकाव्य विधा का ग्रंथ है। इस महाकाव्य में रामायण के अतिरिक्त अन्य पौराणिक ग्रंथों व जनश्रुतियों के अनुसार कवि ने कतिपय परिवर्तन भी किए हैं। इसमें राजा दिलीप से प्रारंभ करके राजा अग्निवर्ण तक के रघुवंशीय राजाओं के चरित्र का काव्य रूप में विस्तार से वर्णन किया गया है। राजा दिलीप के पुत्र महाराजा रघु के नाम के आधार पर कालिदास के द्वारा इस महाकाव्य का नामकरण रघुवंश किया गया है।

रघुवंश महाकाव्य की कथावस्तु के अनुसार राजा दिलीप अपनी पत्नी सुदाक्षिना के साथ महर्षि विश्वामित्र के परामर्श से उनके ही आश्रम में नंदिनी गाय की सेवा करते हैं| जहां उन्हें रघु नामक पुत्र की प्राप्ति होती है। राजा दिलीप के पश्चात रघु का राज्याभिषेक होता है| जिसके पश्चात् राजा रघु दिग्विजय पर निकलते हैं और तदुपरान्त विश्वजित नामक यज्ञ का आयोजन करते हैं। रघु को अज नामक पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है| विदर्भ देश के राजा भोज की पुत्री इन्दुमती से रघु के पुत्र अज का विवाह होता है। बाद में रघु अपने पुत्र अज को राज्य का दायित्व सौंपकर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते हैं। इधर अज की पत्नी इन्दुमती की आकस्मिक मृत्यु हो जाती है। जिसके पश्चात् अज के अत्यन्त कारूणिक विलाप का वर्णन है। जो अज-विलाप वर्णन के रूप में साहित्य जगत में अत्यन्त समादृत है| अज के पश्चात् राजा दशरथ राज्य संभालते हैं। आपने राजा दशरथ का नाम पूर्व में अवश्य सुना होगा| राजा दशरथ के राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न नामक चार पुत्र होते हैं। दशरथ ने अपनी पत्नी कैकेयी को पूर्व में वरदान दिया था, कैकेयी अपने पुत्र भरत को राजा बनाने तथा राम को 14 वर्षों के लिए वनवास भेजने का अनुरोध करती है| अपने पिटा दशरथ के वचन का पालन करने के लिए राम पत्नी सीता और भाई लक्ष्मण के साथ वनवास जाते हैं| जिसके पश्चात् शूपर्णखा का वृतांत, सीता का हरण, बालि का वध, रावण का वध और पुनः अयोध्या में राम का राज्याभिषेक आदि का वर्णन किया गया है। राम के लव तथा कुषा नामक दो पुत्र होते हैं| राम के पश्चात् कुश सहित आठ रघुवंशी राजाओं के शासन का वर्णन रघुवंश महाकाव्य में किया गया है। अंतिम उन्नीसवें सर्ग में रघुवंशी राजा अग्निवर्ण का वर्णन है, जो क्षय रोग के कारण काल-कवलित हो जाता है तथा उसकी पत्नी का राज्याभिषेक होता है।

इस प्रकार रघुवंश भारत के सुप्रसिद्ध रघु वंश के ऐतिह्य को चित्रित करने वाला एक अप्रतिम महाकाव्य है। यद्यपि इसमें रघुवंश के अनेक राजाओं के भिन्न-भिन्न चरित्रों का वर्णन किया गया है, पुनरपि संपूर्ण महाकाव्य में एक केंद्रीय भाव निरंतर बनाए रखने में महाकवि कालिदास ने सफलता प्राप्त की है। यही कारण है कि उन्हें साहित्य जगत में कविकुलगुरू नाम से सम्मानित भी किया गया है|

ख) कुमारसंभव महाकाव्य

कुमार = कार्तिकेय अथवा स्कन्द के, संभव = जन्म की पुराणों की प्रसिद्ध कथा के आधार पर महाकवि कालिदास द्वारा विरचित यह महाकाव्य 17 सर्गों में निबद्ध है। इस

महाकाव्य में माता पार्वती के द्वारा भगवान शिव के चित्त के आकर्षण का काव्यात्मक वर्णन किया गया है, जो कुमार कार्तिकेय के जन्म का आधार बना।

कतिपय समीक्षकों का यह मानना है कि इस महाकाव्य के प्रारंभिक आठ सर्ग ही कालिदास के द्वारा विरचित हैं। अग्रिम नौ सर्ग बाद में किसी अन्य कवि ने जोड़े हैं। इन सर्गों में कालिदास का रचना कौशल दृष्टिगत नहीं होता है। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिकानाथ की टीका भी प्रारंभिक आठ सर्गों तक ही उपलब्ध होती है।

कुमारसंभव में वर्णित भगवान शिव और माता पार्वती के विवाह का प्रसंग ब्रह्मपुराण, स्कंदपुराण, पद्मपुराण और शिवपुराण आदि में प्राप्त होता है। एक अंश तक इसमें रामायण तथा महाभारत का भी प्रभाव देखा जा सकता है। कालिदास ने परंपरा से प्राप्त पौराणिक वृतांत को नई परिकल्पनाओं के साथ अत्यन्त सुंदर महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया है।

कुमारसंभव महाकाव्य का प्रारंभ हिमालय की भव्यता से होता है। हिमालय की पत्नी का नाम मैना, पुत्र का नाम मैनाक तथा पुत्री का नाम पार्वती है। देवर्षि नारद भविष्यवाणी करते हैं कि पार्वती का विवाह शिव से होगा। इधर तारकासुर से संत्रस्त देवताओं को ब्रह्मा बताते हैं कि शिव तथा पार्वती की होने वाली संतान तारकासुर का वध करेगी। पार्वती शिव जी से विवाह करना चाहती है, जिसके लिए वह तपस्या करती है| पार्वती की घोर तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान शिव पहले उनकी परीक्षा लेते हैं तथा बाद में पार्वती का अनुरोध स्वीकार करते हुए उनसे विवाह करते हैं। शिव पार्वती के विवाह के चित्ताकर्षक वर्णन के साथ महाकाव्य पूर्ण होता है।

ग) ऋतुसंहार

ऋतुसंहार को कालिदास की काव्य-प्रतिभा का प्रथम परिस्पंद माना गया है। अपने रचनाकाल की युवा अवस्था में ऋतुसंहार के रूप में प्रतिफलित यह उनकी पहली रचना मानी जाती है। इसके बाद की रचनाओं में कवि प्रतिभा का जो उज्ज्वल स्वरूप प्रकटित होता है, उसके समक्ष यद्यपि ऋतूसंहार विस्मरणीय प्रतीत होता है, किंतु पुनरपि नवोन्मेष की दृष्टि से यह एक अपूर्व रचना है। संस्कृत जगत में यह पहला काव्य है, जो स्वतंत्ररूप से केवल ऋतुओं के वर्णन को आधार वस्तु बनाकर लिखा गया है। यद्यपि ऋतुओं के वर्णन की परंपरा वैदिक काल से चली आ रही है। रामायण और महाभारत में भी ऋतुओं का हृदयग्राही मनोरम वर्णन प्राप्त होता है, किंतु इन ग्रंथों में किया गया यह ऋतु-वर्णन प्रसंगवंश किया गया है, जबकि ऋतुसंहार में तो महाकवि कालिदास ने ऋतुओं कोमुख्य प्रतिपाद्य बनाते हुए उन्हें नायिका के रूप में प्रस्तुत किया है। जो उनका एक अभिनव कार्य है|

कालिदास ने ऋतुसंहार में 144 पद्यों को 6 सर्गों में व्यवस्थित रूप से निबद्ध किया है। इन 6 सर्गों में ग्रीष्म ऋतु से प्रारंभ कर छः ऋतुओं का क्रमश: वर्णन किया गया है। छः ऋतुओं के संक्रमण में परिवर्तित होते परिदृश्य तथा मनः स्थितियों का सुन्दर चित्रण कालिदास की प्रतिभा तथा प्रकृति प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण है।

घ) मेघदूत

संदेश काव्य अथवा दूतकाव्य की समृद्ध परंपरा का प्रेरणास्रोत मेघदूत महाकवि कालिदास की प्रतिभा का अपूर्व उदाहरण है। लगभग सौ पद्यों में निबद्ध एक छोटी सी कृति सुदीर्घ का काव्य परंपरा की प्रवर्तक बनी हो, ऐसा साहित्यजगत् में कम ही हुआ है।

यह गीतिकाव्य पूर्वमेघ तथा उत्तरमेघ नामक दो खण्डों में विभक्त है। मल्लिनाथ आदि टीकाकारों का मंतव्य है कि कालिदास को मेघदूत की प्रेरणा आदिकवि वाल्मीकि विरचित रामायण से प्राप्त हुई है। जहां हनुमान रावण के द्वारा अपहरण कर लंका में बंधक बनाई हुई एकाकी सीता के पास जाकर उन्हें श्री राम का संदेश सुनते हैं| इसी प्रकार कालिदास कृत मेघदूत काव्य में अचेतन मेघ के माध्यम से यक्ष अपना संदेश यक्षिणी के लिए भेजता है।

मेघदूत के कथानक के अनुसार कर्तव्य में प्रमाद के कारण यक्ष को उसके स्वामी ने एक वर्ष के लिए अलकापुरी से निर्वासित कर दिया था। निर्वासित यक्ष ने रामगिरी पर्वत पर निवास करते हुए एक दिन मेघ को देखा। अपनी पत्नी के विरह से दुःखी निर्वासित हुआ यक्ष मेघ से निवेदन करता है कि यक्षिणी के लिए उसका संदेश लेकर वह अलकापुरी जाए। इसके पश्चात् यक्ष मेघ को रामगिरी पर्वत से लेकर अलकापुरी तक का मार्ग बताता है। मेघ के माध्यम से संदेश भेजने के इस वर्णन में भारत के सांस्कृतिक वैभव तथा नैसर्गिक सौंदर्य का अद्भुत चित्रण कालिदास के द्वारा किया गया है।

इस प्रकार कालिदास ने मेघदूत में एक अपूर्व परिकल्पना को काव्यरूप में प्रस्तुत किया है। यद्यपि मेघदूत का कलेवर छोटा है, पुनरपि उसका महत्व और लोकप्रियता सर्वमान्य रही है। मेघदूत की काव्य-विधा का निर्धारण विद्वानों के लिए सरल कार्य नहीं था। इस काव्य को गीतिकाव्य, खण्डकाव्य, लघुकाव्य, मुक्तककाव्य, संदेश काव्य आदि भिन्न-भिन्न श्रेणियों में रखा जाता रहा है। वस्तुतः महाकवि कालिदास ने विरहव्यथा के स्पन्दनों को अभिव्यक्त करते हुए मेघदूत को सर्वथा अभिनव विधा में प्रस्तुत किया है, जो साहित्यजगत् में समादृत हुई है।

2.4 कालिदास के काव्यों का विशिष्ट अध्ययन

महाकवि कालिदास की रचनाएं अपने काव्य-सौष्ठव के कारण साहित्य जगत में विशेष रूप से लोकप्रिय हैं। श्रृंगार रस के प्रयोग में कुशल महाकवि कालिदास उपमा अलंकार के प्रयोग के लिए भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं| वे काव्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण से तो विशेष स्थान रखते ही हैं, साथ ही साथ उन्होंने अपने काव्यों के माध्यम से तत्कालीन भारतवर्ष की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक स्थिति का भी प्रमुखता से निरूपण किया है।

कालिदास के द्वारा रचित काव्यों, विशेष रूप से मेघदूत और ऋतुसंहार के अनुशीलन से हमें ज्ञात होता है कि उन्होंने संपूर्ण भारत का भ्रमण किया था। विभिन्न प्रान्तो में रहने वाले नागरिकों के आहार-व्यवहार, जीवन-दर्शन, स्थापत्य कला, भौगोलिक सौंदर्य आदि का उन्हें गहन ज्ञान था। उन्होंने वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन किया था। इन ग्रन्थों ने प्रत्यक्ष अथवा सांकेतिक रूप से उनके काव्यों में अपने पदचिन्ह छोड़े हैं। कालिदास ने अपने काव्यों में अपने स्थिति काल की श्रेष्ठ तथा उदात्त उपलब्धियों को रोचक प्रकार से प्रस्तुत किया है तथा भारतीय ज्ञान परम्परा के सम्प्रेषण में सफलता प्राप्त की है|

कालिदास के काव्यों में वर्णित धर्म

आप जानते हैं कि भारतीय समाज धर्मप्रधान है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमें धर्म का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। समाज का ही प्रतिबिंब काव्य में आभासित होता है। कालिदास एक धर्मपरायण कवि थे। उन्होंने अपने काव्यों का प्रारंभ भारतीय परंपरा का अनुगमन करते हुए

मंगलाचरण से किया है। उनके द्वारा लिखे गए दोनों महाकाव्य कुमारसंभव तथा रघुवंश का कथानक पौराणिक घटनाक्रम पर आधारित हैं। उन्होंने इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं, महाकाव्यों और पुराणों से कथावस्तु का ग्रहण किया और अपनी योजना के अनुसार उसमें काव्योचित परिवर्तन भी किए हैं।

महाकवि कालिदास त्रिदेवों में परिगणित भगवान शिव के प्रति आस्थावान थे। जहाँ अपने तीनों नाटकों का आरंभ होने शिव-स्तुति से किया है, वहीं कुमारसंभव महाकाव्य में शिव का अत्यन्त गरिमामय स्वरूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार रघुवंश महाकाव्य के मंगलाचरण में भी वह शिव स्तुति करते हुए लिखते हैं -

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

अर्थात् वाक् तथा अर्थ के ज्ञान के लिए मैं शब्द तथा अर्थ के समान एक दूसरे से संयुक्त इस संसार के माता-पिता के रूप में स्थित पार्वती तथा परमेश्वर का वंदन करता हूँ।

भारतीय धार्मिक मान्यता के अनुसार कालिदास अवतारवाद पर विश्वास करते हैं। भगवान कृष्ण के विष्णुस्वरूप होने का वर्णन उन्होंने रघुवंश तथा मेघदूत में किया है। इसी प्रकार भगवान विष्णु के मुख से श्री राम के रूप में अवतरित होने का आश्वासन देवताओं को दिलवाते हुए वे लिखते हैं :-

सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिसयम्।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरः कमलोच्चयम्।।

उन्होंने ईश्वर को इस चराचर जगत् का सृष्टा, पालन कर्ता तथा संहर्ता माना है। इस सृष्टि के प्रलय-स्थिति-सर्ग के कारण रूप में एक ही तत्व है। रघुवंश में कालिदास लिखते हैं :-

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु विभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने।।

अर्थात् पहले शिव के सृष्टिकर्ता, उसके पश्चात् पालन करने वाले तथा अंत में संहार करने वाले, ईश्वर के इन तीनों स्वरूपों को मैं नमन करता हूँ। कुमारसंभव तथा रघुवंश महाकाव्यों में उन्होंने ईश्वर की सत्ता का वर्णन अज, अव्यक्त, केवलात्मन, पुरूष, आदिपुरुष, आत्मभूः आदि अनेक विशेषणों का प्रयोग करते हुए किया है। वेदांत दर्शन की तरह कालिदास एक सर्वात्मक सत्ता का अस्तित्व मानते हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों देवों को एक ही सत्ता के तीन रूपों में स्वीकार करते हैं।

कालिदास का मत है कि पंच महाभूतों से निर्मित यह शरीर धर्म का प्रथम साधन है। कहा भी गया है कि = "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्|" किसी मनुष्य की श्रेष्ठता उसकी आयु नहीं अपितु धार्मिक आचरण से होती है। इसी भावना को प्रमाणित करते हुए उन्होंने कुमारसंभव में लिखा है :- "न धर्मवृद्धेशु वयः समीक्ष्यते।" अर्थात् जो धर्म का ज्ञान होने के कारण बड़े होते हैं, उनकी आयु नहीं देखी जाती है। इन उदाहरणों से हमें कालिदास की धार्मिक मान्यताओं की जानकारी होती है|

कालिदास के काव्यों में वर्णित समाज -

शास्त्रों में समाज-व्यवस्था को सम्यक् रूप से संचालित करने के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था का विधान किया गया है| इसका प्रभाव हमें कालिदास के काव्यों में भी दिखाई देता है| रघुकुल का वर्णन करते हुए कालिदास ने भारतीय समाज व्यवस्था के मूल स्तम्भ के रूप में स्थित आश्रम-व्यवस्था के प्रचलन को अत्यन्त सरल शब्दों में प्रस्तुत किया है :-

शैरावेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
बार्द्धक्ये मुनिवृत्तिनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।

इस श्लोक में आश्रम व्यवस्था के अनुरूप रघुवंश के राजाओं के संपूर्ण जीवन काल के विभाजन का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि रघुवंशीय राजा जीवन के प्रारंभिक चरण अर्थात् शैशव अवस्था (ब्रह्मचर्य आश्रम) में विद्याध्ययन करते थे। युवावस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर विषयों का उपभोग करते थे। वृद्धावस्था में वानप्रस्थ आश्रम के अनुसार मुनिवृति स्वीकार करते थे तथा अंत में योग के द्वारा देह का त्याग करते थे। इस छोटे से श्लोक से आप भारतीय समाज में प्रचलित आश्रम व्यवस्था के प्रचालन को जान सकते हैं|

मानव जाति के विकास में नारी प्रकृति के रूप में समस्त सृष्टि का मूल कारण है। किसी भी समाज या राष्ट्र की वास्तविक स्थिति को जानने के लिए उस समाज में नारी की स्थिति को जानना आवश्यक होता है। भारतीय संस्कृति में नारी को सदैव सम्मानित माना गया है। उन्हें देवी के रूप में पूजनीय भी माना गया है। महाकवि कालिदास में अपने काव्यों में भारतीय परंपरा के अनुसार नारी की स्थिति का चित्रण किया है। कुमारसंभव में वे लिखते हैं :-

क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्।।

इसका अर्थ है कि पत्नी समस्त धार्मिक क्रियाकलापों का मूल कारण होती है। अर्थात् स्त्री के बिना पुरुष कोई भी धार्मिक कृत्य नहीं कर सकता है। परिवार में स्त्री की महनीयता का गुणगान करते हुए कुमारसंभव में कालिदास लिखते है :-

प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः।।

अर्थात् पुत्री के विषय में परिवार के लोग गृहणी = पुत्री की माँ के परामर्श से ही निर्णय लेते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि परिवार में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था| इसी प्रकार मेघदूत का अलाकापुरी से निर्वासित हुआ यक्ष अपनी पत्नी के प्रेम में इतना विरहाकुल था कि वह अचेतन मेघ ही को दूत बनाकर अपनी पत्नी के लिए संदेश प्रेषित करता है। वह यह भी भूल जाता है कि सन्देश भेजने का कार्य किसी चेतना-सम्पन्न व्यक्ति के द्वारा किया जाना चाहिए| यक्ष के अनुसार उसकी पत्नी प्राणेश्वरी अथवा द्वितीय जीवन ही है –

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयम्।।

इससे आप भारतीय समाज में प्रतिबिंबित हुई पति-पत्नी के प्रेम की पराकाष्ठा को जान सकते हैं| कालिदास के काव्यों में वर्णित इसी प्रकार के अनेक प्रसंग भारतीय समाज में नारी के महत्वपूर्ण स्थान का दिग्दर्शन कराते हैं।

कालिदास के काव्यों में वर्णित राजनीति

कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य भारतीय राज्य-व्यवस्था की आदर्श स्थिति का बोध कराता है, जिसमें हमें रघुवंश के राजाओं की उदार शासन व्यवस्था के संकेत मिलते हैं। राजा प्रजा से

जो भी कर अथवा शुल्क प्राप्त करते थे, वह सब कुछ राजा के उपभोग के लिए नहीं, अपितु त्याग के लिए होता था –

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।।

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य का धरती से जल को सोखना, वर्षा कर उस जल को धरती पर प्रत्यावर्तित करने के लिए होता है| उसी प्रकार सज्जनों (राजा दिलीप) का प्रजा से धन का आदान, उसे पुनः व्यवस्थित रूप से पुनः प्रजा में ही व्यवस्थित रूप से वितरित करने के लिए होता था। कालिदास के अनुसार राजा को अपने राज्य को तपोवन समझ कर, मुनि के रूप में उसमें रहना चाहिए तथा प्रजापालन रूपी तपस्या करनी चाहिए। रघुवंश में जब राजा दिलीप ऋषि वशिष्ठ के आश्रम जाते हैं, तब ऋषि वशिष्ठ उनसे पूछते हैं :-

पपृच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः।।

अर्थात् वन में स्थित आश्रम में निवास करने वाले वशिष्ठ मुनि ने राज्य रूपी आश्रम में निवास करने वाले राजा रूपी मुनि दिलीप से कुशल क्षेम पूछा। जिससे हमें विदित होता है कि रघुवंशी राजा विलासितापूर्ण जीवन न जीते हुए केवल एक मुनि के रूप में अपने दायित्वों का निर्वाहण करते थे| वस्तुतः रघुवंश को आदर्श राष्ट्रीय महाकाव्य कहा जा सकता है। भारतवर्ष की उत्कृष्ट सांस्कृतिक तथा नैतिक आदर्शों का प्रतिबिंब इस महाकाव्य में आभासित होता है।

कालिदास के काव्यों में वर्णित जीवन-मूल्य

कालिदास ने अपने काव्यों में जीवन के मर्म का उद्घाटन किया है। उनकी रचनाओं में काव्यगत सौंदर्य के साथ-साथ जीवन मूल्यों से संबंधित अनेक ऐसे उदाहरण समुपलब्ध होते हैं, जो अद्यावधि विश्व समुदाय के लिए मार्गदर्शक हैं। कालिदास के अनुसार व्यक्ति को धैर्य का त्याग नहीं करना चाहिए। कुमारसंभव महाकाव्य में वे कहते हैं:-

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।।

अर्थात् विकार = कठिन समय में समस्याएं समक्ष होने पर भी जिनके चित्त में विकार जन्म न ले सके, वस्तुतः वे ही लोग धीर होते हैं।

लोकजीवन में प्रचलित सदाचरण ही किसी समाज की संस्कृति को द्योतित करता है। कर्तव्य-पालन, सदाचार, दयाभाव, क्षमा करना, धैर्य धारण करना आदि व्यक्ति के धर्मानुकूल आचरण को प्रमाणित करने वाले गुण हैं। महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में इन गुणों को यथाप्रसंग रेखांकित भी किया है। यदि व्यक्ति गुणवान होता है तो उसका छोटा दोष भी दृष्टिगत नहीं होता है -

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।।

अर्थात् अनेक गुणों से युक्त मनुष्य का कोई एक दोष उस व्यक्ति के गुणों में उसी प्रकार छिप जाता है, जिस प्रकार चंद्रमा की धवल किरणों में उसका कलंक छिप जाता है।

इस प्रकार के अनेक जीवन मूल्यों का ज्ञान हमें कालिदास के काव्यों के अध्ययन से होता है। जनसामान्य में प्रचलित ये गुण ही किसी देश की संस्कृति के संकेतक होते हैं। इन काव्यों के अनुशीलन के आधार पर प्रतीत होता है कि कालिदास के द्वारा काव्यों की रचना समाज का

मनोरंजन करने के साथ – साथ प्राचीन भारतीय संस्कृतिक विरासत के संक्रमण का महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए भी की गई थी।

2.5 सारांश

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवियों में अन्यतम हैं। कालिदास के जन्मस्थान और स्थितिकाल के विषय में स्पष्ट जानकारी का अभाव है। अलग-अलग विद्वानों ने उनका जन्मस्थान तथा स्थितिकाल भिन्न-भिन्न माना है। पुनरपि उनके काव्यों में वर्णित उज्जयिनी के विशिष्ट चित्रण से स्पष्ट होता है कि वह उज्जयिनी में अवश्य रहे होंगे। उन्हें ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में सम्राट विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक माना जाता है। कालिदास के संबंध में अनेक किंवदन्तिया प्रचलित हैं। जिनके अनुसार उनका विवाह राजकुमारी विद्योत्तमा से हुआ था।

कालिदास ने विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र तथा अभिज्ञानशाकुन्तल नामक तीन नाटक लिखे हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने रघुवंश तथा कुमारसंभव नामक दो महाकाव्य और ऋतुसंहार तथा मेघदूत नामक दो गीतिकाव्य भी लिखे हैं। महाकवि कालिदास के सभी काव्य साहित्यिक दृष्टि से विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्हें उपमा अलंकार के प्रयोग में विशेष ख्याति प्राप्त है। काव्यगत चरित्र के उपस्थापन में उन्होंने भारतीय संस्कृति की गरिमा की रक्षा की है। उनका प्रत्येक चरित्र मानवीय गुणों से युक्त है।

कालिदास की दृष्टि समाज के सभी वर्गों पर गई है। जहां रघुवंश महाकाव्य में उन्होंने रघु के वंश का निरूपण किया वहीं मेघदूत में यक्षराज के द्वारा निर्वासित एक सामान्य व्यक्ति की विरहदशा का भी सजीव चित्रण किया है। कुमारसंभव महाकाव्य भगवान शिव तथा पार्वती के विवाह के वर्णन को आधार बनाकर लिखा गया है, वहीं ऋतुसंहार में प्रकृति की छः ऋतुओं को वर्ण्य विषय बनाकर काव्य की रचना की गई है।

वस्तुतः भारतीय लोकजीवन में कालिदास की विशेष दृष्टि है। उन्होंने वेद, रामायण, महाभारत, दर्शनशास्त्र, स्मृतिशास्त्र तथा पुराण आदि शास्त्रों का गहन अनुशीलन किया था। भारत के विभिन्न प्रांतों के निवासियों का रहन-सहन और उनकी परंपराओं से परिचय भी कालिदास ने प्रकट किया है। उनके काव्य मानवीयता की महती कविता हैं, जिसमें उन्होंने अपनी कविदृष्टि से जीवन के मर्म का उद्घाटन किया है। उनके काव्यों पदे पदे ऐसे सुभाषित प्राप्त होते हैं, जो शताब्दियों तक भारतीय जनमानस में प्रसिद्ध रही हैं और आज भी हमारे लिए मार्गदर्शक हैं।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

काव्य - रस से युक्त वाक्य, कविता, छन्दोबद्ध रचना|

मंगलाचरण - ग्रन्थ के आरम्भ में प्रार्थना या आशीर्वादोच्चारण|

पंच महाभूत - पृथिव, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश।

सर्ग - काव्य आदि का अनुभाग या अध्याय|

टीका - किसी समीक्षक के द्वारा की गयी व्याख्या|

खण्डकाव्य - काव्य का भेद विशेष|

खण्ड - काव्य आदि का अनुभाग, अंश या अध्याय|

आख्यान - किसी पुराने इतिवृत्त की ओर निर्देश करना|

2.7 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

क) ऋतुसंहार, कालिदास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी|

ख) मेघदूत, कालिदास, कालिदास संस्कृत अकादमी, उज्जैन|

ग) रघुवंश, कालिदास, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी|

घ) कुमारसम्भव, कालिदास, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी|

ड़) संस्कृत साहित्य का समग्र इतिहास, राधावल्लभ त्रिपाठी, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नई दिल्ली।

च) संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नई दिल्ली।

2.8 बोध प्रश्न

क) महाकवि कालिदास का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

ख) महाकवि कालिदास के द्वारा रचित महाकाव्यों का साराशं लिखिए।

ग) मेघदूत के प्रतिपाद्य का वर्णन कीजिए।

घ) कालिदास के काव्यों के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन कीजिए।

ड़) कालिदास के काव्यों में वर्णित जीवन-मूल्यों की उपादेयता का वर्णन कीजिए|

इकाई 3 कल्हण की राजतरंगिणी का प्रतिपाद्य एवं वैशिष्ट्य

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

कल्हण की राजतरंगिणी का प्रतिपाद्य एवं वैशिष्ट्य के वर्णन से सम्बन्धित इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात आप -

- कल्हण के जीवन वृत्त से परिचित होंगे।
- कल्हण की रचनाओं से परिचित हो सकेंगे।
- राजतरंगिणी के प्रतिपाद्य को जान सकेंगे|
- राजतरंगिणी के वैशिष्ट्य को समझ सकेंगे।
- राजतरंगिणी की विषयवस्तु का विश्लेषण कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य की इतिहास-लेखन की परंपरा में महाभारत के पश्चात् कल्हण के द्वारा लिखी गई राजतरंगिणी का महत्वपूर्ण स्थान है, जो विराट् फलक पर जीवन के द्वंद्व और विकट संग्राम की ऐतिहासिक कथावस्तु को प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। राजतरंगिणी के प्रणेता महाकवि कल्हण कश्मीर के निवासी थे। स्वयं कल्हण अपनी इस ऐतिहासिक रचना को समाज के लिए औषधि की तरह मानते हुए कहते हैं :-

भैषज्यभूतसंवादिकथायुक्तोपयुज्यते।।

जन सामान्य के प्रति कल्हण की अकृत्रिम सहानुभूति उनकी एक स्पृहणीय विशेषता है। महामारी, दुर्भिक्ष तथा राज सभा के अधिकारियों के त्रास के कारण उत्पन्न संकटों के पीड़ित

प्रजा की स्थिति का जो वर्णन राजतरंगिणी में प्राप्त होता है, वह अत्यन्त मार्मिक और हृदयावर्जक है। हम कह सकते हैं कि भारत के एक सहस्र से अधिक वर्षों की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों के सम्यक् ज्ञान के लिए कल्हण कृत राजतरंगिणी अत्यन्त उपयोगी तथा प्रमाणिक काव्य है। अपने महनीय अवदान के कारण इस काव्य का इतना सम्मान हुआ है कि कल्हण का अनुकरण करते हुए अनेक परवर्ती कवियों ने राजतरंगिणी के नाम से काव्य लिखकर कल्हण के द्वारा प्रवर्तित काव्यात्मक इतिहास-रचना के इस उपक्रम को आगे बढ़ाया है।

महाकवि कल्हण के द्वारा रचित राजतरंगिणी के विशिष्ट अध्ययन से संबंधित इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप कश्मीर के इतिहास की विषयवस्तु से संवलित राजतरंगिणी की उपादेयता को समझ सकेंगे।

3.2 कल्हण का परिचय

भारतीय इतिहासकारों में कल्हण का नाम सर्वोपरि है, उन्होंने अपने काव्य राजतरंगिणी के माध्यम से महाभारत काल से लेकर अपने स्थितिकाल अर्थात् 1150 ईसवी तक के कश्मीर के इतिहास का विस्तार से प्रमाणिक वर्णन प्रस्तुत किया है। समकालीन उपलब्ध स्रोतों के आधार पर हमें कल्हण के जीवनवृत का ज्ञान होता है। जिसके अनुसार कल्हण भारतवर्ष के कश्मीर प्रांत के निवास करने वाले ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। उनका वास्तविक नाम कल्याण था। कल्हण उस नाम का कश्मीरी भाषा में अपभ्रंश प्रतीत होता है। उनके पिता का नाम महामात्य चंपक प्रभु था। वर्ष 1098 ईसवी के लगभग कश्मीर के परिहासपुर नामक स्थान में उनका जन्म हुआ था। कल्हण के पिता राजा हर्ष की सभा में मंत्री थे, जिस कारण उन्होंने शासन व्यवस्था को निकट से देखा था|

महाकवि कल्हण की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना राजतरंगिणी है। महाभारत के सदृश विशाल कलेवर वाले इस काव्य का लेखन का कार्य कल्हण ने वर्ष 1148 से 1150 ईसवी के मध्य पूर्ण किया। राजतरंगिणी के अतिरिक्त कल्हण ने अर्धनारीश्वर स्तोत्र नामक स्तुतिकाव्य की रचना भी की थी। राजतरंगिणी के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि कल्हण को अपनी जन्मभूमि कश्मीर से अत्यन्त प्रेम था। काव्यशास्त्र के साथ-साथ कल्हण को वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत, दर्शनशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों का भी गहन ज्ञान था।

कल्हण के पिता राजा हर्ष के महामात्य थे। तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का विशद वर्णन उन्होंने एक प्रत्यक्षदर्शी के रूप में किया है। इस कारण उनके द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक वर्णनों की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है| अपने समकालीन राजा जयसिंह के गुण-दोष और राजनीतिक कार्यक्रमों का वर्णन करते हुए वे कहीं भी भय तथा उद्वेग से संत्रस्त नहीं दिखाई देते हैं। जिससे आप जान सकते हैं कि उन्होंने निर्भीक होकर निष्पक्ष रूप से लेखन कार्य किया है और अन्य राजाओं का इतिहास लिखने में भी उन्होंने कहीं पक्षपात नहीं किया होगा।

3.3 कल्हण कृत राजतरंगिणी का प्रतिपाद्य

कल्हण को एक कवि के साथ-साथ इतिहासकार के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय उनके द्वारा विरचित राजतरंगिणी को जाता है। राजतरंगिणी का सामान्य अर्थ है = राजाओं की नदी। जिस प्रकार हम निरंतर बहती नदी में उठती-गिरती तरंगों को देखते हैं, उसी प्रकार इस राजतरंगिणी में

हमें कश्मीर के राजाओं के उत्थान और पतन का क्रम दिखाई देता है। सामान्यतया संस्कृत कव्यों का विभाजन सर्गों में होता है, किंतु इस काव्य का विभाजन सर्गों के स्थान पर आठ तरंगों में किया गया है। इन आठ तरंगों के आठ हजार श्लोकों में महाभारत काल से लेकर वर्ष 1150 ईस्वी तक के कश्मीर के राजाओं का काव्य के रूप में यथा-तथ्य वर्णन है।

राजतरंगिणी के प्रथम तरंग में कलि संवत् 653 में कश्मीर के राजा गोनन्द प्रथम के वर्णन से प्रारंभ करते हुए युधिष्ठिर तक के 73 राजाओं के इतिहास का निरूपण किया गया है। द्वितीय तरंग में कल्हण ने उससे आगे प्रतापादित्य प्रथम, जलौकस, तुंजीन प्रथम, विजय, जयेंद्र तथा संधिमति आर्यराज नामक छः राजाओं के 192 वर्षों के शासन का वर्णन किया है। तृतीय तरंग में गोनन्द वंश के राजा मेघवाहन से प्रारंभ कर राजा बालादित्य तक के दस राजाओं के 536 वर्षों तक की शासन-व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर राजतरंगिणी के चतुर्थ तरंग में कर्कोट वंश के राजा दुर्लभवर्धन-प्रज्ञादित्य से लेकर राजा उत्पलापीड पर्यंत 17 राजाओं के 260 वर्षों तक के शासन का विवरण काव्यात्मक रूप में वर्णित है। पंचम तरंग में कल्हण में उत्पल वंश के राजा अवन्ति वर्मा के लौकिक संवत् 3931 में राज्यारोहण से लेकर लौकिक संवत् 4015 में शूरवर्मा द्वितीय के राज्याभिषेक तक कुल 12 राजाओं के शासन का वर्णन किया है। राजतारंगिनी के अन्य तरंगों की अपेक्षा इस तरंग में कल्हण का इतिहास-लेखन अधिक परिपक्व तथा प्रमाणिक होता दिखाई देता है। षष्ठ तरंग का प्रारंभ लौकिक संवत 4015 में राजा यशस्कर देव के राज्याभिषेक से होता है, जिसमें क्रमशः वर्णट, संग्रामदेव, पर्वगुप्त, क्षेमगुप्त, अभिमन्यु, नन्दिगुप्त, त्रिभुवनगुप्त, भीमगुप्त और दिद्दा नामक राजाओं की शासन-व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात सप्तम तरंग में लौकिक संवत् 4079 में लोहर वंशीय राजा संग्राम राज के राज्याभिषेक से लेकर क्रमशः हरिराज, अनंत, कलश, उत्कर्ष और हर्ष के शासन का निरूपण किया गया है। राजतरंगिणी के अंतिम अष्टम तरंग में लौकिक संवत् 4177 में राजा उच्चल के राज्यारोहण से लेकर क्रमशः रड्डु-शंखराज, सुल्लहण, सुस्सल, भिक्षाचर, पुनः सुस्सल तथा जयसिंह के शासन का वर्णन किया गया है। षष्ठ तरंग से लेकर अष्टम तरंग तक में कल्हण ने शासन-व्यवस्था का जो सूक्ष्मरूप से वर्णन किया है, वह समग्र संस्कृत साहित्य में अपूर्व तथा अप्रतिम है। राजतरंगिणी में वर्णित राजाओं का विवरण निम्नवत है :-

प्रथम तरंग में वर्णित राजाओं की सूची -

1. गोनन्द (प्रथम)
2. दामोदर (प्रथम)
3. यशोवती
4. दामोदर (द्वितीय)
5. से 39 क्रमांक तक राजाओं ने नाम अज्ञात हैं|

40. लव
41. कुश
42. खगेंद्र
43. सुरेंद्र
44. गोधर

45. सुवर्ण
46. जनक
47. शनिचर
48. अशोक
49. जलौक
50. दामोदर (तृतीय)
51. हुष्क जुष्क कनिष्क
52. अभिमन्यु (प्रथम)
53. गोनन्द (तृतीय)
54. विभीषण (प्रथम)
55. इंद्रजीत
56. रावण
57. विभीषण (द्वितीय)
58. नर (प्रथम)
59. सिद्ध
60. उत्पलाक्ष
61. हिरण्याक्ष
62. हिरण्यकुल
63. वसुकुल
64. मिहिरकुल
65. बक
66. क्षितिनन्द
67. वसुनन्द
68. नर (द्वितीय)
69. अक्ष
70. गोपादित्य
71. गोकर्ण
72. खिंखिल (नरेन्द्रादित्य)
73. युधिष्ठिर

द्वितीय तरंग में वर्णित राजाओं की सूची -

1. प्रतापादित्य (प्रथम)
2. जलौकस

3. तुंजीन (प्रथम)
4. विजय
5. जयेन्द्र
6. सन्धिमति आर्यराज

तृतीय तरंग में वर्णित राजाओं की सूची -

1. मेघवाहन
2. श्रेष्ठसेन - प्रवरसेन (तुंजीन - 2)
3. हिरण्य
4. मातृगुप्त
5. प्रवरसेन (द्वितीय)
6. युधिष्ठिर (द्वितीय)
7. लःखण - नरेन्द्रादित्य
8. रणादित्य (तुंजीन - 3)
9. विक्रमादित्य
10. बालादित्य

चतुर्थ तरंग में वर्णित राजाओं की सूची -

1. दुर्लभवर्धन – प्रज्ञादित्य
2. दुर्लभवर्धन - प्रतापादित्य (द्वितीय)
3. चन्द्रापीड - वज्रादित्य
4. तारापीड - उदयादित्य
5. मुक्तापीड - ललितादित्य
6. कुवलयापीड
7. वज्रादित्य – बप्पियक - ललितादित्य
8. पृथिव्यापीड
9. संग्रामपीड (प्रथम)
10. जज्ज
11. जयापीड - विनयादित्य
12. ललितापीड
13. संग्रामपीड (द्वितीय)- पृथिव्यापीड
14. चिप्पटजयापीड - बृहस्पति
15. अजितापीड
16. अनंगापीड

17. उत्पलापीड

पंचम तरंग में वर्णित राजाओं की सूची -

1. अवन्तिवर्मा
2. शंकरवर्मा
3. गोपालवर्मा
4. संकट
5. सुगन्धा
6. पार्थ
7. निर्जितवर्मा (पंगु)
8. चक्रवर्मा
9. शूरवर्मा (प्रथम)
10. पार्थ (पुनः राजा)
11. चक्रवर्मा (पुनः राजा)
12. शंकरवर्धन
13. चक्रवर्मा (पुनः राजा)
14. उन्मत्तावन्तिवर्मा
15. शूरवर्मा (द्वितीय)

षष्ठ तरंग में वर्णित राजाओं की सूची -

1. यशस्करदेव
2. वर्णट
3. संग्रामदेव
4. पर्वगुप्त
5. क्षेमगुप्त
6. अभिमन्यु
7. नन्दिगुप्त
8. त्रिभुवनगुप्त
9. भीमगुप्त
10. दिद्दा

सप्तम तरंग में वर्णित राजाओं की सूची -

1. संग्रामराज
2. हरिराज
3. अनन्त

4. कलश
5. उत्कर्ष
6. हर्ष

अष्टम तरंग में वर्णित राजाओं की सूची -

1. उच्चल
2. रड्डु - शंखराज
3. सुल्हण
4. सुस्सल
5. भिक्षाचर
6. सुस्सल (पुनः राजा)
7. जयसिंह (सिंहदेव)

कल्हणकृत राजतरंगिणी का मुख्य प्रतिपाद्य यद्यपि कश्मीर है, पुनरपि प्रसंगवशात् इसमें संपूर्ण भारत वर्ष के भूगोल, संस्कृति, समाज, इतिहास आदि का जितना विशद् और तथ्यपरक वर्णन प्राप्त होता है, उतना रामायण और महाभारत के पश्चात् किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता है। इस दृष्टि से यहाँ ग्रन्थ आपके लिए अत्यन्त उपयोगी है|

कल्हण ने राजतरंगिणी की रचना करने से पूर्व इससे संबंधित प्राचीन अभिलेखों, पुराण साहित्य, साहित्य शास्त्रीय ग्रंथों आदि का गहनता पूर्वक अनुशीलन किया था। उन्होंने संपूर्ण देश में भ्रमण कर अपने समय के भौगोलिक परिवेश तथा इतिहास को प्रत्यक्ष रूप से जाना था। समाज में रहते हुए कल्हण ने प्रचलित किंवदन्तियों और जनश्रुतियों की जानकारी भी एकत्रित की थी। अपने स्थितिकाल के वर्णन के समय कल्हण अत्यन्त निर्भीकता पूर्वक सत्यता का चित्रण करते हैं। अपने से पूर्व के इतिहास को उन्होंने जनश्रुतियों, उपाख्यानों और अन्य अनेक अभिलेखीय स्रोतों से जानने का यत्न किया है।

राजतरंगिणी साहित्यिक जगत् में इतनी समादृत हुई कि कल्हण के पश्चात् भी उनके परवर्ती कवियों ने उनका अनुकरण करते हुए राजतरंगिणी लिखकर इतिहास-लेखन के इस विशिष्ट उपक्रम को आगे बढ़ाया।

3.4 कल्हण की राजतरंगिणी का वैशिष्ट्य -

कल्हण की ऐतिहासिक दृष्टि -

कल्हण कृत राजतरंगिणी एक विशाल और विस्तृत महाकाव्य है। संस्कृत साहित्य की रचनाओं में राजतरंगिणी को एक ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जा सकता है, जिसने कश्मीर को भारत के ऐसे क्षेत्र के रूप में प्रतिष्ठित किया है जिसकी इतिहास-लेखन की परंपरा रही है। आपने पूर्व में पढ़ा है कि राजतरंगिणी में कल्हण ने महाभारत काल से लेकर अपने समय अर्थात् 1150 ई. तक के कश्मीर के राजाओं का वर्णन काव्यात्मक रूप से किया है। इस ग्रन्थ में संस्कृत भाषा में लिखे गए 8000 श्लोक हैं, जो आठ तरंगों में सुविभक्त हैं। महाभारत की तरह बृहद कलेवर वाला यह कल्हण ने वर्ष 1148 से 1150 ईस्वी के मध्य लिखा है। राजतरंगिणी का अर्थ है राजाओं की

नदी। जिस प्रकार नदी की अविच्छिल जलधारा तरंगों के रूप में उठती-गिरती हुई प्रवहमान रहती है, उसी प्रकार इस महाकाव्य में कश्मीर के राजा गोनन्द प्रथम से लेकर राजा जयसिंह तक के राजाओं के शासन का क्रमिक इतिहास इस ग्रन्थ में निबंद्ध है। यद्यपि इतिहास को उपजीव्य बनाकर काव्य लिखने की परंपरा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। रामायण, महाभारत और पुराणों में हमारे देश का प्राचीन इतिहास संरक्षित हैं। कल्हण से पूर्व भी अनेक कवियों ने ऐतिहासिक इतिवृत के आधार पर कव्यों का निर्माण किया है। जिनमें महाकवि बाण द्वारा विरचित हर्षचरित, वाक्यपतिराज के द्वारा रचित गौडवहो, परिमल पद्मगुप्त द्वारा रचित नवसाहसांक चरित, विल्हण के द्वारा प्रणीत विक्रमांकदेवचरित आदि काव्य प्रमुख हैं। इन कार्यों की विषयवस्तु यद्यपि ऐतिहासिक है तथापि अन्य काव्य ग्रंथों की तरह इन काव्यों के नायक सर्वगुणसंपन्न और प्रतिनायक दुर्गुणों से युक्त दिखाई देते हैं। कहीं-कहीं तो कवि नायक को उत्कृष्ट प्रदर्शित करने के लिए कथा में परिवर्तन भी कर देते हैं। जिस आधार पर हम कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ काव्य तो है किंतु इतिहास को वास्तविक रूप से प्रदर्शित नहीं करते हैं। इसके विपरीत राजतरंगिणी में कल्हण ने निर्भीक होकर सत्य का वर्णन किया है। राजवंशों का निरूपण करते हुए उन्होंने राजा के दोषों को भी कहीं भी छुपाने का प्रयास नहीं किया है। यहाँ तक कि अपने समकालीन कश्मीर के राजा जयसिंह के दोषों का जो स्पष्ट चित्रण कल्हण ने किया है, वह कवि की सत्य निष्ठा को प्रदर्शित करता है। वस्तुतः कल्हण इतिहासकार के रूप में भूतार्थकथन = घटित घटना का यथावत् कथन करने को अपना आदर्श मानते हैं। जैसा कि उन्होंने राजतरंगिणी के प्रथम तरंग में कहा भी है :-

श्लाध्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती।।

अर्थात् वही गुणवान् लेखक प्रशंसा के योग्य है, जिसकी राग और द्वेष से रहित वाणी भूतार्थकथन = सत्य के कथन में स्थिर रहती है।

कल्हण ने अपने स्थिति काल की समस्त राजनीतिक घटनाक्रमों को तटस्थ रहते हुए केवल दृष्टा के रूप में देखा था। यही कारण है कि वह राजतरंगिणी में वे कुशल कवी के साथ साथ एक निरपेक्ष इतिहासविद् भी दिखाई देते हैं। उनके जीवनकाल में कश्मीर में अनेक विप्लव हुए थे। जिनका चित्रण राजतरंगिणी में गंभीरतापूर्वक किया गया है। अपने समकालीन राजा जयसिंह तथा उनके पिता के अनेक कार्यों की कवि ने कठोर शब्दों में भर्त्सना तक की है, जिससे हमें ज्ञात होता है कि उन्हें राजकीय सम्मान कदापि अभीष्ट नहीं था।

एक कुशल इतिहासकार की तरह कल्हण ने राजतरंगिणी के लेखन में अपने पूर्वापर तथा समकालीन स्रोतों यथा पत्र, आदेश, अभिलेख, मुद्रा, प्रशस्ति व प्राचीन स्मारकों जैसे साक्ष्यों में सुरक्षित वंशावलियों का उपयोग किया है। आप राजतरंगिणी में स्रोतों के उल्लेख को आरंभ के श्लोकों में देख सकते हैं। कल्हण ने किसी भी परंपरा को प्रचलन के रूप में स्वीकार नहीं किया है, अपितु उसकी प्रमाणिकता के संबंध में अपना विवेचन भी प्रस्तुत किया है।

राजतरंगिणी में कश्मीर की राजवंशावली की उत्पत्ति पुराणों में वर्णित वैवस्वत मनु की परंपरा के अनुसार वर्णित है। जिसमें कालान्तर में मातृगुप्त, विक्रमादित्य (द्वितीय), कुषाण, हूण, मौर्य, अशोक आदि का संपूर्ण इतिहास वर्णित है। इसको आधार बनाकर अनेक समीक्षकों ने कल्हण को प्राचीन भारतीय इतिहासकार स्वीकार किया है। किंतु उनके साक्ष्यों में पौराणिकता का बाहुल्य तथा उनकी कविप्रतिभा को देखकर कुछ समालोचन उन्हें इतिहासकार नहीं, अपितु

कवि मानते हैं। किंतु इन सबसे इतर स्वयं कल्हण ने राजतरंगिणी के प्रारंभ में कवि को ही इतिहासकार माना है तथा स्वयं को भी वैसा ही बताया है। उनका मंतव्य था कि हमें इतिहास से अधिकाधिक व्यावहारिक तथा उपयोगी शिक्षा प्राप्त हो सकती है। प्राचीन राजाओं के शासन के ऐतिहासिक अध्ययन से भविष्य के राजाओं के भाग्य अथवा दुर्भाग्य को जानने की अधिक शक्तिशाली दूरदृष्टि प्राप्त होती है। महाभारतकाल के युधिष्ठिर से लेकर कल्हण के स्थितिकाल वर्ष 1150 ईसवी तक की जो कथा राजतरंगिणी में वर्णित है उससे हम अपने सुदीर्घ इतिहास को जान सकते हैं। इस दृष्टि से राजतरंगिणी का अनुशीलन आपके लिए परम उपयोगी है।

कल्हण का राजनीतिक चिंतन -

भारतवर्ष की विशेष रूप से कश्मीर की राजनीतिक परिस्थितियों को जानने के लिए राजतरंगिणी अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। कल्हण के पिता चम्पक कश्मीर के राजा हर्ष की सभा में द्वारपति व महामात्य थे। अतः राजनीतिक घटनाक्रमों को उन्होंने निकटता से समझा था। राजतरंगिणी में राजाओं का इतिहास बताते हुए कल्हण ने अनेक राजनीतिक विचार प्रस्तुत किए हैं। तदनुसार राज्य की शासन-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था एवं सेना का प्रधान राजा होता था। स्त्रियाँ राज्याधिकार से पूर्णतया रहित नहीं थी, कुछ समय स्त्रियों ने कश्मीर पर शासन भी किया है। राजा की दैवीय उत्पत्ति के विषय में कल्हण ने पौराणिक मान्यता को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार दक्षता, उदारता, गंभीरता, विनयभाव आदि राजा के गुण होते हैं। समय-समय पर पुण्यात्मा और प्रजा को पीड़ित करने वाले राजा उत्पन्न होते हैं। अच्छे राजा प्रजा के कष्टों का हरण करते हुए अपनी राजलक्ष्मी को बढ़ाते हैं। इसके विपरीत दुष्ट राजा अपनी प्रजा को पीड़ित करने के कारण सपरिवार नष्ट हो जाते हैं:-

ये प्रजापीडनपरास्ते विनष्यन्ति सान्वयाः।
नष्ट तु ये योजयेयुस्तेषां वंशानुगाः श्रियः।।

अर्थात् जो राजा प्रजा को कष्ट प्रदान करते हैं, वे सपरिवार नष्ट हो जाते हैं। कल्हण अपनी इस बात को उदाहरण देते हुए समझाते हैं कि प्रजा के उत्पीड़न से राजा शंकरवर्मा के अनेक पुत्र बिना किसी रोग के अकस्मात् मर गए थे। प्रजा को पीड़ित करने वाले राजा का जीवन, वंश, संपत्ति आदि सभी वैभव नष्ट हो जाते हैं। दुष्ट राजाओं के प्रति कल्हन के क्रोध की राजतरंगिणी में अनेक स्थानों पर स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है। उनका मत है कि जो राजा असत्य को सत्य है और सत्य को असत्य समझता है, ऐसे विवेकहीन राजा की संपत्ति उसका परित्याग कर देती है, और वह संकटाकीर्ण हो जाता है।

राजतरंगिणी के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि राजा का पद सामान्यतः कुलक्रमागत था। राजा की मृत्यु के बाद उसका पुत्र राजसिंहासन पर आरूढ़ होता था। कर्कोट वंश काल में राजा की मृत्यु के पश्चात राजा के छोटे भाई को भी राजा बनाने की प्रक्रिया दृष्टिगत होती है, जैसे राजा चन्द्रापीड की मृत्यु के पश्चात उनका छोटा भाई तारापीड तथा तारापीड की मृत्यु के पश्चात उसका छोटा भाई ललितादित्य का राज्याभिषेक होता है। कभी-कभी राजा की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र के अभाव में रानी का भी राज्याभिषेक होता था। जैसे राजा दामोदर की मृत्यु होने पर उनकी गर्भवती पत्नी रानी यशोमती ने राज्यभार संभाला था।

मन्त्री, धर्माध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, दूत, पुरोहित तथा ज्योतिषी ये सात अधिकारी राज्य के प्रशासन में राजा की सहायता करते थे। यद्यपि राजा के मंत्रियों की संख्या निश्चित नहीं थी।

सामान्य रूप से मंत्री पद पर शास्त्रों के ज्ञाता, गुणवान् और स्वामीभक्त व्यक्ति को नियुक्त किया जाता था। मंत्रियों ने कश्मीर की शासन-व्यवस्था को अत्यन्त प्रभावित किया है।

राजनीतिक दृष्टि में मंत्री के पश्चात् सेनापति का स्थान था। कल्हण ने सेनापति के लिए कम्पनपति, कम्पनाधिप, कम्पनेश अथवा कम्पनाधीश सम्बोधनों का भी प्रयोग किया है। सेनापति की नियुक्ति मंत्रियों में से भी किये जाने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। जिन सेनापतियों ने अपने राज्य के लिए वीरतापूर्वक युद्ध किए थे, उनकी वीरगाथाओं का कल्हण ने बहुलतया वर्णन किया है।

राज्य की शासन व्यवस्था में नगराधिप का पद भी महत्वपूर्ण था। इसका मुख्य कार्य राज्य की आर्थिक स्थिति, न्याय-व्यवस्था और सैन्य-व्यवस्था में राजा को सहायता प्रदान करना था। जनकसिंह, छलितक कुलराज और भुय्य नामक नगराधिपों ने प्रशासनिक-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए थे। राजा अपने विश्वस्त, कार्यकुशल तथा सत्यनिष्ठ व्यक्ति को ही यह महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व प्रदान करते थे। राज्य पर विपत्ति आने पर नगराधिप राजा की रक्षा भी करते थे। इस प्रकार कश्मीर की प्रशासन-व्यवस्था में नगराधिप का पद महत्वपूर्ण था।

शासन-व्यवस्था में राजा को परामर्श देने के लिए द्विज परिषद् और मंत्रिपरिषद् का गठन किया जाता था। सामान्यतया मंत्रिपरिषद् का कार्य- क्षेत्र राजनीतिक निर्णय देना और द्विज परिषद् का कार्य धार्मिक विषयों में राजा को परामर्श देना था। मंत्रिपरिषद् अत्यन्त शक्तिशाली थी। कश्मीर की मंत्रिपरिषद् की प्रसिद्धि देश के अन्य प्रान्तों में भी थी। यह राजा को पदच्युत कर किसी अन्य को राजा बनाने में सक्षम थी। मेघवाहन, दुर्लभवर्धन तथा उत्कर्ष को राजा बनाने में मंत्रिपरिषद् का योगदान था।

राजतरंगिणी के अनुशीनल से हमें ज्ञात होता है कि कश्मीर की शासन व्यवस्था राजतंत्रात्मक होते हुए भी पूर्णतया निरंकुश नहीं थी| राजा द्विज परिषद् और मंत्री परिषद् के परामर्श से कार्य करता था| कभी कभी अपरिहार्य स्थिति होने पर ये परिषदें राजा के चयन का कार्य करती थीं और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें पद-च्यूत भी करती थीं| जिस प्रकार एक सुयोग्य राजा अपने राज्य को उन्नति के शिखर पर पहुंचा सकता है, उसी प्रकार एक अयोग्य राजा राज्य की अवनति का कारण भी हो सकता है| राजतरंगिणी में हमें दुष्ट राजाओं और अधिकारियों के कारण कश्मीर की शोचनीय स्थिति भी दिखाई देती है और चंद्रापीड, ललितादित्य, अवन्तिवर्मा तथा यशस्कर जैसे न्यायप्रिय एवं सुयोग्य शासकों के समय हुई कश्मीर की प्रगति भी दिखाई देती है| इनमें भी ललितादित्य का शासन काल कश्मीर के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ युग कहा जा सकता है, जब एक छोटा सा राज्य स्मम्रिद्धि के उच्च शिखर तक पहुंच गया था|

कल्हण की कश्मीर के प्रति दृष्टि -

राजतरंगिणी के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि कल्हण को अपनी मातृभूमि कश्मीर से अत्यन्त प्रेम था। उन्होंने लिखा है कि तीनों लोक में यह भारत भूमि रत्नवत् सर्वाधिक सुंदर है। इसमें भी उत्तर दिशा में स्थित गौरीगुरु हिमालय सबसे अधिक रमणीय है तथा इस हिमालय में भी कश्मीर मण्डल सबसे सुंदर है। कश्मीर की उत्पत्ति बताते हुए उन्होंने लिखा है :-

निर्ममे तत्सरो भूमौ कश्मीरा इति मण्डलम्।।"

अर्थात् ऋषि कश्यप ने जालोद्भव नामक राक्षस को मरवा कर सतीसर सरोवर की पवित्र भूमि पर कश्मीर मण्डल की स्थापना की थी। राजतरंगिणी में कश्मीर के भौगोलिक विस्तार, नगर, ग्राम, बाह्य सीमाओं, पर्वतों, नदियों तथा वनों का विस्तृत चित्रण किया गया है। कश्मीर के सीमा पर स्थित राज्यों के शासको ने अनेक बार वहां की राजनीतिक परिस्थितियों को प्रभावित किया है। राजा से द्रोह करने वाले अधिकारी और नागरिक सीमांत देश के राजाओं को कश्मीर पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित भी करते थे। कल्हण ने राजा कलश के समय का वर्णन करते हुए चम्पा, वल्लापुर, राजपुरी, लोहर, उरशा, कान्देश तथा काष्टवाट नामक सीमावर्ती पर्वतीय राज्यों का उल्लेख किया है। राजनीतिक संबंधों को प्रदान करने के लिए कश्मीर के राजाओं ने अन्य राजपरिवारों से वैवाहिक संबंध भी स्थापित किए थे। राजा जयापीड तथा गौड नरेश जयंत की पुत्री का विवाह अथवा राजकुमारी दिद्दा तथा क्षेमगुप्त के विवाह ने कश्मीर की परवर्ती राजनीति को बहुत प्रभावित किया था।

राजतरंगिणी में वर्णित अर्थ व्यवस्था

सप्तांग राज्य की परिकल्पना में कोश की संकल्पना की गई है। आप जानते हैं कि किसी भी राज्य का स्थायित्व तथा विकास उसकी आर्थिक सुदृढ़ता पर निर्भर होता है। तत्कालीन समाज में अर्थोपार्जन के मुख्य साधन कृषि, पशुपालन और वाणिज्य थे| राजकोश की समृद्धि राजा के द्वारा नागरिकों को पर लगाए गए कर पर आधारित होती है। इस हेतु कल्हण ने 'शुल्क' शब्द का प्रयोग भी किया है। राजा के द्वारा नागरिकों पर लगाया गया कर न्यायोचित होना आवश्यक था। कल्हण का कर के विषय में स्पष्ट मत है कि यदि राजा नागरिकों को कष्ट देकर धन का संग्रह करेगा तो वह धन निश्चित रूप से नष्ट हो जाएगा। उन्होंने अनेक उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि की है।

राजा कर के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से भी राज-कोश की समृद्धि के लिए धन अर्जित करते थे| राजा ललितादित्य और राजा जयापीड ने दिग्विजय के अभियानों से धन एकत्रित किया था| इसी प्रकार सिद्ध-दोष अपराधियों को आर्थिक दंड देकर राजकोष के लिए धन प्राप्त किया जाता था| इससे जहां अपराधियों को दंड मिलता था, वहीं कोश भी समृद्ध होता था| राजा शंकर वर्मा अपराध सिद्ध होने पर उस वर्ष के बाजार भाव के आधार पर अपराधियों को दण्डित करता था| ऐसे भी उद्धरण प्राप्त होते हैं कि आपत्ति काल में राजा नगर के धनाढ्य वर्ग से ऋण-स्वरूप धन लेते थे| जयानंद ने अपने सैनिकों के लिए राज्य के धनवान लोगों से ऋण लिया था| कल्हण ने उल्लेख किया है कि जिन लोगों का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था, उनकी संपत्ति को राजा राजकोष में सम्मिलित कर लेते थे|

इस प्रकार आप समझ सकते हैं कि भिन्न-भिन्न राजाओं ने अपने समय की परिस्थितियों के आधार पर अपने विवेक से कर-प्रणाली का निर्धारण किया था| जिस कारण कर व्यवस्था उदार अथवा कठोर हो जाती थी|

राजतरंगिणी में अभिव्यक्त धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति -

भारत एक धर्म प्रधान देश है| हमें यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का प्रभाव दिखाई देता है| फिर साहित्य, जो समाज का दर्पण होता है, उसमें धर्म का प्रभाव दिखाई देना स्वाभाविक ही है| राजतरंगिणी में कश्मीर की धार्मिक स्थिति का वास्तविक चित्रण कल्हण ने किया है| राजतरंगिणी के अनुशीनल से आप जान सकते हैं कि कश्मीर में शास्त्रोक्त धर्म, जिसे वर्त्तमान में हम हिन्दू धर्म कहते हैं, का प्रचलन था|

कल्हण ने राजतरंगिणी में राजवंशों के शासनकाल का वर्णन करते हुए तत्तत् काल की धार्मिक तथा सांस्कृतिक परंपराओं और मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। राजतरंगिणी में उस समय के अनेक धार्मिक स्थलों का वर्णन किया गया है। चन्द्रापीड और मातृगुप्त जैसे अनेक राजाओं के द्वारा अपने-अपने समय में कश्मीर में मंदिरों के निर्माण कराए गए। तक्षक मंदिर की यात्रा का वर्णन हमें तत्कालीन स्थापत्य कला के वैभव की झलक दिखलाता है। कश्मीर के अनेक तीर्थों का प्रमाणिक उल्लेख राजतरंगिणी में किया गया है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय शास्त्रों में धर्म एवं राजनीति का गहन संबंध बताया गया है। धर्मशास्त्र के सभी आचार्यों ने राजनीति का विस्तार से वर्णन किया है। राजा के कर्तव्यों को राजधर्म के नाम से संबोधित किया जाता रहा है। कल्हण ने राजा की स्तुति अथवा प्रशंसा उनके द्वारा राजधर्म का पालन करने के आधार पर की है। अर्थात् जिस राजा ने धर्मानुसार राज्य किया है, उन्होंने उस राजा की प्रशंसा की है और जिस राजा ने धर्म के विरुद्ध शासन किया है, उसकी निंदा भी निर्भीक होकर की है| कल्हण ने धर्मानुकूल शासन करने वाले राजा को दैवीय शक्तियों से अलंकृत माना है, इसके विपरीत धर्मविरूद्ध आचरण करने वाले मिहिरकुल जैसे राजाओं को वेताल माना है। राजा विक्रमादित्य को कल्हण ने एक धर्मानुरागी राजा माना है, जो शास्त्रज्ञों तथा कवियों को प्रभूत धन एवं सम्मान से विभूषित करता था।

राजतरंगिणी के अध्ययन से आप जान सकते हैं कि राजा को धार्मिक परामर्श प्रदान करने के लिए द्विज परिषद् का गठन किया जाता था। धार्मिक स्थानों पर समर्पित संपत्ति, दान, अग्रहार तथा ग्राम आदि द्विज परिषद् को प्राप्त हो जाते थे, जिससे उनका जीवन निर्वाह हो सके। राजा लव से लेकर जयसिंह के समय तक इस परिषद् का वर्चस्व हमें दिखाई देता है।

कश्मीर ने शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त प्रगति की थी। संस्कृत वाङ्मय की श्रीवृद्धि करने वाले अनेक महान् लेखक, साहित्यकार, दार्शनिक, शास्त्रज्ञ और इतिहासकार कश्मीर में उत्पन्न हुए हैं, जिनका सम्मान अद्यावधि शिक्षाजगत् में किया जाता है। कल्हण ने कुट्टनीमत के लेखक दामोदर गुप्त, भुवनाभ्युदय के प्रणेता शंकुक, हरविजय के रचयिता रत्नाकर, हयग्रीववध के प्रणेता मेंठ, ध्वन्यालोक के कर्ता आनन्दवर्धन, प्रमुख वैयाकरण आचार्य चन्द्र, साहित्याचार्य वामन, बिल्हण, नागार्जुन तथा क्षेमेन्द्र आदि अनेक विद्वानों का उल्लेख किया है। नृत्य, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं को उन्नत करने का कार्य भी कश्मीर में हुआ है। वास्तु कला में वहां के लोगों ने विशेष प्रगति की थी। कश्मीर में नृत्य, संगीत और अन्य ललित कलाओं के प्रति राजाओं तथा नागरिकों दोनों की अभिरूचि थी| सभी मिलकर कलाओं की उन्नति के लिए प्रयास करते थे|

राजा जयापीड ने शिक्षा के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया था| कश्मीर में लुप्तप्रायः हो चुके व्याकरण के ग्रन्थ महाभाष्य के पुनः अध्ययन-अध्यापन के लिए उन्होंने अन्य राज्यों से विद्वानों को आमंत्रित किया और स्वयं भी महाभाष्य का अध्ययन किया| राजा के आचरण के अनुरूप सेवारत अन्य अधिकारी विद्वानों के वशवर्ती हो गए| उस समय पंडित संबोधन अपेक्षाकृत अधिक सम्मानित बना गया था| राज्य में शिक्षा प्रदान करने के लिए विद्वानों को नियुक्त किया गया था| संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान उद्भट को प्रभूत धन के साथ साथ सेनापति पद से भी विभूषित किया गया था| इसी प्रकार विद्वान दामोदर गुप्त, मनोरथ, शंखदत्त, चटक, संधिमान तथा वामन आदि कवियों को उच्च पदों से सम्मानित किया गया था| इन उद्धरणों से आप जान सकते हैं कि राजा जयापीड ने शिक्षा को विशेष महत्त्व देकर अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त की थी|

आप जानते हैं कि समाज में स्त्री का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है| भारत देश में प्राचीन काल से ही स्त्री को अत्यन्त सम्मानित स्थान दिया गया है और उन्हें देवी के सामान पूज्य माना गया है| जब हम राजतरंगिणी की अध्ययन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि कश्मीर में स्त्रियों को भारतीय परम्परा के अनुरूप विशिष्ट स्थान प्राप्त था| कश्मीर के इतिहास में रानी दिद्दा, सुगन्धा और सूर्यमती के शासन काल में हुए कार्यकलापों के आधार पर कहा जा सकता है कि कश्मीर में स्त्रियों को सार्वजनिक जीवन में उच्च अवसर प्राप्त हुए थे और उन्होंने उन अवसरों का समुचित प्रयोग करते हुए समाज के विकास में प्रभूत योगदान भी किया दिया। दिद्दा ने अपने पांच दशकों के शासन में कश्मीर की राजनीति में स्मरणीय योगदान दिया। इसी प्रकार रानी सुगन्धा का कश्मीर के राजसिंहासन पर आधिपत्य इतिहास की अनुपम घटना है। राजा अनन्त के कार्यकाल में उसकी पत्नी रानी सूर्यमती अपने पति के शासन की वास्तविक संचालिका थी। इस प्रकार राजतरंगिणी के अनुशीलन से आप जान सकते हैं कि कश्मीर के समाज में स्त्रियों को महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे। वे राज्य का नेतृत्व करती थी।

3.5 सारांश

कल्हण के द्वारा रचित राजतरंगिणी का विस्तृत एवं सारगर्भित अध्ययन आपने इस इकाई में किया। कश्मीर के परिहास पुर नामक स्थान में वर्ष 1098 ईस्वी में राजतरंगिणी के प्रणेता कल्हण का जन्म हुआ था। कल्हण का वास्तविक नाम कल्याण था| उनके पिता चंपक प्रभू राजा हर्ष की सभा में महामात्य थे। कल्हण ने 1148 ईस्वी से 1150 ईसवी के मध्य कश्मीर के राजाओं के इतिहास से युक्त राजतरंगिणी नामक महाकाव्य लिखा। राजतरंगिणी का अर्थ राजाओं की नदी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अर्धनारीश्वर स्तोत्र नामक एक स्तुति काव्य की रचना भी की थी।

कल्हण के द्वारा प्रणीत राजतरंगिणी के आठ हजार श्लोक हैं, जो आठ तरंगों (सर्गों)में विभक्त है। इनमें महाभारत के समय से लेकर 1150 ईसवी तक के कश्मीर के राजाओं के इतिहास का काव्य रूप में निबद्ध है। यद्यपि राजतरंगिणी का मुख्य प्रतिपाद्य कश्मीर है, तथापि प्रसंगवशात् इससे संपूर्ण भारत के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों का जो यथातथ्य ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह रामायण और महाभारत के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में नहीं मिलता है। कल्हण ने राजतरंगिणी को लिखते समय ऐतिहासिक स्रोतों यथा अभिलेखों, मुद्राओं, आदेशपत्रों, प्रशस्तियों आदि के साथ-साथ जनश्रुतियों की भी सहायता प्राप्त की है। कश्मीर की राजनीतिक स्थिति का प्रमाणिक विवरण प्राप्त करने के लिए राजतरंगिणी अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। कल्हण ने राजवंशों के इतिहास का निरूपण करते हुए तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है। कल्हण लोहर वंश के अंतिम राजाओं के क्रिया-कलापों के प्रत्यक्षदर्शी रहें हैं| कल्हण ने उस समय का इतना सजीव वर्णन किया है कि उन वर्णनों की तुलना वर्त्तमान में समाचार पत्रों में वर्णित घटनाओं से की जा सकती है|

वस्तुतः राजतरंगिणी एक महाकाव्य के साथ-साथ कश्मीर के सुदीर्घ इतिहास को प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ भी है। इसका अनुशीलन कश्मीर ही नहीं अपितु भारत वर्ष के इतिहास के उन तत्वों की तरफ ध्यानाकर्षण करता है, जिसमें हमें भविष्य में हमें अपनी राजनीतिक व सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता मिल सकती है। इस दृष्टि से यह हमारे भविष्य निर्माण के लिए भी उपयोगी है।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

राजतरंगिणी – राजाओं की नदी|

इतिहास – पूर्व में घटित हुआ घटना क्रम|

उपाख्यान – छोटी कथा या आख्यायिका|

प्रशस्ति – प्रशंसा, स्तुति या शुभकामना|

लोकतंत्र – जनतंत्र|

राजधर्म – राजा का कर्त्तव्य|

जनश्रुति – किंवदंती या जनरव|

विप्लव – विरोध, हंगामा या बलात् लूटपाट|

कर – लगान या शुल्क

3.7 संदर्भ ग्रन्थ

क) राजतरंगिणी, चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली।

ख) संस्कृत साहित्य का समग्र इतिहास, राधावल्लभ त्रिपाठी, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नई दिल्ली।

ग) कल्हन की राजतरंगिणी में राजनीतिक परिस्थितियां, डॉ. कमलेश गर्ग, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली।

घ) संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नई दिल्ली।

3.8 बोध प्रश्न

क) कल्हण का परिचय लिखिए।

ख) राजतरंगिणी के विषय-वस्तु का वर्णन कीजिए।

ग) राजतरंगिणी के आधार पर कश्मीर की राजनीतिक परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।

घ) राजतरंगिणी में वर्णित कश्मीर की अर्थ – व्यवस्था का प्रतिपादन कीजिए।

ङ) राजतरंगिणी के वैशिष्ट्य का वर्णन कीजिए।

इकाई 4 गाथा साहित्यः चन्दबरदाई का अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम चन्दबरदाई और उनकी कृति पृथ्वीराज रासो काव्य का विस्तृत विश्लेषण करेंगे। पृथ्वीराज चौहान के चरित्र और उनकी विशेषताओं का भी विवेचन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप-

- चन्दबरदाई के बारे में जान सकेंगे।
- पृथ्वीराज रासो के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- पृथवीराज चौहान के चरित्र को समझ सकेंगे।
- पृथवीराज रासो की ऐतिहासिकता तथा प्रामाणिकता की विवेचना कर सकेंगे।
- पृथवीराज रासो के कथानक के मूल प्रतिपाद्य एवं रचनाकार के अभिव्यंजना कौशल को समझा सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम आपको चन्दबरदाई की प्रधान रचना पृथ्वीराज रासो के बारे में विस्तृत जानकारी देंगे। साहित्य में रचनाकार के योगदान की चर्चा करेंगे।

हिन्दी साहित्य में आदिकालीन साहित्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति गाथा साहित्य लेखन की थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर इस काल का नाम ही 'वीरगाथाकाल' रख दिया था। ये एक प्रकार से वीरकाव्य थे। इन वीर काव्यों के रचयिता राज्याश्रित कवि हुआ करते थे। उनका उदेश्य अपने आश्रयदाता राजाओं के चरित्र का वर्णन करना था। उनके शौर्य और पराक्रम का अत्युक्तिपूर्वक वर्णन इन कवियों की रचनाओं में प्राप्त होता है। इस कारण इनकी रचनाओं में ऐतिहासिक सत्य का आभाव मिलता है। लेकिन ये रचनाएँ ऐतिहासिक रचनाएँ नहीं हैं वरन काव्य कृतियाँ हैं। इसलिए इनका विश्लेषण काव्य कृति के रूप में किया जाएगा।

पृथ्वीराज रासो आदिकाल की सबसे प्रमुख वीरगाथात्मक रचना है। इसके रचयिता चन्दबरदाई हैं। उन्हें हिन्दी का प्रथम महाकवि माना गया है। उनकी कृति पृथ्वीराज रासो को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य स्वीकार किया गया है। चन्दबरदाई दिल्ली के शासक पृथ्वीराज चौहान के सामंत और राजकवि थे। चन्दबरदाई एक सच्चे मित्र की तरह पृथ्वीराज के साथ सदा रहा करते थे। इसलिए उन्होंने इस रचना में जो कुछ भी वर्णन किया है वह उनके स्वयं के द्वारा देखा और अनुभव किया हुआ है। मूलतः यह रचना एक चरितकाव्य है। इसके नायक पृथ्वीराज चौहान हैं। इसमें उनके जीवनवृत्त को बहुत ही रोचक तरीके से कवि के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

चन्द की इस कृति के चार संस्करण उपलब्ध हैं। उन्हें बृहत्, मध्यम, लघु और लघुत्तम कहा जा सकता है। बृहत् संस्करण ढाई हजार पृष्ठों का है। यह उपसमयों में विभक्त है। इसमें पृथ्वीराज चौहान के अनेक युद्धों का वर्णन है। शहाबुद्दीन गोरी, जयचन्द, तथा परमार के साथ पृथ्वीराज के युद्धों का वर्णन है। साथ ही पृथवीराज के अनेक विवाहों की कथा भी प्राप्त होती है। इसमें संयोगिता स्वयंवर और शशिवृता के साथ उनके विवाह की कथा प्रमुख है।

4.2 चन्दबरदाई का अध्ययन

4.2.1 चन्दबरदाई का परिचय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं- "चन्दबरदाई हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका पृथ्वीराजरासो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। चन्द दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट महाराज पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि प्रसिद्ध हैं। इससे इनके नाम में भावुक हिन्दुओं के लिए एक विशेष प्रकार का आकर्षण है। "इनके जन्म समय को लेकर विद्वान् एकमत नहीं हैं। शुक्लजी ने इनका जन्म वर्ष 1168 ई. मानते हुए अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि-"रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था। इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार छोड़ा था। "आचार्य शुक्ल की इन पंक्तियों से चन्दबरदाई का एक परिचय अवश्य प्राप्त हो जाता है। उनका जन्म सम्वत 1225 अर्थात 1168 ई. लाहौर वर्तमान में पाकिस्तान एवं मृत्यु सम्वत 1249 अर्थात 1192 ई. में हुआ था। वे अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथवीराज चौहान के राजकवि थे। उन्होंने पृथ्वीराज चौहान के जीवन और

चरित्र को आधार बनाकर 'पृथ्वीराज रासो' नामक एक महाकाव्य की रचना की। पृथ्वीराज चौहान भारतीय जनता के मानस में शौर्य, पराक्रम तथा वीरता के प्रतीक हैं। इसलिए जनता के मन में पृथ्वीराज के प्रति एक विशेष प्रकार का भावनात्मक आकर्षण है। कहा यह भी जाता है कि चन्दबरदाई पृथ्वीराज के बाल सखा थे। वे वीर रस की कविताओं के लिए ख्यातिलब्ध थे। उनकी ये कविताएँ युद्ध के समय सेना को प्रोत्साहित करने का काम करतीं थीं। भारतीय इतिहास में वर्णित अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि 1165 से 1192 तक पृथ्वीराज का शासन दिल्ली से लेकर अजमेर तक फैला हुआ था। यही समय चन्दवरदाई का रचनाकाल भी था। उनका अधिकांस समय पृथ्वीराज के साथ दिल्ली में व्यतीत हुआ था। उनकी विद्यमानता का समय 13 वीं शती माना गया है। जिसे गाथा साहित्य कहा जाता है वह एक प्रकार से भारतीय इतिहास और समाज के वीरों के पराक्रम तथा शौर्य की कहानियाँ हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग की केन्द्रीय प्रवृत्ति के रूप में 'वीररस' को स्वीकार किया है। उनकी निगाह में इस काल का प्रधान साहित्य रासो-साहित्य है। इस सम्बन्ध में रामस्वरूप चतुर्वेदी का विचार है- "आचार्य शुक्ल ने आदिकाल को वीरगाथाकाल नाम बहुत समझ-बूझ कर दिया है। उनकी दृष्टि में इस काल का केन्द्रीय साहित्य रासो-काव्य है न कि सिद्ध- नाथों की बनियाँ। " रासो साहित्य में वीर और श्रृंगार परस्पर एक दूसरे में मिलते हैं। इन ग्रंथों में अपने समय के वीरों के शौर्य और पराक्रम की कहानियाँ वर्णित है। रासो-काव्य परम्परा में पृथ्वीराज रासो एक श्रेष्ठ रचना है। इसमें चन्दबरदाई ने अपने समय के एक सच्चे वीर के जीवन की कहानियों का वर्णन बहुत ही रोचक तरीके से किया है। ये कहानियाँ किम्वदंती के रूप में भारत की जनता के मन-मंदिर में रची-बसी हैं तथा युग-युग तक जनता के मन को आंदोलित एवं रोमांचित करती रहेंगी। चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज के जीवन के विभिन्न पक्षों का वर्णन अत्यन्त प्रभावी तरीके से किया है। इसमें कवि की प्रतिभा देखने को मिलती है। अपनी इस मौलिक प्रतिभा के दम पर वे हिन्दी के प्रथम महाकवि माने गए हैं। मिश्रबन्धुओ ने भी उन्हें हिन्दी का प्रथम वास्तविक महाकवि स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में -"हिन्दी का वास्तविक प्रथम महाकवि चन्दबरदाई को ही कहा जा सकता है। "चन्दबरदाई बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे।। वे छःभाषाओं के ज्ञाता थे। उनका व्याकरण, साहित्य, कविता, छन्दशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं पर सम्पूर्ण अधिकार था। उनके ऊपर ऐसी दैवीय कृपा थी कि वे बिना देखे कविता करने में समर्थ थे।

4.2.2 चन्दबरदाई और पृथ्वीराज की मित्रता

चन्दबरदाई और पृथ्वीराज का जीवन परस्पर ऐसा मिला हुआ है कि दोनों को एक दूसरे से पृथक करके देखना सम्भव नहीं। कहा जाता है कि चन्दबरदाई तथा पृथ्वीराज का जन्म और मरण एक ही दिन हुआ था। चन्दबरदाई केवल पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं थे वरन उनके साथ युद्ध, आखेट, सभा एवं यात्रा में सदैव एक विश्वसनीय सलाहकार की भांति बने रहते तथा उनकी समस्त बांतों में शामिल होते थे। वे पृथ्वीराज चौहान के मित्र, कवि तथा सलाहकार तीनो ही थे। सदा साथ-साथ रहने वाले तथा सदा साथ-साथ चलने वाले। उनके श्रेष्ठ मार्गदर्शक भी थे। वे बराबर पृथ्वीराज को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। इसके अनेक उदहारण प्राप्त होते हैं। चन्द ही पृथ्वीराज को कन्नौज से दिल्ली की ओर मोड़ते हैं। जब पृथ्वीराज संयोगिता का वरण कर दिल्ली आते हैं तो वे उसके साथ अहर्निश काम-केलि में ही मग्न हो जाते हैं। यहाँ तक कि राज-काज से भी उनका ध्यान हट जाता है। तब चन्द ही काम-मग्न राजा को सही मार्ग पर लाने का सन्देश भेजता है-

गोरी रत्तउ तुव धरा तुं गोरी अनुरत्त।

उनके इस सन्देश का असर पृथवीराज पर बहुत ही गहरे रूप पड़ा। पृथवीराज पुनः राजधर्म की ओर लौटते हैं। वास्तव में एक सच्चे मित्र और रचनाकार का यही धर्म होता है। चन्द इस दायित्त्व के निर्वहन में बहुत ही सफल थे। साहित्य का यही रूप उसे सामाजिक तथा सर्वकालिक बनाता है। कवि का यह सन्देश में जीवन में संतुलित और अनुशासित काम की ओर संकेत करताहै। यह संतुलन ही मानव जीवन को सार्थक तथा महान बनाता है। असंतुलित और निरंकुश काम की परिणति बहुत ही भयावह होती है। इसके अनेक उदाहरण इतिहास और वर्तमान में मिलते हैं। चन्द बहुत ही साहसी और निर्भीक थे। वे पृथ्वीराज से कोई भी बात बिना किसी संकोच के कह देते थे। पृथ्वीराज ने उन्हें यह अधिकार दे रखा था कि किसी भी प्रकार से वह उनको सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न कर सकते हैं। पृथ्वीराज अत्यन्त जिद्दी तथा क्रुद्ध स्वाभाव के नरेश थे। उनसे प्रश्न पूछना और उत्तर की जिद करना एक प्रकार से सर्प के मुख में उंगली डालने के समान था-

हठि लग्गउ चहुआन निप अंगलि मुनष फणिन्दु।
तिह पुरि तुअ मति सचरइ सु कहे बनइ कवि चंदु।।

यह कार्य केवल चन्दबरदाई जैसा रचनाकार ही कर सकता है। वे पृथ्वीराज से इतने घुले-मिले थे कि उनसे कोई भी प्रश्न कभी भी कर लेते थे। इतिहास में ऐसी मित्रता के उदहारण भी कम ही प्राप्त होते हैं कि कोई मित्र अपने मित्र के सुख में, दुःख में, हर्ष में तथा विषाद में सदैव साथ रहता है। गोस्वामी तुलसीदास ने मित्रता की परिभाषा देते हुए 'रामचरितमानस' में लिखा है-

जो न मित्र दुःख होहिं दुखारी।
तिनही बिलोकत पातक भारी।।

निज दुःख गिरि सम रज करि जाना।
मित्रक दुःख रज मेरु समाना।।

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।
गुन प्रकटै अवगुनहि दुरावा।।

एक बार जब जयचन्द की सभा में पृथ्वीराज का अपमान हो रहा था तब उसका प्रतिशोध लेने के लिए पृथ्वीराज अपने प्राणोत्सर्ग का संकल्प लेते है। तब उस समय वे दोनों(चन्द और पृथवीराज) गले मिलकर खूब रोते हैं-

दोई कंठ लग्गिय गहन नयनह जल गल न्हानु।

यह मित्रता, प्रेम और विश्वास का पुनीत भाव है, जो अत्यन्त दुर्लभ है। चन्द पृथ्वीराज के ऐसे अभिन्न मित्र थे। अतःऐसे अभिन्न मित्र की रचना समाज एवं संसार के लिए निरर्थक कैसे हो सकती है? इतिहास एवं तथ्य तथा प्रमाणिकता की दृष्टि से यद्यपि उसमें बहुत सारी खामियां हैं किन्तु फिर भी साहित्य, समाज तथा भारतीय संस्कृति की दृष्टि से यह कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण एवं समग्र चित्रण को चन्दबरदाई ने अपनी कृति 'पृथ्वीराज रासो' में प्राथमिकता दी है। प्रसिद्ध विद्वान् रामस्वरूप चतुर्वेदी का विचार है कि-''पृथ्वीराज रासउ हिन्दी की अपनी महाकाव्य परम्परा की बड़ी उपयुक्त प्रस्तावना है। मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण

और समग्र चित्रण को कवि ने जैसे अपने रचना-विधान में प्राथमिकता दी है इसका स्पष्ट उल्लेख... काव्य के अन्त में एक रचनात्मक तोष की भावना के साथ उसने किया है। ''पृथ्वीराज रासो के समापन अंश में कविवर चन्द कहते हैं –

रासउ असंभु नवरस सरस छंदु चंदु किअ अमिय सम।
श्रृंगार वीर करुणा बिभछ भय अद्भुतह संत सम।।

पृथ्वीराज रासो मूलतः रसकथा है। रचनाकार द्वारा अन्तिम में सभी प्रमुख रसों का नाम लेकर स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यही वस्तुतः रासो काव्य की व्याख्या है। इसमें मनुष्य जीवन का कोई एक पक्ष नहीं बल्कि सभी पक्षों का समावेश है। रामचरितमानस में भी गोस्वामीजी ने मानव जीवन के सम्पूर्ण पक्षों का समन्वय किया है। आगे चलकर हिन्दी में जो महाकाव्य परम्परा विकसित हुई उसकी प्रस्तावना चन्दबरदाई की कृति पृथ्वीराज रासो में परिलक्षित होती है। शायद इसीलिए चन्दबरदाई को हिन्दी का प्रथम महाकवि कहा जाता है और उनकी रचना, पृथ्वीराज रासो को हिन्दी की प्रथम महाकाव्यात्मक रचना का गौरव प्राप्त है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि हिन्दी का प्रथम महाकाव्य भारतीय इतिहास की एक गौरव गाथा है। वीरता और प्रेम की उदात्त कृति है। वीरता और प्रेम जीवन के ऐसे भाव हैं, जो मनुष्य को न केवल गौरवमयी बनाते हैं बल्कि उसके जीवन में नूतन रचनात्मक उर्जा का भी संचार कर देते हैं। उसके तन-मन में साहस भर देते हैं। हम साहित्य से ऐतिहासिक तथ्य और सत्य की अपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि वह रचनाकार की कल्पनाशीलता तथा भावना का मूर्तरूप होती है। इसी संकल्प से हमें पृथ्वीराज रासो को देखना चाहिए। चन्दबरदाई की कल्पना तथा भावना दोनों का मूर्त स्वरूप है-यह कृति।

4.3 पृथ्वीराज रासो की कथा (शास्त्र और शस्त्र का समन्वय तथा पृथ्वीराज के क्षत्रिय-धर्म की कथा

4.3.1 गोरी वध की कथा

पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी के बीच युद्ध की कथा पृथवीराज रासो की एक महत्त्वपूर्ण कथा है। जब पृथ्वीराज आपसी अन्तर्कलह से जूझ रहे थे तब इस स्थिति का फायदा उठाकर शहाबुद्दीन गोरी ने पृथ्वीराज पर आक्रमण कर दिया। पहली बार शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज से युद्ध में परास्त हो गया। उसे पकड़ लिया गया किन्तु पृथ्वीराज ने अपने ह्रदय की उदारता के कारण उस पर दया कर दिया। गोरी को छोड़दिया गया। गोरी ने हार नहीं मानी। वह आगे भी बार-बार पृथ्वीराज पर चढ़ाई करता रहा और एक दिन उसने युद्ध में पृथवीराज को हरा दिया। पृथ्वीराज को बन्दी बना लिया गया और गजनी भेज दिया गया। उनके साथ उनके प्रधान मित्र चन्द भी गए। गजनी में गोरी ने पृथ्वीराज को अनेक यातनाएं दीं। यहाँ तक कि उनके नेत्रों को भी फोड़ डाला। चन्दबरदाई का ह्रदय पृथ्वीराज की इस दशा से व्यथित हो उठा। वे गोरी के वध की योजना बनाते हैं। इस हेतु उन्होंने गोरी से मित्रता कायम की और पृथ्वीराज के शब्दभेदी बाण चलाने की कला और कौशल के बारे में बताया। जिस कारण गोरी ने उनके इस कला-कौशल को देखने की इच्छा प्रकट की। अंधे पृथवीराज को खुले मैदान में लाकर कला दिखाने के लिए कहा गया। उनसे आसमान में टंगे हुए घण्टे को वेधने के लिए कहा गया और पृथ्वीराज ने तत्काल कर दिखाया। इस अवसर का लाभ उठाकर चन्दबरदाई ने एक दोहे के माध्यम से गोरी पर प्रहार करने का संकेत पृथ्वीराज से किया। वह दोहा इस प्रकार है-

चार बाँस चौबीस गज, अंगुल अष्ट प्रमाण।
ता ऊपर सुल्तान है मत चुके चौहान।।

इस प्रकार गोरी पृथ्वीराज के हाथों मारा गया। यह प्रसंग चन्द और पृथ्वीराज की प्रगाढ़ मित्रता का उदहारण होने के साथ-साथ पृथ्वीराज के युद्ध कौशल एवं चन्द के काव्य-कौशल का भी उत्कृष्ट दृष्टान्त है। वास्तव में मित्रता और युद्ध कौशल का इससे श्रेष्ठ उदहारण इतिहास में कम ही प्राप्त होता है। शायद ऐसे ही नायकों में राष्ट्र अपना वास्तविक आदर्श देख सकता है। पृथ्वीराज सच्चे अर्थों में राष्ट्र नायक थे। चन्द इस नायक के प्रधान सलाहकार ही नहीं बल्कि कुशल मार्गदर्शक भी थे। चन्द की दूरदर्शिता और सफल मार्गदर्शन में पृथ्वीराज ने गोरी का अन्त कर दिया। चन्द और पृथ्वीराज का यह प्रसंग शास्त्र और शस्त्र के समन्वय का भी एक श्रेष्ठ प्रमाण है। शस्त्र जब शास्त्र के मार्गदर्शन में आगे बढ़ता है तो लक्ष्य कितना भी मुश्किल एवं प्रतिकूल क्यों न हो उसे वेध ही देता है। हमारी परम्परा में ऐसे अनेक उदहारण हैं जहाँ शस्त्र ने शास्त्र के सहारे विपरीत परिस्थितियों पर विजय हासिल की है। हमारी परम्परा तो शस्त्र और शास्त्र के समन्वय की, साथ मिलकर चलने की तथा समय-समय पर एक दूसरे को ताकत देने की रही है। पृथ्वीराज और चन्दबरदाई इसी समन्वय और सहयोग के उत्कृष्ट उदहारण हैं।

शहाबुद्दीन से पृथ्वीराज के बैर-विरोध कारण यह था कि शहाबुद्दीन अपने यहाँ की एक सुन्दरी पर अनुरक्त था। वह किसी और पठान सरदार से प्रेम करती थी। शहाबुद्दीन ने उन दोनों को तरह-तरह से प्रताड़ित किया। इससे तंग आकर वे पृथ्वीराज की शरण में आ गए। जब गोरी को इस बात की खबर लगी तो उसने पृथवीराज को कहला भेजा कि वह उन दोनों को अपने यहाँ पनाह न देकर उन्हें निष्कासित कर दें। गोरी का यह सन्देश पृथ्वीराज को अपने क्षत्रिय धर्म के विरुद्ध लगा। अतः उन्होंने कहला भेजा कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है। वे उन दोनों प्रेमी युगल की रक्षा करने हेतु वचनबद्ध हैं। इससे कुपित होकर शहाबुद्दीन ने उन पर चढ़ाई कर दी। इसका पृथ्वीराज ने बहुत ही साहस तथा पराक्रम से सामना किया और अन्ततः गोरी का वध करके अपने प्राणों की बलि दे दी। यह पृथ्वीराज के स्वाभिमान की कथा है। उनका स्वाभिमान भारतीय समाज के स्वाभिमान और शौर्य से जुड़ा हुआ है। हमारी सामाजिक संरचना में क्षत्रिय समाज अपने सम्मान और स्वाभिमान के लिए याद किया जाता है। पृथ्वीराज भी इसी सम्मान और स्वभिमान के जीवंत प्रमाण हैं। अनेक प्रसंगों में कवि ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है।

4.3.2 संयोगिता विवाह तथा जयचन्द से युद्ध की कथा

पृथ्वीराज और संयोगिता का विवाह इस कृति की एक प्रमुख कथा है। पृथ्वीराज एक क्षत्रिय वंशी राजा थे। स्वाभिमान की रक्षा और शौर्य का प्रदर्शन उनके जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य था। इसी विश्वास ने उन्हें भारतीय जनता के ह्रदय पर प्रतिष्ठित कर दिया है। पृथ्वीराज रासो में उत्तर भारत के क्षत्रिय समाज और उस समाज की गौरवमयी परम्परा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें क्षत्रिय वंश की उत्पत्ति तथा राजस्थान से लेकर पृथ्वीराज के पकडे जाने तक की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ में प्राप्त वर्णन के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के राजा सोमेश्वर के पुत्र थे। महाराजा सोमेश्वर का विवाह तोमर के राजा अनंगपाल की पुत्री से हुआ था। राजा अनंगपाल की दो पुत्रियाँ थीं-एक का नाम सुन्दरी और दूसरी का नाम कमला था। सुन्दरी का विवाह कन्नौज के महाराजा विजयपाल के साथ हुआ था। इसी संयोग से जयचन्द राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी पुत्री कमला का विवाह अजमेर के चौहान वंशी शासक

सोमेश्वर के साथ हुआ। पृथ्वीराज चौहान इन्हीं के पुत्र थे। अनंगपाल ने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया। परिणामतः दिल्ली और अजमेर का शासन एक हो गया। जयचन्द को यह बात नागवार गुजरी। उसने राजसूय यज्ञ का संकल्प लेकर देश के विभिन्न भागों से नरेशों को आमंत्रित किया। इसी यज्ञ में उसने अपनी पुत्री संयोगिता के विवाह का स्वंयवर भी तैयार किया। इस यज्ञ में अजमेर शासक पृथ्वीराज चौहान शामिल नहीं हुए। क्रुद्ध जयचन्द ने पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति द्वार पर द्वारपाल के रूप में रखवा दी। संयोगिता के मन में पृथ्वीराज के प्रति अगाध प्रेम का भाव था। उसने जयमाला पृथ्वीराज की मूर्ति को पहना दिया। इससे नाराज होकर जयचन्द ने उसे घर से निकल दिया तथा गंगा के किनारे निर्मित महल में रहने का आदेश दिया। इधर पृथ्वीराज के सामंतों ने जयचन्द के यज्ञ को विनष्ट कर दिया। पृथ्वीराज और जयचन्द के बीच भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में पृथ्वीराज के बहुत सारे सामंत मार दिए गए। उनकी शक्ति का भी ह्रास हुआ किन्तु अन्ततः पृथ्वीराज की जीत हुई। पृथ्वीराज ने बहुत ही साहस और पराक्रम से इस युद्ध का नेतृत्व किया। पृथ्वीराज के युद्ध कौशल का वर्णन करते हुए कवि लिखता है-

थकि रहे सुर कौतिग गिगन, रगन-मगर भई शरों धर।
हदि हरषि वीर जग्गे हुलस, हुरेउ रंगि नवरत्त वर।

अर्थात पृथ्वीराज के शौर्य कौशल तथा पराक्रम को देखकर सूर्य भी स्तंभित होकर ठहर गया। इस युद्ध में हुए नरसंहार से सारी वसुधा रक्तरंजित हो उठी। योद्धाओं के अन्तः प्रफुल्लता से भर उठे। उनके चेहरे पर रक्तिम लालिमा छा गयी। फिर पृथवीराज ने चुपचाप संयोगिता से गांधर्व विवाह किया और उसे लेकर सकुशल दिल्ली पहुँच गए। यह प्रसंग पृथ्वीराज के सच्चे प्रेम के निर्वहन का प्रमाण है। संयोगिता की रक्षा करके वे वास्तविक प्रेमी के धर्म को बताते हैं। अपने क्षत्रिय धर्म को भी प्रकट करते हैं। इस सम्पूर्ण प्रकरण में पृथ्वीराज को कन्नौज की ओर मोड़ने का काम चन्दबरदाई ही करते हैं।

4.3.4 कयमास वध की कथा

पृथ्वीराज रासो में कयमास वध की भी एक कथा मिलती है। यह कथा पृथ्वीराज रासो के 'तृतीय सर्ग' में प्राप्त होती है। कयमास वध की कथा पृथ्वीराज रासो की एक महत्त्वपूर्ण कथा है। चन्दबरदाई का प्रथम आगमन यहीं होता है। कयमास पृथ्वीराज का मंत्री, कुशल योद्धा तथा उनकी अनुपस्थिति में राजकाज का दायित्त्व निभाने वाला प्रिय सामंत था। वह पृथ्वीराज का अत्यन्त विस्वासपात्र था। चन्दबरदाई ने अनेक रूपों में उसकी प्रसंशा की है। उसकी बहादुरी की प्रसंशा करते हुए चन्दबरदाई ने लिखा है कि शहाबुद्दीन की सेना से युद्ध करते हुए उसके ऊपर एक हजार यवन सैनिकों ने आक्रमण कर दिया। तब कयमास ने उन सबको जलाकर राख कर दिया था। इस कथा की शुरुआत वहीं से होती है- जब पृथ्वीराज विरह की आग में तप्त है। उनकी यह पीड़ा दुहरी है। एक तो संयोगिता से विरह के कारण और दूसरा जयचन्द द्वारा द्वारपाल के रूप में उनकी स्वर्ण प्रतिमा स्थापित करने के कारण। जब पृथ्वीराज को संयोगिता के राज्य निर्वासन की सूचना मिलती है तब वह इस घटना से व्यथित होकर दिल्ली से बाहर आखेट में अपना समय व्यतीत करने लगे थे। उनका चित्त अत्यन्त उद्विग्न और बेचैन रहता था। इसलिय आखेट में ही अपना समय बिताया करते थे। कविवर चन्द लिखते हैं-

तिहि तप आखेटक भमई थिर न रहई चहुवान।

उस समय कयमास ही राजकाज का काम संभाल रहा था-

वर प्रधान जुग्गिनि पुरह धर रष्षइ परवान।

अर्थात योगिनिपुर में धरती की रक्षा पृथ्वीराज का प्रधान अमात्य प्रमाण रूप से कर रहा था। इसी बीच कयमास पृथ्वीराज की करनाटी दासी के प्रति कामांध हो एक दिन रात्रि में उसके कक्ष में प्रवेश कर जाता है। इसका पता जब उनकी पटरानी को चलता है तब वह पृथ्वीराज को एक संदेशा भिजवाकर बुलवा लेती हैं। रचनाकार ने जिस कौशल से कयमास के कामासक्त होने की कथा का वर्णन किया वह बहुत ही श्लाघ्य है। कवि वर्णन करता है कि यह दैव की इच्छा थी कि वह कयमास कामासक्त हो गया। यह देव की विचित्र गति है-

सा मंत्री कयमास काम अँधा देवी विचित्र गति।

कयमास की इस स्थिति से नाराज पृथ्वीराज उसका वध कर देता है। कयमास वध से उस काल की कुछ बांतों का अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। एक उस समय के सामंती समाज के चरित्र का, दूसरा राजा की आज्ञा की अवहेलना की क्या कीमत चुकानी पड़ती है इसका एवं तीसरा पृथ्वीराज दूसरों की थोड़ी-सी गलती को भी क्षमा नहीं करते थे। कयमास जब राजभवन के नियमों का उल्लघन कर पृथवीराज की दासी पर अनुरक्त हो जाता है तब पृथ्वीराज उसका वध कर देता है। अर्थात यह हत्या राजभवन के नियमों और निर्देशों की अवहेलना की परिणति थी। विश्वासघात किसी भी रूप में क्षम्य नहीं था। कयमास के वध के बाद पृथ्वीराज पाश्चाताप से भर उठते हैं। उन्हें अत्यन्त ग्लानि होती है। किन्तु कवि ने उनके इस पाश्चाताप का समाधान धर्म तथा शास्त्र के भीतर से निकाला है। कन्नौज जाते समय पृथ्वीराज चन्द से कहते हैं कि मृत्यु को रंचमात्र भी टाला नहीं जा सकता है। यह तो विधाता और विधि का विधान है-

सुनि कवि मरनु टरई नवि रंच्यउ।

कयमास वध के अन्तिम छन्द में चन्दबरदाई ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है कि मृत्यु और विवाह ईश्वर के हाथों में होता है। इसलिए इस पर पाश्चाताप ठीक नहीं। कवि कहता है–

मरन लग्ग बिधि हथ्थु तथ्थु कबि उच्चरिउ।

पृथ्वीराज रासो जिसे हम केवल ऐतिहासिक काव्य कहते हैं वह वास्तव में इतिहास, धर्म और शास्त्र के समन्वय का काव्य भी है। रचनाकार का यह रचना-विधान कि मृत्यु और विवाह विधि का विधान है। यह प्रभु के हाथों में है। यह हमारे समाज की एक धार्मिक अपील भी है। भक्तिकाल के महाकवि तुलसी भी कहते हैं कि हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश यह छः वस्तुएँ ईश्वर के हाथों में होती हैं मनुष्य के हाथों में नहीं–

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहहुं मुनिनाथ,
हानि-लाभ, जीवन-मरण जस-अपजस विधि हाथ।

4.4 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता तथा ऐतिहासिकता

4.4.1 पृथ्वीराज रासो के चार संस्करण

पृथवीराज रासो हिन्दी साहित्य का एक वृहद् ग्रन्थ है। इसमें लगभग 1000 से अधिक छन्दों का प्रयोग किया गया है। तत्कालीन प्रचलित 6 भाषाओं का इस्तेमाल इस रचना में प्राप्त होता है।

शायद इसीलिए आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में चन्दबरदाई को षड्भाषा और छन्दःशास्त्र का प्रकांड पंडित स्वीकार किया था। उन्होंने यह भी कहा था कि "चन्दबरदाई को जालंधरी देवी का इष्ट था, जिसकी कृपा से ये अदृष्ट काव्य भी कर सकते थे। "पृथ्वीराज रासो 2500 पृष्ठों का एक विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें 69 समय (सर्ग या अध्याय) हैं। अपने समय में प्रचलित प्रायः समस्त छन्दों का प्रयोग इस कृति में मिलता है। कवित्त(छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा तथा आर्या इस रचना के प्रधान छन्द हैं। पृथ्वीराज रासो के बारे में यह भी मिलता है कि उसको चन्दबरदाई के पुत्र जल्हड़ द्वारा पूर्ण किया गया। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार बाणभट्ट की कादंबरी को उनके पुत्र ने पूर्ण किया था। रासो में उपलब्ध जानकारी के आधार पर - एक बार शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज चौहान को बन्दी बनाकर गजनी ले गया। तब उनके साथ चन्दबरदाई भी वहाँ गए। गमन के समय उन्होंने अपने पुत्र जल्हड़ के हाथों अपनी पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने की बात कही थी। इसका उल्लेख रासो में प्राप्त होता है-

पुस्तक जल्हड़ हस्त दै चलि गज्जन नृपकाज।
रघुनाथ चरित हनुमंतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथ्वीराजसुजस कवि चन्द कृत चन्दनन्द उद्धरिय तिमि।

पृथ्वीराज रासो में वर्णित ऐतिहासिक कथानक पर विद्वानों ने अनेक प्रश्न उठाये हैं। ऐतिहासिक कथानक के आधार पर विद्वानों ने पृथवीराज रासो की प्रमाणिकता पर संदेह प्रकट किया है।। शुरुआती समय में यह ग्रन्थ विवादस्पद नहीं था। अंग्रेज विद्वान् कर्नल टाड ने इस ग्रन्थ की वर्णन-शैली तथा इसके काव्यात्मक सौन्दर्य से प्रभावित होकर इसके 30000 छन्दों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कराया था। यह अपने समय का एक बड़ा उदाहरण है। हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास लेखक 'गार्सा द तांसी' ने भी इसकी प्रमाणिकता पर कोई सवाल नहीं खड़ा किया है। बंगाल की रायल एसियाटिक सोसाइटी ने इस ग्रन्थ का मुद्रण कार्य भी प्रारंभ कराया था। सर्वप्रथम 1875 में डॉ.बूलर ने कश्मीरी कवि जयानक द्वारा संस्कृत भाषा में रचित 'पृथ्वीराज विजय' नामक ग्रन्थ के आधार पर इस ग्रन्थ को अप्रमाणिक घोषित किया। क्रमशः यह रचना विवाद का केंद्र बनती गयी। समीक्षकों के वर्ग तैयार हो गए। इस रचना के चार संस्करण उपलब्ध हैं। सबसे बड़ा संस्करण नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित कराया गया। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान के उदयपुर संग्राहलय में सुरक्षित हैं। नागरी प्रचारिणी सभा ने 1585 में लिखित प्रति के आधार पर इसका संपादन कराया था। इसमें 69 समय अर्थात खंड तथा 16306 छन्द हैं। इस रचना का द्वितीय संस्करण 7000 छन्दों का स्वीकार किया जाता है। यह संस्करण अबतक अप्रकाशित है किन्तु इसकी प्रतियाँ अबोहर और बीकानेर में सुरखित हैं। इसका लेखन वर्ष 17 वीं शती माना गया है। तृतीय संस्करण 3500 छन्दों का एक छोटा संस्करण है। इसमें मात्र 19 समय अर्थात खंड हैं। यह भी बीकानेर में संरक्षित है। चतुर्थ संस्करण 1300 छन्दों का सबसे छोटा संस्करण है। कुछ विद्वान् इसी को मूल रासो स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त संस्करणों को देखकर इस सवाल का उठना स्वाभाविक है कि इसमें प्रमाणिक संस्करण कौन-सा है? इसी आधार पर पृथ्वीराज रासो को एक जाली ग्रन्थ भी ठहराया गया है। यह ग्रन्थ साहित्य जगत में सबसे अधिक विवादस्पद भी रहा है। बाबू श्याम सुन्दर दास, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मिश्रबंधु तथा कर्नल टाड आदि विद्वानों ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो को प्रामाणिक स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कविराजा, गौरीशंकर, श्यामलदान, हीराचन्द ओझा, डॉ.बूलर एवं मुंशी देवीप्रसाद आदि ने इस

रचना को सर्वथा अप्रमाणिक माना है। हालाँकि यहाँ यह ध्यातव्य है कि आचार्य रामचन्द शुक्ल ने जिन 8 पुस्तकों के आधार पर आदिकाल को वीरगाथाकाल नाम दिया है उसमें एक पुस्तक पृथ्वीराजरासो भी है। साथ वे आदिकाल की सीमा में इस कृति को स्थान भी देते हैं। विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो यह स्वीकार करता है कि पृथ्वीराज रासो की रचना पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि चन्दबरदाई ने ही की थी किन्तु उसका मूल रूप अप्राप्य है। मुनि जिनविजय, डॉ.सुनीति कुमार चटर्जी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ऐसे ही विद्वान् हैं। थोडा पृथक मत नरोत्तम स्वामी ने व्यक्त किया है कि पृथ्वीराज रासो की रचना चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज के दरबार में रहकर मुक्तक के रूप में की थी। यद्यपि कोई विद्वान् इस बात से सहमति नहीं रखता कि पृथ्वीराज रासो एक प्रबंधकाव्य नहीं है। इस रचना की प्रमाणिकता और अप्रमाणिकता के लिए दिए जाने वाले तर्क पर भी गौर करने की जरुरत है। इसको अप्रामाणिक मानने वाले विद्वानों का पक्ष है –

4.4.2 अप्रमाणिकता के पक्ष में तर्क का विश्लेषण

1. पृथ्वीराज रासो में जिन ऐतिहासिक तिथियों तथा घटनाओं का उल्लेख किया गया है वे इतिहास से मेल नहीं खातीं। इसमें इतिहास के परमार, चालुक्य तथा चौहान वंशी राजाओं को अग्निवंशी कहा गया है जबकि वे सूर्यवंशी थे।
2. पृथ्वीराज का दिल्ली दरबार में जाना एवं संयोगिता स्वयंवर की घटनाएँ अनैतिहासिक हैं।
3. अनंगपाल, पृथ्वीराज और बीसलदेव के राज्यों के सम्बन्ध में ग्रन्थ से प्राप्त जानकारी ठीक नहीं है।
4. इसमें पृथ्वीराज की माता का नाम कमला बताया गया है जबकि उनका नाम कर्पूरी था। साथ ही पृथवीराज की बहन पृथा का विवाह मेवाड़ के सम्राट समरसिंह से कहा गया है, जो कि गलत है।
5. पृथ्वीराज के हाथों गुजरात के राजा भीमसिंह का वध भी सही नहीं है एवं उनके द्वारा सोमेश्वर का वध भी इतिहास सम्मत नहीं।
6. पृथ्वीराज के चौदह विवाह की बात भी असत्य है। साथ ही इसमें अनेक अशुद्ध तिथियाँ भी दी गयीं हैं, जिनका इतिहास की तिथियों से कोई साम्य नहीं है।

4.4.3 प्रामाणिकता के पक्ष में तर्क

यदि उपर्युक्त बातों को ही सत्य मान लिया जाए तो पृथ्वीराज रासो को एक अप्रामाणिक रचना माना जा सकता है। लेकिन पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता को लेकर भी तर्क दिए गए हैं। वे तर्क भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन तर्कों का विवेचन भी आवश्यक है। तभी जाकर एक मुकम्मल विवेचन सम्भव है-

1. इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के पक्ष में तर्क उपस्थित करने वाले विद्वान डॉ.दशरथ शर्मा का मानना है कि पृथ्वीराज रासो का मूल रूप प्रक्षिप्तांशों में निहित है। साथ ही उनका यह भी कहना है कि बाद में प्राप्त प्रतियों में ऐतिहासिक विसंगतियां नहीं हैं।

2. घटनाओं में 90-100 वर्षों का अन्तर सम्वत की भिन्नता के कारण है। एक विद्वान् मोहन लाल विष्णुलाल पंड्या ने आनन्द सम्वत की कल्पना करके इस समस्या को दूर करने की कोशिश भी की है।

3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पृथ्वीराज रासो की भाषा को 12वीं शती की भाषा स्वीकार किया है। उस समय की भाषा में संयुक्ताक्षरमयी अनुस्वारान्त प्रवृत्ति देखने को मिलती है। इस कारण यह उसी शती की रचना सिद्ध होती है।

4. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उस काल की रचनाओं में प्राप्त 'संवाद-शैली' के आधार पर कहा है –"उन दिनों की कथाएं दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में लिखी जाती थीं। चन्द ने भी रासो को शुक और शुकी के संवाद में लिखा था जैसे विद्यापति ने कीर्तिलता को भृंग और भृंगी के संवाद के रूप में लिखा था और कौतूहल कवि ने लीलावती कथा को कवि और कविपत्नी के संवाद के रूप में लिखा था। "(हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास –पृष्ठ-46)।

5. कुछ विद्वानों ने पृथ्वीराज रासो में अरबी-फारसी के शब्दों के प्रयोग के आधार पर उसे नकली ग्रन्थ ठहराने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि चन्द लाहौर के रहने वाले थे तथा उनके समय में मुसलमानों का प्रभाव आ चुका था, जिसका असर उनकी भाषा पर भी परिलक्षित होता है।

6. इस सम्बन्ध में बुनियादी तौर पर आलोचकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि पृथ्वीराज रासो एक कवि की काव्य रचना है। अतः उसमे इतिहास के तथ्यों को खोजने का प्रयास करना ठीक नहीं। उसमें ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सही गलत का निर्णय सरासर अनुचित है। कहा भी गया है कि साहित्य में तिथियों और घटनाओं के अलावा सब कुछ ठीक होता है तथा इतिहास में तिथियों और घटनाओं के अलावा कुछ भी ठीक नहीं होता है। अर्थात साहित्य कवि की एक काल्पनिक रचना है और इतिहास तथ्यों और साक्ष्यों पर आधारित इतिहासकारों की व्याख्या। कवि की कल्पना में कलात्मकता का अंश होता है और इतिहासकार की व्यख्या इन सबसे परे होती है। पृथ्वीराज रासो एक सर्जक की कल्पना और कला की सृष्टि है।

4.4.4 पृथ्वीराज रासो के चार संस्करण

विद्वानों के उपर्युक्त मत का यदि विश्लेषण किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके द्वारा बाल की खाल निकालने की कोशिश की गयी है। बार-बार उन्हीं तथ्यों को दिखाना जो इतिहासकारों के चिंतन, विश्लेषण और व्याख्या की सामग्री हैं तथा उनके यथातथ्य न मिलने पर रचना को साहित्य पटल से निष्काषित कर देना कदापि उचित नहीं। तुलसीदास के रामचरितमानस, सूरदास के सूरसागर और कबीर के बीजक में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो किसी न किसी रूप में संदेह के विषय हैं। उनको आधार बनाकर इन ग्रंथों की प्रमाणिकता को चुनौती दी जा सकती है। किन्तु उन्हें हम प्रक्षिप्त अंश मानकर स्वीकार कर लेते हैं। रामचरितमानस में तो कुछ प्रसंगों के सन्दर्भ में प्रक्षिप्तांशों की बात को स्वीकार भी किया गया है। कृष्णभक्ति के कई ऐसे पद हैं, जो सूरदास और मीराबाई दोनों ही के नाम से प्रचलित हैं। अतः प्रक्षिप्त अंशो अथवा इतिहास से मेल न खाने वाले तथ्यों के आधार पर पृथ्वीराज रासो को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है।

4.5 चन्दबरदाई का विवेचन

4.5.1 व्यास, वाल्मीकि की परम्परा और चन्दबरदाई का रचना-विधान

चन्दबरदाई पृथ्वीराज रासो का रचयिता ही नहीं वरन उसका एक चरित्र(Charecter) भी है। यह इस रचना का एक ऐसा विधान है, जो चन्दबरदाई को व्यास और वाल्मीकि की परम्परा में खड़ा करता है। पाश्चात्य समीक्षक टी.एस.इलियट ने भोक्ता और रचयिता के अलगाव को रचना की श्रेष्ठता की एक शर्त मानी थी किन्तु भारतीय परम्परा के ये तीनों ही महाकवि रचना के धरातल पर स्वयं को भोक्ता और रचयिता की संपृक्त भूमिका में रखते हैं। यह इन कवियों की रचनात्मक श्रेष्ठता का एक अन्यतम उदहारण है। इसे भारतीय मानस की द्वैत और अद्वैत की क्रिया-प्रतिक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म उदहारण भी कहा जा सकता है। इसलिए यह मायने नहीं रखता कि व्यास, वाल्मीकि और चन्द वास्तव में कौन थे? ये अपनी रचना में वर्णित घटनाक्रम के समकलीन थे अथवा नहीं? इनका सम्बन्ध अपने इष्ट राम, कृष्ण एवं पृथ्वीराज से क्या था? उनके समकालीन घटनाओं के ये किस रूप में साक्षी थे? महत्त्वपूर्ण यह है कि अपनी रचना प्रक्रिया में वे कृति के भीतर कृतिकार और कथा-चरित्र की संपृक्त भूमिका में उतरते हैं तथा प्रत्यक्षतः एक सामानांतर दर्पण की भांति अर्थ की अनंत छवियों की सृष्टि करते हैं। भोक्ता और रचयिता के अन्तर्भाव में वे रचना में वर्णित घटनाओं के द्रष्टा बन जाते हैं। इस बारे में रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं-"यहाँ तथ्य के स्तर पर यह जानना महत्त्वपूर्ण नहीं कि व्यास, वाल्मीकि और चन्द अपने द्वारा वर्णित घटना-क्रम के समकालीन थे या नहीं या कि वे सचमुच कौन थे? महत्त्वपूर्ण यह है कि रचना-विधान में वे कवि और कथा चरित्र की संपृक्त भूमिका में उतरते हैं और आमने-सामने के समानांतर दर्पण की तरह अर्थ की अन्तहीन छवियाँ उपजाते हैं। भोक्ता और रचयिता के अन्तर्भाव में द्रष्टा हो जाते हैं। " इस तरह कवि चन्द भी व्यास और वाल्मीकि की भांति एक श्रेष्ठ रचनाकार ठहरते हैं। उनकी कविता में भी अर्थ की अनेक छवियों की सृष्टि होती है। पृथवीराज रासो में भोक्ता और रचयिता का भेद समाप्त हो गया है। कवि एक द्रष्टा की भांति पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओं का समग्र वर्णन करता है।

4.5.2 पृथ्वीराज रासो का मूल प्रतिपाद्य

पृथ्वीराज रासो महाकाव्य की सृष्टि सुखांत और दुखांत की विलक्षण संधि-बेला पर होती है। नेत्रहीन पृथ्वीराज चौहान के शब्दभेदी बाण से शहाबुद्दीन गोरी का वध होता है। यहीं पर पृथ्वीराज का भी अन्त हो जाता है। सुख और दुःख का द्वन्द ही इस रचना का मूल है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जो रचनाकार सुख और दुःख के द्वन्द को जितने बड़े फलक पर उठाता है वह रचना के स्तर पर जीवन को उतनी ही समग्रता में रच पाता है। इस समग्रता को हम रचना में वर्णित घटना-क्रम में नहीं वरन उनके प्रतीकात्मक चयन में अथवा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'द्वंदों के समाहार में' या 'विरुद्धों के सामंजस्य में' देख पाते हैं। द्वन्द की विराट परिकल्पना में ही इस रचना का विधान बनता है। इसी में रचनाकार अपने द्वारा चित्रित चरित्रों की नियति को आकार देता है। इसलिए कवि की यह परिकल्पना तभी पूर्ण और सफल होगी जब वह प्रत्येक क्रिया की वास्तविक प्रतिक्रिया को रचना में उपस्थित कर सकेगा। प्रत्येक कर्म को उसके वास्तविक फल से जोड़ सकेगा। भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही परम्पराओं में प्राचीन महाकाव्यों और नाटकों का विधान इसी आधार पर विकसित होता है। जिस प्रकार स्थापत्य कला में मेहराब परस्पर दो टुकड़ों को जोड़ने से बनती है ठीक उसी प्रकार कोई महान

रचना भी कवि द्वारा दो टुकड़ों- क्रिया-प्रतिक्रिया अथवा कर्म और फल को साधने से, बनती है। पृथ्वीराज रासो में इस रचना प्रक्रिया को अनेक जगहों पर रचनाकार द्वारा अपनाया गया है। काव्य की शुरुआत में 'कयमास वध' का एक विस्तृत प्रसंग आता है। इस प्रसंग की उपयुक्तता उस समय समझ में नहीं आती। इसकी प्रासंगिकता का पता हमें रचना के एकदम अन्त में चलता है। वह इस तरह कि कयमास की जिस कमजोरी के कारण पृथ्वीराज उसका वध कर देता है वह स्वयं भी उसी कमजोरी का शिकार हो जाता है। कयमास करनाटी दासी पर कामासक्त होता है जिस कारण वह पृथ्वीराज के हाथों मारा जाता है। पृथ्वीराज भी संयोगिता के प्रेम में इस कदर अँधा हो जाता है कि उसे राज-काज, अच्छे-बुरे का कोई भान ही नहीं रह जाता है। इस स्थिति का लाभ उठाकर गोरी उसके राज्य पर आक्रमण कर देता है और पृथ्वीराज बन्दी बना लिया जाता है। उसे गजनी ले जाया जाता है, जहाँ उसे तरह-तरह का कष्ट दिया जाता है। उसके नेत्रों की ज्योति नष्ट कर दी जाती है। कृति के अन्त में जब पृथ्वीराज अँधा होकर गोरी की सभा में बैठा हुआ है तब चन्द उसको संबोधन की मुद्रा में कहता है-

जि कछु दिअउ कयमास किअउ अप्पनउ सु पायउ।

अर्थात जो कुछ कयमास को (प्राणदंड) तूने दिया था वही तुझे मिल भी गया। यहाँ कवि के दो टुकड़े मिल गए और रचना की मेहराब पूरी हो गयी। इसी मेहराब पर रचना का सम्पूर्ण कथात्मक विधान आधारित है। यहाँ पर अपनी कलात्मक प्रतिभा के बल पर रचनाकार ने नैतिक औचित्य को भी स्थापित किया है। यह नैतिक औचित्य ही इस रचना का श्रेष्ठ सन्देश है। इस नैतिक औचित्य की स्थापना कवि की इन मार्मिक पंक्तियों में भी होती है-

दीन मान दिन पाइयइ

तात्पर्य यह है कि दिए हुए के बराबर ही दिन में मिलता है। क्या बात है? हमें दिए हुए के बराबर ही मिलता है। हम जो देतें हैं वही प्राप्त करते हैं। एक अंग्रेज कवि भी अपनी इन पंक्तियों में कहता है –

O lady! we receive but what we give

भद्रे, हम महज उतना ही पाते हैं जितना देते हैं। यही हमारा दर्शन भी कहता है। ऐसा मालूम पड़ रहा है कि कवि स्वयं नियति को संबोधित कर रहा है। कविता की नियति की सृष्टि कवि स्वयं ही करता है। कविवर चन्द ने अपनी इस रचना में इसी सन्देश को प्रेषित किया है। यही उसका मूल प्रतिपाद्य भी है। हमें वही मिलता है जो हम दूसरों को देते हैं। कविता के धरातल से कवि की एक बहुत बड़ी शिक्षा है-समाज और संसार के लिए।

4.6 चन्दबरदाई का अभिव्यंजना कौशल

चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज रासो में अनेक घटनाओं का अंकन किया है। परवर्ती समय में चारण कवियों द्वारा भी इसमें कुछ घटनाओं को जोड़ा गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह ग्रन्थ एक घटनाकोश है, परन्तु रचनाकार ने इस समूची रचना-प्रक्रिया के भीतर अपनी रस-दृष्टि का नूतन विस्तार किया है। महाभारत की तरह ही पृथ्वीराज रासो भी एक विशाल ग्रन्थ है। इसमें श्रृंगार और वीर दो प्रधान रसों का नियोजन किया गया है। इन्हीं रसों में पृथ्वीराज चौहान का चरित्र उद्घाटित होकर सामने आता है। वे जितने पराक्रमी हैं उतने ही श्रृंगार-प्रेमी भी। कवि ने युद्धों का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। युद्ध वर्णन में रचनाकार की विलक्षण प्रतिभा का दर्शन मिलता है। कवि के द्वारा युद्ध के समय, स्थान और क्रिया का बिम्बात्मक वर्णन किया गया है।

ऐसे वर्णनों में ध्वनि और रंग को भी सर्जक ने रूपायित कर दिया है। पृथ्वीराज रासो में भाव, वस्तु और ध्वनि की सम्मिलित प्रभावान्विति का उदहारण भरा पड़ा है। एक उदहारण-

बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहुँ दिसि।
सकल सुर सामंत समर बल जंत्र मन्त्र तिसि।

उट्ठी राज प्रथिराज बाग़ लग्ग मनहु वीर नट।
कढत तेज मन बेग लगत मनहु बीजु झट्ट घट्ट।।

नारी-सौन्दर्य का भी मार्मिक चित्र रचनाकार ने उपस्थित किया है। नारी वीर और श्रृंगार दोनों हीं रसों के केंद्र में है। उसे पा लेने के लिए उस युग में राजाओं के मध्य बराबर युद्ध हुआ करते थे। नारी को पा लेने के बाद जीवन का विलास-पक्ष अत्यन्त रमणीयता के साथ उभरकर सामने आता है। पृथ्वीराज रासो में भी ऐसे वर्णन विद्यमान हैं। लेकिन कवि ने प्रेम और शौर्य के वर्णन में नैतिक मर्यादाओं का पूरा ध्यान रखा है। इस कारण रस की सात्विकता की रक्षा करने में वह सफल हो सका है। नारी-सौन्दर्य का एक चित्र-

मनहु कला ससिभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय।

बिगासि कमल स्रिग भ्रमर नैनु खंजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिम्ब मोती नख सिख अहि घुट्टिय।

छत्रपति गयंद हरि हंस गति बिह बनाय संचै सचिय।
पद्मिनी रूप पद्मावतिय, मनहुं काम कामिनि रचिय।

नारी-सौन्दर्य का एक और चित्र, जिसमें शाशिवृता के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है-

चित्ररेख बाला विचित्र, चन्द्री चंद्र्कानन।

स्वर्ग मग्ग उत्तरी, चित्र पुत्तरि परमानन।।

तात्पर्य यह है कि शाशिरेखा चित्ररेखा (अप्सरा) की भाँति अतिशय सुन्दर है। उसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है और उसके शरीर की कांति चन्द्र के समान है। ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो वह किसी स्वर्गलोक के मार्ग से उतर आयी हो। वह किसी चित्र में अंकित पुत्तरिका की भांति अत्यन्त सुन्दर है। वीर और श्रृंगार रसों के संवर्धन हेतु रचनाकार द्वारा अन्य रसों की भी आवश्यकतानुसार योजना की गयी है। अन्य रसों के वर्णन में भी कवि ने उतनी ही तन्मयता दिखलायी है।

4.6.1 पृथ्वीराज रासो की भाषा

पृथ्वीराज रासो की भाषा को लेकर भी अनेक सवाल खड़े किये गए हैं। शुक्लजी ने तो इस रचना की 'भाषा को बिल्ल्कुल बेठिकाने की भाषा' कहा है। उनकी निगाह में इस ग्रन्थ की भाषा में व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। हालाँकि शुक्लजी यह भी संकेत करते हैं कि –"कहीं-कहीं तो भाषा आधुनिक सांचे में ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएं नए रूपों में मिलतीं हैं। " वस्तुतः यह काव्य 'पिंगल-शैली' में रचा गया है। पिंगल ब्रजभाषा का ही एक रूप

है, जिसमें राजस्थानी बोलियों का संमिश्रण होता है। अपने समय में प्रचलित समस्त भाषाओं के शब्दों का कवि ने स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयोग किया है। शब्दों का चयन रस और प्रसंग के अनुकूल है। इसलिए वीर और श्रृंगार रसों के वर्णन में प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के शब्दों का प्रयोग भी मिल जाता है। अभिधात्मक भाषा को भी अत्यन्त प्रभावी रूप में कवि ने प्रस्तुत किया है। लाक्षणिक और व्यंजनात्मक शब्दों के प्रयोग से भाषा के सौन्दर्य की वृद्धि हुई है। अपने समय में प्रचलित सभी अलंकारों एवं छन्दों का प्रयोग कवि ने इसमें किया है। इसलिए पृथ्वीराज रासो के बारे में कहा जा सकता है कि वह आदिकाल की ही नहीं वरन समूचे साहित्य जगत की श्रेष्ठ कृति है। चन्दबरदाई हिन्दी साहित्य के पहले ऐसे महाकवि हैं, जो व्यास और वाल्मीकि की परम्परा में श्रेष्ठ ठहरते हैं। उनकी कृति पृथ्वीराज रासो भारत के महान शासक पृथ्वीराज चौहान के शौर्य, स्वाभिमान और पराक्रम की गाथा है। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्र-नायक हैं।

4.7 सारांश

इस इकाई में आपने 'गाथा साहित्य–चन्दबरदाई का अध्ययन' विषय को पढ़ा। चन्दबरदाई पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि थे। वे पृथ्वीराज के बालसखा और बहुत ही विश्वासपात्र थे। उनके सुख और दुःख के साथी थे। उन्होंने पृथवीराज के जीवन को आधार बनाकर 'पृथ्वीराज रासो' नामक महाकाव्य की रचना की। चन्द को हिन्दी का प्रथम महकवि तथा उनकी रचना 'पृथ्वीराज रासो' को प्रथम महाकाव्य भी कहा जाता है। इस इकाई में आप जान गए होंगे कि पृथ्वीराज के जीवन में चन्दबरदाई की क्या भूमिका है? वे पृथ्वीराज के जीवन के विविध पक्षों के साक्षी रहे हैं। इसलिए उन्होंने उनके जीवन की घटनाओं का बहुत ही मार्मिक और कलात्मक वर्णन किया है। उनका उद्देश्य केवल राजा का प्रशस्ति गायन नहीं था वरन पृथ्वीराज को राज्य और जनता की भलाई के निमित्त सदा प्रेरित करना भी था। यही वास्तव में साहित्य और साहित्यकार की सच्ची भूमिका होती है।

घटना और वर्णन के अनुकूल रचनाकार ने इस ग्रन्थ को पिंगल शैली में रचा है। पिंगल ब्रजभाषा का एक रूप है। इसमें राजस्थानी बोलियों का सम्मिश्रण होता है। इस ग्रन्थ में इतिहास की दृष्टि से अनेक कमियां भी हैं। कल्पना और अत्युक्तिपूर्ण वर्णन भी मिलते हैं। कवि का उद्देश्य कविता लिखना और राजा के चरित्र का रोचक वर्णन करना है। इस कारण इन विसंगतियों से अलग हमें काव्य-लेखन की निगाह से इस कृति को देखने का प्रयास करना चाहिए। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप चन्दबरदाई, पृथ्वीराज चौहान और कवि चन्द की रचना 'पृथ्वीराज रासो' को भलीभांति समझ सकते हैं तथा उनका विश्लेषण कर सकते हैं।

4.8 पारिभाषिक शब्दावली

संपृक्त- मिश्रित, **भोक्ता-**भोग करने वाला, **परिलक्षित-**दिखलायी, **किवंदंति-**लोकापवाद, **षड्भाषा-** छः भाषाएँ, **दृष्टान्त-**उदहारण, **अहर्निश-**दिन-रात, **प्रतिशोध-**बदला, **कुपित-**नाराज, **श्लाघ्य-**प्रशंशा योग्य, **सर्जक-**रचनाकार, **द्वैत-**दो, **अद्वैत-**अभिन्न, **प्रभावान्विति-**प्रभावित होने की स्थिति।

4.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काशी नागरी प्रचारिणी सभा संशोधित परिवर्धित चौंतीसवाँ संस्करण।
2. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास –हजारी प्रसाद द्विवेदी –राजकमल प्रकाशन, (छठा संस्करण 1990) नयी दिल्ली।
3. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास –रामस्वरूप चतुर्वेदी-लोकभारती प्रकाशन, (छठा संस्करण 1996)इलाहबाद।
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास-डॉ.नगेन्द्र-नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
5. रामचरितमानस –गीताप्रेस-गोरखपुर

4.10 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न;

1. चन्दबरदाई का परिचय चार-पाँच पंक्तियों में लिखिए।
2. चन्द और पृथ्वीराज की मित्रता का वर्णन अपने शब्दों में करिए।
3. पृथ्वीराज और संयोगिता विवाह की कथा का वर्णन करिए।
4. कयमास वध की कथा क्या संदेश देती है?
5. पृथ्वीराज रासो की भाषा पर चार-पाँच पंक्तियों में लिखिये।
6. चन्द के अभिव्यंजना कौशल पर विचार प्रकट करिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:

1. पृथ्वीराज रासो की कथा का विस्तृत वर्णन करिए।
2. व्यास और वाल्मीकि की परम्परा में चन्दबरदाई के महत्त्व को रेखांकित करिए।
3. पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता तथा प्रामाणिकता पर विचार करिए।
4. पृथ्वीराज रासो की कथा का मूल प्रतिपाद्य क्या है? स्पष्ट करिए।

खण्ड 7
जैन, बौद्ध एवं क्षेत्रीय भाषा साहित्य

खण्ड 7 परिचय

साहित्य के सभी पक्षों की तरह जैन एवं बौद्ध साहित्य भी हिन्दू अध्ययन के लिए प्रासंगिक हैं। इन्हीं के साथ क्षेत्रीय भाषाओं में भी ज्ञान परम्परा को देखा गया है। भारतीय ज्ञान सम्पदा केवल वेद पुराण आदि में भी नहीं है बल्कि उसके निरन्तरता को जैन साहित्य की मान्यताओं में प्राप्त किया जा सकता है। गणित, विज्ञान, खगोल, सामाजिक विज्ञान आदि कोई भी विषय जैन ज्ञान परम्परा में पाए जाते हैं। इसी के दृष्टिगत इस खण्ड की प्रथम इकाई में जैन साहित्य की ज्ञानसम्पदा का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। बौद्ध साहित्य में भी इसी प्रकार भारतीय ज्ञान प्रणाली का चित्रण पाया जाता है। दूसरी इकाई में बौद्ध साहित्य की ज्ञानसम्पदा में विभिन्न विषयों का समावेश करते हुए वर्णन प्रस्तुत है। इस प्रकार दोनों परम्पराओं में आप भारतीय ज्ञान परम्परा का बोध प्राप्त करेंगें। लोकसाहित्य की तरह प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं में भी ज्ञान–विज्ञान का अन्वेषण किया गया है। इस इकाई में कुछ क्षेत्रीय भाषाओं का चुनाव करके ज्ञान-परम्परा के विभिन्न पक्षों का वर्णन प्रस्तुत है। इस प्रकार जैन बौद्ध एवं क्षेत्रीय भाषा सहित्य नामक इस खण्ड के अध्ययन के पश्चात् आप इनमें प्राप्त ज्ञान सम्पदा का वर्णन करने में सक्षम हो सकेंगें।

इकाई 1 जैन साहित्य में ज्ञानसंपदा

इकाई की रूपरेखा

1.0 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों, जैसा कि आप जानते ही हैं किमानव अपनी मेधा के कारण इस संपूर्ण विश्व में अद्भुत प्राणी हैं। मानव की चिंतन क्षमता उसे विश्व के अन्य समस्त प्राणियों से उत्कृष्टता प्रदान करती है। पुरातत्त्व के विद्वानों का ऐसा मत है कि मनुष्य ने लगभग 5000 ईसा पूर्व में लेखन कला का आविष्कार किया। लेखन कला के आविष्कार के साथ ही मानव सभ्यता का एक स्वर्णिम अध्याय प्रारंभ हुआ क्योंकि अब मनुष्य अपने चिंतन और अनुभवों को लिपिबद्ध करके रखने लगा। इन लिपिबद्ध चिंतन और अनुभवों का लाभ अगली पीढ़ियों को मिला और मानव तेजी से विकास करने लगा। हम कह सकते हैं कि आज के विकास की नीव हज़ारों वर्ष पहले हुए छोटे-छोटे ज्ञानपुंजों पर आधारित है, जो हमारे पूर्वजों द्वारा संजोए गए। जिस प्रकार हमें अपने पूर्वजों से भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति हुई, ठीक उसी तरह से हमें अपने पूर्वजों के लिपिबद्ध अनुभव भी प्राप्त हुए। हजारों वर्षों से लिपिबद्ध किए गए यह अनुभव ही मानव के लिए ज्ञानसंपदा हैं। जैन साहित्य के संदर्भ में लगभग भगवान महावीर के पहले से ही एक विपुल ज्ञान का भंडार चला आ रहा था। वेदों की तरह इस समस्त ज्ञान के भंडार को भी सुनकर याद करने की परंपरा जैन धर्म में भी प्रचलित थी। इसी कारण से जैन धर्म में शास्त्रों के लिए **'श्रुत'** शब्द भी प्रचलन में है। जैन साहित्य में प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और अन्य भाषाओं में जैन सिद्धांत, जैन भूगोल, साहित्य, व्याकरण, चिकित्सा, ज्योतिष आदि विषयों पर हजारों ग्रंथों की रचना हुई। उस अद्वितीय ज्ञानसंपदा का वर्णन संक्षिप्त रूप में इस इकाई में किया जा रहा है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप

- जैन आचार्यों एवं जैन विद्वानों द्वारा रचित विभिन्न कृतियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- जैन आचार्यों एवं जैन विद्वानों द्वारा लिखित व्याकरण,साहित्य,गणित,ज्योतिष आदि विषयों पर रचित ग्रंथों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- जैन सिद्धांतों के अनुसार शिक्षा,मनोविज्ञान,मानवाधिकार जैसे विषयों विषयों की अवधारणाओं को समझ सकेंगे।
- जैन साहित्य में वर्णित पर्यावरण संरक्षण, अहिंसा, अपरिग्रहवाद आदि विषयों को सामझ सकेंगे।
- भारतीय ज्ञान-विज्ञान परंपरा के संवर्धन में जैन आचार्यों एवं जैन विद्वानों के योगदान को समझ सकेंगे।

1.2 जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय

जैन मान्यता के अनुसार मुक्ति प्राप्त करने के लिए सर्वज्ञता होना अनिवार्य है। इस कारण से भगवान महावीर के मोक्ष होने के कुछ समय बाद तक ग्रंथों की रचना नहीं हुई क्योंकि उस समय स्वयं सर्वज्ञ विद्यमान थे। भगवान महावीर के उपदेश के आधार पर उनकी सभा के प्रमुख

आचार्य (यह आचार्य जैन परंपरा में गणधर नाम से जाने जाते हैं) गौतम एवं अन्य आचार्यों ने बारह अंगों की रचना की। आशय यह है कि उन्होंने भगवान महावीर के उपदेशों को बारह भागों में विभाजित किया। इन बारह अंगों की रचना प्राकृत भाषा में हुई। पूर्व में ये बारह अंग मौखिक याद रखे जाते थे। बाद में जब स्मरण शक्ति क्षीण होने लगी, तब इन बारह अंगों के लेखन की परंपरा प्रारंभ हुई। बाद में ईस्वीय सन 453 में देवार्द्धि क्षमाश्रमणगणि की अध्यक्षता में इन अंगों को पुस्तक का रूप दिया गया। पुस्तकाकार ये बारह अंग जैन परंपरा के श्वेतांबर अनुयायियों में मान्य हैं। दिगंबर परंपरा के अनुसार काल के प्रभाव से ये बारह अंग नष्ट हो गए हैं।इन बारह अंगों के नामएवं इनमें वर्णित विषय संक्षिप्त में इस प्रकार हैं –

1. **आचारांग:-**इस अंग में जैन मुनियों एवं जैन श्रमणियों की चर्या का विस्तार से वर्णन है।
2. **सूत्रकृतांग:-**इस अंग में स्वमत और परमत का विस्तार से वर्णन है।
3. **स्थानांग:-** इस अंग में एक से लेकर दस तक संख्याओं के माध्यम से संख्याओं जैन दर्शन में प्रतिपादित विभिन्न विषयों का वर्णन है। उदाहरण के लिए यह जीव द्रव्य अपने चैतन्य धर्म की अपेक्षा एक है। ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। कर्म फल चेतना, कर्म चेतना और ज्ञान चेतना की अपेक्षा तीन प्रकार का है इत्यादि।
4. **समवायांग:-**इस अंग की रचनाशैली भी स्थानांग की तरह ही है। इसमें एक से लेकर कोटि (करोड़) तक की संख्याओं के आधार पर जैन दर्शन में प्रतिपादित विषयों का वर्णन है। कुल मिलाकर यह एक शैली है, जिसका उपयोग आगम ज्ञान को सिखाने के लिए किया जाता था।
5. **व्याख्याप्रज्ञप्ति:-** इस अंग में 'जीव है कि नहीं' आदि साठ हजार प्रश्नों के उतर हैं।
6. **ज्ञातृधर्मकथा:-** इसअंग में उदाहरणों के माध्यम से विभिन्न धर्मकथाओं का निरुपण है।
7. **उपासकाध्ययन:-** इस अंग में जैनधर्म को मानने वाले गृहस्थों के आचरण एवं उनके लिए निर्धारित नियमों का वर्णन है।
8. **अन्तकृद्दशांग :-**इस अंग में प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले उन दश-दश अन्तकृत केवलियों का वर्णन है जिनने भयंकर बाह्य कष्टों को सहकर मुक्ति प्राप्त की।
9. **अनुतरोपपादिकदशांग:-** इस अंग में प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वले उन दश-दश मुनियों का वर्णन है जिनके दारुण उपसर्गों को सह्कर पांच अनुतर विमानों में जन्म लिया।
10. **प्रश्नव्याकरण :-**इस अंग में विभिन्न प्रश्नों के उत्तरों दिए गए हैं। वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण में जैन मान्यता के अनुसार आस्रव और संवर का वर्णन है।
11. **विपाकसूत्र :-** इस अंग में पाप पुण्य के अच्छे बुरे कर्मों के फलों का वर्णन है।
12. **दृष्टिप्रवादअंग :-** इसमें तीन सौ त्रेसठ मतों का –क्रियावादियों अक्रियावादियों, अज्ञानदृष्टियों और वैनयिक दृष्टियों का- वर्णन और निराकरण किया गया।

इन बारह अंगों के अतिरिक्त इन अंगों के आधार पर सैकड़ों ग्रंथों की रचना हुई। जैन परंपरा में अंग साहित्य को अंग प्रविष्ट और अंगों के आधार पर रचे गए साहित्य को अंग बाह्य नाम से भी जाना जाता है। अंग प्रविष्ट की भाषा **प्राकृत** और अंग बाह्य की भाषा **प्राकृत** और **संस्कृत** दोनों है। इसके अतिरिक्त जैन साहित्य का विभाजन निम्नलिखित चार भागों में भी किया गया है –

1. **प्रथमानुयोग –** प्रथमानुयोग के अंतर्गत जैन साहित्य के वे ग्रंथ आते हैं, जिनमें तीर्थंकरों एवं अन्य महापुरुषों के जीवन चरित का वर्णन होता है।
2. **करणानुयोग –** करणानुयोग के अंतर्गत जैन साहित्य के वे ग्रंथ आते हैं, जिनमें जैन भूगोल, जैन परंपरा सम्मत विविध क्षेत्रों के विस्तार, जैन कर्मसिद्धांत, जैन गणित आदि विषयों का वर्णन होता है।
3. **चरणानुयोग –** चरणानुयोग के अंतर्गत जैन साहित्य के वे ग्रंथ आते हैं, जिनमें जैन साधुओं-साध्वियों एवं जैन गृहस्थों के आचरण संबंधी नियमों का वर्णन होता है।
4. **द्रव्यानुयोग –** द्रव्यानुयोग अंतर्गत जैन साहित्य के वे ग्रंथ आते हैं, जिनमें जैन दर्शन के सिद्धांतों, जैन परंपरा में माने गए तत्त्वों एवं द्रव्यों के स्वरूप आदि का विशेष वर्णन होता है।

अपने कठिन नियमों के कारण जैनधर्म का प्रचार-प्रसार बौद्ध धर्म के समान विदेशों में अधिक नहीं हो सका। इस कारण से जैन ग्रंथों का प्राप्ति स्थान मुख्य रूप से यह भारतभूमि ही है। हाँ इतना अवश्य है कि भारत की संस्कृत, प्राकृत, तमिल, कन्नड़, तेलगू आदि सभी प्रमुख भाषाओं में कई शताब्दियों तक जैन साधुओं और जैन विद्वानों द्वारा अनेक ग्रंथों की रचना होती रही। इन ग्रंथों की पांडुलिपियाँ न केवल भारत अपितु विदेशों में भी लाखों की संख्या में प्राप्त होती हैं।

1.3 जैन साहित्य में वर्णित प्रमुख मान्यताएँ

जैन साहित्य में तत्त्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा, आचार मीमांसा, रत्नत्रय, अनेकांत, स्याद्वाद आदि विषयों पर विस्तृत एवं सूक्ष्म चर्चा देखने को मिलती है। नीचे इनका परिचय संक्षिप्त रूप में दिया जा रहा है –

1.3.1 तत्त्वमीमांसा

जैन दर्शन में सात तत्त्व माने गए हैं – जीव, अजीव, आस्रव, बंध, वर, निर्जरा और मोक्ष। जानने और देखने की शक्ति से युक्त चेतना स्वभाव वाला जीव है। जानने देखने की शक्ति से रहित अचेतन अजीव है। जब संसारी जीव राग आदि विकार भावों से युक्त होता है, तो उसकी आत्मा में कर्म आते हैं, कर्मों के आने की यह प्रक्रिया आस्रव कहलाती है। कर्मों के आने के बाद कर्मों के आत्मा में बंधने की प्रक्रिया बंध कहलाती है। मोक्ष के लिए प्रयत्न करता हुआ जीव अपने जीवन में संयम आदि को धारण करके कर्मों का आना रोक देता है, कर्मों के आने के रुकने की प्रक्रिया संवर कहलाती है। पुनः जीव तप आदि करके आत्मा में बंधे हुए कर्मों को नष्ट करना प्रारंभ कर देता है, कर्मों को नष्ट करने की प्रक्रिया निर्जरा कहलाती है। संपूर्ण कर्मों के नष्ट होने के पश्चात आत्मा का शुद्ध हो जाना मोक्ष है। ऊपर कहे गए अजीव तत्त्व के पांच भेद माने गए हैं। इन पांच भेदों में जीव को मिलाकर कुल छह द्रव्य कहे गए हैं। यह छह द्रव्य हैं - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

ऊपर कहे गए लक्षण के अनुसार चेतना लक्षण वाला जीव है। रूप, रस, गंध और वर्ण से युक्त पुद्गल होता है। सारा जगत प्रपंच पुद्गल ही है। जीव और पुद्गल को चलने में सहायक द्रव्य धर्म द्रव्य है। जीव और पुद्गल को रुकने में सहायता करने वाला अधर्म द्रव्य है। समस्त द्रव्यों को स्थान देने वाला आकाश द्रव्य है। सभी द्रव्यों में परिवर्तन का कारण काल द्रव्य है। छह द्रव्यों

में जीव और पुद्गल शुद्ध भी होते हैं एवं अशुद्ध भी होते हैं। शेष चार धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य शुद्ध ही होते हैं। इन छहों द्रव्यों में पुद्गल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अरूपी होते हैं।

1.3.2 ज्ञान मीमांसा

जैन दर्शन में जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन से युक्त होना माना गया है। जैन परंपरा में ज्ञान पांच माने गए हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इन पांचों ज्ञानों में से पहले दो ज्ञान इंद्रिय और मन से एवं बाद के तीन ज्ञान आत्मा से होते हैं। प्रथम चार ज्ञान अपूर्ण हैं एवं अंतिम केवलज्ञान पूर्ण है। कर्मों को नष्ट करके जब जीव शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब उसे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। जैन परंपरा के अनुसार केवलज्ञान सभी पदार्थों को जानता है।

1.3.3 आचार मीमांसा

जैन दर्शन में आचार मीमांसा पर विशेष बल दिया गया है। भगवान महावीर के ढाई हजार वर्षो बाद आज भी हमें जैनधर्मावलंबियों का आचरण वैसा ही देखने को मिलता है। यही एक कारण है कि जैनधर्म का प्रचार-प्रसार विदेशों में अधिक नहीं हो सका। जैन परंपरा ,में पांच पाप माने गए हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह। इन पांच पापों के त्याग से पांच व्रत होते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पांचों पापों का पूर्ण रूप से त्याग करना महाव्रत और आंशिक रूप से त्याग करना अणुव्रत कहलाता है। जैन साधु-साध्वियाँ इन पांचों पापों का पूर्ण रूप से त्याग करने के कारण महाव्रती और जैन गृहस्थ इनका आंशिक रूप से त्याग करने के कारण अणुव्रती कहलाते हैं। इन पांचों व्रतों के पालन के लिए अन्य नियम भी जैन साधु-साध्वियों और जैन गृहस्थों के लिए बनाए गए हैं।

1.3.4 रत्नत्रय

जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का एक साथ होना आवश्यक माना गया है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है जैनधर्म में वर्णित तत्त्वों पर दृढ विश्वास, सम्यग्ज्ञान का अर्थ है जैनधर्म में वर्णित तत्त्वों का सही ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का अर्थ है ऊपर कहे गए हिंसादि पांच पापों का त्याग। जैन मान्यता के अनुसार इन तीनों के साथ होने से ही मोक्ष की प्राप्ति ही संभव है, अतः इन्हें जैनधर्म में **'रत्नत्रय'** अर्थात् तीन रत्न के नाम से जाना जाता है।

1.3.5 अनेकांत

अनेकांत जैनदर्शन का वह सिद्धांत है, जिसकी चर्चा संपूर्ण विश्व में होती है। **'अनेक+अंत'** अनेक अर्थात् एक से अधिक और अंत अर्थात् धर्म। इस प्रकार जैनदर्शन के अनुसार किसी वस्तु में एक साथ अनेक विपरीत धर्म होते हैं और प्रत्येक वस्तु अनेकांतात्मक है। उदाहरण के लिए एक पुस्तक एक समय में छोटी और बड़ी दोनों है। आशय यह है कि वहीपुस्तक बड़ी पुस्तक की अपेक्षा छोटी और छोटी पुस्तक की अपेक्षा से बड़ी है। इस प्रकार जैनदर्शन का अनेकांत विभिन्न मतों के समन्वय और सर्वत्र व्याप्त विवादों का समाधान करके विश्वशांति की स्थापना करने में समर्थ है।

1.3.6 स्याद्वाद

स्याद्वाद और अनेकांत आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। अनेकांत सिद्धांत है और स्याद्वाद उसे कहने का तरीका। स्याद्वाद के द्वारा सात कथनों द्वारा किसी वस्तु में उपस्थित धर्मों का कथन किया जाता है। इन सात भंगों का स्वरूप एवं इनके उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं –

1. स्यात् अस्ति – अर्थात् वस्तु किसी अपेक्षा से है। उदाहरण के लिए राम सीता की अपेक्षा से पति हैं।
2. स्यात् नास्ति – अर्थात् वस्तु किसी अपेक्षा से नहीं है। उदाहरण के लिए राम कौशल्या की अपेक्षा से पति नहीं हैं।
3. स्यात् अस्ति नास्ति -अर्थात् वस्तु किसी अपेक्षा से है और किसी अपेक्षा से नहीं है। उदाहरण के लिए राम सीता की अपेक्षा से तो पति हैं किंतु कौशल्या की अपेक्षा से पति नहीं हैं।
4. स्यात् अवक्तव्य – अर्थात वस्तु का दोनों या दो से अधिक अपेक्षाओं से कथन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि सीता और कौशल्या दोनों की ही अपेक्षा से राम को कहना हो कहा नहीं जा सकेगा।
5. स्यात् अस्ति अवक्तव्य -अर्थात् वस्तु किसी अपेक्षा से है, किंतु अनेक अपेक्षाओं से उसका कथन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए राम सीता की अपेक्षा से पति हैं किंतु यदि सीता और कौशल्या दोनों की ही अपेक्षा से राम को कहना हो कहा नहीं जा सकेगा।
6. स्यात् नास्ति अवक्तव्य -अर्थात् वस्तु किसी अपेक्षा से है, किंतु अनेक अपेक्षाओं से उसका कथन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए राम कौशल्या की अपेक्षा से पति नहीं हैं किंतु यदि सीता और कौशल्या दोनों की ही अपेक्षा से राम को कहना हो कहा नहीं जा सकेगा।
7. स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य -अर्थात् वस्तु किसी अपेक्षा से है और किसी अपेक्षा से नहीं है। किंतु अनेक अपेक्षाओं से उसका कथन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए राम सीता की अपेक्षा से पति हैं और कौशल्या की अपेक्षा से पति नहीं है किंतु यदि सीता और कौशल्या दोनों की ही अपेक्षा से राम को कहना हो कहा नहीं जा सकेगा।

उपयुक्त सभी सिद्धांत जैन परंपरा के आधार स्तंभ हैं। अब विभिन्न प्राच्यविद्याओं में जैन लेखकों के योगदान का वर्णन किया जा रहा है।

1.4.1 जैन साहित्य में काव्य

यह सर्वविदित तथ्य है कि यदि किसी भी बात को सीधे-सीधे न कहकर किसी कहानी के माध्यम से बतलाया जाए, तो वह मन को गहराई से प्रभावित करती है। इस बात को ध्यान में रखकर ही आचार्य मम्मट ने काव्य के उद्देश्यों की गणना करते समय 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' कहकर इस बात की पुष्टि की है। जैन आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा विभिन्न महापुरुषों के चरित्रों के माध्यम से जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अनेक काव्यों की रचना की। इन काव्यों में आचार्य विमलसूरी का **'पउमचरिउ'** आचार्य रविषेण का **'पद्मपुराण'** आचार्य जिनसेन का **'आदिपुराण'** और **'हरिवंशपुराण'** आचार्य गुणभद्र का

'उत्तरपुराण' आचार्य हेमचंद्र का **'त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र'** आदि प्रमुख हैं। इन काव्यों के अलावा जैन विद्वानों द्वारा काव्य की कई विधाओं का प्रणयन भी किया गया। उदाहरण के लिए महाकवि धनंजय द्वारा लिखित **'राघवपांडवीयम्'** संपूर्ण भारतीय साहित्य का प्राप्त प्रथम **'द्विसंधान'** है, जहाँ संपूर्ण काव्य में रामायण एवं महाभारत की कथा एक साथ चलती है। इसी प्रकार आचार्य जिनसेन द्वारा रचित **'पार्श्वाभ्युदय'** काव्य कालिदास के **'मेघदूत'** का समस्यापूर्ति काव्य है। इस काव्य में मेघदूत के प्रत्येक पद्य के अंतिम चरण की समस्यापूर्ति करके तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के चरित्र का वर्णन किया गया है। अपभ्रंश साहित्य में भी रामकथा एवं महाभारत कथा निबद्ध करने का श्री भी जैन कवि **स्वयंभू** को ही जाता है। इस प्रकार प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के काव्य साहित्य को समृद्ध करने में जैन आचार्यों एवं जैन विद्वानों का महनीय योगदान है।

1.4.2 जैन साहित्य में व्याकरण

प्राचीन काल में भारतीय समाज में भाषा की शुद्धता पर अत्यधिक बल दिया जाता था। **"यद्यपि बहु नाधीत तथापि पठ पुत्र ! व्याकरणम्"**(हे पुत्र ! भले ही अधिक शास्त्रों को मत पढना। किंतु व्याकरण का अध्ययन अवश्य करना) जैसी उक्तियाँ व्याकरण के महत्त्व को बतलाती हैं। जैन लेखकों द्वारा संस्कृत एवं प्राकृत व्याकरण पर अनेक मौलिक ग्रंथों का प्रणयन किया गया एवं अनेक ग्रंथों की टीकाएँ लिखी गईं। जैन लेखकों द्वारा रचित संस्कृत भाषा के उपलब्ध मौलिक व्याकरण ग्रंथों में आचार्य देवनंदी (पूज्यपाद) द्वारा रचित **जैनेंद्र व्याकरण**, पाल्यकीर्ति द्वारा रचित **शाकटायन व्याकरण**, आचार्य हेमचंद्र द्वारा रचित **सिद्धहेमशब्दानुशासन** आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।जैन व्याकरण ग्रंथों में पूज्यपाद का **'जैनेंद्र व्याकरण'** सबसे प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ में श्रीदत्त, यशोभद्र, भूतबलि, प्रभाचंद्र, सिद्धसेन, समंतभद्र आदि पूर्वाचार्यों के व्याकरण विषयक उद्धरण भी दिए गए हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी जैनेंद्र व्याकरण महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें गुप्तवंशीय कुमारगुप्त द्वारा मथुरा नगरी को घेरने का वर्णन मिलता है। सिद्धहेमशब्दानुशासन ग्रंथ प्राकृत व्याकरण ग्रंथों में भी महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त प्राकृत व्याकरण ग्रंथों में त्रिविक्रम द्वारा रचित प्राकृतशब्दानुशासन भी उल्लेखनीय है। इन मौलिक ग्रंथों के अलावा जैन लेखकों द्वारा पाणिनीय व्याकरण, कातंत्र व्याकरण, जैनेंद्र व्याकरण एवं सिद्धहेमव्याकरण पर अनेकों टीकाएँ एवं वृत्तियाँ लिखी गई हैं।

1.4.3 जैन साहित्य में अलंकारशास्त्र

अलंकार शास्त्र से तात्पर्य उन ग्रंथों से है, जिनमें काव्य के लक्षण, गुण, दोष, रस और अलंकार आदि की चर्चा की गई है। जैन विद्वानों ने इस क्षेत्र में भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। जैन लेखकों द्वारा रचे गए ग्रंथों में आचार्य हेमचंद्र द्वारा रचित **काव्यानुशासन**, वाग्भट का **वाग्भटालंकार**, आचार्य नरचंद्रसूरी का **अलंकारमहोदधि**, महाकवि वाग्भट का **शब्दानुशासन** और विजयवर्णी द्वारा रचित **शृंगारार्णवचंद्रिका** आदि प्रमुख मौलिक ग्रंथ हैं। ये सभी ग्रंथ प्रायः संस्कृत भाषा में रचे गए हैं। इन ग्रंथों में हेमचंद्र का**काव्यानुशासन** और वाग्भट का **वाग्भटालंकार** उल्लेखनीय है। इन ग्रंथों में अनेक शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक उद्धरण प्राप्त होते हैं। इस दोनों ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक अलंकारशास्त्रीय ग्रंथों की टीकाएँ भी जैन लेखकों द्वारा लिखी गई हैं।

1.4.4 जैन साहित्य में कोश

कोश से अभिप्राय उन ग्रंथों से है, जिनमें शब्दों के अर्थ, पर्यायवाची शब्द आदि दिए रहते हैं। जैन लेखकों ने संस्कृत और प्राकृत कोश साहित्य में अपना पर्याप्त योगदान दिया है। प्राप्त कोश साहित्य में महाकवि धनंजय की **नाममाला**, आचार्य हेमचंद्र की **अभिधानचिंतामणिनाममाला**, आचार्य धरसेन द्वारा रचित **विश्वलोचनकोश** आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बीसवी शताब्दी में आचार्य विजयराजेंद्रसूरी द्वारा साढ़े चार लाख श्लोकों में रचा गया प्राकृत भाषा के शब्दों का कोश **'अभिधानराजेंद्रकोश'** एक अद्भुत कृति है।

1.4.5 जैन साहित्य में संगीत

भारतीय परंपरा में संगीत का विशेष महत्त्व रहा है। इसका प्राचीन साक्ष्य सामवेद है। जैन लेखकों द्वारा संगीत के क्षेत्र को भी अपनी लेखनी द्वारा समृद्ध बनाया गया। इन ग्रंथों में कवि पार्श्वचंद्र का **संगीतसमयसार**, कवि मंडन का **संगीतमंडन** एवं कवि सुधाकलश का **संगीतसारोद्धारोपनिषत्** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

1.4.6 जैन साहित्य में गणित

जैन लेखकों द्वारा गणित के क्षेत्र में पर्याप्त लेखन किया गया। तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों में जैन दर्शन में मान्य त्रिलोक की कठिन एवं असामान्य आकृति के घनफल को निकालने के लिए विभिन्न सूत्रों के बारे में बताया गया है। करणानुयोग के ग्रंथों में एवं त्रिलोक का वर्णन करते हुए पर्याप्त मात्रा में गणित के सूत्र जैन साहित्य में प्राप्त होते हैं। जैन लेखकों स्वतंत्र रूप से लिखे गए गणितशास्त्रीय ग्रंथों में **महावीराचार्य** रचित **'गणितसारसंग्रह'** सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ में आठ अध्याय हैं। इस ग्रंथ में त्रिकोणमिति, क्षेत्रमिति, रेखागणित के विभिन्न विषयों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इस ग्रंथ में चौबीस अंकों तक की संख्याओं का वर्णन है। यह ग्रंथ न केवल जैन गणित परंपरा अपितु संपूर्ण भारतीय गणित परंपरा का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ के अलावा जैन साहित्य में उपलब्ध अन्य गणितशास्त्रीय ग्रंथ गणितसार कौमुदी, षट्त्रिंशिका, सिद्धभूपद्धति आदि हैं।

1.4.7 जैन साहित्य में ज्योतिष

प्रारंभ से ही मानव के मन में अपने भविष्य को जानने की बलवती इच्छा रही है। इसकी पूर्ति हेतु भारत में प्राचीन काल से ही ज्योतिषशास्त्रीय ग्रंथों की रचना होती रही है। वेदांगों में ज्योतिष को वेदरूपी पुरुष का नेत्र मानकर इसका महत्त्व स्वीकार किया गया है। जैन परंपरा में भी अष्टांग महानिमित्तों की चर्चा करते समयनभ और भौम को देखकर भविष्यवाणी करने का उल्लेख प्राप्त होता है। जैन आगम साहित्य में चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिषकरंडक और गणिविद्या में ज्योतिषशास्त्र का पर्याप्त विषय मिलता है।जैन लेखकों द्वारा रचे गए प्रमुख ज्योतिषशास्त्रीय ग्रंथों में ठक्कर पेरु का **ज्योतिस्सार**, हरिश्चंद्रगणि का **प्रश्नपद्धति**, पद्मप्रभसूरी का **भुवनदीपक**, उदयप्रभसूरी का **आरंभसिद्धि** आदि उल्लेखनीय हैं।

1.4.8 जैन साहित्य में आयुर्वेद

भारत अपने आयुर्वेद के ज्ञान से संपूर्ण विश्व में विख्यात रहा है। आचार्य चरक एवं आचार्य

सुश्रुत द्वारा रचित ग्रंथ आज भी महत्त्वपूर्ण और उपयोगी हैं। भारत में उपलब्ध आयुर्वेद के प्राचीन ग्रंथों में एक तिहाई की रचना जैन लेखकों द्वारा की गई है। सर्वप्रथम जैन आगम साहित्य में स्थानांग सूत्र में आयुर्वेद के आठ अंगों की चर्चा की गई है। स्वतंत्र रूप से ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में आचार्य समंतभद्र और आचार्य पूज्यपाद के आयुर्वेद पर रचे गए ग्रंथों के नाम एवं उद्धरण अनेक ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। किंतु ये ग्रंथ वर्तमान में अनुपलब्ध हैं। जैन लेखकों द्वारा लिखे गए उपलब्ध आयुर्वेद के ग्रंथों में आचार्य उग्रादित्य का **'कल्याणकारक'** और वाग्भट का **'अष्टांगहृदय'**विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

1.4.8 जैन साहित्य के में प्रकीर्णक विषय

उपर्युक्त विषयों के अलावा जैन लेखकों द्वारा अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, शिल्पशास्त्र, धातुविज्ञान, प्राणीविज्ञान आदि विषयों पर भी पर्याप्त मात्रा में लेखन किया गया। इस प्रकार जैन साहित्य ज्ञान संपदा का वह रत्नाकर है, जिसके रत्नों में सारे विश्व के अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके उसे प्रकाशमान करने की अद्भुत क्षमता है।

1.5 जैन साहित्य में वर्तमान चुनौतियों का समाधान

प्रिय विद्यार्थियों, जैसा कि आप सभी जानते ही होंगे कि वर्तमान में संपूर्ण विश्व पर्यावरण संकट, हिंसा, आतंकवाद, मानवीय मूल्यों का पतन और बढ़ती आर्थिक विषमता जैसी अनेक गंभीर समस्याओं का सामना कर रहा है। इन समस्याओं के कारण मनुष्य के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लग गया है। विभिन्न देशों द्वारा इन समस्याओं के समाधान के लिए प्रयास भी प्रभावी नहीं हो रहे हैं। इन समस्याओं के समाधानों को जब हम जैन साहित्य में खोजते हैं, तो पाते हैं कि यदि जैन साहित्य में वर्णित दिनचर्या का पालन किया जाए, तो सहज ही ये सारी समस्याएँ समाप्त हो जाएगीं। आगे इन समस्याओं में से कुछ समस्याओं और जैन साहित्य के अनुसार उनके समाधानों के बारे में चर्चा की जा रही है।

1.5.1 जैन साहित्य में पर्यावरण सुरक्षा

वर्तमान समय में पर्यावरण संकट को लेकर संपूर्ण विश्व चिंतित है। प्रतिवर्ष सैकड़ों देश मिलकर पर्यावरण की रक्षा हेतु अनेक तरह के संकल्प लेते हैं। जैनदर्शन हजारों वर्ष पहले से ही पेड़-पौधों, जल, पृथ्वी, वायु और अग्नि को सचेतन मानता आया है। अतः जैन साहित्य में इनकी रक्षा के उपयोग हजारों वर्ष पहले ही कर दिए गए थे। उदाहरण के लिए **आचारांगसूत्र** में वनस्पति के शरीर की तुलना मानव शरीर से करते हुए बतलाया गया है कि वनस्पति की हिंसा भी प्राणी की हिंसा के समान है। इसी प्रकार **उपासकादशांगसूत्र** में जैन गृहस्थों के लिए स्पष्टतः उन व्यवसायों का निषेध किया गया है, जिनमें अधिक मात्रा में धूम उत्पन्न होता है

जल को प्रदूषण से मुक्त रखने एवं उसके सीमित उपयोग के लिए जैन-साहित्य में अनेक निर्देश उपलब्ध हैं। यद्यपि प्राचीन काल में जल को बड़ी मात्रा में प्रदूषित करने वाले बड़े उद्योग नहीं थे, फिर भी जैन परंपरा में इस बात का ध्यान रखा गया कि थोड़ी मात्रा में भी जल प्रदूषण न हो। इस कारण से ही जैन गृहस्थों के लिए नदी, तालाब, कुएँ, आदि में प्रवेश करके स्नान करने, मल-मूत्र आदि के विसर्जन करने का त्याग है। वर्तमान में भी यदि जैन परंपरा में शवदाह के पश्चात अस्थिविसर्जन नदी आदि जलाशयों में करने की परंपरा नहीं है, तो इसका एक मात्र कारण जल में रहने वाले जीवों की रक्षा करना ही है। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है

कि वर्तमान में पर्यावरण संरक्षण के प्रति मानव में जो भी जागरुकता देखी जा रही है, वह मुख्यतः आत्मरक्षा के स्वार्थ से प्रेरित है, किंतु जैन-साहित्य में वर्णित पर्यावरण संरक्षण जीवरक्षा और जगत कल्याण की भावना का परिणाम है।

1.5.2 जैन साहित्य और विश्व शांति

यह विश्व विगत शताब्दी में दो विश्वयुद्ध और उनके भयावह परिणाम देख चुका है। फिर भी मानव अपने स्वार्थ के कारण हिंसा करने में पीछे नहीं करता। वर्तमान समय में भी शायद ही ऐसा कोई माह व्यतीत होता हो, जब देशों के मध्य हिंसा के समाचार देखने-सुनने को न मिलते हों। इस हिंसा भरे वातावरण में जैन साहित्य का अध्ययन विश्व में प्रेम और शांति स्थापित करने में प्रभावी हो सकता है। जीवों के उपकारों की चर्चा करते हुए प्रसिद्ध ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'**। अर्थात् आपस में एक-दूसरे की सहायता करना ही जीवों का एक दूसरे पर उपकार है। यदि सारा विश्व इस बात को समझ ले, तो विश्व की अधिकांश समस्याएँ समाप्त हो जाएंगीं। जैन साहित्य में तो प्राणी मात्र के प्रति मित्रता के भाव धारण करने की बात की गई है।

इसी प्रकार आज विश्व में अमीरी और गरीबी के बीच बढ़ता हुआ अंतर भी चिंता का विषय है। जैन साहित्य में वर्णित **'अपरिग्रहवाद'** इस समस्या का अचूक समाधान है। जैन दर्शन का अपरिग्रहवाद कहता है कि व्यक्ति उतना ही ग्रहण करे, जितना उसके लिए आवश्यक है। आज विश्व प्राकृतिक संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग की बात कर रहा है क्योंकि विश्व के संसाधन समाप्ति की ओर हैं। किंतु जैन दर्शन ने तो हजारों वर्ष पहले ही प्राकृतिक संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग की बात कह दी थी। इससे यह सिद्ध होता है कि जैन साहित्य में अहिंसा और अपरिग्रह को अपनाकर संपूर्ण विश्व समावेशी विकास की ओर अग्रसर हो सकता है।

1.5.3 जैन साहित्य में व्यक्ति स्वातंत्र्य और समानता

जहाँ एक ओर कई विचारधाराएँ मनुष्य की क्रियाओं की ईश्वर की इच्छा का परिणाम मानती हैं। वहीं जैन साहित्य में वर्णन है कि मनुष्य अपने कर्मों को करने के लिए ईश्वर की इच्छा पर आश्रित नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव अपने कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता स्वयं है। जैन दर्शन में वर्णन है कि प्रत्येक आत्मा में उतनी ही शक्ति है जितनी परमात्मा में। अंतर सिर्फ इतना है कि परमात्मा की शक्ति आवरण से रहित है और संसारी आत्मा की शक्ति आवरण से ढकी हुई है। इस प्रकार जैन साहित्य के वर्णित जैन दर्शन जीव के स्वातंत्र्य और सभी जीवों की समानता का अद्भुत पाठ संपूर्ण मानवता को सिखाता है। वर्तमान समय में ये दोनों सिद्धांत परम उपादेय हैं।

1.5.4 जैन साहित्य में शैक्षिक तत्त्व

शिक्षा या विद्या मनुष्य के जीवन में महान परिवर्तन लाती है।संस्कृत साहित्य की **'विद्याविहीनः पशुः'** इत्यादि वाक्य विद्या के महत्त्व को प्रकट करते हैं। जैन साहित्य में वर्णित शैक्षिक तत्त्व वर्तमान समय में भी उपयोगी हैं। अगर हम स्त्री शिक्षा की बात करें तो जैन साहित्य में स्त्री शिक्षा के अनेक प्रसंग देखने को मिलते हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपनी पहली पुत्री ब्राह्मी को अक्षरविद्या एवं दूसरी पुत्री सुंदरी को अंक विद्या सिखाई। इसी प्रकार सभी के लिए शिक्षा के प्रसंग भी जैन साहित्य में अनेकों स्थान पर देखने को मिलते हैं। जैसे

सुत्तनिपात में वर्णन है कि मातंग नामक चांडाल इतना बड़ा आचार्य हो गया था कि उसके यहाँ अध्ययन करने के लिए अनेक उच्च वर्ग के लोग आते थे। इस प्रकार जैन साहित्य जाति के आधार पर किसी को विद्यार्जन से नहीं रोकता।

इसी प्रकार शिक्षकों की चर्चा करते हुए तीन तरह के आचार्यों का वर्णन देखने को मिलता है। कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य। कलाचार्य वह शिक्षक थे जो शिष्यों को विभिन्न कलाओं की शिक्षा देते थे। इन कलाओं में भाषा, लिपि, गणित, भूगोल, खगोल, संगीत नृत्य आदि सम्मिलित होते थे। शिल्पाचार्य का कार्य आजीविका सिखाना होता था। वर्तमान में औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाएँ जो कार्य कर रही हैं वही कार्य पहले शिल्पाचारी किया करते थे। धर्माचार्य का कार्य शिष्यों में सदाचार एवं सद्गुणों के प्रति रुचि जगाना था। इस वर्णन से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जैन साहित्य में वर्णित शिक्षा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों ही पुरुषार्थ को साधने वाली थी।

1.5.5 जैन साहित्य में वर्णित आजीविका के साधन

जैन साहित्य में वर्णन है कि जैन अनुयायियों में निम्नलिखित चार तरह के लोग होते हैं। मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। मुनि और आर्यिका संपूर्ण रूप से संन्यास को ग्रहण कर सभी प्रकार के परिग्रहों के त्यागी होते हैं। श्रावक और श्राविका से तात्पर्य है जैन गृहस्थ पुरुष और महिलाएँ। गृहस्थी चलाने के लिए व्यापार आदि आवश्यक है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने मनुष्यों को आजीविका के लिए असि (तलवार) अर्थात् आत्मरक्षा, मसि (स्याही) अर्थात् पढ़ना-लिखना, कृषि, शिल्प अर्थात् मूर्ति आदि का निर्माण, विद्या अर्थात् नृत्य संगीत आदि और वाणिज्य अर्थात् व्यापार की शिक्षा दी थी। जैन साहित्य में समाविष्ट श्रावकाचारों में वर्णन प्राप्त होता है कि श्रावक को ऐसा व्यापार करना चाहिए जिसमें हिंसा कम से कम हो। साथ ही जैन साहित्य में ऐसे भी वर्णन प्राप्त होते हैं, जहाँ व्यक्ति को न्यायनीति पूर्वक अपनी आजीविका उपार्जन का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार जैन साहित्य में वर्णित आजीविका के उपाय आत्मकल्याण के साथ-साथ परकल्याण की भावना से भी प्रेरित हैं।

1.6 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों, ऊपर दिए गए सभी बिंदुओं को पढ़कर आप समझ ही गए होंगे कि जैन साहित्य ज्ञान का समुद्र है। एक ऐसा समुद्र जिसमें विभिन्न प्रकार के रत्न है। लौकिक और पारलौकिक जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसे जैन साहित्य ने स्पर्श न किया हो। इसमें मानव जीवन के चारों पुरुषार्थों की सामग्री प्राप्त होती है। आज संपूर्ण विश्व में सम्मानित भारतीय ज्ञान परंपरा का जैन साहित्य एक महत्त्वपूर्ण अंश है। जैन साहित्य में वर्णित सिद्धांत संपूर्ण न केवल भारत अपितु संपूर्ण विश्व की समस्याओं का समाधान करने में सक्षम हैं। अतः जैन साहित्य न केवल जैन मतावलंबियों के लिए अपितु विश्व के समस्त नागरिकों के लिए पठनीय और अनुकरणीय है। साथ ही जैन साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग अभी तक पांडुलिपियों के रूप में अपने उद्धार की प्रतीक्षा कर रहा है। शोधार्थियों और विद्वानों को चाहिए कि वे जैन साहित्य के उन अंशों पर शोध करें जो अभी तक प्रकाश में नहीं आए हैं। ऐसा करके वे संपूर्ण मानव जाति के लिए एक अभूतपूर्ण और महत्त्वपूर्ण योगदान करेंगे।

1.7 शब्दावली

1. अपरिग्रहवाद – आवश्यकता से अधिक वस्तु के प्रति लगाव का न होना एवं उसे इकट्ठा करने की भावना से रहित होना ही अपरिग्रहवाद है।
2. अष्टांगमहानिमित्त – जैन मान्यता के अनुसार अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न को देखकर भविष्य के शुभाशुभ को जाना जा सकता है। ये ही जैन साहित्य में अष्टांग महानिमित्त कहलाते हैं।
3. कर्ता और भोक्ता – जैन साहित्य में जीव अपने कर्मों का कर्ता अर्थात् करने वाला और भोक्ता अर्थात् भोगने वाला है। कोई अन्य शक्ति ईश्वर आदि इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती।
4. **केवली –** जैन मान्यता के अनुसार मोक्ष प्राप्ति से पहले मनुष्य को सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। सर्वज्ञता प्राप्त मनुष्य के लिए केवली शब्द का प्रयोग होता है।
5. गणधर – प्रत्येक तीर्थंकर की सभा के प्रमुख आचार्य गणधर कहलाते हैं। तीर्थंकर के उपदेश को गणधर ही लोगों को समझाते हैं।
6. चांडाल – पहले लोगों को मृत्युदंड देने वाले लोग चांडाल कहलाते थे। जैन साहित्य में धर्म का पालन करने वाले चांडाल की भी प्रशंसा की गई है।
7. द्वादशांग – तीर्थंकर द्वारा वर्णित समस्त विषय को गणधर बारह भागों में रचते हैं। यही बारह भाग मिलकर द्वादशांग कहलाते हैं।
8. ब्राह्मी और सुंदरी – जैन मान्यता के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की दोनों पुत्रियाँ।
9. श्रुत – जैन साहित्य में 'श्रुत' शब्द अनेकार्थी है। ज्ञान और शास्त्र के अर्थ में इसका प्रयोग होता है।

1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. जैन धर्म और दर्शन, मुनि प्रमाणसागर, शिक्षाभारती, कश्मीरी गेट, दिल्ली 6।
2. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग 1, लेखक बेचरदास दोसी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
3. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग 5, लेखक अंबालाल प्रे. शाह, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
4. जैनधर्म और पर्यावरण संरक्षण, सं. डॉ. शिवप्रसाद, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।
5. जैन साहित्य में शिक्षा के तत्त्व, डॉ. निशानंद शर्मा, प्राकृत, संस्कृत जैन ग्रंथ अध्ययन केंद्र, वैशाली।

1.9 बोध प्रश्न

1. तीर्थंकरों के समय जैन साहित्य का लेखन क्यों प्रारंभ नहीं हुआ ?
2. जैन परंपरा में गणधर कौन कहलाते हैं ?
3. जैन साहित्य में अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट से क्या अभिप्राय है ?

4. जैन लेखकों द्वारा लिखे गए प्रमुख व्याकरण ग्रंथ कौन-कौन से हैं ?
5. जैन लेखकों का कोश साहित्य में क्या योगदान है ?
6. किस जैन आचार्य का गणित के क्षेत्र में महनीय योगदान है ?
7. जैन साहित्य में वर्णित अहिंसा किस तरह अन्य मान्यताओं की अहिंसा से भिन्न है ?
8. जैन साहित्य में वर्णित अपरिग्रहवाद क्या है ? क्या अपरिग्रहवाद वर्तमान की आर्थिक विषमताओं को समाप्त करने में सहायक हो सकता है ?
9. जैन साहित्य में वर्णित जीव के कर्ता एवं भोक्ता स्वभाव से क्या तात्पर्य है ?
10. जैन साहित्य में स्त्री शिक्षा और सर्व शिक्षा के बारे में क्या वर्णन प्राप्त होता है ?

इकाई 2 बौद्ध साहित्य में ज्ञानसम्पदा

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप-

- बौद्ध साहित्य में प्राप्त पालि त्रिपिटक एवं त्रिपिटकेतर ग्रन्थों के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- बौद्ध संस्कृत साहित्य एवं चीनी, तिब्बती बौद्ध साहित्य से परिचित हो सकेंगे।
- बौद्ध दर्शन प्रस्थानों की विशेषता जान सकेंगे।
- बौद्ध साहित्य में उपलब्ध ज्ञान-सम्पदा (विषयवस्तु) को समझ सकेंगे और दूसरों को बताने में भी समर्थ हो सकेंगे।
- बौद्धमनोविज्ञान एवं बौद्धकालिन चिकित्सा के विषय से परिचित होंगे।
- बौद्ध-मानवीय-मूल्यों से परिचित होकर समाज में परिष्कृत व्यवहार के लिये प्रेरित हो सकेंगे।
- बौद्ध शिल्प एवं कला की विशेषता जान सकेंगे।
- बौद्ध शिक्षा प्रणाली की विशेषता को समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

प्रिय छात्रों! यह एम.ए (हिन्दू अध्ययन) कार्यक्रम के प्रथम वर्ष से सम्बन्धित द्वितीय इकाई है।

इसमें बौद्ध साहित्य की ज्ञानसम्पदा के विषय में वर्णन किया गया है। भगवान् बुद्ध को बोधगया के परम पावन महाबोधि वृक्ष के नीचे ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् लोक के हित-सुख हेतु 45 वर्षों तक चारिका करते हुए उन्होंने उपदेश दिया। उनके उपदेशों एवं शिक्षाओं से प्रभावित होकर राजा से लेकर रंक तक उनके अनुयायी बने।

कालान्तर में उनके उपदेशों को प्रथम धम्म संगीति में संकलित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप त्रिपिटक साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। त्रिपिटक साहित्य में मूलतः तथागत बुद्ध के उपदेश संकलित है; किन्तु प्रसंगतः अनेकत्र इतिहास और संस्कृति से सम्बन्धित मूल्यवान सूचनाएँ और तथ्य भी प्राप्त होते हैं। वर्तमान समय में प्रसारित भारतीय ज्ञान परम्परा का अदभुत भण्डार इस साहित्य में उपलब्ध होता है। दर्शन, मनोविज्ञान, चिकित्सा, कानून-व्यवस्था, प्रबन्धन, अर्थतन्त्र, सैन्य-विज्ञान, वाणिज्य, शिक्षा और भूगोल इत्यादि की अमूल्य जानकारियाँ इस बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होती है। मानवीय मूल्य और स्वतन्त्र चिन्तन की तो जैसे वैश्विक धरोहर है। इस प्रकार इस साहित्य में ज्ञान के अनेक क्षेत्र एवं विद्याओं की अनेक शाखाएँ विविध स्वरूप में उपलब्ध होती हैं। ऐसी ही मूल्यसमन्वित ज्ञान-सम्पदा पालि के त्रिपिटकेतर साहित्य में भी प्राप्त होती है; जिसमें अट्ठकथा, टीका, अनुटीका आदि अनेक साहित्य परिगणित होते हैं। इसी तरह पालि साहित्य में शास्त्रीय साहित्य की भी रचना हुई है। व्याकरण, चिकित्सा, छन्द, काव्यशास्त्र, महाकाव्य, नीति इत्यादि शास्त्रीय साहित्य की ज्ञान-सम्पदा से यह वांमय प्रतिष्ठित हुआ है। इसी प्रकार बौद्ध-संस्कृत साहित्य भी इतिहास संस्कृति, दर्शन, शिक्षा, आचार आदि के मौलिक स्रोत के रूप में समाहित है।

प्रस्तुत इकाई में आप बौद्ध साहित्य में विद्यमान ज्ञान की विविध धाराओं की प्रवाह रूपी ज्ञान-सम्पदा के विषय जानेंगे।

2.2 बौद्ध साहित्य का संक्षिप्त परिचय

2.2.1 पालि त्रिपिटक

त्रिपिटक का सामान्य अर्थ है, तीन पात्र या पिटारियाँ। इन तीन पिटारियों में बुद्ध-वचन संग्रहीत किये गये हैं, जो 45 वर्षों तक तथागत बुद्ध द्वारा प्रदत्त उपदेशों का संग्रह है तथा प्रथम धम्म संगीति में संकलित एवं सेगायित हुआ था। इन तीन पिटकों के नाम हैं- विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक। इन तीनों पिटकों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

2.2.1.1 विनयपिटक

विनय 'अनुशासन' को कहते हैं। इस पिटक में भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट भिक्षु और भिक्षुणियों के लिये आचार-सम्बन्धी नियम को रक्खा गया हैं, इसे भिक्षुसंघ का 'संविधान' भी कहते हैं। धार्मिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है।

विनयपिटक तीन भागों में विभक्त है। यथा- सुत्तविभङ्ग, खन्धक और परिवार। सुत्तविभङ्ग के दो भाग हैं- पाराजिक और पाचित्तिय। इसी प्रकार खन्धक भी दो भागों में विभक्त है- महावग्ग और चुल्लवग्ग। इस तरह विनयपिटक के पाँच भाग हो जाते हैं। यथा- पाराजिक, पाचित्तिय, महावग्ग, चुल्लवग्ग और परिवार। पाराजिक-पाचित्तिय को ही भिक्षु-विभङ्ग और भिक्षुणी-विभङ्ग कहते हैं और इन्हीं का सार भिक्षु प्रातिमोक्ष और भिक्षुणी प्रातिमोक्ष हैं।

2.2.1.2 सुत्तपिटक

इसमें विनय से भिन्न जन सामान्य को दिये गये बुद्धवचनों का सङ्ग्रह है। यह पाँच निकायों में विभक्त है। यथा- दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अङ्गुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय।

क) **दीघनिकाय-** इसमे दीर्घ आकार के सूत्रों का संग्रह है। आकार की दृष्टि से जो सूत्र (बुद्धोपदेश) लम्बे हैं, वे इस निकाय में सङ्गृहीत हैं। दीघनिकाय में कुल ३४ सूत्र हैं, जो तीन वर्गों में विभक्त हैं। यथा- १. सीलक्खन्धवग्ग, २. महावग्ग, ३. पाथेय्यवग्ग।

ख) **मज्झिमनिकाय-** इसमें मध्यम आकार के सूत्रों का संग्रह है। यह निकाय तीन भागों में विभक्त है। यथा- मूलपण्णास, मज्झिमपण्णास और उपरिपण्णास। इसमें कुल १५ वर्ग हैं, जिनमें १५२ सूत्र संग्रहीत हैं।

ग) **संयुत्तनिकाय-** इस निकाय में छोटे-बड़े सभी आकार के सूत्रों का संग्रह है। छोटे आकार के सूत्र ही अधिक हैं। बुद्धघोष के अनुसार इसमें ७७६२ सूत्र हैं, जो पाँच वर्ग और ५६ संयुत्तों में संगृहीत हैं। यथा- सगाथवग्ग में ११ संयुत्त, निदानवग्ग में १० संयुत्त, खन्धवग्ग में १३ संयुत्त, सलायतनवग्ग में १० संयुत्त तथा महावग्ग में १२ संयुत्त हैं।

घ) **अङ्गुत्तरनिकाय-** सुत्तपिटक का चतुर्थ भाग अंगुत्तरनिकाय है। इस निकाय का विभाजन एकक-निपात, दुक-निपात आदि ११ निपातों में किया गया है। प्रत्येक निपात अनेक वर्गों में विभक्त है तथा प्रत्येक वर्ग में अनेक छोटे आकार के सूत्र हैं। बुद्धघोष के अनुसार इसमें ९५५७ सूत्र हैं, जो ११ निपात और१६९ वर्गों में संगृहीत है।

ङ) **खुद्दकनिकाय**ः- यह सुत्तपिटक का पाँचवाँ निकाय है। पहले के चार निकायों की भाँति इसमें सूत्र नहीं हैं; अपितु यह छोटे-छोटे स्वतन्त्र 15 ग्रन्थों का संग्रह है। सभी ग्रन्थ छोटे भी नहीं हैं, कुछ तो जातक-आदि काफी बड़े ग्रन्थ हैं। इसमें १५ ग्रन्थ सङ्गृहीत है, जिनके नाम इस प्रकार हैं- १. खुद्दकपाठ, २. धम्मपद, ३. उदान, ४. इतिवुत्तक, ५. सुत्तनिपात, ६. विमानवत्थु, ७. पेतवत्थु, ८. थेरगाथा, ९. थेरीगाथा, १०. जातक, ११. निद्देस, १२. पटिसम्भिदामग्ग, १३ अपदान, १४. बुद्धवंस तथा १५. चरियापिटक।

2.2.1.3 अभिधम्मपिटक

यह त्रिपिटक का तीसरा मुख्य भाग है। इसमें बुद्ध द्वारा उपदिष्ट दार्शनिक मन्तव्यों का संग्रह है। इसके अन्तर्गत सात ग्नन्थ संकलित है। यथा- धम्मसङ्गणि, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। इन ग्रन्थों का मुख्य विषय चार-परमार्थ-धर्म है। यथा- चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण है। इन्हीं के विषय में यहाँ अनेक प्रकार से गम्भीर चिन्तन-विमर्शन किया गया हैं।

2.2.2 पालि त्रिपिटकेतर साहित्य

पालि भाषा में त्रिपिटक के अतिरिक्त जो भी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, वे सभी त्रिपिटकेतर साहित्य के अन्तर्गत रखे गये हैं। पिटकेतर साहित्य के अंतर्गत आने वाले ग्रन्थों को निम्नलिखित रूप से विभाजित कर सकते हैं। (i) अनुपिटक साहित्य (ii) अट्ठकथा-टीका-अनुटीका साहित्य, (iii) वंस-साहित्य, (iv) काव्य-साहित्य, (v) अभिलेख-साहित्य, (vi) व्याकरणा-साहित्य, (vii)

नीति-साहित्य, (viii) पालि ब्रह्माण्डीय साहित्य, (ix) कोश-ग्रन्थ।

i) **अनुपिटक साहित्यः**– अनुपिटक सहित्य के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का समावेश है। यथा- नेत्तिप्पकरण, पेटकोपदेस एवं मिलिन्दपञ्ह।

ii) **अट्ठकथा-टीका-अनुटीका साहित्यः**– तिपिटक पर अट्ठकथा लेखन का प्रारम्भ चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी से प्रारम्भ होता है। इस समय के तीन प्रमुख अट्ठकथाकार बुद्धदत्त, बुद्धघोष एवं धम्मपाल थे। इनमें से बुद्धदत्त एवं बुद्धघोष समकालिक थे।

बुद्धदत्त द्वारा पाँच अट्ठकथा ग्रन्थों का लेखन किया गया है, जिसके नाम इस प्रकार है- 1. विनयविनिच्छय, 2. उत्तरविनिच्छय, 3. अभिधम्मावतार, 4. रूपारूपविभाग, 5. मधुरत्थविलासिनी।

बुद्धघोष द्वारा 14 अट्ठकथा ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है। यथा- 1. विसुद्धिमग्ग, 2. समन्तपासादिका, 3. कंखावितरणी, 4. सुमंगलविलासिनी, 5. पपञ्चसूदनी, 6. सारत्थप्पकासिनी, 7. मनोरथपूरणी, 8. परमत्थजोतिका, 9. अट्ठसालिनी, 10. सम्मोहविनोदिनी, 11. पञ्चप्पकरणट्ठकथा, 12. जातकट्ठवण्णना, 13. धम्मपदट्ठकथा, 14. ञाणोदय।

धम्मपाल अट्ठकथाकार तथा टीकाकार दोनों थे। उनकी प्रमुख अट्ठकथा परमत्थदीपनी है। यह खुद्दकनिकाय के उन ग्रन्थों की अट्ठकथा है; जिन पर बुद्धघोष ने अट्ठकथा नहीं लिखी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक टीका ग्रन्थों का लेखन किया है।

iii) **वंस-साहित्यः**– पालि साहित्य के अन्तर्गत रचा गया 'वंस' (वंश) साहित्य मूलतः इतिहास ही है। वंस-साहित्य के अन्तर्गत तत्कालीन राजाओं, महान् विभूतियों और प्रसिद्ध व्यक्तियों का जीवन विवरण दिया गया है। इस साहित्य में अतीतकाल में घटी महत्त्वपूर्ण घटनाओं के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है। इस प्रकार इतिहास और प्राचीन संस्कृति के प्रमुख स्रोत के रूप में वंस साहित्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वंस-साहित्य का लेखन वस्तुतः इतिहास-लेखन ही है। वंस-साहित्य की परम्परा में दीपवंस और महावंस अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इतिहास-कथन की शैली में रचे गये ये काव्य वस्तुतः प्रबन्ध-काव्य हैं। इनकी रचना का प्रारम्भ ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी में लंका में हुआ। ध्यातव्य है कि ‘दीपवंस’ वंस-साहित्य की प्रथम रचना है, जिसका लेखन सिंहली-अट्ठकथाओं के आधार पर की गई थी। इसमें सिंहल-द्वीप के आरम्भिक-काल से लेकर चौथी शताब्दी तक के राजाओं का क्रमबद्ध इतिहास वर्णित है। दीपवंस के आधार पर ही कालान्तर में महावंस की रचना हुई। यह ग्रन्थ अत्यन्त रम्य, हृदयाह्लादक तथा सुन्दर काव्यात्मक शैली में रचा गया है। जो अपने आप में महाकाव्यता को समेटे हुए है। इनके अतिरिक्त निम्नोक्त प्रसिद्ध इतिहास सम्बन्धी वंस ग्रन्थ भी पालि-साहित्य के अन्तर्गत प्राप्त होते हैं-

1. बुद्धवंसो, 2. चूळवंसो, 3. बुद्धघोसुप्पत्ति, 4. महाबोधिवंसो, 5. थूपवंसो, 6. अत्तनगलुविहारवंसो, 7. दाठावंसो, 8. जिनकालमालिनी, 9. छकेसधातुवंसो, 10. नलाटधातुवंसो, 11. सन्देसकथा, 12. गन्धवंसो, 13. संगीतिवंसो, 14. सासनवंसो, 15. सासनवंसदीपो।

iv) **काव्य-साहित्यः**– पालि-साहित्य के अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ हैं। प्रायः छन्दोबद्ध काव्य भगवान् बुद्ध के चरित, उपदेश-कथन तथा शिक्षाओं को केन्द्रित करते हुए रचे गये हैं। इन काव्यों में बुद्ध के अग्र- श्रावकों, राजाओं तथा महान् विभूतियों का भी प्रसंगवशात् वर्णन चित्रित किया गया है। साथ ही प्रसंग-प्राप्त इतिहास, संस्कृति तथा भौगोलिक जानकारियों का भी पर्याप्त संकलन प्राप्त होता है। अतः इतिहास की दृष्टि से इन काव्यों का अपना विशेष स्थान तथा महत्त्व है।

पालि काव्य इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- (1) विवरणात्मक काव्य तथा (2) आख्यानात्मक काव्य।

1) **विवरणात्मक काव्यः-** इसके अन्तर्गत आने वाले प्रमुख काव्य ग्रन्थ निम्नलिखित है, यथा- (i) अनागतवंस, (ii) तेलकटाहगाथा, (iii) जिनालंकार, (iv) जिनचरित, (v) पज्जमधु, (vi) सद्धम्मोपायन, (vii) पञ्चगतिदीपन तथा लोकप्पदीपसार (लोकपदीपसार) इत्यादि।

2) **आख्यानात्मक काव्यः-** इस विधा के मुख्य काव्यग्रन्थ हैं, (i) रसवाहिनी, (ii) बुद्धालंकारो, (iii) सहस्सवत्थुप्पकरणं और (iv) राजाधिराजविलासिनी इत्यादि।

उक्त दोनों प्रकार की शैलियों में रचित काव्यों में नैतिक आदर्शवाद तथा सामाजिक व्यवस्था सामान्यरूप से प्राप्त होती है।

v) **अभिलेख-साहित्यः**– पालि साहित्य में बुद्ध-वचनों के बाद सर्वाधिक गौरवपूर्ण स्थान अभिलेख साहित्य को प्राप्त है, इसे न केवल भारत में अपितु, विश्व की संस्कृति और साहित्य के इतिहास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतिसहज एव सरल शैली में लिखित यह साहित्य जीवन के गंभीरतम पक्षों पर प्रकाश डालता है। तीसरी शती ई. पू. से लेकर पंद्रहवीं शती ई. तक उत्कीर्ण यह अभिलेख-साहित्य निम्नोक्त रूप में उपलब्ध हैः- अशोक के अभिलेख, साँची और भरहुत के अभिलेख, सारनाथ से कनिष्ककालीन अभिलेख, मौंगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र लेख, मब्जा (बरमा) का पाँचवी-छठी शती का स्वर्णपत्र अभिलेख, बोबोगी पगोड़ा (मब्जा: बरमा) के खंडित पाषाण-लेख, पगान का अभिलेख और कल्याणी अभिलेख आदि महत्त्वपूर्ण अभिलेख साहित्य है।

vi) **व्याकरणः**– पालि के पाँच व्याकरण-सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है- (१) बोधिसत्त व्याकरण, (२) कच्चायन व्याकरण, (३) सब्बगुणाकर व्याकरण, (४) मोग्गल्लायन व्याकरण, (५) सद्दनीति व्याकरण। इन पाँचों में से प्रथम तथा तृतीय प्राप्त नहीं है और शेष तीनों में प्राचीनता की दृष्टि से कच्चायन व्याकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, साथ ही इसका अवलम्बन लेकर व्याख्यात्मक अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। इसके अतिरिक्त अट्ठकथाओं में भी व्याकरण-सम्बन्धी सामग्री प्राप्त होती हैं।

vii) **नीति-साहित्यः**– संस्कृत की तरह पालि भाषा में निम्नलिखित नीति-ग्रंथों का उल्लेख मिलता है- 1. लोकनीति, 2. धम्मनीति, 3. महारहनीति, 4. राजनीति, 5. सुतवड्ढननीति, 6. लोकसार, 7. चाणक्यनीति, 8. कामन्दकीयनीतिसार, 9. गिहिविनयसङ्गहनीति, 10. कविदप्पणनीति, 11. नीतिमञ्जरी, 12. सुत्तन्तनीति, 13. नरदक्खदीपनी, 14. चतुरक्खदीपनी, 15. लोकनेय्यप्पकरण। इनके अतिरिक्त आधुनिक काल में भी बर्मा में नीति-ग्रंथों का सम्पादन और संकलन जारी है।

viii) कोशग्रन्थः– पालि-साहित्य में तीन प्रसिद्ध कोश हैं, मोग्गल्लान-कृत 'अभिधानप्पदीपिका' बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्ति) कृत 'एकक्खर-कोस' एवं 'सद्दत्थरतनावली'। इनमें से प्रथम दो संस्कृत-कोश-ग्रन्थों पर आधारित हैं, जबकि तीसरा आधुनिक विद्वानों के अनुरोध पर बरमी भिक्षुओं द्वारा बीसवीं शताब्दी ईसवी की रचना है।

2.2.3 बौद्ध संस्कृत साहित्य

पालि साहित्य के तरह ही बौद्ध-संस्कृत-साहित्य भी अत्यन्त विशाल है। सम्पूर्ण संस्कृत बौद्ध वाङ्मय को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित गया है। यथा- बौद्ध-संकर-संस्कृत-साहित्य, विशुद्ध-बौद्ध-संस्कृत-साहित्य तथा आधुनिक संस्कृत में विरचित बौद्ध ग्रन्थ।

2.2.3.1 बौद्ध-मिश्रित-संस्कृत-साहित्य

इसके अन्तर्गत अनेक ग्रन्थों का सृजन किया गया है; जिसमें अवदान साहित्य, वैपुल्यसूत्र आदि प्रमुख है। वैपुल्य सूत्रों की संख्या 9 हैं; यथा- अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञा-पारमिता, ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज और दशमूमीश्वर।

2.2.3.2 विशुद्ध-बौद्ध-संस्कृत-साहित्य

बौद्ध आचार्यों द्वारा अनेक विशुद्ध-संस्कृत ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है। जिनमें से कुछ प्रमुख लेखक एवं उनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं; यथा- अश्वघोष द्वारा रचित बुद्धचरितं, सौन्दरनन्दं एवं शारिपुत्रप्रकरणम्; शान्तिदेव द्वारा रचित बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय; आर्यशूर रचित जातकमाला, पारमितासमास। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त वैभाषिकों का अभिधर्मकोश, सौत्रान्तिकों का सत्यसिद्धिप्रकरण, योगाचार का महायान सूत्रालंकार, धर्मधर्मता त्रिभंग, मध्यान्त विभंग, अभिसमयालंकार कारिका, विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

2.2.3.3 आधुनिक-संस्कृत-साहित्य

वर्तमान समय में भी बौद्ध विषयों को आश्रय बनाकर संस्कृत में ग्रन्थों का प्रणयन किया जा रहा है; उनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थ निम्न है; यथा- सत्यव्रत शास्त्री रचित बोधिसत्त्वचरितम्, पण्डित ओगेटि शर्मा रचित यशोधरामहाकाव्यम्, शान्तिभिक्षु शास्त्री रचित बुद्धविजयकाव्यम् तथा अशोकाभ्युदयमहाकाव्यम् आदि है।

2.2.4 चीनी एवं तिब्बती बौद्ध साहित्य

तिब्बत में भी 4,566 से अधिक भारतीय बौद्ध धर्म के अनूदित ग्रंथों का संकलन हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ मुख्यतया दो भागों में विभाजित हैं; यथा 1. ब्कह्-ग्युर जो अधिकतर कंजुर कहलाता है, इसमें 1,108 ग्रंथ हैं; 2. ब्स्तन-ग्युर जो तंजुर कहलाता है, उसमें 3,458 ग्रंथ हैं। कंजुर के और भी सात विभाग किए गए हैं - 1. विनय, 2. प्रज्ञापारमिता, 3. बुद्धवतंसक, 4. रत्नकूट, 5. सूत्र, 6. निर्वाण और 7. तंत्र। तंजुर दो भागों में विभक्त है; यथा- 1. तंत्र और 2. सूत्र।

कई बौद्ध ग्रन्थ चीनी भाषा में भी प्राप्त होते हैं। अपनी ग्रंथ-सूची में बुनयियु नानजियो ने 1,662 तक ग्रंथ गिनाए हैं, जो चार विभागों मे वर्गीकृत हैं:- 1. सूत्र-पिटक, 2. विनय-पिटक, 3.

अभिधर्म-पिटक और 4. विविध। परवर्ती काल की एक और सूची- होबोगिरिन में, ताइशो संस्करण के 55 खंडों में मुद्रित 2,184 ग्रंथों का उल्लेख है और 25 खंडों में, चीन और जापान में लिखे परिशिष्ट ग्रंथ हैं। जापान में, चीनी त्रिपिटक के तीन संपूर्ण अनुवाद मिलते हैं, जिनके साथ त्रिपिटक के ताइशो संस्करण के 21 परिशिष्ट खंड भी अनूदित जोड़ दिए गए हैं। मंचूरी भाषा में भी, इसी का अनुवाद पाया जाता है। मंगोली भाषा में तिब्बती तंजुर का अनुवाद उपलब्ध है।

2.3 ज्ञान-सम्पदा का तात्पर्य

ज्ञान-सम्पदा दो पदों से बना हुआ एक समस्त-पद है, यथा- ज्ञान एवं सम्पदा। ज्ञान को पालि भाषा में 'ञाण' कहते हैं। जिसका सामान्य अर्थ जानना, समझना, विद्या, शिक्षण इत्यादि होता है। ज्ञान का अन्य पर्यायवाची शब्द प्रज्ञा, विद्या, शिक्षा आदि है। सम्पदा से तात्पर्य विषय की प्राप्ति या सम्पन्नता होता है। तथा सम्पदा का व्यवहारिक अर्थ सम्पत्ति होता है। अतः ज्ञान सम्पदा का अर्थ हुआ विद्या एवं शिक्षा आदि की प्राप्ति या उससे सम्पन्न होना। ज्ञान को सामान्यतः दो प्रकार से विभक्त किया जा सकता है, यथा- शिक्षा एवं विद्या। जो कुछ भी सीखने योग्य है, वे सभी शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं। बुद्ध बार-बार यह कहते हुए देखे जाते हैं कि भिक्षुओं तुम्हें यह सीखनी चाहिए तथा यह नहीं सीखनी चाहिए। बौद्ध साहित्य में शिक्षा की संकल्पना मूलरूप से भगवान् बुद्ध के उपदेशों को जीवन में व्यावहारिक रूप में अपनाने से मानी जाती है। प्रायः बौद्ध साहित्य में शिक्षा के दो रूप उपलब्ध होते हैं। यथा- आध्यात्मिक शिक्षा एवं लौकिक शिक्षा। आध्यात्मिक शिक्षा से तात्पर्य उस ज्ञान से है, जिसपर चलकर परम सुख निर्वाण की प्राप्ति होती है। बौद्ध गन्थों में शील, समाधी एवं प्रज्ञा को त्रिशिक्षा के नाम से जानते हैं। इसी को विशुद्धि या निर्वाण का मार्ग भी कहते हैं। लौकिक शिक्षा का तात्पर्य समाज में नम्रता पूर्वक् करुणा एवं उदार चरित से परिपूर्ण जीवन जीना तथा अपने जीवकोपार्जन हेतु विभिन्न प्रकार के शिल्पों में दक्षता प्राप्त करना है। ये दक्षता जीवन से जुड़ी हुई प्रत्येक क्षेत्र में हो सकती है, जैसे- शिल्प, कला, चिकित्सा, व्यापार आदि।

विशिष्ट ज्ञान या उच्चतर आध्यात्मिक ज्ञान को विद्या कहते हैं। इसका अन्य नाम प्रज्ञा, धी एवं अमोह इत्यादि भी है। इसके अन्तर्गत तीन प्रकार के विद्याओं का उल्लेख पालि साहित्य में प्राप्त होता है, यथा- पूर्व जन्मों का ज्ञान, सत्त्वों के मृत्यु एवं जन्म का ज्ञान, आस्रव क्षय का ज्ञान। इस प्रकार से आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के शिक्षा का समावेश ज्ञान-सम्पदा में प्राप्त होता है।

2.4 बौद्ध दर्शन प्रस्थान का संक्षिप्त परिचय

बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के विषय में सूक्ष्म रूप से विचार करते हुए इन्हें मुख्यतया चार सम्प्रदायों में विभक्त किया गया है, यथा- वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक। इन चारों सम्प्रदायों के विषय में संक्षिप्त परिचय निचे दिया जा रहा है।

2.4.1 वैभाषिक

इस सम्प्रदाय का प्राचीन नाम 'सर्वास्तिवाद' था। यह सम्प्रदाय संसार की समस्त वस्तुओं की सत्ता को भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में स्वीकार करता है। इसी कारण इसका नाम 'सर्वास्तिवाद' पड़ा। प्रथम शताब्दी ईसवी में इसका नाम 'वैभाषिक' हो गया। वैभाषिक

नामकरण होने के पीछे मूल कारण यह है कि प्रथम शताब्दी ईसवी में कनिष्क के समय में जो चतुर्थ संगीति हुई थी, उसमें सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थ आर्य कात्यायनीपुत्र रचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' के ऊपर एक विपुलकाय प्रामाणिक टीका का निर्माण किया जो 'विभाषा' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी ग्रन्थ को सर्वाधिक मान्यता प्रदान करने के कारण द्वितीय शताब्दी के अनन्तर इस सम्प्रदाय को 'वैभाषिक' के नाम से पुकारे जाने लगा। यशोमित्र ने अभिधर्मकोश की 'स्फुटार्था' नामक व्याख्या में कहते हैं कि जो विभाषा को देखते हैं या विभाषा को मानते हैं, उन्हें वैभाषिक कहते हैं।

2.4.2 सौत्रान्त्रिक

इस सम्प्रदाय का भी प्राचीन नाम सर्वास्तिवाद है। इनका सौत्रान्त्रिक नाम पड़ने का कारण है कि यह केवल सूत्रपिटक को ही प्रमाणिक मानते हैं, अभिधर्म पिटक को नहीं। इनका कहना है कि भगवान बुद्ध के समस्त उपदेश केवल सूत्रपिटक में ही संकलित है, अभिधर्म पिटक तो आचार्यों की रचना है, अतः यह बुद्ध भाषित नहीं हो सकता है। इस प्रकार से सूत्रों को केवल प्रामाणिक मनने के कारण ये सौत्रान्त्रिक नाम से प्रसिद्ध हुए।

2.4.3 योगाचार

इस सम्प्रदाय का अन्य नाम 'विज्ञानवाद' है। इनके मतानुसार बाह्यजगत की सम्पूर्ण वस्तओं की सत्ता नहीं होती है, केवल एकमात्र विज्ञान ही सत्य है। आध्यात्मिक सिद्धान्त के कारण यह विज्ञानवाद कहलाता है और धार्मिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से इसका नाम 'योगाचार' है। ऐतिहासिक दृष्टि से योगावार की उत्पत्ति माध्यमिकों के प्रतिवाद स्वरूप में हुई। माध्यमिक लोग जगत् के समस्त पदार्थों को शून्य मानते हैं। इसी के प्रतिवाद में इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। इस सम्प्रदाय का कहना है कि जिस बुद्धि के द्वारा जगत् के पदार्थ असत्य प्रतीत हो रहे हैं, कम से कम उस बुद्धि को तो सत्य मानना ही पड़ेगा। इसीलिए यह सम्प्रदाय विज्ञान को एकमात्र सत्य मानता है। इस सम्प्रदाय की छत्र छाया में बौद्धन्याय का जन्म हुआ।

2.4.4 माध्यमिक

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मध्यम मार्ग को मानने के कारण इस सम्प्रदाय का नाम माध्यमिक पड़ा। बुद्ध ने दो अन्तों अर्थात् अत्यधिक कठोर तपस्या तथा अत्यधिक भोग विलास से दूर रहते हुए मध्यम मार्ग को अपनाया है। तत्वविवेचन की दृष्टी से भी उन्होंने जगत और आत्मा को शाश्वत एवं नाशवान न मानते हुये मध्यम मार्ग को ग्रहण किया। यह किसी भी वस्तु को परमार्थ सत्य नहीं मानते हैं। वह परमार्थ सत्य के रूप में शून्य को स्वीकार करते हैं। इसीलिए इसका दूसरा नाम शून्यवाद है।

2.5 बौद्ध साहित्य में अध्यात्म एवं दर्शन

2.5.1 चार-आर्य-सत्य

बुद्ध के शिक्षाओं का मूल आधार चार आर्यसत्य एवं प्रतीत्यसमुत्पाद है। बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात भगवान् बुद्ध ने सारनाथ में पाँच भिक्षुओं को सर्व प्रथम चार आर्य सत्य का उपदेश दिया था। जो इस प्रकार हैं- 1. दुःख, 2. दुःखसमुदय, 3. दुःखनिरोध 4. दुःखनिरोधगामिनी-प्रतिपद।

2.5.1.1 दुःख

संसार में दुःख की सत्ता सर्वविदित है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता है। साधारण जन दुःख को जीवन का अभिन्न हिस्सा मान कर चलते हैं। वे दुःख के आने पर उसे अनेक उपायों से दूर करने का प्रयत्न करते हैं और जो दुःख दूर नहीं होता है उसे नियत मान कर छोड देते हैं। जैसे- रोग के उपस्थित होने पर, चिकित्सक की खोज करते हैं, प्रिय वस्तु के वियोग पर, मन को समझाते हैं। इसी दुःख को बुद्ध ने प्रथम आर्य सत्य के रूप में उपदेशित किया है। संसार का दिन-प्रतिदिन का अनुभव स्पष्टतः बतलाया है कि सर्वत्र दुःख ही दुःख है। बौद्ध साहित्य में दुःख तीन प्रकार के होते हैं, यथा- दुःख-दुःख, संस्कार-दुःख, एवं विपरिणाम-दुःख।

2.5.1.2 दुःखसमुदय

संसार में जो भी दुःख व्याप्त है, उसका कुछ न कुछ कारण है। बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं होता है। यदि दुःख कार्य है, तब उसका कारण भी अवश्य होगा। बौद्ध दर्शन में तृष्णा को दुःख का मूल कारण बतलाया गया है। तृष्णा के तीन भेद होते हैं, यथा- कामतृष्णा, भवतृष्णा एवं विभवतृष्णा।

2.5.1.3 दुःखनिरोध

यहाँ निरोध का तात्पर्य नाश या त्याग है। तृष्णा या इच्छा का सम्पूर्ण रूप से त्याग ही दुःख निरोध है। दुःख निरोध की ही लोकप्रिय संज्ञा निर्वाण है।

2.5.1.4 दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद

यहाँ प्रतिपद् का तात्पर्य मार्ग से है। अर्थात् जिस मार्ग से दुःख के निरोध तक पहुँचा जाया जा सके उसे दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद कहते हैं। इसका अन्य नाम मध्यमा प्रतिपदा या आर्य आष्टांगिक मार्ग भी है। क्योंकि दोनों अन्तों का त्याग कर मध्यम मार्ग अपनाने के कारण इसे मध्यमा प्रतिपद कहते हैं। इस मध्यमा प्रतिपद में आठ अंग समाहित होने के कारण इसे आर्य आष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं। ये आठ अंग इस प्रकार से हैं। यथा- सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि।

2.5.3 प्रतीत्यसमुत्पाद

सम्पूर्ण बौद्धदर्शन का आधार बिन्दू प्रतीत्यसमुत्पाद है। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण वस्तु की उत्पत्ति कार्य-कारण के सिद्धान्त पर हुई है। कोई भी वस्तु स्वयम्भू नहीं है और न तो किसी नित्य कारण से उत्पन्न है। वस्तु का स्वरूप प्रवाहमान है, जिसमें एक की उत्पत्ति दूसरे वस्तु के आश्रय पर होती है। अर्थात् एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति होती है। किसी भी वस्तु की उत्पत्ति बिना करण के नहीं होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत 12 अंग समाहित है। यथा- 1. अविद्या, 2. संस्कार, 3. विज्ञान, 4. नामरूप, 5. षडायतन, 6. स्पर्श, 7. वेदना, 8. तृष्णा, 9. उपादान, 10. भव, 11. जाति, 12. जरामरण।

इस श्रृंखला में पूर्व ‘कारण’ रूप हैं तथा पर ‘कार्य’ रूप हैं। जरामरण की उत्पत्ति जाति से होति है। यदि जीव का जन्म ही न होता तो जरामरण का अवसर ही नहीं आता।

2.5.4 त्रिलक्षण

वस्तु के स्वभाव को लक्षण कहते हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार विश्व के समस्त संस्कृत धर्म तीन लक्षणों से युक्त हैं। वे तीन लक्षण इस प्रकार हैं- अनित्य, दुःख एवं अनात्म। कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। वस्तु का स्वरूप नदी के जल के सदृश प्रवाहमान है। जिसमें प्रतिक्षण उत्पत्ति एवं विनाश का क्रम लगा रहता है। इस परिवर्तनशीलता के कारण सभी प्राणी प्रतिक्षण दुःख का अनुभव करते हैं। अर्थात् सभी धर्म दुःखस्वरूप हैं। प्रत्येक वस्तु अनित्य होने के कारण वे अनात्म हैं। धर्मों के ऐसे तीन लक्षणों को त्रिलक्षण कहते हैं।

2.5.5 निर्वाण

प्रत्येक प्राणी दुःख से मुक्त होकर परम सुख को पाना चाहते हैं। इसके लिये प्रयत्न करते हुए जब वह अपने अन्दर विद्यमान तृष्णा को नष्ट कर देता है, तो उसे परम सुख निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। तृष्णा का मूल कारण राग, द्वेष एवं मोह है। इन तीनों का उपशम ही निर्वाण है।

निर्वाण आध्यात्मिक अनुभव की अन्तिम अवस्था है। बौद्ध धर्म की चरम परिणति निर्वाण में होती है। जरा-मरण का निदान ही निर्वाण है। यह भव बन्धन का सर्वथा विनाश है। इसे प्राप्त करने से ही जन्म का स्रोत बन्द हो जाता है। स्रोत के बन्द होने से संसार सर्वदा के लिए छूट जाता है। निर्वाण निर्वेद की अवस्था है। जन्म बन्धन के विनाश से ही दुःख का भी अन्त हो जाता है। शरीर धारण करने से ही दुःख का अनुभव होता है। जब संसार में आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है तो शरीर और संसार जन्य क्लेश का क्षय हो जाता है। अतः निर्वाण निर्वेद या निरोध की अवस्था है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति पुनः जन्म-मरण के जाल में नहीं फँसता। अर्थात् वह अमृत तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा है- 'भिक्षुओं! ध्यान दो, मैंने अमृत को पाया है। मैं उसका उपदेश तुम्हें करता हूँ। मैं अब अमृत की दुदुम्भि बजाऊँगा। अब अमृत के द्वार खुल गये'। इस अमृत रस का पान जिसने कर लिया उसे कुछ पाना नहीं रह जाता, प्राप्तव्य को वह पा लेता है। अतः निर्वाण अशेष-लाभ, परम-शान्ति, परम-सुख, अमृतपद और चित्त की विशुद्धि की अवस्था है।

निर्वाण दो प्रकार का होता है, यथा- 1. सोपाधिशेष निर्वाण, 2. अनुपाधिशेष निर्वाण। जब पञ्चस्कन्धों के विद्यमान रहने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है, तो उसे सोपाधिशेष निर्वाण कहा जाता है। तथा पञ्चस्कन्धों के निरुद्ध हो जाने के पश्चात् जिस निर्वाण की प्राप्ति होती है, उसे अनुपाधिशेष निवार्ण कहते हैं।

आकार भेद से निर्वाण के अन्य तीन प्रकार भी कहे गये हैं। यथा, 1. शून्यता निर्वाण, 2. अनिमित्त निर्वाण, 3. अप्रणिहित निर्वाण।

2.6 बौद्ध साहित्य में मनोविज्ञान एवं चिकित्सा

2.6.1 बौद्धमनोविज्ञान

मन के विज्ञान को मनोविज्ञान कहते हैं। अतः बौद्धमनोविज्ञान से तात्पर्य यहाँ बौद्धपरम्परा से उपलब्ध साहित्य में वर्णित मनोविज्ञान से है। मन शब्द व्यक्ति के उस अंश का परिचायक है जो मनन, चिन्तन या जानने का कार्य करता है। विज्ञान शब्द एक सुव्यवस्थित एवं सुनियमित अध्ययन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। बौद्ध साहित्य में मन का अध्ययन दो बिन्दुओं के मध्य

में हुआ है। एक बिन्दु पर क्लिष्ट मन है तथा दूसरे बिन्दु पर परिशुद्ध मन है। यह क्लिष्ट मन कैसे परिशुद्ध मन में परिवर्तित हो सकता है, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये यहाँ मन अथवा चित्त का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि बौद्धमनोविज्ञान वह विज्ञान है जो क्लिष्ट मन से लेकर परिशुद्ध मन तक की समस्त अवस्थाओं का अध्ययन उपस्थित करते हुए क्लिष्ट मन की परिशुद्ध मन में कैसे अभिव्यक्ति हो सकती है, इसका सम्यक् रूप से व्याख्या है।

मन या चित्त स्वभावतः परिशुद्ध होता है, लेकिन उसके साथ क्लेशों के जुड़ जाने से वह संक्लिष्ट या दूषित हो जाता है। यह दूषित चित्त ही समस्त प्रकार के दुःखों का कारण बनता है। चित्त के दूषित होने का मूल कारण लोभ, द्वेष एवं मोह आदि 52 प्रकार के चैतसिक है। चित्त के साथ इन चैतसिको का संयोग ही मनुष्य के मन की स्थिति को निर्धारित करते हैं। जो मन तथा शरीर के भीतर उत्पन्न होने वाली सुख एवं दुःख वेदनाओं के कारण होते हैं। अतः मन का इन क्लेशों से मुक्त होना ही बौद्धमनोविज्ञान का परम लक्ष्य है। जो शमथ एवं विपश्यना नामक ध्यान भावना से सम्भव है।

2.6.2 शमथ

सत्त्व के मन में उत्पन्न पाँच नीवरण उसे ध्यान करने में बाधा उत्पन्न करते हैं। जब सत्त्व चित्त को शुद्ध करने के लिये ध्यान भावना का अभ्यास करता है, तो ये नीवरण मन को एकाग्र होने नहीं देते हैं। व्यक्ति के अभ्यास से उसके मन में पाँच ध्यानांगों वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता का उदय होता है, जो नीवरणों को नष्टकर चित्त को एकाग्र होने में सहयोग करते हैं। अतः इन पाँच नीवरणों का नष्ट करना ही शमथ कहलाता है।

2.6.3 विपश्यना

बौद्धमनोविज्ञान में मन को ही प्रधान स्थान दिया गया है। इस मन को अपने वश में करने अथवा क्लेशों से मुक्त होने के लिए विपश्यना का मार्ग बतलाया गया है। विपश्यना शब्द दों पदों से मिल कर बना है। यथा वि+पश्यना। वि का अर्थ है विशेष रूप से, सूक्ष्मतापूर्वक, पूर्णतया एवं सकारात्म आदि। तथा पश्यना का अर्थ है देखना, जानना, परीक्षण करना, विश्लेषण करना आदि। अतः विपश्यना का शाब्दिक अर्थ है कि वस्तु को सूक्ष्मतापूर्वक अनित्य, दुःख एवं अनात्म के रूप में जानना या विश्लेषण कर परीक्षण करना। इस प्रकार से वस्तु के विभाजन और विश्लेषण से उसकी वास्तविकता समझ में आने लगती है। इसके लिए चार स्मृति प्रस्थान को बतलाया गया है। यथा- 1. कायानुपश्यना, 2. वेदनानुपश्यना, 3. चित्तानुपश्यना एवं धर्मानुपश्यना।

अपनी काया में क्षण-प्रतिक्षण हो रहे बदलाव को द्रष्टाभाव से देखना कायानुपस्सना कहलाता है। इसी तरह शरीर में प्रकट होने वाली दुःखद, सुखद एवं अदुःखद-असुखद वेदनाओं को द्रष्टाभाव से देखते रहना वेदनानुपश्यना कहलाता है। चित्त में उठने वाले तरह-तरह के विचारों को जो हर क्षण बदलते रहते हैं, उनके प्रति प्रतिक्रिया किए बगैर द्रष्टाभाव से देखते रहना चित्तानुपस्सना कहलाता है। सम्पूर्ण अस्तित्त्व में प्रकृति के नियमों के अनुसार ही सब कुछ घट रहा है, उसका कोई कर्ता नहीं है। उस पर किसी की भी सत्ता नहीं चलती है, उसमें मैं और मेरा कहने को भी कुछ नहीं है। समस्त प्रकृति बंधे-बंधाए नियमों से अपने-आप संचालित हो रही है, इस सत्य को द्रष्टाभाव से यथाभूत देखना धर्मानुपश्यना कहलाता है।

2.6.4 बौद्ध-चिकित्सा

बौद्ध साहित्य में बुद्ध का दूसरा नाम भैषज्य गुरु भी है। तिब्बत, चीन, जापान में बुद्ध की भैषज्य-गुरु के नाम से विशेष मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिनके एक हाथ में चिकित्सा का प्रतीक हर्रा रहता है। आरोग्य होना सबसे बड़ा लाभ है। आरोग्यता की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के भैषज्यों का सेवन किया जाता था। बुद्ध ने भिक्षुओं को रोग से पिड़ित होने पर पाँच प्रकार के भैषज्यों के सेवन करने की अनुमति दी थी। यथा- घी, मक्खन, तेल, मधु और खांड। भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधियाँ प्राप्त थी। इनमें से कुछ औषधियाँ का निर्माण मूलकन्द से होता था; जैसे- हल्दी, अदरक, बछ, अतीस, खस, नागरमोथा आदि। कुछ का निर्माण पत्ते से होता था; जैसे- नीम, कुटज, पटोल, नक्तमाल आदि। इसी प्रकार विभिन्न फलों जैसे विडंग, पिप्ली, मिर्च, हर्रा-बहेला-आंवला आदि से औषधियाँ बनती थी। हींग और गोंद का भी प्रयोग पेट के औषधि के लिये किया जाता था। सामुद्रिक-कालानमक, सेंधानमक, वानस्पतिक नमक आदि का प्रयोग विशेषतः चूर्ण के रूप में बने औषधियों में किया जाता था।

औषधियों के अतिरिक्त स्वेदकर्म या पसीना निकलना, सींग लगाकर खून बाहर करना, मालिश, मलहम-पट्टी आदि के द्वारा भी चिकित्सा किया जाता था। आवश्यक होने पर शैल्य चिकित्सा भी किया जाता था। जीवक कुमार भृत्य का नाम शैल्य चिकित्सक के रूप में बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

2.7 मानवीय-मूल्यों की शिक्षा

2.7.1 अहिंसा

किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना अहिंसा है। बुद्ध ने अहिंसा को इतना अत्यधिक महत्त्व दिया है कि उन्होंने अपने प्रत्येक उपदेश में इसका उल्लेख किया है। इसके विषय में दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, धम्मपद, सुत्तनिपात आदि ग्रन्थों में प्रमुख रूप से उपदेश प्राप्त होते हैं। बुद्ध कहते हैं कि संसार में जो भी प्राणी हैं, न उनके प्राण की हत्या करें, न मरवायें और न उनके मारने की आज्ञा दें। क्योकि जैसा मैं हूँ, वैसे ही ये प्राणी भी है, जैसे ये प्राणी हैं वैसे मैं हूँ। इस प्रकार सभी प्राणी को अपने समान समझकर मन, वाणी एवं शरीर से न किसी का वध करें और न कराने की अनुमति दे।

2.7.2 शील

सदाचार को शील कहते हैं। प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में शील का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसका उल्लेख वेद से लेकर बौद्ध तक के ग्रन्थों में सामान्य रूप से दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध ग्रन्थों में शील को साधना का प्रथम चरण कहते हैं। शील का अर्थ प्रकृत, स्वभाव, आदत, रीति, अभ्यास एवं आचरण आदि है। सभी प्रकार के कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्मों में शुद्धता ही सदाचार है। शील के परिपालन से सभी प्रकार के मानसिक क्लेशों से मुक्ति हो सकती है। शील को मनुस्यों का सर्वश्रेठ आभूषण कहते हैं। शील के पालन करने से अनेक गुणों की प्राप्ति होती है।

2.7.3 सहनशीलता

मानवीय गुणों के विकास में सहनशीलता का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसका अन्य नाम क्षान्ति या अधिवासना भी है। सुख एवं दुःख प्रत्येक अवस्था में एक समान व्यवहार करना ही सहनशीलता है। बौद्ध ग्रन्थों में कहा गया है कि जिस प्रकार पृथ्वी अच्छी-बुरी सभी प्रकार की वस्तुओं को वहन या सहन करती है, उसी प्रकार मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति को समान रूप से ग्रहण करना चाहिये। बोधिसत्त्व लाभ, अलाभ, यश अपयश, निंदा, प्रशंसा, सुख, दुःख सभी को समान रूप से धारण करते हुये क्षान्ति पारमिता को पूर्ण करते हैं।

2.7.4 दान

बौद्ध साहित्य में दान का महत्वपूर्ण स्थान है। दान का सामान्य अर्थ देना या त्याग होता है। इसका 10 पारमिताओं में प्रथम स्थान है। त्याग की भावना से कंजूसी एवं अहंकार की उत्पत्ति नहीं होती है। जिससे संसार के प्रत्येक वस्तुओं के प्रति मोह एवं ममता नहीं होता है। अतः वह सहर्ष अपनी वस्तुओं को दूसरों की सेवा में अर्पित कर देता है।

2.7.5 मैत्री

मैत्री का तात्पर्य स्नेह या उदारता से है, लेकिन सामान्य जन इसे मित्रता से लेते हैं। इस मैत्री भावना का प्रमुख उद्देश्य जंगम या स्थावर, छोटा या बड़ा, दृश्य या अदृश्य, पास या निकट जो भी प्राणी हैं, वे सभी सुखपूर्वक रहें। इस प्रकार की उदात्व भावना मैत्री है।

2.8 बौद्धिक स्वतन्त्रता एवं विवेकवाद

2.8.1 अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता

बुद्ध का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना मालिक स्वयं है। इस लिए उन्हें अपना निर्णय स्वयं लेना चाहिये। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उनके शिष्य और अनुयायी उनके द्वारा कहे गये उपदेशों को पूर्णतः परीक्षण करने के बाद ही स्वीकार करें। एक प्रसंग में बुद्ध कहते हैं कि "हे कालामो आओ! तुम किसी विचार को केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह अनुश्रुत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह परम्परागत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह हमारे धर्म ग्रन्थ के अनुकूल है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह तर्कसम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो न्यायसम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि आकार-प्रकार सुन्दर है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि कहने वाले का व्यक्तित्व आकर्षक है तथा हमारा पूज्य है। अपितु अपने आप सोचो, विश्लेषण करो और तब यदि निष्कर्ष तुम्हें बुद्धिसंगत तथा सब के लिए हितकर लगें, तो उसमें विश्वास करो एवं स्वीकार करो। कहा गया है कि जैसे स्वर्णकार सोने को तपा कर, काट कर, कसौटी पर कस कर परखता है, वैसे ही पंडितों को मेरा बचन परख कर ग्रहण करना चाहिए। केवल श्रद्धा एवं गौरव के कारण स्वीकार नहीं करना चाहिए।

2.8.2 समानता का अधिकार

बुद्ध ने अपने शिक्षाओं के केन्द्र में जातिगत भेदभाव समाप्त करके सामाजिक समानता की स्थापना की। बौद्ध साहित्य में यह अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है कि कोई व्यक्ति जन्म से न

ब्राह्मण होता है और न कोई शूद्र होता है, अपितु सभी कर्म से ब्राह्मण एवं कर्म से शूद्र होते हैं। उन्होंने संघ में प्रवेश के लिए सभी वर्णों को एक समान मानते हुए समान अधिकार दिये। स्त्री हो या पुरुष, निर्धन हो या धनवान, राजा हो या प्रजा सभी के प्रति समानता का व्यवहार किया।

2.8.3 प्रत्येक तत्थ का तर्क से परीक्षण

बौद्ध साहित्य में तर्क को प्रमुख स्थान दिया गया है। किसा भी वस्तु या विचार को विना तर्क की कशौटी पर कसे उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में बुद्ध अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि यदि कोई आप की निन्दा करें तो उससे दुःखी नहीं होना चाहिए अपितु उसका निरिक्षण करना चाहिए कि क्या यह दोष मेरे अन्दर विद्यमान है। यदि है तो उसे हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई आप कि प्रशंसा करें तो आनन्दित नहीं होना चाहिए, अपितु यह परिक्षण करना चाहिए कि यह गुण मेरे अन्दर विद्यमान है, जिसके कारण यह मेरी प्रशंसा कर रहे हैं। यदि है तो उसे स्वीकार कर उस गुण के वृद्धि का प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार से आत्मा के विषय में भी वह कहते है कि यह शरीर पंचस्कन्धों से बना है। ये सभी पंचस्कन्ध अनित्य एवं नाशवान है। अतः इसमें आत्मा नाम का कोई नित्य सत्ता प्राप्त नहीं होता है। अतः बौद्ध साहित्य में तर्क को विशेष स्थान प्राप्त है।

2.9 वाणिज्य एवं व्यापार

2.9.1 कृषि

बौद्ध कालिन समाज में आय के प्रमुख तीन साधन कृषि, पशुपालन एवं व्यापार थे। इनमें कृषि उद्योग आजीवका का प्रमुख साधन था। जनता का बड़ा समूह कृषि-कार्य में संलग्न था। राजा का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि उनके जनपद में जो लोग कृषि करना चारते हैं, उन्हें वह बीज दे। कृषि-कर्म उस समय किसी जाति विशेष का पेशा नहीं माना जाता था। मगध के एकनाला ब्राह्मण-ग्राम के कसि भारद्वाज ब्राह्मण को 500 हल लेकर जुताई करवाते दिखते हैं। पिप्पलि माणवक के यहाँ खेती होती थी। बुद्ध काल में भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में विभाजित थी, जिन पर अलग-अलग परिवार खेती करते थे। परन्तु कुछ भूमि पर सम्पूर्ण गाँव का अधिकार माना जाता था। खेतों का विभाजन मेड़ों या पानी की नालियों के द्वारा होता था। मगध के खेतों का यह दृश्य बुद्ध को सुवाहना लगा और इसी के प्रेरणा स्वरूप उन्होंने भिक्षुओं के चीवर बनवाने का आदेश दिया था। खेती के लिए कर्षण कर्म या कसिकम्म शब्द प्रचलित था। खेती करने वाले किसानों की संज्ञा कृषक थी। खेत को खेत्त, क्षेत्र, केदार नामों से सम्बोधित किया जाता था। कृषि कार्य में प्रमुख रूप से प्रयोग किये जाने वाले यन्त्र से जिस प्रकार से बुद्ध-काल में खेती की जाती थी, वह प्रारम्भिक और उस युग के अनुरूप होते हुए भी आजकल के लिए भी प्रासंगिक है। जोतने-बोने से लेकर अन्न को इकट्ठा करने तक की सब क्रियाएँ प्रायः आजकल के समान ही की जाती थी। महानाम शाक्य अपने छोटे भाई अनुरुद्ध को गृहस्थी की जानकारी देते हुए कहते हैं, ''पहले खेत को जोतवाना चाहिए। जोतवा कर बोवाना चाहिए। बोवा कर पानी देना चाहिए। पानी भर कर निकालना चाहिए, निकाल कर फसल को सुखाना चाहिए। सुखाकर कटवाना चाहिए। कटवा कर ऊपर लाना चाहिए। ऊपर लाकर सीधा करवाना चाहिए। सीधा कर मर्दन करवाना (मिसवाना) चाहिए। मिसवा कर पूवाल हटाना चाहिए। पूवाल हटवा कर भूसी हटानी चाहिए। भूसी हटा कर फटकवाना चाहिए। फटकवा कर जमा करना चाहिए।'''' हल और बैल तो भारतीय कृषि-कर्म के अनिवार्य अंग हैं। उस समय भी हलों में बैल

जोड़कर खेत जोते जाते थे, जैसे कि आज। सीहचम्म जातक तथा अन्य कई जातकों में इसी प्रकार से खेत जोतने के उल्लेख हैं।

बौद्धकालीन उत्पन्न होने वाली मुख्य फसल का नाम धान है। इसके अन्य नामो का वर्णन है, जैसे- सालि, वीहि, तंडुल आदि। शालि-मांस-ओदन उस समय स्वादिष्ट और बड़े लोगो द्वारा खाने योग्य भोजन माना जाता था। धान के अतिरिक्त यव (जौ) और कंगु (बाजरा) की भी खेती होती थी। दालों में चना, मूँग और उरद (मुग्ग-मास) का उत्पादन किया जाता था। तेल के लिये तिल, सरसों एवं एरण्ड आदि की खेती होती थी। मसालों में मिर्च और जीरा के साथ-साथ पान एवं सुपारी का उत्पादन होता था। इस प्रकार से अनेक खाद्य पदार्थों का उत्पादन किया जाता था।

यद्यपि सिंचाई का प्रबन्ध था, परन्तु अधिकांश किसान वर्षा पर ही निर्भर रहते थे। उस समय नदियों पर बाँध बनाकर नहरें निकालने की विधि लोगों को विदित था। तालाब, पुष्करिणिय आदि से भी सिंचाई का काम लिया जाता था।

2.9.2 व्यापार

व्यापार या वाणिज्य की एक उच्च विकसित अवस्था हमें बुद्ध काल में देखने को मिलती है। उस समय देश का प्रायः सम्पूर्ण व्यापार गृहपति लोगों के हाथ में था। ये लोग देश में व्यापार करने के साथ-साथ विदेशों से भी व्यापार करते थे। जिन वस्तुओं का वे इस देश से निर्यात करते थे, उनमें वस्त्रों का मुख्य स्थान था। काशी के रेशमी वस्त्रों का विदेशो में अत्यधिक माग था। इसी प्रकार गन्धार के कम्बलों, सिवि देश के दुशालों, दशार्ण जनपद की छुरियों और तलवारों तथा ऐसे ही अनेक वस्तुओं का व्यापारी निर्यात करते थे। साधारणतः रेशम के कपड़े, मलमल, हाथी के दाँत से वने आभूषण आदि भारत से विदेशों के लिए निर्यात किये जाते थे।

वस्त्र एवं भोजन के लिये प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं के अतिरिक्त पशु एवं पक्षियों का भी व्यापार किया जाता था। कहापण में क्रय-विक्रय किया जाता था। बैलों की एक जोड़ी की किमत चौबीस कहापण होती थी। एक गधे की कीमत प्रायः आठ कहापण थी। घोड़ों की उस समय अधिक किमत मालूम पड़ती है। अच्छी जाति के घोड़े एक हजार कहापण से लेकर छः हजार कहापण तक के आते थे।

बुद्धकालीन व्यापार कृषि एवं पशु-पालन के साथ-साथ शिल्पकारी पर प्रमुख रूप से आधारित था। शिल्पकारी का तत्कालिन समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान था। एक ओर शिल्पकारी कृषि द्वारा उत्पादित कच्चे माल पर आधारित थी, तो दूसरी ओर कृषकों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर वह तत्कालीन ग्रामीण जीवन को आत्मनिर्भर बनाने वाली थी। बुद्धकालीन व्यापार एवं उद्योग इन्हीं शिल्पकारियों पर और कृषि द्वारा उत्पादित कच्चे माल पर निर्भर थे। बौद्धग्रन्थों में 25 प्रकार के शिल्पकारों का उल्लेख है। जो इस प्रकार है- हाथी की सवारी करना, अश्व की सवारी करना, रथ को चलाना, धनुष चलाना, युद्ध में विभिन्न काम करना, दास लोग, रसोइया, नाई, स्नान कराना, हलवाई, माला बनाने वाले, कपड़े धोने वाले, कपड़े रगने वाले, बेंत एवं बाँस की वस्तुएँ बनाने वाले, मिट्टी के वर्तन वनाने वाले, हिसाब रखने वाले एवं मुनीम।

2.9.3 व्यापार के साधन

स्थलमार्ग तथा जलमार्ग व्यापार के दो प्रमुख मार्ग थे। स्थल-मार्ग द्वारा व्यापार करते समय

व्यापार की वस्तुओं को विभिन्न प्रकार की गाड़ियों तथा ऊँट, घोड़े, बैल, गधे आदि की पीठ पर लादकर ले जाते थे। माल ढोने के काम में आने वाली गाड़ियाँ शकट कहलाती थी।

जलमार्ग से व्यापार करने के लिए जहाज तथा नाव दो प्रमुख साधन थे। जहाँ वाणिज्य का विस्तार विदेशों तक था, जहाँ व्यापारी जहाजों द्वारा पहुँचते थे। समुद्रयात्रा में जाने वाले माल को बैल गाड़ियों, खच्चरों आदि पर लादकर बन्दरगाह तक लाते थे तथा समुद्रयात्रा से लौटने के पश्चात् भी उन्हीं का प्रयोग करते थे। देश के अन्दर नदी के माध्यम से व्यापार करने के लिए नाव का प्रयोग किया जाता था। कभी-कभी नदी पार उतरने के लिए नावों का पुल भी होता था, जिसे नौसंक्रम कहते हैं।

व्यापार के लिए वणिकों का समूह मिलकर यात्रा करता था। उस समय पाँच-पाँच सौ व्यापारी साथ चलते थे। इस प्रकार अपना-अपना सामान लेकर व्यापार के लिए साथ चलने वाले पथिकों के समूह को सार्थ कहते थे। सार्थ के नेता सार्थवाह कहलाता था।

2.9.4 पशु पालन

कृषि के पश्चात पशु पालन द्वितीय प्रमुख व्यवसाय था। गौ को समाज में विषेश सम्मान प्राप्त था। स्वयं बुद्ध ने गायों को माता, पिता, भाई और बन्धु बान्धवों की तरह परम मित्र बतलाया है। गौ पशु-पालन का प्रतीक है और बुद्ध-काल में हम पशु-पालन के कार्य को अत्यन्त उन्नत और व्यवस्थित अवस्था में पाते हैं। प्रत्येक गाँव में एक निश्चित भूमि पशुओं को चरने के लिए अलग से छोड़ दी जाती थी, जहाँ उस गाँव के पशु चरा करते थे। गाय के सदृश्य ही बकरियों और भेड़ों का पालन होता था। उनके ऊन को इकट्ठा किया जाता था। जिससे ऊन सम्बन्धी गृह-शिल्प एवं कम्बल आदि बनते थे।

2.10 संघटित शिक्षा प्रणाली

2.10.1 बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा

बौद्ध शिक्षण पद्धति की परंपरा विहारों की है। प्रारम्भ में यहाँ भिक्षुओं के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रारम्भ की गई थी। बिहारों में भिक्षु संन्यास का जीवन व्यतीत करते थे। जब कोई व्यक्ति घर को छोड़कर प्रव्रज्जा धारण करता था तो उसे प्रारम्भ में शिक्षा ग्रहण करने के लिये एक शिक्षक के देख-रेख में अध्ययन करना पड़ता था। इस समय को निस्सय-काल या शिक्षा ग्रहण करने का समय कहा जाता है। जो भी व्यक्ति बिहार में प्रवेश लेता पाँच वर्ष तक निस्सय में रहता था। नव दीक्षित व्यक्ति को एक आध्यात्मिक निर्देशक मिलता था, जिसे उपध्याय कहते थे और एक व्यक्तिगत पाठ पढ़ाने वाला भी होता था, जिसे आचार्य कहा जाता था। आचार्य वही हो सकता था, जो कम से कम 10 वर्ष तक भिक्षु रहा हो।

उस समय की सम्पूर्ण शिक्षण मौखिक परम्परा से श्रवण और स्मरण के द्वारा होती थी। भिक्षु को कौन-कौन सी वस्तुएं अपने साथ में रखनी चाहिए इसका उल्लेख विनय पिटक इत्यादि ग्रन्थों में है, लेकिन कहीं भी किसी हस्तलिखित ग्रन्थों या लेखन सामाग्री का उल्लेख नहीं है।

इन विहारों में प्रत्येक भिक्षु को तर्क, शास्त्रार्थ, खंडन-मंडन आदि करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी। धम्म एवं विनय के विषय में प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप सोचने, विचार करने, तर्क करने, किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने की स्वतन्त्रता थी। संघ के सामने औपचारिक रूप से अपने

मत को रखने की पद्धति के नियम बने हुए थे। परंतु संघ का अंतिम निर्णय ही मान्य होता था। संघ कोई भी निर्णय लेने से पूर्व मतदान कराता था एवं बहुमत के आधार पर अपना निर्णय लेता था। जो लोग भिन्न मत रखते थे, उन्हें अपना दल बनाने की अनुमति दी जाती थी। मठ और विहार के जीवन में इस प्रकार की सुविधाएँ विचार स्वातंत्र्य को बढ़ाने में और उसे तीक्ष्णतर बनाने में सहायक हुई।

2.10.2 स्त्री-शिक्षा

पुरुषों की तरह स्त्रीयों को भी शिक्षा ग्रहण हेतु विहारों में जाना पड़ता था। इसके लिए अलग से भिक्षुणी संघ की स्थापना किया गया था। प्रारम्भ में महिलाओं को अष्टगुरुधर्मों को स्वीकार कर लेने पर प्रव्रज्जा तथा उपसम्पदा दोनों प्राप्त हो जाती थी और वह भिक्षुणी कहलाने लगती थी। परन्तु जब भिक्षुणी बनने हेतु स्त्रियों की संख्या में वृद्धि होने लगी, तब प्रव्रज्जा एवं उपसम्पदा में भेद कर दिया गया तथा श्रामणेरी तथा शिक्षमाणा नामक नये पदों का सृजन हुआ।

श्रामणेरी- जब कोई स्त्री घर छोड़कर भिक्षुणी जीवन व्यतीत करने के लिए संघ में प्रवेश करती है, तो सर्वप्रथम मुन्डन करवा, काषाय वस्त्र धारण कर, दस शिक्षापद नियमों के पालन करने का व्रत लेती है। तथा संघ में रहते हुए उन दस शिक्षापदों का पालन करती है।

शिक्षमाणा- श्रामणेरी के रूप में शिक्षापदों का सम्यक् रूपेण पालन करने के पश्चात वह शिक्षमाणा कहलाती थी। शिक्षमाणा को कम से कम दो वर्ष तक 6 नियमो का पालन करना अनिवार्य था। ये 6 शिक्षापद निम्नवत है-

1. प्राणी हिंसा से विरत रहना।
2. चोरी करने से विरत रहना।
3. अब्रह्मचर्य से विरत रहना।
4. झुठ बोलने से विरत रहना।
5. सुरा-मद्य के सेवन विरत रहना।
6. दोपहर के पश्चात् भोजन करने से विरत रहना।

भिक्षुणी- शिक्षमाणा दो वर्ष तक 6 शिक्षापदों का पालन करते हुए यदि उसकी उम्र कम से कम 20 वर्ष पूर्ण हो जाती है तो उसे भिक्षु-संघ या भिक्षुणी-संघ द्वारा उपसम्पदा की दिक्षा दी जाती थी। उपसम्पदा प्रदान करने के पूर्व शिक्षमाणा से अन्तरायिक प्रश्न पूछे जाते थे। सही उत्तर देने पर ही उपसम्पदा दे कर भिक्षुणी पद पर प्रतिष्ठित किया जाता था।

थेरी- भिक्षुणी-संघ का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पद है। उपसम्पदा के 10 वर्ष पश्चात् भिक्षुणी, थेरी कहलाने की अधिकारी होती थी। योग्य तथा नियमों का जानकार थेरी ही उपाध्याया या उपाध्यायिनी, प्रवर्तिनी कहलाने की अधिकारी होती थी।

उपाध्याया- प्रवर्तिनी को ही उपाध्याया कहते थे। उपाध्याया के ही देख रेख में श्रामणेरी तथा शिक्षमाणा नियमों को सीखती थीं। उपसम्पदा के 12 वर्ष पश्चात भिक्षुणी ही उपाध्याया बन सकती थी तथा वही संघ की सहमति से शिक्षमाणा को उपसम्पदा प्रदान कर सकती थी।

2.10.3 शिक्षा-प्रणाली

विद्या अध्ययन का अधिकार सभी जाति के लोगों को प्राप्त था। बालक के बड़े होने पर माता-पिता उसे शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु के पास भेज देते थे। लिपि या अक्षरों की शिक्षा जहाँ दी जाती थी, उसे 'लिपिशाला' या 'लेखशाला' कहते थे। तथा इसका शिक्षा देने वाले को 'लिप्यक्षराचार्य' कहते थे। भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा देने के लिए पृथक्-पृथक् अध्यापक होते थे। अध्ययन-काल में छात्र ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते थे।

उस समय की सबसे लोकप्रिय शिक्षा-प्रणाली 'कथा-शैली' थी। इसके द्वारा गुरु रोचक एवं उपदेशपूर्ण कथाएँ सुनाकर शिष्य को सदाचार का पाठ पढ़ाते थे। अन्य विषयों के अतिरिक्त शारीरिक शिक्षा भी दी जाती थी।

2.11 सारांश

प्रिय छात्रों! इस इकाई में आपने बौद्ध साहित्य एवं उसमें निहित ज्ञान-सम्पदा के विषय में परिचय प्राप्त किया। बौद्ध साहित्य अत्यन्त विशाल है। यह साहित्य पालि, संस्कृत, सिंहली, बर्मी, चीनी, तिब्बती आदि अनेक भाषाओं में प्राप्त होती है। इसके अन्तर्गत समाहित ज्ञान राशि को मुख्यतः लौकिक एवं लोकोत्तर इन दो विभागों में विभक्त कर देख सकते हैं। लौकिक ज्ञान के अन्तर्गत उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि से है। जिनका सम्यक् अनुशीलन एवं सतत् अभ्यास से व्यक्ति स्वयं तो शिक्षित एवं समृद्ध होता ही है साथ ही साथ वह अपने समाज एवं देश को भी समृद्धशाली एवं सशक्त बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। तथा लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति से व्यक्ति सभी प्रकार से अपने छः इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, जिससे उसकी समस्त प्रकार की तृष्णा नष्ट हो जाती है और परम सुखदायक निर्वाण का साक्षात्कार कर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कारता है।

2.12 शब्दावली

1. अट्ठकथा- त्रिपिटक के ग्रन्थों की व्याख्या।
2. विनिच्छय- भली प्रकार से निश्चित करना।
3. अग्रश्रावक- श्रेष्ठतम शिष्य।
4. श्रामणेरी- संघ में प्रव्रजित हो काषाय वस्त्र धारण कर लेने वाली स्त्री को श्रामणेरी कहते हैं।
5. शिक्षमाणा- 6 नियमों का पालन करने वाली श्रामणेरी ही शिक्षमाणा कहलाती है।
6. समृद्धशाली- धन आदि से सम्पन्न।
7. लोकोत्तर- चित्त की उच्चतर भूमि की अवस्था।
8. उपसम्पदा- बौद्ध-भिक्षु को संघ द्वारा दी जाने वाली दीक्षा।
9. प्रव्रज्जा- घर त्याग कर, काषाय वस्त्र धारण कर के संघ में प्रवेश करना प्रव्रज्जा कहलाता है।
10. उपसम्पदा- प्रव्रज्जित व्यक्ति का 20 वर्ष के होने पर एक संस्कार किया जाता था, जिसे उपसम्पदा कहते हैं।
11. सुरामद्य - नशीली पदार्थ।

12. आरोग्यता- रोग से रहित अवस्था का नाम।
13. आश्रय- आधार।
14. दुदुम्भि- ढोलक (एक प्रकार का वाद्ययंत्र)
15. निस्सय-काल- प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने का समय।

2.13 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1) बौद्धमनोविज्ञान- प्रो. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
2) बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष- पी.वी. बापट, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार।
3) पालि साहित्य का इतिहास- महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।
4) महामानव बुद्ध- महापंडित राहुल सांकृत्यायन, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।
5) पालि साहित्य का इतिहास- भरतसिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
6) लोकनीति- उज्ज्वल कुमार, आदित्य प्रकाशन नई दिल्ली।
7) बौद्ध-दर्शन-मीमांसा- आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।

2.14 बोधप्रश्न

1) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

i) त्रिपिटक किसे कहते हैं?

ii) अभिधर्म पिटक किसे कहते हैं, इसके अन्तर्गत कितने ग्रन्थ संग्रहित है?

iii) पिटकेतर साहित्य के अंतर्गत आने वाले साहित्य कौन-कौन से हैं?

iv) अनुपिटक सहित्य के अन्तर्गत कितने ग्रन्थ संग्रहित है?

v) पालि व्याकरण-सम्प्रदायों के नामों का उल्लेख किजिए?

vi) वैपुल्य सूत्रों की संख्या कितनी है, उनके नामों का उल्लेख किजिए?

vii) तंजुर एवं कंजुर किस देश के ग्रन्थ है?

viii) ज्ञान को पालि भाषा में क्या कहते हैं?

ix) ज्ञान का सामान्य अर्थ क्या है?

x) बौद्ध गन्थों में त्रिशिक्षा कौन-कौन हैं?

xi) बौद्ध दर्शन प्रस्थान कितने हैं, उनके नामों का उल्लेख किजिए?

xii) वैभाषिक का प्राचीन नाम का क्या है?

xiii) किसके समय में चतुर्थ संगीति हुई थी?

xiv) 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' के लेखक कौन है?

xv) कौन सा सम्प्रदाय केवल सूत्र को बुद्ध वचन मानता है?

xvi) योगाचार का दूसरा नाम क्या है?

xvii) 'शून्यवाद' को मानने वाले सम्प्रदाय का क्या नाम है?

xix) चार आर्य सत्यों के नामों का उल्लेख किजिए?

xx) बौद्ध साहित्य में दुःख कितने प्रकार के होते हैं, उनके नामों का उल्लेख किजिए?

xxi) दुःख के उत्पत्ती का मुख्य कारण क्या है?

xxii) बौद्धमनोविज्ञान से क्या तात्पर्य है?

xxiii) शमथ किसे कहते हैं?

xxiv) स्मृतिप्रस्थान कितने हैं, उनके नामों का उल्लेख किजिए?

xxv) भैषज्य गुरु के नाम से किसे पुकारते हैं?

xxvi) बुद्ध ने आरोग्यता के लिए कितने प्रकार के भैषज्य के सेवन की अनुमति दी थी?

xxvii) किन-किन मूलकन्दों से औषधियों का निर्माण होता था?

xxviii) बौद्ध ग्रन्थों में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से क्या तात्पर्य है?

xxix) बौद्धकालिन समाज में आय के प्रमुख साधन कौन- कौन से थे?

xxx) बौद्धकालीन उत्पन्न होने वाली फसल कौन-कौन सी थी?

xxxi) बौद्धकालीन निर्यात के विषय में उल्लेख किजिए?

xxxii) बौद्धग्रन्थों में कितने प्रकार के शिल्पकारों का उल्लेख प्राप्त होता है?

xxxiii) बौद्धकालीन व्यापार के साधन क्या थे?

xxxiv) गाय का समाज में क्या स्थान प्राप्त था?

xxxv) बौद्धशिक्षा व्यवस्था के विषय में लिखिए?

xxxvi) बौद्धकालीन स्त्री-शिक्षा के विषय में वर्णन किजिए?

xxxvii) श्रामणेरी किसे कहते हैं?

xxxviii) शिक्षमाणा से क्या तात्पर्य है?

xxxix) थेरी किसे **कहते हैं**?

इकाई 3 प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं में निहित ज्ञान-परम्परा

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

1. भारत की प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
2. प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं में निहित भारतीय ज्ञान-परम्परा के तत्त्वों से परिचित हो सकेंगे।

3. भारतीय ज्ञान-परम्परा का विस्तार एवं सातत्य विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं से हुआ है यह जान सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

भारत एक ऐतिहासिक देश है जिसकी ज्ञान-परम्परा उसके विविध भाषाओं के संयुक्त योगदान का परिणाम है। भारतीय ज्ञान-परम्परा का मौलिक आधार उसकी समृद्ध भाषाओं में छिपा है, जो विभिन्न क्षेत्रों और समुदायों की भिन्नताओं को दर्शाते हैं। भारतीय ज्ञान-परम्परा में भाषाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन भाषाओं में न केवल साहित्यिक धरोहर, बल्कि वैज्ञानिक, तकनीकी, और दार्शनिक ज्ञान भी समाहित है। इस प्रकार, भारतीय ज्ञान की अधिकांश प्राचीन और समकालीन धारणाओं का अद्वितीय मिश्रण है।

भारतीय ज्ञान-परम्परा में संस्कृत, हिन्दी, तमिल, तेलुगु, मराठी, बंगाली, गुजराती, पंजाबी, ओडिया, उर्दू, और अन्य भाषाएँ शामिल हैं। इन भाषाओं के माध्यम से विभिन्न विषयों पर विस्तृत ज्ञान का संचार होता रहा है। जैसे संस्कृत भाषा भारतीय ज्ञान की मातृभाषा मानी जाती है, जो वेद, उपनिषद, पुराण, और अन्य प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह है। संस्कृत के साथ, भारतीय ज्ञान-परम्परा में प्राचीन भाषाओं का योगदान भी है, जैसे पाली, प्राकृत, और अर्धमागधी तो अन्यत्र दिशा में हिन्दी के रूप में भाषा को राष्ट्रीय भाषा का दर्ज प्राप्त है, और यह व्यावहारिक और साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हुई है। तमिल, तेलुगु, मराठी, बंगाली, गुजराती, और अन्य भाषाएँ भी भारतीय साहित्य और विज्ञान की धाराओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। भारतीय ज्ञान-परम्परा का यह विविधतापूर्ण संगम विभिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक, और भौगोलिक परिपेक्ष्यों से उत्पन्न हुआ है। इसका परिणाम है एक समृद्ध और अनुपम ज्ञान का खजाना जो भारत को एक अद्वितीय सांस्कृतिक और भौगोलिक गहनता के साथ अलग करता है, क्योंकि भारतीय सभ्यता का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, और इसके साथ ही भारतीय ज्ञान-परम्परा का आरम्भ भी है। भारतीय ज्ञान-परम्परा का इतिहास सम्पूर्ण भारत की विविधता और विविध संस्कृतियों को उजागर करता है। यहां भारतीय सभ्यता की एक महत्त्वपूर्ण चरम स्थान के रूप में भाषाओं का योगदान निश्चित रूप से प्रमुख है। भारतीय ज्ञान-परम्परा ने क्षेत्रीय भाषाओं को महत्त्वपूर्ण रूप में स्वीकार किया है, जो उनकी विशेषता, संस्कृति, और क्षेत्रीय समाज के अभिव्यक्ति का प्रमुख स्रोत हैं।

भारतीय भाषाओं का योगदान इस परम्परा के महत्त्वपूर्ण अंग हैं, जो विभिन्न स्तरों पर ज्ञान और विचार को संरक्षित करते हैं। प्राचीनकाल से ही भारतीय सभ्यता में भाषाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वेदों, उपनिषदों, पुराणों, और अन्य प्राचीन ग्रन्थों में क्षेत्रीय भाषाओं का उल्लेख मिलता है, जो उनकी महत्ता को प्रमाणित करता है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अवधि, ब्रज, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, गुजराती, मराठी, बंगाली, उड़िया, और असमीया जैसी भाषाएँ भारतीय सभ्यता के विभिन्न पहलुओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती आई हैं।

भारतीय संस्कृति और ज्ञान के इस अनूठे आयाम में, क्षेत्रीय भाषाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यहाँ इन्होंने सिर्फ संवाद भाषाओं के रूप में नहीं, बल्कि ग्रन्थों, नाटकों, कविताओं, कहानियों, और लोकगाथाओं के माध्यम से भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया गया है। इन भाषाओं के माध्यम से संस्कृति, धार्मिक तत्त्व, ज्ञान, और विचार का प्रसार किया गया है, जिसने भारतीय समाज को एकीकृत और समृद्ध बनाए रखने में मदद की है।

भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में, क्षेत्रीय भाषाओं का अपना विशेष स्थान है। उत्तर भारत में हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, बंगाली, गुजराती, और अन्य भाषाएँ प्रमुख हैं, जबकि दक्षिण भारत में तमिल, तेलुगु, कन्नड़, और मलयालम जैसी भाषाएँ प्रमुख हैं। यहाँ भाषाओं का अपना विशेष सांस्कृतिक और सामाजिक महत्त्व है, जो उनके भूमिका और अभिव्यक्ति के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण है। इन भाषाओं के माध्यम से विभिन्न साहित्यिक रचनाओं, धार्मिक ग्रन्थों, ऐतिहासिक कथाओं, और लोक कथाओं का संवर्धन हुआ है, जो भारतीय ज्ञान-परम्परा को संजीवनी देता है। यहाँ भारतीय भाषाओं की रचनात्मकता और उनकी अद्वितीय व्यावसायिक विविधता का उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो इस परम्परा को समृद्ध और अद्वितीय बनाता है।

3.2 भाषा अर्थ एवं महत्त्व

भाषा का महत्त्व समाज में व्यापक होता है, और यह संवाद, साहित्य, और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण माध्यम होती है। यह सामाजिक संज्ञानात्मक प्रणाली है जिससे व्यक्ति और समुदाय अपने भावनाओं, विचारों, और ज्ञान को साझा करते हैं। भाषा के माध्यम से हम अपने भावनाओं और विचारों को व्यक्त करते हैं, जिससे समाज में समझौता, समानता, और सहयोग का माहौल बनता है, क्योंकि भाषायी क्षमता मनुष्य का जन्मजात अधिकार है। इस क्षमता के कारण मनुष्य का स्तर अन्य प्राणियों की तुलना में उच्च स्थान प्राप्त करता है। इसमें संवाद उसकी नैसर्गिक आवश्यकता है, और वह समाज में रहकर ही भाषा सीखता है। समाज के बिना उसका अस्तित्व असम्भव है। इसलिए समाज में रहकर निरंतर प्रयत्न करके वह भाषा सीखता है। इस भाषा के माध्यम से वह अपने भाव और विचार दूसरों को संप्रेषित करता है और दूसरों के भाव और विचार ग्रहण करता है। भाषार्जन के साधना है समाज का साहचर्य और लोक व्यवहार, इसी परिप्रेक्ष्य में महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्याय में भाषा को "प्रधानप्रत्ययार्थ वचनम् अथस्यान्य प्रमाणत्वात्।", तो पंतजलि ने महाभाष्य में भाषा के शब्दार्थ ज्ञान (भाषा ज्ञान) के लिए आठ साधनों का उल्लेख किया है –

शक्तिग्रहं, व्याकरणोपमान कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च वाक्यस्य शेषाद् विवृतर्वदंति सान्निध्यतः सिद्धपदस्थ वृद्धाः।

1. व्याकरण
2. उपमान (सदृशवस्तु) के द्वारा
3. कोशग्रन्थों के द्वारा
4. आप्तवाक्य से
5. लोकः व्यवहार से
6. प्रकरण से
7. विवरण से
8. ज्ञातपद के साहचर्य से।

आचार्य दण्डी के अनुसार, भाषा संसार की सर्वोत्कृष्ट ज्योति है, जो हृदय के अंधकार को दूर करती है,यदि शब्द रूपी ज्योति संसार में न जलती तो संसार में चारों ओर अंधकार ही रहता।

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत् भुवनत्रयम् यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते। (काव्यादर्श)

भाषा मनुष्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है और यह एक अनिवार्य आवश्यकता भी है। मनुष्य भाषा के सहयोग से अपनी जीवनयात्रा सरलता से पूर्ण करता है।

'वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।"

पतंजलि ने लिखा है कि एक शब्द का सम्यक ज्ञान और प्रयोग स्वर्ग और लोक में चरम सुख का कारण होता है।

"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गलोके कामधुग भवति।"

भाषा मनुष्य समाज को जीवित रखती है। भाषा के प्रभाव बिना मनुष्य समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। भाषा समाज का निबंधन करने के साथ-साथ सम्पूर्ण मानव समाज का भी निबंधन करती है। ऋग्वेद में भाषा को राष्ट्र (राष्ट्र निर्मात्री) और संगमनी (संबद्ध करने वाली) कहा गया है-

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्।

भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में भाषा को विश्व निबंधनी कहा है-

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबंधनी।

भाषा और मनुष्य जाति अविच्छिन्न है। भाषा की धारा मनुष्य सापेक्ष है। अब तक मनुष्य- जाति जीवित रहेगी तब तक भाषा रहेगी। व्यकि समाज का अंग होने के नाते समाज में रहकर प्रयत्नपूर्वक भाषा अर्जन करता है। वह समय के प्रवाह में उसमें कुछ परिवर्तन करता है। वह परिवर्तन समाज द्वारा स्वीकृत होने से भाषा में चल पड़ता है। तांड्य महाब्राह्मण में कहा गया है-

सा (वाक्) ऊध्वौदातनोद यथाऽपांधारा सर्ततैवम्

जिस प्रकार नदी की धारा निरंतर बहती रहती है उसी प्रकार भाषा भी नित्य नूतन सरस होती हुई सदा अविछिन्न रूप से प्रवाहित होती रहती है। ऐतरेय ब्राह्मण में भाषा को समुद्र के साथ तुलना की गई है वागवै समुद्र। भाषा हृदय को प्रभावित करती है। इसलिए जातिभेद और धर्म-भेद होने पर भी भाषा के कारण लोगों में एकता बनी रहती है। भाषा को हृदय के द्वारा सरस और बुद्धि के द्वारा परिष्कृत किया जाता है। ऋग्वेद में कहा गया है-

सम्यक स्रवंति सरितो न धेना अन्तहृदा मनसा पूयमानाः

यथार्थतः भाषा का अर्थ न केवल शब्दों और वाक्यों का संग्रह है, बल्कि यह एक समाजिक, सांस्कृतिक, और धार्मिक प्रणाली को भी दर्शाती है। यह मानवीय संवाद का माध्यम होती है और समाज को संगठित रखने, सम्बन्ध बनाए रखने, और विचारों को साझा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भाषा के माध्यम से हम अपने भावनाओं, विचारों, और अनुभवों को अद्यतन करते हैं और समाज में साझा करते हैं। इसके बिना, समाज का संचार असम्भव हो जाता।

भाषा का महत्त्व सिर्फ व्यक्तिगत स्तर पर ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका समाज और सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी है। भाषा समाज में समरसता और सांस्कृतिक विविधता को बनाए

रखने में मदद करती है, जो एक समृद्ध और समावेशी समाज के लिए आवश्यक है। विभिन्न भाषाएँ और उनके विभिन्न रूपों का अध्ययन विविधता और विशेषता को समझने में मदद करता है। जिस भाषा में लोग व्यक्ति, सामाजिक, और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति करते हैं, वह उनके सोचने और समझने के तरीके को प्रभावित करती है।

3.3 भारतीय भाषाओं की परम्परा

3.3.1 वैदिक ज्ञान-परम्परा में भाषा

वैदिक ज्ञान-परम्परा में भाषा का महत्त्व अत्यन्त प्रमुख है। वैदिक ज्ञान-परम्परा में भाषा न केवल एक साधन है, बल्कि यह भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।[1] वेद, उपनिषद, और पुराणों में भाषा का प्रयोग उन्हें भारतीय समाज की सोच, धारणाएँ, और विचारधारा को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण बनाता है। वेदों में संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है, जो विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक धारणाओं को संवादित करती है। यहां भाषा का उच्चतम स्तर पर प्रयोग होता है जो वेदों के भव्यता और गम्भीरता को दर्शाता है। वेदों की भाषा में विविधता, संवेदनशीलता, और शब्दार्थ का गहरा अध्ययन किया जाता है जो भारतीय दार्शनिक और धार्मिक विचारधारा को व्यक्त करते हैं।

वेदों में भाषा का विस्तारित अध्ययन और विवेचन भारतीय संस्कृति के विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उपनिषदों में भाषा का प्रयोग विचारशीलता और दर्शन की गहराई को समझने में महत्त्वपूर्ण है। यहां भाषा का प्रयोग गहरे और अद्भुत धार्मिक, दार्शनिक, और तात्त्विक विचारों को संवादित करने के लिए होता है। उपनिषदों के ग्रन्थों में वेदांत, आत्मज्ञान, और ब्रह्म तत्त्व को समझाने के लिए भाषा का उपयोग विशेष रूप से उच्च स्तर पर होता है। इन ग्रन्थों में भाषा के माध्यम से अद्वैत वेदांत की गंभीरता, अर्थ, और उदारता को समझा जा सकता है। पुराणों में भाषा का प्रयोग ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, और धार्मिक कथाओं को समझाने में महत्त्वपूर्ण है। यहां भाषा का प्रयोग लोकतांत्रिक संस्कृति, इतिहास, और समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है। पुराणों में भाषा का प्रयोग अनुपम रचनात्मकता, रंगमञ्चन, और कथावाचन के लिए होता है। यहां भाषा के माध्यम से धार्मिक और सांस्कृतिक सिद्धान्तों को सरल और संवेदनशील ढंग से समझाया जाता है।

3.3.2 भारतीय दर्शन में भाषा

भारतीय दर्शन और भाषा का सम्बन्ध एक विशेष और गहरा विषय है जो भारतीय संस्कृति और दर्शनशास्त्र के मूलभूत अंशों को समझने में मदद करता है। भाषा भारतीय दर्शन के अभिन्न अंग है, जो भारतीय संस्कृति की गहरी प्राकृतिक प्रवाहों को प्रकट करता है। भारतीय दर्शन विविधताओं, मतभेदों, और समाज में समर्पित भाषाओं के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त करता है।

भारतीय दर्शन के अनुभव में भाषा का महत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[2] भाषा न केवल विचारों और अवधारणाओं को संवादित करने का माध्यम होती है, बल्कि इससे दार्शनिक साहित्य की प्रारूपणा और विस्तार की प्रक्रिया में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

[1] भाषा, समाज और संस्कृति, एम. के. गांधी, पेंग्विन बुक्स, 2006

[2] भाषा, समाज और संस्कृति, एम. के. गांधी, पेंग्विन बुक्स, 2006

भाषा के प्रयोग का सन्दर्भ भारतीय दर्शनों में व्यापक और विशाल है। भाषा के विविध प्रयोग दर्शनिक विचारों को स्पष्टता और महत्त्वपूर्णता के साथ प्रस्तुत करने में मदद करते हैं। वेद, उपनिषद, पुराण, गीता, रामायण, महाभारत, आदि धार्मिक ग्रन्थों में संस्कृत, पाली, प्राकृत, अवधि, अष्टाध्यायी, आदि कई भाषाओं का प्रयोग हुआ है।[3]

भाषा के विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से, विभिन्न दर्शन और सिद्धान्तों का विकास हुआ है। उदाहरण के लिए, आचार्य शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत के ग्रन्थों में संस्कृत भाषा का प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो उनके विचारों को समझने के लिए आवश्यक है। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए पाली भाषा का प्रयोग किया गया है।

भाषा का अभिव्यक्ति विभिन्न समयों और सन्दर्भों में बदलती रहती है, जिससे दर्शनिक और तात्त्विक विचारों का विकास होता है।[4] भारतीय दर्शनों में भाषा का प्रयोग उनके विचारों को संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करता है और उन्हें समझने में मदद करता है। भाषा और भारतीय दर्शनों के सम्बन्ध में गहरी और व्यापक समझ होना आवश्यक है। भाषा दर्शन के संचार और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, जो समय के साथ बदलती रहती है। भारतीय दर्शनों में भाषा का प्रयोग विचारों को स्पष्टता और अर्थपूर्णता के साथ प्रस्तुत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसलिए, भाषा के महत्त्व को समझते हुए भारतीय दर्शनों का अध्ययन करना और समझना आवश्यक है।

3.3.3 संवाद के माध्यम के रूप में भाषा

भाषा एक महत्त्वपूर्ण संवादात्मक प्रक्रिया का माध्यम है जो मानव समाज में सम्बन्ध और समानता का महत्त्वपूर्ण अंग है। संवाद के माध्यम से लोग अपने विचारों, भावनाओं, और धारणाओं को व्यक्त करते हैं और इसे समझते हैं।

भाषा के माध्यम से संवाद, समाज में सम्बन्धों को स्थापित करता है। लोग अपनी आवाज को सुनाते हैं और दूसरों की समझते हैं। इसके माध्यम से समाज में सामूहिक अनुभव, विचार विनिमय, और समानता का अनुभव होता है। विभिन्न भाषाओं के माध्यम से लोग अपने भाषा और संस्कृति के सम्पर्क में रहते हैं और अपनी अनुभूतियों को एक दूसरे के साथ साझा करते हैं।

भाषा के माध्यम से संवाद न केवल व्यक्तिगत संदेशों को पहुंचाता है, बल्कि यह विचारों और विचारों को भी साझा करता है। साहित्य, व्याख्या, और विचारों के प्रसार के माध्यम से, भाषा समाज की विविधता और भिन्नता को प्रकट करती है। भाषा के माध्यम से लोग समस्याओं को व्यक्त करते हैं, समाधान ढूंढते हैं, और समाज में परिवर्तन लाते हैं। यह एक ऐसा माध्यम है जो समाज को सकारात्मक रूप से प्रभावित करता है और समृद्धि की दिशा में अग्रसर होने में मदद करता है।

इस प्रकार, भाषा एक संवादात्मक माध्यम के रूप में सामाजिक सम्बन्धों को मजबूत बनाती है, लोगों के बीच समरसता और समानता को बढ़ाती है, और समृद्धि और सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहित करती है।

---

[3] राजा, कुलपति., भारतीय दर्शन: सिद्धांत और संवेदना. मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स 2006.

[4] त्रिपाठी, राधावल्लभ., भारतीय दर्शन और सांस्कृतिक दृष्टि. अध्ययन प्रकाशन 2008.

3.3.4 साहित्य का स्रोत

साहित्य के विभिन्न रूप जैसे कि कविताएँ, कहानियाँ, नाटक, उपन्यास, आदि भाषा के माध्यम से जीवन प्राप्त करते हैं। भाषा न सिर्फ भावनाओं को व्यक्त करने का साधन होती है, बल्कि साहित्य माध्यम से समाज में विचारों का प्रसार होता है और सामाजिक संदेशों को साझा किया जाता है।

साहित्य के माध्यम से, समाज में विभिन्न विचार, भावनाएँ, और दृष्टिकोण प्रकट होते हैं। यह विचारशीलता, संवेदनशीलता, और सहानुभूति के भाव को उत्पन्न करता है। साहित्य द्वारा लेखक अपने अनुभवों, सोच, और विचारों को व्यक्त करते हैं और इसे पढ़ने वाले अपने संवेदनात्मक और मानसिक स्तर पर संवेदनशीलता और सहयोग विकसित करते हैं।

भारतीय साहित्य में, क्षेत्रीय भाषाएँ एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। भाषा और साहित्य का स्रोत होने के सन्दर्भ में, क्षेत्रीय भाषा साहित्य का मूल अधार है। उन्हें लोकसाहित्य, भक्तिकाव्य, नृत्य, और लोकगाथाएँ आदि के रूप में देखा जा सकता है, जो भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।[5] ये साहित्यिक रूप भारतीय समाज के अभिव्यक्ति के रूप में महत्त्वपूर्ण हैं और क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से समृद्धि को प्रोत्साहित करते हैं।

इस प्रकार, क्षेत्रीय भाषाएँ साहित्य के माध्यम से समाज में विविधता को बनाए रखती हैं और भाषा के द्वारा ज्ञान, अनुभव, और संस्कृति का संवाहन करती हैं।

3.3.5 संस्कृति का प्रकटीकरण

भाषा एक संस्कृति की मुख्य पहचान होती है। संस्कृति के मूल्य, धार्मिक और सामाजिक अभिवृद्धि भाषा के माध्यम से प्रकट होते हैं। किसी समुदाय की सोच, विचारधारा, और मूल्यों का प्रतिपादन क्षेत्रीय भाषा से ही होता है।

क्षेत्रीय भाषाएँ संस्कृति के स्तर को समझने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन भाषाओं के माध्यम से समुदाय की परम्परागत ज्ञान, धार्मिक विश्वास, और सामाजिक अभिवृद्धि की कथाएँ प्रस्तुत होती हैं। यहाँ भाषा केवल शब्दों का संग्रह नहीं होती, बल्कि वह संस्कृति के संरक्षण और विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से, समुदाय की विचारधारा, साहित्य, कला, और संस्कृति की विविधता को समझा जा सकता है। यह भाषा भी उन अनुभूतियों का अभिव्यक्ति करती है जो उस समुदाय के लोगों के जीवन में महत्त्वपूर्ण हैं।[6] इस प्रकार, क्षेत्रीय भाषाएँ संस्कृति के विविधता और अद्यतन को समर्थन करती हैं, और समाज को उसकी रूचि, परम्पराएँ, और मूल्यों के प्रति संवेदनशील बनाती हैं।

3.3.6 भाषाई विविधता सूचकांक

भाषाई विविधता सूचकांक एक महत्त्वपूर्ण मापक है जो भाषाओं की विविधता को मापता है और इसका उपयोग विभिन्न क्षेत्रों में भाषाई समानता की समीक्षा करने के लिए किया जाता है। यह आँकड़े भाषाओं की संख्या, उनके आवृत्ति, और उनके प्रयोग की भिन्नता को मापता है। इस विशिष्ट मापक का प्रयोग सामाजिक, राजनीतिक, और आर्थिक प्रणालियों में भाषाई

---

[5] भाषा, समाज और संस्कृति, एम. के. गांधी, पेंग्विन बुक्स, 2006.

[6] भाषा और समाज: अध्ययन विवेकानंद, ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2006.

समानता के स्तर का मूल्यांकन करने के लिए किया जाता है।

ग्रीनबर्ग का विविधता सूचकांक (एलडीआई) एक ऐसा मापक है जो दो व्यक्तियों की मातृभाषाओं की अलगाव को मापता है। यह 0 से 1 के बीच की मान लेता है, जहां 0 का मतलब है कि सभी व्यक्ति की मातृभाषा एक जैसी है, और 1 का मतलब है कि किसी भी दो व्यक्तियों की मातृभाषा एक जैसी नहीं है। यह मापक उदाहरण के रूप में सोचने में मदद कर सकता है कि कितना भिन्नता विभिन्न व्यक्तियों के बीच भाषाओं में है। इसका अनुमान लगाया जा सकता है कि 0.8 का वैश्विक आईएलडी 1970 के बाद से विविधता के 20% नुकसान का संकेत देता है, लेकिन 1 से ऊपर का अनुपात संभव है। इसके अलावा, क्षेत्रीय सूचकांक में भी इस परिणाम का प्रकटीकरण किया गया है।

विविधता सूचकांक का मूल आधार यह है कि किसी भी भाषा की जनसंख्या को लेकर है। इसका मतलब है कि किसी समुदाय में जितनी अधिक भाषाएँ होंगी, उतनी ही ज्यादा विविधता होगी। इस प्रकार, यह सूचकांक भाषाओं की विविधता को मापने में सहायक होता है।

हालांकि, सूचकांक केवल भाषाओं की जीवंतता का पूरी तरह से लेखा-जोखा नहीं दे सकता है। यह भी ध्यान में रखता है कि भाषा और बोली के बीच का अन्तर तरल और अक्सर राजनीतिक होता है। कई विशेषज्ञों द्वारा बड़ी संख्या में भाषाओं को एक ही भाषा की बोलियाँ माना जाता है, जबकि अन्यों द्वारा अलग भाषाएँ मानी जाती हैं। सूचकांक इस बात पर विचार नहीं करता है कि भाषाएँ एक-दूसरे से कितनी भिन्न हैं, न ही यह दूसरी भाषा के उपयोग को ध्यान में रखता है; यह केवल विशिष्ट भाषाओं की कुल संख्या और उनकी सापेक्ष आवृत्ति को ही मातृभाषा मानता है।

इस प्रकार, भाषाई विविधता सूचकांक एक महत्त्वपूर्ण और समर्थक उपकरण है जो भाषाई समानता की समीक्षा करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह भाषाओं की संख्या, उनके आवृत्ति, और उपयोग की भिन्नता को मापता है और सामाजिक, राजनीतिक, और आर्थिक प्रणालियों में भाषाई समानता के स्तर का मूल्यांकन करता है।

3.4 भारत की प्रमुख क्षेत्रीय भाषाएँ और विविधता

भाषा का प्रयोग व्यक्ति करता है। इतिहास के पूरे युग के दौरान मनुष्यों के लेखन ने समकालीन समाज की संस्कृति, जीवन शैली, समाज और राजनीति को प्रतिबिंबित किया है। इस प्रक्रिया में, प्रत्येक संस्कृति ने अपनी भाषा विकसित की और एक विशाल साहित्यिक आधार तैयार किया। साहित्य का यह विशाल आधार हमें सदियों के दौरान इसकी प्रत्येक भाषा और संस्कृति के विकास की एक झलक प्रदान करता है।

भाषा अपने साहित्यिक अर्थ में भाषण के माध्यम से संचार की एक प्रणाली है, ध्वनियों का एक संग्रह जिसे लोगों का एक समूह एक ही अर्थ के लिए समझता है। एक भाषा परिवार में एक सामान्य पूर्वज से सम्बन्धित अलग-अलग भाषाएँ शामिल होती हैं जो दर्ज इतिहास से पहले मौजूद थीं। बोली स्थानीय क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा का एक रूप है। उल्लेखनीय है कि एक विशेष भाषा से कई बोलियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। यदि दो सम्बन्धित प्रकार के भाषण इतने करीब हैं कि वक्ता बातचीत कर सकते हैं और एक-दूसरे को समझ सकते हैं, तो वे एक ही भाषा की बोलियाँ हैं। यदि समझना कठिन से असम्भव है, तो वे अलग-अलग भाषाएँ हैं। भारत के विभिन्न कोनों में बोली जाने वाली भाषाएँ कई भाषा परिवारों से सम्बन्धित हैं, जिनमें से

अधिकांश इण्डो-आर्यन भाषा समूह से सम्बन्धित हैं। इस इण्डो-आर्यन समूह का जन्म इण्डो-यूरोपीय परिवार से हुआ है। हालाँकि, कुछ भाषा समूह ऐसे हैं जो भारतीय उपमहाद्वीप के मूल निवासी हैं।

3.4.1 भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण

भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण करते समय, हमें इस महाद्वीप की सांस्कृतिक और भाषाई विविधता का खास ध्यान देना चाहिए। भारतीय भाषाओं की धरोहर उनके इतिहास, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य, भौगोलिक स्थिति, लोगों के आदिकालिक अनुभवों और सामाजिक परम्पराओं का परिणाम है। यहाँ हम भारतीय भाषाओं को मुख्य उप-समूहों में विभाजित कर रहे हैं, जिनमें भारत की भाषाई विविधता का महत्त्वपूर्ण पहलू प्रकट होता है:

क) इण्डो-आर्यन समूह

ख) द्रविड़ समूह

ग) चीन-तिब्बती समूह

घ) नीग्रोइड समूह

ङ) ऑस्ट्रिक समूह

क. इण्डो-आर्यन समूह

यह भाषाओं के इण्डो-यूरोपीय परिवार का हिस्सा है, जो आर्यों के साथ भारत आए। यह भारत में सबसे बड़ा भाषा समूह है और कुल भारतीय आबादी का लगभग 74% हिस्सा है। इसमें उत्तरी और पश्चिमी भारत की सभी प्रमुख भाषाएँ शामिल हैं जैसे हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिंधी, राजस्थानी, असमिया, उड़िया, पहाड़ी, बिहारी, कश्मीरी, उर्दू और संस्कृत। इस भाषा समूह को उनकी उत्पत्ति की समय अवधि के आधार पर फिर से दो मुख्य समूहों में विभाजित किया गया है।

(i) प्राचीन भारतीय-आर्य समूह

(ii) मध्य भारतीय-आर्य समूह

i. प्राचीन भारतीय-आर्य समूह (1500-300 ईसा पूर्व)

इस समूह का विकास लगभग 1500 ईसा पूर्व हुआ और इसी समूह से संस्कृत का जन्म हुआ। संस्कृत का सबसे पहला प्रमाण वैदिक संस्कृत है जो हिन्दू धर्म की आधारशिला वेदों में पाया जाता है। यह हमारे देश की सबसे प्राचीन भाषा है और संविधान में सूचीबद्ध 22 भाषाओं में से एक है। संस्कृत व्याकरण का विकास चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में पाणिनि के साथ उनकी पुस्तक अष्टाध्यायी के साथ शुरू हुआ, जिसमें भाषा को संहिताबद्ध और मानकीकृत किया गया था। संस्कृत एकमात्र ऐसी भाषा है जो क्षेत्र और सीमाओं की बाधाओं को पार करती है। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक, भारत का कोई भी भाग ऐसा नहीं है जहाँ संस्कृत भाषा का योगदान या प्रभाव न रहा हो। संस्कृत का पवित्र रूप 300 ईसा पूर्व से 200 ईसा पूर्व के बीच विकसित हुआ। यह वैदिक संस्कृत का परिष्कृत संस्करण था। संस्कृत के प्रयोग का पहला प्रमाण वर्तमान दक्षिणी गुजरात क्षेत्र के जूनागढ़ में रुद्रदामन के शिलालेखों में पाया जा सकता है। हालाँकि यह गुप्त काल था जब कविताओं में संस्कृत के उपयोग का पता लगाया जा सकता है। यह पूरी तरह से शुद्ध साहित्य के निर्माण का काल है जो महाकाव्यों

(महाकाव्यों) और खण्डकाव्यों (अर्धकाव्यों) जैसे कार्यों में स्पष्ट है।

ii. मध्य भारतीय-आर्य भाषाएँ

ऐसा माना जाता है कि इण्डो-आर्यन भाषाओं के विकास में मध्य इण्डो-आर्यन चरण 600 ईसा पूर्व और 1000 सीई के बीच एक सहस्राब्दी से अधिक समय तक फैला रहा, और इसे अक्सर तीन प्रमुख उपविभागों में विभाजित किया जाता है। प्रारंभिक चरण का प्रतिनिधित्व अशोक के शिलालेखों (लगभग 250 ईसा पूर्व) और पाली (थेरवाद बौद्धों द्वारा प्रयुक्त) और अर्ध मागधी (जैन धर्म में प्रयुक्त) द्वारा किया जाता है। प्रारंभिक बौद्धों के व्यापक लेखन के कारण पाली मध्य इण्डो-आर्यन भाषाओं में सबसे अधिक प्रमाणित है। इनमें विहित पाठ, अभिधम्म जैसे विहित विकास और बुद्धघोष जैसी शख्सियतों से जुड़ी एक समृद्ध टिप्पणी परम्परा शामिल है। मध्य चरण का प्रतिनिधित्व विभिन्न साहित्यिक प्राकृतों, विशेष रूप से शौरसेनी भाषा और महाराष्ट्री और मगधी प्राकृतों द्वारा किया जाता है। प्राकृत शब्द अक्सर मध्य इण्डो-आर्यन भाषाओं पर भी लागू होता है। प्राकृत में शामिल हैं:

पाली: यह मगध में व्यापक रूप से बोली जाती थी। यह ईसा पूर्व 5वीं-पहली शताब्दी के दौरान लोकप्रिय था। इसका संस्कृत से गहरा सम्बन्ध है, और पाली में ग्रन्थ आम तौर पर ब्राह्मी लिपि में लिखे गए थे। बौद्ध धर्म के त्रिपिटक भी पाली में लिखे गए थे। यह थेरवाद बौद्ध धर्म की भाषा के रूप में कार्य करता है। ऐसा माना जाता है कि बुद्ध स्वयं पाली में नहीं बोलते थे बल्कि अपने उपदेश अर्ध-मागधी भाषा में देते थे।

मागधी प्राकृत या अर्ध-मागधी: यह प्राकृत का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकार है। संस्कृत और पाली के पतन के बाद इसका साहित्यिक उपयोग बढ़ा। बुद्ध और महावीर शायद अर्ध-मागधी में बोलते थे। यह कुछ महाजनपदों और मौर्य राजवंश की अदालती भाषा थी। कई जैन ग्रन्थ और अशोक के शिलालेख भी अर्ध-मागधी में लिखे गए थे। यह बाद में पूर्वी भारत की कई भाषाओं जैसे बंगाली, असमिया, उड़िया, मैथिली, भोजपुरी आदि में विकसित हुई।

शौरसेनी: मध्यकालीन भारत में नाटक लिखने के लिए इसका व्यापक रूप से उपयोग किया जाता था। इसे नाटकीय प्राकृत भी कहा जाता है। यह उत्तरी भारतीय भाषाओं की पूर्ववर्ती थी। जैन भिक्षुओं ने मुख्य रूप से प्राकृत के इस संस्करण का उपयोग करके लिखा। दिगंबर जैनियों का सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'षटखण्डगामा' शौरसेनी में लिखा गया है।

महाराष्ट्री प्राकृत: 9वीं शताब्दी ईस्वी तक बोली जाने वाली, यह मराठी और कोंकणी की पूर्ववर्ती थी। इसका प्रयोग पश्चिमी और दक्षिणी भारत में व्यापक रूप से किया जाता था। यह सातवाहन राजवंश की राजभाषा थी। इसमें कई नाटक लिखे गए जैसे राजा हल द्वारा 'गहा कोष', वाक्पति द्वारा 'गौडवाहो' (गौड़ के राजा की हत्या)। एलु: श्रीलंका की आधुनिक सिंहली भाषा का प्राचीन रूप (यह पाली के समान है)।

पैशाची: इसे 'भूत-भाषा' (मृत भाषा) भी कहा जाता है। प्राय: प्राकृत मानी जाने वाली यह एक महत्त्वहीन बोली मानी जाती है। गुणाढ्य की बृहत्कथा, एक प्राचीन महाकाव्य पैशाची में लिखी गई है। अंतिम चरण को छठी शताब्दी की अपभ्रा द्वारा दर्शाया गया है और बाद में वह प्रारंभिक आधुनिक इण्डो-आर्यन भाषाओं से पहले आई। अपभ्रंश भाषा का विकास प्राकृतों से हुआ।

ख. द्रविड़ समूह

इस समूह में मुख्य रूप से दक्षिणी भारत में बोली जाने वाली भाषाएँ शामिल हैं। द्रविड़ भाषा इण्डो-आर्यन से सदियों पहले भारत में आई थी। इसमें लगभग 25% भारतीय आबादी शामिल है। प्रोटो-द्रविड़ियन ने 21 द्रविड़ भाषाओं को जन्म दिया। उन्हें मोटे तौर पर तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है: उत्तरी समूह, मध्य समूह और द्रविड़ भाषाओं का दक्षिणी समूह, जिसमें उत्तरी समूह में तीन भाषाएँ शामिल हैं अर्थात ब्राहुई, माल्टो और कुडुख। ब्राहुई बलूचिस्तान में बोली जाती है, माल्टो बंगाल और ओडिशा में बोली जाती है, जबकि कुरुख बंगाल, ओडिशा, बिहार और मध्य प्रदेश में बोली जाती है।

केंद्रीय समूह में ग्यारह भाषाएँ शामिल हैं, गोंडी, खोंड, कुई, मांडा, पारजी, गदाबा, कोलामी, पेंगो, नाइकी, कुवी और तेलुगु। इनमें से केवल तेलुगु ही सभ्य भाषा बनी और बाकी आदिवासी भाषाएँ बनी रहीं, एवं दक्षिणी समूह में सात भाषाएँ शामिल हैं, कन्नड़, तमिल, मलयालम, तुलु, कोडागु, टोडा और कोटा। हालाँकि, द्रविड़ समूह की इन 21 भाषाओं में, तेलुगु भाषा, संख्यात्मक दृष्टि से द्रविड़ भाषाओं में सबसे बड़ी है तो तमिल द्रविड़ परिवार की सबसे पुरानी और शुद्ध भाषा मानी जाती है। कन्नडा एवं मलयालम को द्रविड़ परिवार में छोटी इकाई के रूप में सम्मिलित किया गया है

ग. चीनी-तिब्बती समूह

चीन-तिब्बती या मंगोलियाई भाषण परिवार का भारत में काफी विशाल विस्तार है और यह उप-हिमालयी इलाकों में फैला हुआ है, जिसमें उत्तरी बिहार, उत्तरी बंगाल, असम से लेकर देश की उत्तर-पूर्वी सीमा तक शामिल है। इन भाषाओं को इण्डो-आर्यन भाषाओं से भी प्राचीन माना जाता है और प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में इन्हें किरात के नाम से जाना जाता है। भारत की लगभग 0.6% आबादी इस समूह से सम्बन्धित भाषाएँ बोलती है।चीन -तिब्बती समूह को आगे दो उपसमूहों में विभाजित किया गया है:

- तिब्बत-बर्मन
- स्याम देश-चीनी

घ . तिब्बत-बर्मन

तिब्बत-बर्मी भाषा परिवार को चार मुख्य समूहों में विभाजित किया गया है। इन समूहों में तिब्बती, हिमालय, उत्तर-असम, और असम-बर्मी शामिल हैं। तिब्बती समूह में सिक्किमी, भोटिया, बाल्टी, शेरपा, लाहुली और लद्दाखी भाषाएँ हैं। हिमालय समूह में किन्नौरी और लिम्बु भाषाएँ आती हैं। उत्तर-असम समूह में गर्भपात, मिरी, आका, डफला और मिशमी भाषाएँ शामिल हैं। असम-बर्मी समूह को चार मुख्य उप-समूहों में विभाजित किया गया है: कुकी-चिन, मिकिर, बोडो और नागा। इन समूहों की विविधता, सांस्कृतिक धरोहर और भाषाई विशेषताएँ उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका का प्रतिनिधित्व करती हैं। तिब्बत-बर्मी भाषा समूह भारतीय उपमहाद्वीप के सांस्कृतिक प्रस्थान के रूप में महत्त्वपूर्ण हैं।

स्यामी-चीनी

स्यामी-चीनी भाषा समूह, जिसमें अहोम भाषा शामिल है, एक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण भाषा समूह है। अहोम भाषा को मुख्य रूप से भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में बोला जाता था, जैसे कि

असम, अरुणाचल प्रदेश, और नागालैंड। यह भाषा समूह भारतीय उपमहाद्वीप के सांस्कृतिक और भाषाई विविधता का महत्त्वपूर्ण हिस्सा था।

अहोम भाषा का अध्ययन और उसकी सांस्कृतिक महत्त्व काफी महत्त्वपूर्ण है। इसकी विशेषता उसकी प्राचीनता, भाषाई ध्वनि और व्याकरण नियमों में है। अहोम लिपि, जिसे अहोम बाराखा भी कहा जाता है, एक प्राचीन ब्राह्मी स्क्रिप्ट का उपयोग करती थी।

हालांकि, अहोम भाषा का उपयोग आजकल बहुत कम हो गया है और यह भाषा समूह अब भारतीय उपमहाद्वीप से प्रायः लुप्त हो गया है। इसके बावजूद, इस भाषा समूह की महत्त्वपूर्ण भूमिका और इतिहासी महत्त्व नहीं भूले जा सकते हैं। अहोम भाषा की उपस्थिति इस समूह के सांस्कृतिक और भाषाई धरोहर का प्रतिनिधित्व करती है, और इसे भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक अध्ययन में महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

च. नीग्रोइड समूह

नीग्रोइड समूह के भाषाएँ भारत के पूर्वी और उत्तर-पूर्वी हिस्सों में विकसित हो रही हैं और इनमें विशेष रूप से कोकबोरो, मिखूं, खासी, गारो, बोडो, सन्ताली, आदि भाषाएँ शामिल हैं। ये भाषाएँ अपनी अनूठी विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध हैं और उनका साहित्यिक धरोहर अत्यन्त मूल्यवान है। कोकबोरो, मिखूं, खासी, गारो, बोडो, और सन्ताली जैसी भाषाएँ नीग्रोइड समूह में समाहित हैं, जो उत्तर-पूर्वी भारत में पायी जाती हैं। ये भाषाएँ उनके साहित्यिक, सांस्कृतिक, और ऐतिहासिक विरासत के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। कोकबोरो भाषा, असम के कोकबोरो समुदाय की भाषा है, जो इस समुदाय की आधिकारिक भाषा है। इसका विकास और संरक्षण केंद्र सरकार और असम सरकार द्वारा संचालित कार्यक्रमों के माध्यम से हो रहा है। मिखूं भाषा, मेघालय के मिखूं लोगों की मुख्य भाषा है। यह भाषा भारतीय अनुसंधान संस्थान और अन्य संगठनों द्वारा भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अध्ययन की जा रही है। खासी भाषा, मेघालय के खासी लोगों की मुख्य भाषा है। यह भाषा उत्तर-पूर्वी भारत में व्यापक रूप से बोली जाती है और इसका समृद्ध साहित्यिक विरासत है। गारो भाषा, मेघालय के गारो लोगों की भाषा है। यह भाषा संविदा समूह और सरकार द्वारा समर्थित है और इसका विकास और संरक्षण विभिन्न सांस्कृतिक संगठनों द्वारा किया जाता है। बोडो भाषा, असम के बोडो लोगों की मुख्य भाषा है। इसका साहित्यिक धरोहर बोडो साहित्य के रूप में महत्त्वपूर्ण है और इसका अध्ययन और संरक्षण भाषा संगठनों और सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता है।सन्ताली भाषा, झारखण्ड, पश्चिम बंगाल, ओडिशा, छत्तीसगढ़, और बिहार के सन्ताल समुदाय की मुख्य भाषा है। इस भाषा का साहित्यिक धरोहर अत्यन्त समृद्ध है और इसका अध्ययन और संरक्षण संगठनों और सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता है।

इन भाषाओं की साहित्यिक और सांस्कृतिक विरासत का महत्त्व अत्यधिक है। यह भाषाएँ उनके समुदाय की भौगोलिक, सांस्कृतिक, और सामाजिक विरासत को अभिव्यक्त करती हैं और उनकी अविस्मरणीय कहानियों को संजीवनी देती हैं। इस तरह, नीग्रोइड समूह की भाषाएँ भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक विरासत का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं।

छ . ऑस्ट्रिक समूह

ऑस्ट्रिक समूह भारतीय भाषाओं का एक महत्त्वपूर्ण समूह है जो भारत के मध्य, पूर्वी, और उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में बोली जाती है। इस समूह में संथाली, मुंडारी, खासी, और निकोबारी जैसी

भाषाएँ शामिल हैं। ये भाषाएँ ऑस्ट्रो-एशियाई उप-परिवार से सम्बन्धित हैं। ऑस्ट्रिक समूह की भाषाएँ बहुत प्राचीन हैं और आर्यों के आगमन से भी पहले इस क्षेत्र में विकसित हुई थीं। प्राचीन संस्कृत साहित्य में इन्हें "निषाद" के नाम से जाना जाता था। ये भाषाएँ भारतीय सभ्यता और सांस्कृतिक विरासत का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं।

ऑस्ट्रिक समूह की सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा है संथाली। यह भारत में लगभग पाँच मिलियन से अधिक लोगों द्वारा बोली जाती है और यह आदिवासी भाषाओं में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है। संथाली भाषा और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है और यह लोगों के जीवन, साहित्य, और संस्कृति में गहरा प्रभाव डालती है। इसके अलावा, मुंडारी भी ऑस्ट्रिक समूह की एक महत्त्वपूर्ण भाषा है। लगभग दस लाख मुंडाओं द्वारा बोली जाने वाली मुंडारी भाषा भी इस समूह का हिस्सा है और इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

ऑस्ट्रिक समूह की अन्य भाषाएँ भी अपने अद्वितीय साहित्य, भाषा-व्याकरण, और सांस्कृतिक विरासत के साथ महत्त्वपूर्ण हैं। ये भाषाएँ भारतीय समाज की भिन्नताओं को दर्शाती हैं और उनकी विविधता को समृद्ध करती हैं। ऑस्ट्रिक समूह की भाषाएँ उन लोगों की पहचान में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं जो अपनी विशेषता और विविधता के लिए प्रसिद्ध हैं।

3.4.2 भारत की आधिकारिक क्षेत्रीय भाषाएँ

भारत की क्षेत्रीय भाषाएँ उसके भूगोलिक, ऐतिहासिक, और सांस्कृतिक संरचना का उज्जवल परिचय हैं। हर राज्य, हर क्षेत्र की भाषा उसकी विशेषता को दर्शाती है और उसके सांस्कृतिक विरासत को उजागर करती है। प्रत्येक क्षेत्रीय भाषा अपनी भूमिका, इतिहास, और सम्प्रदायों के साथ जुड़ी होती है। भारत के संविधान का भाग 17 (अनुच्छेद 343 से अनुच्छेद 351) भारत गणराज्य की आधिकारिक भाषा से सम्बन्धित विस्तृत प्रावधान करता है। देवनागरी लिपि में लिखी गई हिन्दी संघ की राजभाषा है।

"जब तक संसद ने अन्यथा निर्णय नहीं लिया, संविधान लागू होने के 15 साल बाद, यानी 26 जनवरी को आधिकारिक उद्देश्यों के लिए अंग्रेजी का उपयोग बंद हो जाएगा। " इसका मतलब है कि भारतीय संविधान के लागू होने के बाद से 15 वर्षों की अवधि में, हिन्दी आधिकारिक भाषा के रूप में अंग्रेजी का स्थान ले लेगी। संसद निर्णय ले सकती है कि क्या अंग्रेजी को आधिकारिक भाषा के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। इस धारा के कारण गैर-हिन्दी भाषी समुदायों द्वारा आधिकारिक भाषा को अंग्रेजी से हिन्दी में बदलने के खिलाफ पूरे देश में विरोध प्रदर्शन हुआ।विरोध के परिणामस्वरूप राजभाषा अधिनियम, 1963 लागू हुआ। यह अधिनियम देवनागरी लिपि में हिन्दी को संघ की आधिकारिक भाषा घोषित करता है। अंग्रेजी को संघ की "सहायक राजभाषा" का दर्जा दिया गया है।

भारत के संविधान ने प्रत्येक भारतीय राज्य को राज्य स्तर पर संचार के लिए अपनी आधिकारिक भाषा चुनने का भी प्रावधान किया है। संविधान की आठवीं अनुसूची में कई भाषाएँ सूचीबद्ध हैं जिनका उपयोग राज्यों द्वारा आधिकारिक उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है। प्रारम्भ में, आठवीं अनुसूची के अन्तर्गत निम्नलिखित चौदह भाषाओं का चयन किया गया था। बाद में 21वें संशोधन अधिनियम 1967 के माध्यम से सिंधी को 15वीं भाषा के रूप में जोड़ा गया। 71वें संशोधन अधिनियम, 1992 द्वारा तीन और भाषाएँ जोड़ी गई। वे कोंकणी, मणिपुरी और नेपाली हैं। 92वें संशोधन अधिनियम, 2003 ने आठवीं अनुसूची में चार और

भाषाएँ जोड़ीं। वे हैं बोडो, मैथिली, डोगरी और संथाली। इस प्रकार, वर्तमान में भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची के तहत कुल 22 भाषाएँ सूचीबद्ध हैं-

क्रम	भाषा	क्रम	भाषा
1.	असमिया	12.	बंगाली
2.	बोड़ो	13.	डोगरी
3.	गुजराती	14.	हिन्दी
4.	कन्नडत्र	15.	कश्मीरी
5.	कोंकड़ी	16.	मैथिली
6.	मलयालम	17.	मणिपुरी
7.	मराठी	18.	नेपाली
8.	उड़िया	19.	पंजाबी
9.	संस्कृत	20.	सन्थाली
10	सिन्धी	21.	तमिल
11	तेलुगू	22.	उर्दू

भारतीय भाषाओं का इतिहास एक समृद्ध और उत्कृष्ट परम्परा को उजागर करता है, जो भारतीय समाज के विविधता और ऐतिहासिक धाराओं का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी, बंगाली, तमिल, तेलुगु, मराठी, गुजराती, पंजाबी, और अन्य भाषाएँ भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी अनूठी शैली, संस्कृति और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ बोली जाती हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय भाषाएँ जिनका योगदान भारतीय ज्ञान-परम्परा में अर्वाचीन अवस्था तक उद्वेलित होता है, निम्नलिखित है -

क- हिन्दी:

हिन्दी, भारत की राजभाषा के रूप में महत्त्वपूर्ण है और यह उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाती है। हिन्दी का विकास उत्तर भारतीय राज्यों के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विकास के साथ जुड़ा हुआ है। हिन्दी भारतीय साहित्य की मुख्य धारा है और इसका योगदान भारतीय ज्ञान-परम्परा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस भाषा के माध्यम से भारतीय संस्कृति, धर्म, और दर्शन के गहन विचार व्यक्त होते हैं। हिन्दी साहित्य में कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं जो भारतीय साहित्य के मूल अधार के रूप में मानी जाती हैं। रामचरितमानस भारतीय साहित्य के महाकाव्यों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। तुलसीदास ने इसे हिन्दी भाषा में रचा था और इसमें भगवान राम की कहानी पर आधारित है। महाभारत भारतीय साहित्य का एक अद्वितीय ग्रन्थ है और इसमें महान कथाएँ, धार्मिक तत्त्व, और महानायकों की कहानियाँ हैं। इसे हिन्दी भाषा में भी अनेक रूपों में प्रकाशित किया गया है और इसका महत्त्वपूर्ण योगदान हिन्दी साहित्य के विकास में रहा है। भगवद्गीता हिन्दी भाषा में भारतीय धर्मशास्त्र की महत्त्वपूर्ण प्रमाणिक कृतियों में से एक है। इसमें भगवान श्रीकृष्ण के वाणी द्वारा अर्जुन को जीवन के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का उपदेश दिया गया है। सूरदास और जयशंकर प्रसाद जैसे लेखकों ने भी हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित किया है और उनके द्वारा लिखी गई रचनाएँ भारतीय समाज और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को उजागर करती हैं। इन रचनाकारों और उनकी कृतियों ने

हिन्दी भाषा को गौरवान्वित किया है और उसके साहित्यिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

ख- बंगाली:

बंगाली भाषा भारत के पश्चिम बंगाल राज्य में बोली जाती है और यह भारतीय साहित्य की अमूर्त धारा में गहरा प्रभाव डालती है। बंगाली साहित्य और भाषा ने भारतीय ज्ञान-परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है और इसकी ऐतिहासिक महक अद्वितीय है।

बंगाली साहित्य के एक प्रमुख नायक और साहित्यिक रत्न, रवींद्रनाथ टैगोर ने नॉबेल पुरस्कार से सम्मानित 'गीताञ्जलि' के लेखक के रूप में अपने साहित्यिक योगदान से बहुत ऊंचाइयों तक पहुंचे। उनकी रचनाएँ भारतीय साहित्य के नैतिक, धार्मिक, और सांस्कृतिक मौल्यों को प्रकट करती हैं। 'वंदे मातरम' के संगीतन के लेखक और 'अनंतमठ' के रचनात्मक योगदान से प्रसिद्ध, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सजीव रहे और उनका साहित्य राष्ट्रवादी भावनाओं को प्रोत्साहित करता है। बंगाली सिनेमा के महान निर्देशक और चलचित्रकार, सत्यजित राय ने अपनी रचनाएँ और चलचित्रों के माध्यम से समाज की समस्याओं, रूपरेखा के उत्थान, और मानवीय सम्बन्धों को उजागर किया। बंगाली साहित्य के प्रमुख कवि और लेखक, शारद चंद्र चट्टोपाध्याय ने अपनी कविताओं और कहानियों के माध्यम से समाज के विभिन्न पहलुओं को छूने का प्रयास किया। बंगाली भाषा के अद्वितीय लेखक और संगीतकार, काजी नजरुल इस्लाम ने अपनी कविताएँ, गीत, और कविताएँ के माध्यम से साहित्यिक जगत को अद्वितीयता प्रदान की। इन महान लेखकों और कवियों ने बंगाली भाषा और साहित्य को अन्तरराष्ट्रीय मंच पर ऊंचाइयों तक पहुंचाया और भारतीय ज्ञान-परम्परा में अमूल्य योगदान किया।

ग- मराठी:

मराठी भाषा भारतीय साहित्य और संस्कृति के अमूल्य धारावाहिकों में से एक है। यह भाषा महाराष्ट्र राज्य के साथ-साथ, भारतीय जनता के माध्यम से उनकी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत को भी प्रकट करती है।

ज्ञानेश्वर भारतीय साहित्य के अग्रणी लेखकों में से एक हैं। उनका महाराष्ट्रीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण योगदान है, उनकी मराठी भाषा में लिखी "ज्ञानेश्वरी" एक महान धार्मिक ग्रन्थ है। तुकाराम महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत और साहित्यकार थे। उनकी अद्वितीय मराठी कविताएँ, भजन और अध्यात्मिक संदेशों से भरी हैं। पुणेरी साहित्य भी मराठी साहित्य का अहम हिस्सा है। यह विभिन्न लेखकों और कवियों द्वारा सृजित किए गए उत्कृष्ट काव्य और नाटकों का संग्रह है।

मराठी साहित्य के उक्त लेखकों और ग्रन्थों ने न केवल महाराष्ट्र को ही बल्कि भारतीय साहित्य और धरोहर को भी विशेष रूप से समृद्ध किया है। इन कवियों और लेखकों के द्वारा रचित ग्रन्थ हमें धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारतीय जीवन और मूल्यों का सुंदर आदान-प्रदान करते हैं।

घ- तमिल:

तमिल साहित्य भारतीय साहित्य की प्रमुख धारा में से एक है, जो एक समृद्ध और प्राचीन साहित्यिक परम्परा को दर्शाता है। यह विशेष रूप से तमिलनाडु राज्य में बोली जाने वाली

भाषा तमिल के माध्यम से व्यक्त होता है। तमिल साहित्य ने विभिन्न क्षेत्रों में अपना प्रभाव दिखाया है, जैसे कि काव्य, कथा, नाटक, और धार्मिक ग्रन्थ।

संघमित्रा की कविताएँ, नाटक और लेखन कार्य उन्हें तमिल साहित्य के प्रमुख लेखकों में शामिल करते हैं। भारतियन एक प्रसिद्ध नाटककार, कवि, और लेखक थे, जिनका योगदान तमिल साहित्य में महत्त्वपूर्ण रहा है। कम्पाणार आरमुगम ने तमिल साहित्य में कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की जो उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक धरोहर को विवर्धित करते हैं।

ये लेखक और उनकी कृतियाँ तमिल साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं जो इसे भारतीय साहित्य के समृद्ध विरासत का हिस्सा बनाते हैं। उनके द्वारा लिखी गई कहानियाँ, कविताएँ, और नाटक तमिल साहित्य को एक अमूल्य संस्कृतिक धरोहर के रूप में सजग रखते हैं।

इन लेखकों और उनकी कृतियों के माध्यम से, तमिल साहित्य ने विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, और धार्मिक विषयों पर गहरा अध्ययन किया है और उसने लोगों को उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विचार करने के लिए प्रेरित किया है।

च- तेलुगु:

भारतीय साहित्य का समृद्ध और विविध इतिहास क्षेत्रीय भाषाओं के महत्त्वपूर्ण योगदान के साथ जुड़ा है। तेलुगु, एक ऐतिहासिक भाषा, भारतीय साहित्य में अपनी अनूठी धाराओं और साहित्यिक धरोहर के लिए प्रसिद्ध है। इसमें कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ और उनके लेखकों का योगदान शामिल हैं।

तेलुगु भाषा का इतिहास गहरा और समृद्ध है। इस भाषा में लिखे गए कई महान काव्य, नाटक, कविताएँ, और कथाएँ भारतीय साहित्य के महत्त्वपूर्ण हिस्से हैं। तेलुगु साहित्य के लेखकों में वेमना, जशुआ, ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता, अरविंद अधिगोपालन, रावू, रच्चपुडि, बन्नां, श्रीधर, आदि शामिल हैं।

काव्य क्षेत्र में, वेमना के 'कान्तिकारम्' और 'सुमती सोमन' एक प्रसिद्ध कविता संग्रह हैं। इन कविताओं में जीवन, प्रेम, स्त्रीत्व, और समाज के विभिन्न पहलुओं को समाहित किया गया है। जशुआ के 'प्रभावी' और 'पादाम' तेलुगु कथाओं के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

नाटक क्षेत्र में, ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता अरविंद अधिगोपालन की 'कांची परमाचार्य' और 'महापाठकलु' आदि उनके महान काव्य नाटक हैं जो समाज, धर्म, और साहित्य के प्रति उनकी दृष्टि को दर्शाते हैं।

कहानी क्षेत्र में, रावू की 'सोमनथ' और 'अवासरालु' एक प्रसिद्ध कथा संग्रह हैं, जो गहरी मानवीय और सामाजिक समस्याओं को व्यक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त, रच्चपुडि की 'चेंचुले' भी तेलुगु साहित्य के प्रमुख कादंबरीकार हैं।

इस प्रकार, तेलुगु साहित्य ने भारतीय साहित्य को अपने विविध और समृद्ध साहित्यिक उत्पादों के माध्यम से एक नई दिशा दी है।

छ- कन्नड़:

कन्नड़ भाषा भारतीय साहित्य और संस्कृति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कन्नड़ भाषा कर्नाटक राज्य की प्रमुख भाषा है और यह दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाती है।

कन्नड़ साहित्य और कला की उत्कृष्टता उसके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराओं में प्रतिबिंबित होती है।

कन्नड़ साहित्य का इतिहास विशाल और उसमें विभिन्न शैलियों और काव्य प्रकारों का विकास हुआ है। महाकवियों, नाटककारों, कवियों, और विद्वानों ने कन्नड़ साहित्य को उन्नति और गौरव में ले जाने में योगदान किया है। कन्नड़ साहित्य के प्रमुख लेखकों में वाल्मीकि, पुरंदरदास, कुवेंपु, कुवेंपु, कुमारव्यास, रंगनाथ, और कुवेंपु शामिल हैं। वाल्मीकि के 'श्रीरामायण' भारतीय साहित्य के एक प्रमुख ग्रन्थ हैं जो सनातन धर्म, नैतिकता, और धार्मिक मूल्यों को सार्थकता के साथ प्रस्तुत करते हैं।

पुरंदरदास, कुवेंपु, और कुमारव्यास कन्नड़ साहित्य में ग्रामीण जीवन, प्रेम, और धार्मिक भावनाओं को सुंदरता से प्रस्तुत करते हैं। कन्नड़ साहित्य के नाटकों का भी विशेष महत्त्व है। वेम्बुरी वादिराज, कुवेंपु, और कुमारव्यास के नाटक इस क्षेत्र में अद्वितीय रूप से प्रस्तुत हैं। कन्नड़ साहित्य के कवियों ने भारतीय साहित्य को गौरवान्वित किया है और उसे उत्कृष्टता की ऊँचाइयों तक पहुंचाया है। उनके कृतियाँ साहित्य के इतिहास में अविस्मरणीय योगदान को प्रस्तुत करती हैं।

इस प्रकार, कन्नड़ साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान भारतीय साहित्य और संस्कृति के विकास में साकार हुआ है और उसे विश्वस्तरीय मंचों पर स्थान दिया है।

जज- मलयालम:

मलयालम भाषा के मुख्यत: त्रिकोणित्र में बोली जाती है, जो केरल राज्य का अधिकृत भाषा है। मलयालम भाषा भारतीय साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ के रूप में मानी जाती है। इसका इतिहास विशेष रूप से लेखन, काव्य, नाटक, और धार्मिक कथाओं के उदाहरणों से सजीव है।

मलयालम साहित्य के कुछ महत्त्वपूर्ण लेखक जैसे वल्लथोल नारायण मेनन (16 अक्टूबर 1878 – 13 मार्च 1958) केरल राज्य से मलयालम भाषा के भारतीय कवि थे। वे मलयालम साहित्य में मानव के मानसिक भाव को काल्पनिकता का परिधान देकर सुदर रूप में प्रस्तुत करने वाले महान कवियों में से एक थे। उन्होने 1909 में बाल्मीकि रामायण का मलयालम भाषा में अनुवाद किया। वायलार रमावर्मा एक प्रमुख मलयालम गीतकार, कवि और समीक्षक थे। उनकी रचनाएँ काव्य, गीत, नाटक, और उपन्यासों में हैं। म. पी. रमाचंद्रन एक अद्वितीय कथाकार और उपन्यासकार थे, जिनकी रचनाएँ भारतीय साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उन्हें मलयालम साहित्य की एक उत्कृष्ट कवियता के रूप में जाना जाता है। उनके कविताएँ, कहानियाँ और आत्मकथाएँ उनके समय की सामाजिक, राजनीतिक, और व्यक्तिगत मुद्दों को छूती हैं।

मलयालम साहित्य के ये लेखक और उनकी रचनाएँ मलयालम भाषा और साहित्य के अद्वितीय धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो भारतीय संस्कृति और ज्ञान-परम्परा का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं।

झ- ओड़िया:

ओड़िया भारत के ओड़िशा प्रान्त में बोली जाने वाली भाषा है। यह भाषा यहाँ के राज्य सरकार की राजभाषा भी है। भाषाई परिवार के तौर पर ओड़िआ एक आर्य भाषा है और नेपाली,

बांग्ला, असमिया और मैथिली से इसका निकट सम्बन्ध है। ओड़िया, एक ऐसी भाषा है जिसने अपने संस्कृतिक और साहित्यिक विरासत के माध्यम से भारतीय साहित्य को समृद्ध किया है। ओड़िया साहित्य अपने गहन और समृद्ध साहित्यिक विरासत के लिए प्रसिद्ध है। इसमें कविताएँ, कहानियाँ, नाटक, उपन्यास, और धार्मिक ग्रन्थ शामिल हैं। "उत्कल बैरागी" के संवादक, काबिल बाहना, एक ऐतिहासिक नाटक है, जो भगवान जगन्नाथ के लिए समर्पित है। "कटक" के कवि कविराज गोविन्दप्रसाद व्यास ने अपने काव्य ग्रन्थ "रामायण" और "महाभारत" को संगठित किया, जो ओड़िया साहित्य के महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ हैं।

ओड़िया साहित्य का विकास मुख्य रूप से ओडिशा के लोकप्रिय साहित्यिक पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ है। "आशा" और "प्रगतिशिल" जैसी पत्रिकाएँ ओडिशा में साहित्यिक उत्थान को प्रोत्साहित करती हैं। इन पत्रिकाओं के माध्यम से, नए और प्रतिष्ठित लेखकों की कविताएँ, कहानियाँ, और नाटक प्रकाशित होते हैं, जो ओडिशा के साहित्यिक विकास को बढ़ावा देते हैं। ओडिशा में कई महान नाटककार हैं जिनकी रचनाएँ ओड़िया साहित्य को समृद्ध करती हैं। कविराज गोविन्दप्रसाद व्यास और सच्चिदानंद दाश ओडिशा के महान नाटककार हैं, जिनके नाटकों ने साहित्य को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। उनके नाटक "स्वर्ण संजोग" और "पुरुषोत्तम देवता" ओडिशा की साहित्यिक धारा को प्रेरित करते हैं। ओड़िया साहित्य ने भारतीय साहित्य के विभिन्न पहलुओं में अपना विशेष स्थान बनाया है और उसकी अनमोल विरासत को बढ़ावा दिया है। इसके माध्यम से, ओडिशा की साहित्यिक धारा ने भारतीय संस्कृति को उच्चतम स्थान पर पहुंचाया है।

उपरोक्त भाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है की क्षेत्रीय भाषाएँ, भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्रभाव का साक्षात्कार कराती है। ये भाषाएँ भारतीय साहित्य की अद्वितीयता और विविधता को बढ़ाती हैं और समृद्धि में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, अर्थात क्षेत्रीय भाषाएँ भारतीय सभ्यता की अमूल्य धरोहर को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये भाषाएँ भारतीय संस्कृति के विविधता को उजागर करती हैं और समृद्धि को संरक्षित रखती हैं। क्षेत्रीय भाषाएँ और क्षेत्रीय संस्कृति के मजबूत जुड़ाव का उल्लेख करने में यह उल्लेखनीय है कि भारत में विभिन्न भाषाएँ हैं, जो विभिन्न समुदायों के संगठन और अभिव्यक्ति का साक्षात्कार कराती हैं। इन संस्कृतियों ने सामाजिक संरचना, धार्मिक आदर्श, और कला के क्षेत्र में अपने विशिष्ट योगदान के माध्यम से भारतीय संस्कृति को अत्यधिक विविधता प्रदान की है।

3.5 क्षेत्रीय भाषाएँ : सौन्दर्य, विकास तथा महत्त्व

3.5.1 क्षेत्रीय भाषाओं का सौन्दर्य

क्षेत्रीय भाषाओं में लिखे गए कविताएँ, कहानियाँ, और नाटकों का सौन्दर्य और शक्ति अद्वितीय रहा है। समकालीन रचनाओं में क्षेत्रीय भाषाओं की ध्वनि, अर्थ, और भावनाओं का विवरण प्रकट होता है, जो विशेष रूप से उन समुदायों के अभिव्यक्ति में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ये भाषाएँ वास्तविकता को साधन करती हैं और साहित्यिक कृतियों को अद्वितीय बनाती हैं। क्षेत्रीय भाषाओं का साहित्य भारतीय समाज की आत्मविश्वास और सांस्कृतिक पहचान का प्रतीक है। ये साहित्यिक रचनाएँ समृद्ध, समर्थ, और समर्पित समाज के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, जो भारतीय साहित्य की अमूल्य विरासत को संजीवनी देती हैं।

क्षेत्रीय भाषाओं में लिखी गई कविताएँ विविधता और संवेदनशीलता का प्रतिबिंब होती हैं। ये कविताएँ साहित्य की अद्वितीय धारा होती हैं जो समुदाय की भावनाओं, संघर्षों, और संविधान में गूंथी जाती हैं। क्षेत्रीय भाषाओं के कविताओं में जीवन के हर पहलू, प्रेम, विरह, और आनंद का सामंजस्य बहुत उत्कृष्टता के साथ प्रस्तुत किया जाता है।

क्षेत्रीय भाषाओं में लिखी गई कहानियाँ भारतीय समाज की विभिन्न पहलुओं को उजागर करती हैं। ये कहानियाँ जीवन के विभिन्न पहलुओं, समस्याओं, और संघर्षों को समझने में मदद करती हैं और व्यक्तिगत समृद्धि और सामाजिक संवाद को प्रोत्साहित करती हैं। क्षेत्रीय भाषाओं में लिखे गए नाटक सामाजिक, धार्मिक, और राजनीतिक विवादों को उजागर करते हैं और विचारशीलता को प्रोत्साहित करते हैं। इन नाटकों में व्यक्तिगत और सामाजिक मुद्दों का संवाद और विमर्श होता है, जो समाज में सकारात्मक परिवर्तन को उत्पन्न करता है।

3.5.2 क्षेत्रीय भाषाओं का विकास

भारत, जो भूगोलिक और सांस्कृतिक विविधता का देश है, यहाँ कई क्षेत्रीय भाषाएँ बोली जाती हैं जिनमें हर एक का अपना अद्भुत साहित्यिक और सांस्कृतिक विरासत है। समय के साथ, इन क्षेत्रीय भाषाओं ने अपनी विशेषता को सांस्कृतिक स्वरूप में परिणामित किया है। इन भाषाओं का विकास उन समुदायों की विकास और समृद्धि के साथ सीधे रूप से जुड़ा होता है। क्षेत्रीय भाषाएँ साहित्यिक परम्परा के एक महत्त्वपूर्ण हिस्से के रूप में उभरती हैं। इनमें गाथाएँ, किस्से, कविताएँ, नृत्य, और संगीत समाहित होते हैं जो समृद्धि के साथ बढ़ती हैं और समाज की संस्कृति को बनाए रखती हैं। क्षेत्रीय भाषाएँ शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। बच्चों को अपनी मातृभाषा में पढ़ाई करना सांस्कृतिक और भाषाई सांगठन को बनाए रखने का सशक्त माध्यम प्रदान करता है। क्षेत्रीय भाषाएँ समाज में समर्पण और सामूहिक आत्मगाथा को बढ़ावा देती हैं। इनमें बजे जाने वाले गाने, लोककथाएँ, और रंगमंच प्रदर्शन समाज को एक सजीव और सांस्कृतिक तात्कालिकता प्रदान करते हैं।

3.5.3 वेद, उपनिषद, और पुराणों में क्षेत्रीय भाषाओं का योगदान

वेद, उपनिषद, और पुराणों में क्षेत्रीय भाषाओं का योगदान भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक धाराओं के प्रतिष्ठान में महत्त्वपूर्ण रहा है। ये ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गए हैं, लेकिन उनकी समझ, व्याख्या, और प्रचार में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग हुआ है।

वेद, उपनिषद, और पुराणों में क्षेत्रीय भाषाओं का उपयोग उनके व्याख्यान, अर्थ और ग्रहण को सरल बनाने में महत्त्वपूर्ण रहा है। इन ग्रन्थों का मूल उद्देश्य मानव जीवन के अन्तर्गत विचार और ज्ञान को प्रस्तुत करना है, और क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से इसे लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। इन ग्रन्थों के समझने और व्याख्यान में क्षेत्रीय भाषाओं का उपयोग उन्हें आम जनता तक पहुंचाने में सहायक हुआ है। वेद, उपनिषद, और पुराणों में व्यक्त किए गए आद्यात्मिक, धार्मिक, और सांस्कृतिक सिद्धान्तों को क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से साधारण लोगों तक पहुंचाया गया है।

इस प्रकार, क्षेत्रीय भाषाएँ न केवल वेद, उपनिषद, और पुराणों के गहरे सन्देशों को समझने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, बल्कि उनका प्रयोग धार्मिक और सांस्कृतिक संस्कृतियों के जीवन में गहराई और संजीवनी का कार्य भी किया है। इस तरह, क्षेत्रीय भाषाएँ भारतीय संस्कृति के आधार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, जो उसके विचार, धाराओं, और ज्ञान को

लोगों के बीच व्यापक रूप से प्रसारित करती हैं।

3.5.4 क्षेत्रीय ज्ञान के संरक्षण का माध्यम

क्षेत्रीय भाषाएँ समुदाय के विशेष ज्ञान और परम्पराओं को संरक्षित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये भाषाएँ उस स्थान के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, और वैज्ञानिक ज्ञान को आत्मसात करती हैं और उसके संस्कृति को संजीवनी देती हैं। क्षेत्रीय भाषाएँ लोक जीवन, रीति-रिवाज, परम्पराएँ, और जीवनशैली को व्यक्त करती हैं, जिससे समुदाय की विशेषता और भिन्नता को अभिव्यक्त किया जा सकता है।

क्षेत्रीय भाषाएँ समाज के विभिन्न पहलुओं को संगठित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये भाषाएँ समाज के सम्बन्ध, समृद्धि, और समानता में सहायक होती हैं। भाषा के माध्यम से, समाज की संरचना, उसकी रूचि, और उसकी पहचान स्पष्ट होती हैं। इससे समुदाय के लोग अपनी भूमिका और ज़िम्मेदारियों को समझते हैं और एक संविधानिक, सांस्कृतिक, और सामाजिक संरचना का संज्ञान करते हैं। क्षेत्रीय भाषाएँ समुदाय की भावनाओं, विचारधारा, और सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये भाषाएँ समाज के संगठन में मदद करती हैं और सामाजिक समृद्धि को बढ़ाती हैं। इसके अलावा, क्षेत्रीय भाषाएँ समुदाय की अद्वितीयता और विविधता को प्रकट करती हैं और सभ्य संघर्षो में साहस और स्थिरता प्रदर्शित करती हैं।

3.5.5 संगीत, नृत्य, और ग्रन्थों के माध्यम से ज्ञान का संचार

क्षेत्रीय भाषाएँ भारतीय संस्कृति के अनमोल धरोहर को संजीवनी देने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। संगीत, नृत्य, और ग्रन्थों के माध्यम से, ये भाषाएँ ज्ञान को संचारित करती हैं और समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को बनाए रखती हैं।

भारतीय संगीत, जो साहित्य और ध्वनि का मेल है, अनेक प्रकार के रूपों में क्षेत्रीय भाषाओं में प्रदर्शित होता है। शास्त्रीय संगीत संस्कृत में गाया जाता है, लेकिन भजन, लोक संगीत, और गाथा क्षेत्रीय भाषाओं में अधिक प्रचलित हैं। ये संगीत रूप समुदाय की धार्मिक, सांस्कृतिक, और सामाजिक धाराओं को प्रतिबिंबित करते हैं और लोगों के बीच एकता और सम्मान का वातावरण बनाते हैं। ये लेखनी द्वारा नहीं बल्कि लोक-जिह्वा का सहारा लेकर जन-मानस से निःसृत होकर आज तक जीवित रहे।

ग्रन्थों के माध्यम से भी क्षेत्रीय भाषाएँ ज्ञान को संचारित करती हैं। भारतीय साहित्य में, विभिन्न भाषाओं में लिखी गई कहानियाँ, कविताएँ, और नाटक उत्कृष्ट रचनात्मक उत्पादों के रूप में प्रकट होते हैं और समृद्ध साहित्यिक विरासत को दर्शाते हैं। ये ग्रन्थ समुदाय की धार्मिक, सांस्कृतिक, और ऐतिहासिक परम्पराओं को संज्ञान में लाते हैं और लोगों के बीच विचार विमर्श को प्रोत्साहित करते हैं। इन सभी तत्वों के माध्यम से, क्षेत्रीय भाषाएँ संस्कृति के गहराईयों में उत्तेजना और संवेदनशीलता का संचार करती हैं, और समृद्ध, समर्थ, और समर्पित समाज के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

3.5.6 क्षेत्रीय भाषाओं का साहित्य

भारतीय ज्ञान-परम्परा में क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों का योगदान साहित्यिक धाराओं को समृद्ध करने के साथ-साथ भारतीय समाज के सांस्कृतिक, सामाजिक, और मानवतावादी मूल्यों

को बढ़ावा देने में महत्त्वपूर्ण रहा है।[7] उनकी रचनाएँ आज भी हमें विचार करने और अपने समाज के विकास में योगदान देने के लिए प्रेरित करती हैं। भारतीय साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हिस्सा उन्हीं क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों और उनकी रचनाओं का है, जिन्होंने समृद्ध भाषाओं और साहित्यिक परम्पराओं को संजीवनी दी।

भारतीय ज्ञान-परम्परा में क्षेत्रीय भाषाएँ विभिन्न विषयों पर ज्ञान की बातचीत, शास्त्र, कथाएँ, और विचारों को संजोती हैं। ये भाषाएँ लोगों के बीच संवाद का माध्यम होती हैं और उन्हें उनकी आत्मीयता और सांस्कृतिक पहचान का अभिव्यक्ति करने का साधन होती हैं। भारतीय साहित्य के क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों का महत्त्व और उनकी रचनाओं का अध्ययन हमें साहित्यिक धाराओं के उद्भव, विकास, और प्रसार की महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रदान करता है। इन लेखकों ने अपनी भाषा, संस्कृति, और समाज की विशेषताओं को साहित्य के माध्यम से साझा किया।

यहाँ क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों का सम्बन्ध भारतीय साहित्य की जिज्ञासा के व्यापक धाराओं से है। चाहे वह हिन्दी, बंगाली, पंजाबी, तमिल, उड़िया, कन्नड़, या मराठी हो, क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों ने अपनी भाषा के माध्यम से समाज की आवाज़ को सुनाया।

लेखकों जैसे रवीन्द्रनाथ टैगोर, मनोहार श्याम जोशी, और श्रीकृष्णमूर्ती ने अपने लेखनी के माध्यम से समाज के मुद्दों, विचारों, और आदर्शों को दर्शाया। उनकी रचनाएँ सामाजिक जागरूकता और साहित्यिक उत्थान को प्रोत्साहित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। साथ ही, इन लेखकों ने अपने कामों में क्षेत्रीय संस्कृति, लोककथाएँ, और ऐतिहासिक घटनाओं को भी उजागर किया। उनके लेखनी की भाषा, रचनात्मकता, और विचारधारा भारतीय साहित्य को समृद्ध बनाती है। क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों का योगदान साहित्यिक धाराओं को समृद्ध करने के साथ-साथ भारतीय समाज के सांस्कृतिक, सामाजिक, और मानवतावादी मूल्यों को बढ़ावा देने में महत्त्वपूर्ण रहा है।[8] उनकी रचनाएँ आज भी हमें विचार करने और अपने समाज के विकास में योगदान देने के लिए प्रेरित करती हैं।

3.6 क्षेत्रीय भाषाओं का संरक्षण तथा उससे जुड़ी समस्याएँ

3.6.1 क्षेत्रीय भाषाओं का संरक्षण

स्थानीय भाषाओं का संरक्षण और प्रोत्साहन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह भाषाएँ एक समृद्ध भाषाई और सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा हैं, जो हमारे समाज की विविधता को दर्शाते हैं। क्षेत्रीय भाषाओं के संरक्षण का मतलब है कि हमें इन भाषाओं को संजीवनी देने और उनका उपयोग बढ़ाने के लिए उन्हें समर्थन और प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए।

क्षेत्रीय भाषाओं का संरक्षण करने के लिए, भाषाई और सांस्कृतिक संस्थाएँ काम कर रही हैं। इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य क्षेत्रीय भाषाओं की समृद्धि और उनके उत्कृष्टता को संरक्षित रखना है। ये संस्थाएँ भाषाई शिक्षा, साहित्य, कला, और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से क्षेत्रीय भाषाओं को प्रोत्साहित करती हैं।

भारत में क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न स्तरों पर पहल की जा रही

[7] भारतीय साहित्य का समृद्ध विरासत: भारतीय साहित्य का अनुवाद, विज्ञान और संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार, 2018

[8] भट्ट, सुरेश. "स्थानीय भाषाओं में साहित्यिक सृजन: एक विश्लेषण", साहित्यिक अनुसंधान, मार्च 2018

है। राज्य सरकारें और केंद्रीय सरकार भाषाई प्रोत्साहन कार्यक्रमों का संचालन कर रही हैं। उन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं के लिए शिक्षा, प्रकाशन, और सांस्कृतिक कार्यक्रमों का समर्थन किया है। इसके अलावा, क्षेत्रीय समुदायों, क्षेत्रीय संस्थानों, और गैर-सरकारी संगठनों ने भी अपने स्तर पर भाषाई और सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया है।

क्षेत्रीय भाषाओं के संरक्षण का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम भाषाई शिक्षा है। क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षा के लिए विशेष कार्यक्रमों का आयोजन किया जा रहा है, ताकि बच्चे अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त कर सकें और उसे समझ सकें। इसके अलावा, साहित्य, संगीत, नृत्य, और अन्य कलाओं के माध्यम से भी क्षेत्रीय भाषाओं को संरक्षित किया जा रहा है।

3.6.2 क्षेत्रीय भाषा की चुनौतियाँ

अर्वाचीन युग उदारवाद, का युग है, जिसमें क्षेत्रीय साहित्य, संस्कृतियाँ व भाषाएँ उपेक्षित हैं। वैश्वीकरण का युग है। आधुनिकता व उत्तर आधुनिकता जैसे सम्प्रत्यय सामने आ रहे हैं। भाषाविद् एम. गणेशन के अनुसार दुनिया की 4000 भाषाओं पर अगले 50 वर्षों में लुप्त होने का खतरा मंडरा रहा है। जिनमें से 10 प्रतिशत भाषाएँ भारत में बोली जाती हैं। दूसरे शब्दों में हमारी कुल 780 भाषाओं में से 400 भारतीय भाषाएँ विलुप्त हो सकती हैं। इसका प्रभाव भी प्रत्यक्ष रूप से हमारी भाषा व संस्कृति पर पड़ा है। उदारवाद एवं वैश्वीकरण के कारण सभी देशों की संस्कृतियाँ, विचार नजदीक आ रहे हैं। एक दूसरे देशों का प्रभाव पड़ रहा है। हमारे देश में भी आधुनिकीकरण का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। आधुनिकीकरण के कारण हम अपनी संस्कृति को भूलते जा रहे हैं और जब हम स्वयं अपनी सांस्कृतिक विरासत को छोड़ेंगे तो आगामी पीढ़ी को इसे कैसे हस्तांतरित कर पायेंगे। वर्तमान में क्षेत्रीय भाषाएँ इस चुनौती को झेल रही हैं। आज के विद्यार्थी अधिकांशतः अंग्रेजी विद्यालयों में ही प्रवेश लेते हैं जिसमें उन्हें अंग्रेजी का अधिकाधिक प्रयोग करना पड़ता है। अंग्रेजी में ही वार्तालाप भी अंग्रेजी स्कूलों की अनिवार्यता है।

वर्तमान में 25.7 प्रतिशत लोग अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करते हैं। क्षेत्रीय भाषा के कम प्रयोग व कम प्रचलन के कारण उनमें निहित सांस्कृतिक तत्वों का ज्ञान भी बालक को नहीं हो पाता इसी प्रकार अपनी संस्कृति, सभ्यता को अपनाने वाले को भी पिछड़ा माना जाता है।

इण्टरनेट व सोशल मीडिया के प्रयोग के कारण सभी विद्यार्थी वर्ग अपने साहित्य व संस्कृति में अधिक रूचि नहीं ले पाते। यहाँ तक कि वे अपनी संस्कृति के बारे में अधिक जान भी नहीं पाते। साहित्य की दुनिया में पाठकों की कमी की बात समय-समय पर उठती रही है। पाठकों की कमी का कारण सोशल मीडिया को ही माना जाता है। प्रारम्भ में टी.वी के कारण पठन व लेखन की प्रवृत्ति प्रभावित हो रही थी लेकिन अब सोशल मीडिया भी इस कड़ी में जुड़ गया है। विविध प्रकार के नये उपकरण भी साहित्य से विद्यार्थियों को दूर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। मीडिया के इन सभी प्रकारों में रोज नये साहित्य की रचना अवश्य होती है लेकिन इससे लेखन में रचनाशीलता, सृजनात्मकता व पाठकीयता का विकास युवा वर्ग में नहीं हो पाया है, जिससे सांस्कृतिक साहित्य को नुकसान उठाना पड़ रहा है।

यूनेस्को ने संकटग्रस्त समाप्त होती भाषाओं का मानचित्र प्रकाशित किया है। उसमें कहा है कि विश्व में 2464 व भारत में लगभग 197 भारतीय क्षेत्रीय भाषाएँ बोलियाँ नष्ट होने के कगार पर

हैं।[9] हाल ही में अण्डमान निकोबार द्वीप समूह में एकमात्र 'वो' कबीले के अंतिम आदिवासी की मृत्यु के पश्चात एक बोली समाप्त हो गई क्यों कि उसे बोलने वाला कोई नहीं बचा।[10] वर्तमान में आवश्यकता इस बात की है कि बालक की क्षमतानुसार सहज, रोचक व स्वाभाविक रूप से मातृभाषा में शिक्षा दी जाए जिससे बालक में ज्ञान के प्रति नीरसता उत्पन्न न हो। हाल ही में राजस्थान में स्टेट ओपन स्कूल ने राजस्थानी को भाषा व विषय दोनों के रूप में अपनाया है।

21 फरवरी 2000 से यूनेस्को ने अन्तर्राष्ट्रीय मातृभाषा दिवस मनाने का निर्णय लिया। ओबामा सरकार की कार्यकारी शाखा के लिए जारी नौकरियों के आवेदन के लिए दुनिया की 101 भाषाओं में से 20 भाषाएँ भारतीय थीं। संक्षेप में, क्षेत्रीय भाषाओं को संरक्षित रखने की चुनौतियाँ अभी भी मौजूद हैं। उन्हें सम्मान, संरक्षण, और समृद्धि के लिए नई नीतियों और क्रियावलियों की आवश्यकता है ताकि हम इस अमूल्य धरोहर को संरक्षित रख सकें।

3.7 सारांश

इस अध्याय में हमने भारतीय ज्ञान-परम्परा में क्षेत्रीय भाषा के महत्त्व को विस्तार से व्याख्या किया है। यह भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अद्वितीय आयाम को बखूबी दर्शाता है। इस अध्याय के माध्यम से हम अपनी संस्कृति के मूल्यों को समझते हैं और उन्हें संरक्षित रखने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। क्षेत्रीय भाषाओं का योगदान भारतीय ज्ञान-परम्परा में अविस्मरणीय है। ये भाषाएँ हमारे समृद्ध भाषाई धरोहर का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं जो हमें हमारी भारतीय विरासत के विविधता और समृद्धि को समझने में मदद करती हैं। इन भाषाओं को संरक्षित रखना हमारी भारतीय विरासत का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है, क्योंकि वे हमें हमारे नागरिक और सांस्कृतिक जीवन की अगाध गहराई को समझने में मदद करते हैं।

क्षेत्रीय भाषाएँ हमारे समाज की विविधता को दर्शाती हैं और हमें हमारे देश की असलीता को समझने में मदद करती हैं। भारतीय संविधान ने सभी भारतीय भाषाओं को समानता का दर्जा दिया है, और इसलिए क्षेत्रीय भाषाओं के संरक्षण और समृद्धि को बढ़ावा देने की जरूरत है।

क्षेत्रीय भाषाओं के संरक्षण का मतलब है कि हमें उन्हें समृद्ध करने, उनके उपयोग को बढ़ाने, और उन्हें संजीवनी देने के लिए उन्हें समर्थन प्रदान करना चाहिए। इसके अलावा, क्षेत्रीय भाषाओं का संरक्षण सांस्कृतिक विविधता को बढ़ावा देता है और सामाजिक समरसता को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। क्षेत्रीय भाषाओं का संरक्षण भारतीय समाज के एक महत्त्वपूर्ण पहलु को दर्शाता है जो हमें अपने क्षेत्रीय संस्कृति और परम्पराओं के प्रति संवेदनशीलता और सम्मान को बढ़ावा देता है। इससे न केवल हमारी भाषाओं की भौगोलिक और सांस्कृतिक सीमाओं का सम्मान किया जाता है, बल्कि यह हमें हमारी असली पहचान के साथ जोड़ता है और हमें हमारे रूढ़िवादी और नवाचारी तत्वों के बीच संतुलन स्थापित करने में मदद करता है।

इसलिए, क्षेत्रीय भाषाओं का संरक्षण और प्रोत्साहन करना हमारे देश की सांस्कृतिक धरोहर को समृद्ध बनाए रखने के लिए आवश्यक है। इन भाषाओं के संरक्षण में सभी समाज के सदस्यों का योगदान महत्त्वपूर्ण है, और यह हमें एक समृद्ध और समरस समाज की दिशा में आगे बढ़ने में मदद करेगा।

1. [9] www.unesco.org/languages-atlas/index.php0
2. [10] India Today Education Desk New Delhi, Aug 10, 2023 14:30 IST

3.8 पारिभाषिक शब्दावली

दिगम्बर – दिशाएँ ही जिसके वस्त्र हों। जैन सम्प्रदाय की एक शाखा। इसके अनुयायी वस्त्र धारण नहीं करते।

3.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामगी

1. श्रीवास्तव, जगदीश नारायण. (2010). भारतीय भाषाएँ: समस्याएँ और समाधान. साहित्य अकादेमी.
2. पाटिल, बाबासाहेब. (1983). भारतीय भाषाएँ: एक अध्ययन. राजकामल प्रकाशन.
3. मिश्र, ब्रज बिहारी. (1999). भारतीय भाषाएँ और भाषासंगठन. राजकमल प्रकाशन.
4. कुमार, अशोक. (2005). भारत के भाषाई संसाधन. अध्ययन प्रकाशन.
5. अग्रवाल, रामाकांत. (2008). भाषा संरक्षण: समस्याएँ और समाधान. राजकमल प्रकाशन.
6. यादव, श्यामसुन्दर. (2012). भारतीय भाषाएँ: विशेष सन्दर्भ. सारिका प्रकाशन.
7. चतुर्वेदी, भास्कर. (1996). भारतीय भाषाओं का इतिहास. साहित्य अकादेमी.
8. शुक्ल, रजनी. (2002). भारत के भाषा संसाधन: चुनौतियाँ और संभावनाएँ. प्रद्योगिकी प्रकाशन.
9. त्रिपाठी, अजय कुमार. (2015). भारतीय भाषाएँ: विकास और संरक्षण. सर्वप्रिय प्रकाशन.
10. जोशी, मनोहर लाल. (2009). भारतीय भाषा संस्कृति. राजकमल प्रकाशन.
11. सिंह, सुरेश. (2011). भारतीय भाषाओं की रूपरेखा. साहित्य संग्रह.
12. राय, विश्वनाथ. (2007). भारतीय भाषाओं का विकास. अध्ययन प्रकाशन.
13. वर्मा, अमिताभ. (2004). भारत की भाषाएँ: एक सार्वजनिक विश्लेषण. सर्वांगीण प्रकाशन.
14. राव, वेदप्रताप. (2013). भारतीय भाषाएँ: इतिहास और विकास. रामाकांत प्रकाशन.
15. भारतीय भाषाओं का विकास: सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भारत सरकार. (2006)
16. मित्तल, हरिशंकर. (2006). भारत की भाषा संस्कृति. राजप्रकाशन.
17. गुप्ता, आशुतोष. (2001). भारतीय भाषाएँ: इतिहास और विकास. सारिका प्रकाशन.
18. श्रीवास्तव, सुधाकर. (1998). भारतीय भाषाएँ: विविधता और समाधान. अध्ययन प्रकाशन.
19. गोस्वामी, रविंद्र. (2014). भारतीय भाषाएँ: संविधान और भविष्य. सर्वप्रिय प्रकाशन.
20. तिवारी, मधुसूदन. (2000). भारतीय भाषाओं की संवेदना. प्रद्योगिकी प्रकाशन.
21. वैष्णव, किशन. (2013). "प्राथमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा' विद्या भारती प्रदीपिका
22. www.unesco.org/languages-atlas/index.php.

23. www.unesco.org/languages-atlas/index.php0
24. Education press trust of india, july 24,2019.
25. Shambhu chaudhary samaj vikas.blogspot.com
26. Bhasha aur samaj,http://books.google.co.in.
27. http://www.indiatoday.in.topic/linguistic diversity

3.10 बोध प्रश्न

1. भारत की प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं का परिचय दीजिए।
2. भाषा के स्तर पर एकात्मता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करिए।
3. बांग्ला भाषा साहित्य में निहित भारतीय ज्ञान परम्परा पर प्रकाश डालें।
4. मराठी भाषा साहित्य में निहित भारतीय ज्ञान परम्परा पर प्रकाश डालें।
5. प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं में निहित ज्ञान-परम्परा के तत्वों पर प्रकाश डालिए।

खण्ड 8
पुरातात्विक साक्ष्य एवं अभिलेख

खण्ड 8 परिचय

हिन्दू अध्ययन के मूल स्रोत के रूप में इस पाठ्यक्रम के अन्तिम खण्ड में आप पुरातात्विक साक्ष्यों एवं अभिलेखीय स्रोतों से जानकारियॉ प्राप्त करेंगें । भारत में पुरातत्व, प्रतीक, अभिलेख, मुद्रा,मुहर भी ज्ञान के स्रोत हैं। इस खण्ड में आपकों इन्हीं स्रोतों पर आधारित वर्णनों से परिचित कराया गया है। प्रथम इकाई में आप भारतीय ज्ञान प्रणाली को नवीन पुरातात्विक उत्खननों में देखेंगें । इस इकाई के वर्णन में आपको साक्ष्यों द्वारा बोध प्राप्त होगा। दूसरी इकाई में प्रतीकों के अधार पर प्राप्त ज्ञान का चित्रण प्रस्तुत है। भारत में अभिलेख की ऐतिहासिक परम्परा है । तीसरी इकाई में विभिन्न प्रकार के अभिलेखों के माध्यम से विविध विद्या परम्परा का प्रस्तुतिकरण किया गया है। संस्कृत भाषा में भी अभिलेख प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त मुद्रा एवं मुहर सम्बन्धित साक्ष्यों से भी हिन्दू अध्ययन सम्बन्धी पाठ्यक्रम को समृद्ध किया गया है। अत: पुरातात्विक साक्ष्य एवं अभिलेख नामक इस खण्ड का अध्ययन कर लेने के बाद आप भारतीय पुरातात्विक उत्खननों, मिट्टी के बर्तन पर अंकित प्रतीकों , अभिलेखीय स्रोतों, की जानकारी प्राप्त करेंगें तथा इनका वर्णन करने में भी सक्षम हो पाएंगे।

इकाई 1 नवीन पुरातात्विक उत्खननों के परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

नवीन पुरातात्विक उत्खननों के परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- पुरातात्विक उत्खनन का अर्थ समझ सकेंगे।
- भारतीय संस्कृति और इतिहास का पुनरावलोकन कर सकेंगे।
- अतीत के पुनर्निर्माण में पुरातत्व के योगदान से आप अवगत हो सकेंगे।
- पुरातात्विक साक्ष्यों की परीक्षण तकनीक का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- भारतीय उपमहाद्वीप के प्रमुख नवीन पुरातात्विक स्थलों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- इकाई से सम्बद्ध पारिभाषिक पदों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

प्रिय छात्रों! इतिहास और पुरातत्व, दोनों ही अतीत के पुनर्निर्माण में अपना योगदान देने का उद्देश्य रखते हैं, हालांकि उनके उपयोगकर्ता और उपाय भिन्न होते हैं। इतिहास में लिखित दस्तावेज़ों का सहारा लिया जाता है, जबकि पुरातत्व अवशेषों का अध्ययन करता है, जो

मानव सभ्यता के इतिहास में बनाए और उपयोग किए गए थे। ये अवशेष मानव व्यवहार और अनुभव के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। इन अवशेषों में विभिन्न चीजें शामिल हैं, जैसे पत्थर के औज़ार, इमारतें, ईंटें, मिट्टी के बर्तन, धातु की वस्तुएँ, मूर्तियाँ, सिक्के, शिलालेख, आदि। ये सभी सामग्रियाँ पृथ्वी की सतह और उसके नीचे पाई जाने वाली पुरातात्विक स्रोत के रूप में प्राप्त होती हैं। सिक्कों और शिलालेखों का अध्ययन करने के लिए मुद्राशास्त्र और पुरालेखशास्त्र जैसे उपविषयों को भी शामिल किया गया है।

मानव इतिहास को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:

(i) ऐतिहासिक, और (ii) प्रागैतिहासिक काल।

ऐतिहासिक काल की शुरुआत उस समय हुई थी, जब लगभग 5000 साल पहले विभिन्न क्षेत्रों में लेखन का प्रयोग शुरू हुआ। बाद में, लेखन के विकास के साथ, इसका उपयोग तथ्य संग्रहण और साहित्यिक लेखन में किया गया। हालांकि साक्षर काल मानव इतिहास का एक छोटा हिस्सा है, जो पिछले कुछ हज़ार वर्षों की जाँच-पड़ताल करने में मदद करता है। वहीं, प्रागैतिहासिक काल की शुरुआत तीस लाख साल पहले हुई थी, जब मानव जाति की उत्पत्ति हुई थी। हालांकि पुरातत्व प्रागैतिहासिक काल तक सीमित नहीं होता, लेकिन समय-समय पर मानवों द्वारा छोड़ी गई सभी सामग्रियों का अध्ययन किया जाता है। इसलिए, पुरातत्वविदों ने प्रागैतिहासिक उपकरणों से लेकर वर्तमान में दैनिक उपयोग की वस्तुओं तक सभी का अध्ययन किया है।

प्रत्येक समाज अपने अतीत से जुड़ा होता है। पुरातत्व की उत्पत्ति का पता सुंदर पुरानी चीजों और खजानों की खोज के आकर्षण से लगाया जा सकता है। 1817 ईस्वी में डेनिश विद्वान सी. जे. थामसन ने पुरातत्व के प्रारंभिक चरण को पाषाण युग, कांस्य युग तथा लौह युग में बाँटा। उस समय के पुरातत्व में ग्रंथ-आधारित पुरातत्व और प्रागैतिहासिक पुरातत्व शामिल थे, जो ग्रंथों पर आधारित नहीं थे। आज यह कई विषयों जैसे पर्यावरण पुरातत्व, जैव-पुरातत्व, भू-पुरातत्व आदि में बँट गया है।

भारत में भी पुरातत्व की शुरुआत ऐसे ही हुई। यह प्राचीन वस्तुओं को इकट्ठा करने की कला के बाद औपनिवेशिक काल के दौरान हुआ। इसमें उत्खनन और प्रासंगिक विश्लेषण के कठोर तरीकों के बिना स्थलों और अवशेषों का अध्ययन किया गया था। शुरुआत में ग्रंथ-आधारित पुरातत्व का प्रभुत्व था। सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तरी भाग का विस्तार से सर्वेक्षण किया। कनिंघम ने चीनी तीर्थयात्रियों जैसे जुआन जंग के वृत्तांत में उल्लिखित शहरों और बस्तियों की पहचान करने की कोशिश की। 1861ईस्वी में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग (एएसआई) की स्थापना की गई। इसके पहले महानिदेशक कनिंघम थे। 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में कई क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया गया, स्मारकों का मानचित्र और संकलन तैयार किया गया। 20वीं सदी की शुरुआत में, वायसराय लॉर्ड कर्जन के प्रयासों तथा पुरातत्व में उनकी रुचि के कारण भारतीय उपमहाद्वीप में पुरातात्विक अवशेषों के सम्मान तथा प्राचीन भारतीय स्मारकों के संरक्षण हेतु 1904 ईस्वी में प्राचीन स्मारक संरक्षण अधिनियम पारित किया गया था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय भूमि पर पुरातात्विक धरोहर के महत्वपूर्ण नवीन स्थलों की खोज एक रोचक और महत्वपूर्ण क्रिया बनी है। यह खोज न केवल भारतीय इतिहास और

संस्कृति को समृद्ध करने में मदद करती है, बल्कि यह दुनिया के संबंधित प्राचीन सभ्यताओं के साथ भारत के संवाद को भी बढ़ावा देती है। इसके अंतर्गत, हम नए दृष्टिकोण और तकनीकों का उपयोग करके पुरातात्विक साक्ष्यों की पहचान, अध्ययन, और विश्लेषण के तरीकों के बारे में विचार करेंगे।

1.2 नवीन पुरातात्विक उत्खनन की प्रासंगिकता और महत्व

नवीन पुरातात्विक उत्खनन के माध्यम से हम अपने पूर्वजों के समृद्ध धरोहर को समझ सकते हैं और उसके महत्वपूर्ण जानकारी को प्राप्त कर सकते हैं। इसके अन्तर्गत नवीन पुरातात्विक उत्खनन की आवश्यकता, प्रासंगिकता और इसके महत्व को विश्लेषण किया जा सकता है।

नवीन पुरातात्विक उत्खनन की आवश्यकता:

- **नए ज्ञान की प्राप्ति**: नवीन पुरातात्विक उत्खनन से हमें अतीत के अध्ययन में नए और अद्वितीय ज्ञान की प्राप्ति होती है।
- **संशोधन की स्थापना**: नवे उत्खनन प्रोजेक्ट्स से नए संशोधन दिशानिर्देश प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनसे अतीत की समझ में नई प्रेरणा प्राप्त होती है।
- **तकनीकी उन्नति**: नवीन तकनीकों का प्रयोग करते हुए उत्खनन द्वारा हमें संशोधन की गुणवत्ता और तारीख़ों की सटीकता में वृद्धि होती है।

प्रासंगिकता:

- **सांस्कृतिक आदिकाल का अध्ययन**: नवे उत्खनन प्रोजेक्ट्स से हमें सांस्कृतिक आदिकाल की जानकारी मिलती है, जिनसे हम अपनी सांस्कृतिक विरासत को समझ सकते हैं।
- **धार्मिक और ऐतिहासिक स्थलों की पहचान**: नवे उत्खनन से हम विभिन्न धार्मिक और ऐतिहासिक स्थलों की पहचान कर सकते हैं, जिनसे हमें उनके महत्व की समझ में मदद मिलती है।
- **समाजिक संरचना की समझ**: नवीन पुरातात्विक उत्खनन से हमें प्राचीन समय की समाजिक संरचना की समझ होती है, जो आज के समाज के लिए महत्वपूर्ण है।

महत्व:

- **अतीत की समझ में मदद**: नवीन पुरातात्विक उत्खनन से हमें अतीत की गहराई में जाने का अवसर मिलता है, जिससे हम अपने अतीत को बेहतर समझ सकते हैं।
- **शैक्षिक प्रेरणा**: नवीन उत्खनन प्रोजेक्ट्स से छात्रों, शोधकर्ताओं और सामान्य लोगों को शैक्षिक प्रेरणा प्राप्त होती है, जो अपने अन्वेषण और अनुसंधान कौशलों को विकसित करना चाहते हैं।
- **भौगोलिक और सांस्कृतिक ज्ञान का विकास:** नवीन उत्खनन से हमें भौगोलिक और सांस्कृतिक ज्ञान का विकास होता है, जिससे हम अपने समाज और वातावरण की समझ में सुधार कर सकते हैं।

इस प्रकार, नवीन पुरातात्विक उत्खनन की प्रासंगिकता और महत्व विषय में विश्लेषण करके हमें यह समझने में मदद मिलती है कि नवीन पुरातात्विक उत्खनन क्यों महत्वपूर्ण है? और कैसे यह हमारे समाज और अतीत की समझ में सहायक हो सकता है।

1.3 नवीन पुरातात्विक स्थलों का संक्षिप्त सर्वेक्षण

नवीन पुरातात्विक स्थलों का सर्वेक्षण इतिहास और पुरातात्व अध्ययन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि ये स्थल नई जानकारी और साक्ष्य प्रदान करते हैं जो हमारे पूर्वजों की जीवनशैली, संस्कृति, और ऐतिहासिक घटनाओं के बारे में हमारी समझ को बढ़ाते हैं। यहां कुछ नवीन पुरातात्विक स्थलों का संक्षिप्त सर्वेक्षण है:

1. **राखीगढ़ी:** राखीगढ़ी या राखी गढ़ी उत्तरी भारतीय राज्य हरियाणा के हिसार जिले में सिंधु घाटी सभ्यता से संबंधित एक गाँव और पुरातात्विक स्थल है, जो दिल्ली से लगभग 150 किमी उत्तर पश्चिम में स्थित है। राखीगढ़ी सिन्धु घाटी सभ्यता का भारतीय क्षेत्रों में धोलावीरा के बाद दूसरा विशालतम ऐतिहासिक नगर है। इसकी प्रमुख नदी घग्घर है। इस स्थल पर आरंभिक खुदाई 1960 के दशक में हुई। उसके बाद 1990 के दशक के अंत में आगे की खुदाई हुई। हालाँकि पिछले दशक में और अधिक निरंतर खुदाई हुई है। राखीगढ़ी का उत्खनन व्यापक पैमाने पर 1997-1999 ई. के दौरान अमरेन्द्र नाथ द्वारा किया गया। भारतीय पुरातत्व विभाग ने राखीगढ़ी में खुदाई कर एक पुराने शहर का पता लगाया था और तकरीबन **5000** साल पुरानी कई वस्तुएँ बरामद की थीं। अंग्रेजों की खुदाई से माना जाता था कि सिंधु सभ्यता के नगरों की **2600** ईसा पूर्व स्थापना हुई थी। इस सोच को राखीगढ़ में पाए गए पुरावशेष से बदल कर रख दिया। अब माना जाता है कि यह सभ्यता **5500** साल नहीं बल्कि **8000** साल पुरानी थीं। वैज्ञानिकों की एक टीम के अनुसार सिंधु घाटी सभ्यता का विस्तार हरियाणा के भिर्राना और राखीगढ़ी में भी था। उन्होंने भिर्राना की एकदम नई जगह पर खुदाई शुरू की और बड़ी चीज बाहर लेकर निकले। इसमें जानवरों की हड्डियां, गायों के सिंग, बकरियों, हिरण और चिंकारे के अवशेष मिले।

राखीगढ़ी का प्राचीन स्थल,**हिसार**

राखीगढ़ी से प्राक्-हड़प्पा एवं परिपक्व हड़प्पा युग इन दोनों कालों के प्रमाण मिले हैं। यहाँ से मातृदेवी अंकित एक लघु मुद्रा प्राप्त हुई। राखीगढ़ी में लोगों के आने जाने के लिए बने हुए मार्ग, जल निकासी की प्रणाली, बारिश का पानी एकत्र करने का विशाल स्थान, कांसा सहित कई धातुओं की वस्तुएँ मिली थीं। राखीगढ़ी से महत्त्वपूर्ण स्मारक एवं पुरावशेष प्राप्त हुए हैं, जिनमें दुर्ग-प्राचीर, अन्नागार, स्तम्भयुक्त वीथिका या मण्डप, जिसके पार्श्व में कोठरियाँ भी बनी हुई हैं, ऊँचे चबूतरे पर बनाई गई अग्नि वेदिकाएँ आदि मुख्य हैं।

हरियाणा में इससे पहले भी राखीगढ़ी, मीताथल और बनावली में हड़प्पाकालीन स्थल मिले थे, लेकिन फरमाना में पहली बार हड़प्पा काल के दो अलग-अलग समय के अवशेष एक साथ में मिले हैं। फरमाना से कुछ दूर खुदाई का काम हुआ है और करीब एक एकड़ क्षेत्र में हड़प्पाकालीन घरों के अवशेष देखे जा सकते हैं। सड़कें सीधी और नब्बे डिग्री के कोण पर मुड़ती हैं, जो मोहनजोदड़ों में भी दिखता है। इसके अलावा घरों के दरवाजे पूर्व की तरफ हैं। इस खुदाई स्थल पर फिलहाल **27** कमरों की नींव मिली हैं, जिससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि यहाँ कितने लोग रहते होंगे। इन कमरों में रसोई जैसी आकृतियाँ देखी जा सकती हैं, जिनके पास बर्तन के टुकड़े भी पाए गए हैं।

2. **धोलावीरा** : धोलावीरा (**230 53' 10" उत्तर; 700 13'**पूर्व) पश्चिमी भारत में गुजरात राज्य के कच्छ जिले के भचाऊ तालुका में खादिरबेट में एक पुरातात्विक स्थल है। स्थानीय रूप से कोटाडा टिम्बा के रूप में भी जाना जाने वाला यह स्थल प्राचीन सिंधु घाटी सभ्यता के एक शहर के खंडहर हैं। यह पांच सबसे बड़े हड़प्पा स्थलों में से एक है और सिंधु घाटी सभ्यता से संबंधित भारत के पुरातात्विक स्थलों में सबसे प्रमुख है। यह कच्छ के महान रण में कच्छ रेगिस्तान वन्यजीव अभयारण्य में खादिर बेट द्वीप पर स्थित है। 47 हेक्टेयर (120 एकड़) का चतुर्भुजाकार शहर दो मौसमी धाराओं, उत्तर में मानसर और दक्षिण में मनहर के बीच स्थित है। इसकी खोज सबसे पहले 1960 के दशक की शुरुआत में धोलावीरा गांव के निवासी शंभुदान गढ़वी ने की थी, जिन्होंने इस स्थान पर सरकार का ध्यान आकर्षित करने के प्रयास किए थे। यह स्थल "आधिकारिक तौर पर" 1967-68 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (एएसआई) के जे.पी. जोशी द्वारा खोजा गया था, और यह आठ प्रमुख हड़प्पा स्थलों में से पांचवां सबसे बड़ा स्थल है। 1990 से एएसआई द्वारा इसकी खुदाई की जा रही है, जिसमें कहा गया है कि "धोलावीरा ने वास्तव में सिंधु घाटी सभ्यता के व्यक्तित्व में नए आयाम जोड़े हैं।" अब तक खोजे गए अन्य प्रमुख हड़प्पा स्थल हड़प्पा, मोहनजो-दारो, गनेरीवाला, राखीगढ़ी, कालीबंगन, रूपनगर और लोथल हैं।इसे 27 जुलाई 2021 को धोलावीरा: एक हड़प्पा शहर के नाम से यूनेस्को विश्व धरोहर स्थल के रूप में नामित किया गया था।

इसमें एक किलानुमा शहर और एक कब्रिस्तान शामिल है। इसे दो मौसमी जलधाराओं ने जलप्रदान किया। यह इस क्षेत्र में एक दुर्लभ संसाधन है। इस दीवार से घिरे शहर में एक भारी किलानुमा महल और औपचारिक मैदान के साथ-साथ रास्तों और विभिन्न अनुपात में गुणवत्तायुक्त घर शामिल हैं जो एक स्तरीय सामाजिक व्यवस्था की गवाही देते हैं। एक परिष्कृत जल प्रबंधन प्रणाली धोलावीरा लोगों के कठिन वातावरण में जीवित रहने और पनपने के संघर्ष में उनकी चतुरता को प्रदर्शित करती है। इस स्थान में एक बड़ा कब्रिस्तान है जिसमें छह प्रकार के स्मारक हैं जो हड़प्पाकालीन मृत्यु के अनूठे दृष्टिकोण को दर्शातें हैं।

धोलावीरा :उत्खनन स्थल का भाग

धोलावीरा का गढ़, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और कालीबंगा के अपने समकक्षों के विपरीत, लेकिन बनावली की तरह, शहरी क्षेत्र के दक्षिण में बनाया गया था। कालीबंगा और सुरकोटदा की तरह इसके दो संयुक्त उपविभाग थे, जिन्हें अस्थायी रूप से धोलावीरा में 'महल' और 'बेली' नाम दिया गया था, जो क्रमशः पूर्व और पश्चिम में स्थित थे, दोनों किलेबंद हैं। पूर्व को अभेद्य सुरक्षा द्वारा सबसे अधिक उत्साहपूर्वक संरक्षित किया गया है और प्रभावशाली द्वारों, टावरों, मुख्य द्वारों और जल निकासी के साथ सौंदर्यपूर्ण रूप से सुसज्जित किया गया है। गढ़ के उत्तर में एक चौड़ा और लंबा मैदान है, जिसका उपयोग संभवतः कई उद्देश्यों के लिए किया जाता है, जैसे- उत्सव या औपचारिक अवसरों पर सामुदायिक सभा, एक स्टेडियम और व्यापारिक मौसमों के दौरान माल के आदान-प्रदान के लिए एक विपणन स्थान। आगे उत्तर में, चारों ओर से घिरे मध्य शहर की स्थापना की गई, जबकि इसके पूर्व में निचले शहर की स्थापना की गई। हालाँकि, अंतिम उल्लेखित किलेबंदी में कोई अनुलग्नक दुर्ग नहीं था, इसे सामान्य परिधि के भीतर स्थापित किया गया था। महल के दक्षिण के अलावा, निकटवर्ती जलाशय के पार, शहर की दीवार के साथ-साथ एक और निर्मित क्षेत्र बनाया गया था, जिसे शायद अनुचर और नौकरों के आवास के लिए एनेक्सी या गोदाम के रूप में नामित किया गया था।

इस स्थल की पुरातात्विक खुदाई के दौरान मोती बनाने के वर्कशॉप और विभिन्न प्रकार की कलाकृतियाँ जैसे तांबा, खोल, रत्न, कम-कीमती रत्नों के आभूषण, टेराकोटा, सोना, हाथी दांत और अन्य सामग्री संस्कृति की कलात्मक और तकनीकी उपलब्धियों को प्रदर्शित करती हैं। अन्य हड़प्पा शहरों के साथ-साथ मेसोपोटामिया क्षेत्र और ओमान प्रायद्वीपीय शहरों के साथ अंतर-क्षेत्रीय व्यापार के साक्ष्य भी खोजे गए हैं।

3. **हस्तिनापुर:** हस्तिनापुर महाभारत काल के कौरवों की वैभवशाली राजधानी हुआ करती थी। वर्तमान में उत्तर प्रदेश के शहर मेरठ से 22 मील उत्तर-पूर्व में गंगा की प्राचीनधारा के किनारे प्राचीन हस्तिनापुर के अवशेष मिलते हैं। यहां आज भी भूमि में दफन है पांडवों का किला, महल, मंदिर और 'भी' अन्य अवशेष है।

हस्तिनापुर की प्राचीन बस्ती

पुरातत्वों के उत्खनन से ज्ञात होता है कि हस्तिनापुर की प्राचीन बस्ती लगभग **1000** ईसा पूर्व से पहले की थी और यह कई सदियों तक स्थित रही दूसरी बस्ती लगभग **90** ईसा पूर्व में बसाई गई थी, जो **300** ईसा पूर्व तक रही। तीसरी बस्ती **200** ई.पू. से लगभग **200** ईस्वी तक विद्धमान थी और अंतिम बस्ती **11**वीं से **14**वीं शती तक विद्यमान रही। अब यहां कहीं कहीं बस्ती के अवशेष हैं और प्राचीन हस्तिनापुर के अवशेष भी बिखरे पड़े हैं। वहां भूमि में दफन पांडवों का विशालकाय एक किला भी है जो देखरेख के अभाव में नष्ट होता जा रहा है। इस किले के अंदर ही महल, मंदिर और अन्य इमारते हैं।

4. **आदिचनाल्लूर:** यह स्थल भारत के तमिलनाडु के धुकुडी जिले में स्थित है। यहां प्राचीन काल के कई पुरातात्विक अवशेष मिले हैं, जो कई महत्वपूर्ण पुरातात्विक खोजों का स्थल रहा है। प्रारंभिक पांडियन साम्राज्य की राजधानी कोरकार्ड, आदिचनल्लूर से लगभग **15** किमी दूर स्थित है। आदिचनल्लूर साइट से **2004** में खोदे गए नमूनों की कार्बन डेटिंग से पता चला है कि वे **905** ईसा पूर्व और **696** ईसा पूर्व के बीच के थे। **2005** में, मानव कंकालों वाले लगभग **169** मिट्टी के कलश का पता लगाया गया था, जो कि कम से कम **3,800** साल पहले के थे। **2018** में हुई शोध के अनुसार कंकाल के अवशेषों पर **2500** ईसा पूर्व से **2200** ईसा पूर्व के तक के हैं।

आदिच्चनल्लूर, एक लौह युगीन कलश दफन स्थल

आदिच्चनल्लूर (**8° 37' 47.6"** उत्तर; **77° 52' 34.9"** पूर्व) तमिलनाडु के तूतीकोरिन जिले में ताम्ब्रापरानी नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। तूतीकोरिन जिले (पूर्व में तिरुनेलवेली) के आदिच्चनल्लूर में व्यापक कलश दफन स्थल की खोज पहली बार **1876** में बर्लिन संग्रहालय के डॉ. जागोर ने की थी। ए. री ने **1910** के दशक के दौरान अच्छी संख्या में कलशों की खुदाई की और माइसीने के समान सोने के हीरे की खोज की; कांसे की वस्तुएं विशेष रूप से कई जानवरों की आकृतियों को दर्शाने वाले उत्कृष्ट पंखों वाले ढक्कन, हजारों बर्तनों के अलावा लोहे की वस्तुएं हैं। **2003-04** और **2004-05** के दौरान उत्खनन फिर से शुरू किया गया। **600** वर्ग मीटर के क्षेत्र में **160** से अधिक कलश प्रदर्शित किये गये हैं।

आदिच्चनल्लूर में कलश अंत्येष्टि के साथ उत्खनन खाइयों का सामान्य दृश्य

दफ़नाने को तीन चरणों में वर्गीकृत किया गया है, अर्थात् चरण I, II और III। चरण I में मुख्य रूप से प्राथमिक अंत्येष्टि होती है, जबकि चरण II और III में, प्राथमिक और द्वितीयक दोनों प्रकार की अंत्येष्टि होती है।

आदिच्चनल्लूर में कलश अंत्येष्टि के साथ खोदी गई खाइयों का सामान्य दृश्य

कलशों के अंदर कंकाल के अवशेषों को हमेशा झुककर रखा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी दिशा-निर्देश का पालन नहीं किया गया है। दोहरे दफ़न के दो उदाहरण हैं।

एप्लिक कथा दृश्य के साथ एक बर्तन एक महत्वपूर्ण खोज है। इसमें एक पतली और लंबी महिला को केले के पेड़ के पास खड़ा दिखाया गया है। एक बगुला को पेड़ पर बैठे और मछली पकड़ते हुए दिखाया गया है। महिला के पास एक हिरण और मगरमच्छ को भी दर्शाया गया है। मिट्टी के बर्तनों पर अच्छी संख्या में भित्तिचित्र खोजे गए हैं।

कलश दफन की सामग्री: हड्डियों के अवशेष और दफन सामान यथास्थान, आदिच्चनल्लूर

मिट्टी के बर्तनों के प्रकारों में काले और लाल बर्तन, लाल बर्तन और काले बर्तन शामिल हैं। प्रमुख आकृतियों में कटोरे, बर्तन, फूलदान आदि शामिल हैं। कुछ बर्तनों को सफेद रंग से रंगा गया है। तीर की नोक, भाले की नोक और कुल्हाड़ी जैसे लोहे के उपकरण पाए जाते हैं, लेकिन नष्ट हो गए और बुरी तरह से संरक्षित हैं। कुछ तांबे के आभूषण भी मिले हैं। लोहे की एक तलवार पर भूसी और कपड़े की छाप मिली है। आवासीय स्थल में कुम्हार का भट्ठा भी पाया गया।

कलश दफन की सामग्री: हड्डियों के अवशेष और दफन सामान यथास्थान, आदिच्चनल्लूर

दफन कलश की सामग्री: चावल की भूसी के अवशेष, आदिच्चनल्लूर

ये सभी स्थल पुरातात्विक खोदाई और अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण हैं और इतिहास और पुरातात्व अध्ययन के क्षेत्र में नई जानकारी और साक्ष्य प्रदान करते हैं।

5. **शिवसागर:** यह स्थल असम में गुवाहाटी से लगभग 360 किलोमीटर उत्तर पूर्व में स्थित है। यह शहर देहिंग वर्षावन से घिरा हुआ है, जहां दीहिंग (ब्रह्मपुत्र) और लोहित नदियां मिलती है। शहर का नाम शहर के मध्य में स्थित बड़ी झील

शिवसागर

शिवसागर से मिलता है। झील अहोम राजा शिव सिंहा द्वारा बनाई गई थी। **13** वीं शताब्दी में युन्नान क्षेत्र से चीन के ताई बोलने वाले अहोम लोग इस इलाके में आए **18** वीं शताब्दी में शिवसागर अहोम साम्राज्य की राजधानी था। उस समय यह रंगपुर कहलाता था। उस काल के कई मंदिर मौजूद है। इस शहर को मंदिरों की नगरी भी कहा जाता है।

6. **भिर्राना**: **2003** से भिर्राना (**290 33'** उत्तर; **750 33'** पूर्व), (घग्गर नदी के बाएं किनारे पर), जिला फतेहाबाद, हरियाणा में एएसआई द्वारा की गई खुदाई से **4.5** मीटर के सांस्कृतिक अनुक्रम का पता चला है जिसमें प्रारंभिक और परिपक्व हाकरा मृद्भाण्ड शामिल हैं। हड़प्पा संस्कृतियाँ प्रारंभिक और परिपक्व हड़प्पा संस्कृतियों के बीच एक संक्रमणकालीन चरण भी देखा गया है।

भिर्राना, एक हड़प्पा नगर

हाकरा मृद्भाण्ड संस्कृति के शुरुआती काल में, प्राकृतिक मिट्टी में काटे गए उप-स्थलीय गोलाकार गड्ढे वाले आवास शामिल थे। ये गड्ढे आवास हड़प्पा शहर के उत्तर में और शहर की प्रारंभिक हड़प्पा संरचनाओं के नीचे देखे गए हैं।

परिपक्व हड़प्पा शहर में दो प्रमुख प्रभागों के साथ एक गढ़वाली बस्ती शामिल थी। सांस्कृतिक अवशेषों में विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तन, तांबे, फ़ाइनेस, स्टीटाइट, शंख, अगेट, कारेलियन, चैलेडोनी, जैस्पर, लापीस लाजुली और टेराकोटा जैसे अर्ध-कीमती पत्थरों की प्राचीन वस्तुएं शामिल हैं।

7. **सनौली**: सनौली, तहसील बड़ौत, जिला बागपत, उ.प्र. सितंबर **2005** से एएसआई द्वारा खुदाई चल रही है। यह स्थान एक आकस्मिक खोज थी जब स्थानीय लोगों ने कृषि उद्देश्यों के लिए समतलीकरण का कार्य किया था। इसके बाद, एएसआई ने इस स्थल की पहचान हड़प्पा काल के अंत (दूसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व की शुरुआत) के एक प्रमुख कब्रिस्तान स्थल के रूप में की। उत्खनन से अब तक उत्तर-दक्षिण दिशा में **125** कब्रगाहों का पता चला है; उनमें से अधिकांश प्राथमिक अंत्येष्टि हैं। द्वितीयक और एकाधिक अंत्येष्टि के साक्ष्य भी नोट किए गए हैं। कुछ कब्रगाहों में मानव हड्डियों के बगल में जानवरों की हड्डियाँ भी पाई जाती हैं।

सनौली उत्खनन स्थल

दफ़नाने के सामान में फूलदान (अक्सर सिर के पास रखे जाते हैं, और विषम संख्या में, **3, 5, 7, 9, 11,** आदि), कटोरे, डिश-ऑन-स्टैंड (ज्यादातर कूल्हे के नीचे रखे जाते हैं), एंटीना

तलवारें और तांबे की म्यान, टीसी मूर्तियाँ, आदि। सोने और तांबे की चूड़ियाँ, अर्ध-कीमती पत्थरों के मोती (लंबे बैरल आकार के दो हार) और स्टीटाइट आदि के रूप में अच्छी संख्या में व्यक्तिगत आभूषण भी पाए जाते हैं। इन कब्रगाहों से प्राप्त एंटीना तलवारें तांबे के भंडार के नमूनों से काफी मिलती जुलती हैं।

एक ईंट की दीवार (**50 X 50 X 24** सेमी) के अवशेष, दो डिश-ऑन-स्टैंड और एक सपाट तांबे के कंटेनर (वायलिन के आकार का) जिसमें लगभग **35** तीर-सिर के आकार की तांबे की वस्तुएं पंक्तियों में रखी गई हैं, महत्वपूर्ण खोजों में से हैं। तांबे के कंटेनर के समान, एक अन्य प्रतीकात्मक दफन में तांबे के म्यान के साथ वायलिन के आकार में स्टीटाइट मोतियों की सावधानीपूर्वक व्यवस्था की गई थी। ये नमूने वास्तविक मनुष्यों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। ये नवीन पुरातात्विक स्थल हमें बताते हैं कि भारतीय सभ्यता कितनी प्राचीन और समृद्ध थी, और यह भी दिखाते हैं कि भारत में विकास के विभिन्न अवधारणाओं और प्राथमिकताओं का परिप्रेक्ष्य कैसे बदला है। इस प्रकार, नवीन पुरातात्विक स्थलों की खोज ने भारत की पुरातन और बेहद समृद्ध संस्कृति को एक नए प्रकार से प्रकट किया है, जिससे हमारे समाज में आत्म-संवेदना और गर्व बढ़ता है।

1.4 पुरातात्विक अन्वेषण एवं उत्खनन की विधियाँ

पुरातात्विक साक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रथम प्रमुख चरण पुरातात्विक क्षेत्रीय कार्य है। इन क्षेत्रों में पुरातात्विक साक्ष्यों को एकत्रित करने के लिए दो विधियाँ हैं। ये दोनों विधियाँ पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त करने के महत्वपूर्ण और मूल उपाय हैं, जो हमें इतिहास और पुरातात्विक धरोहर को समझने में मदद करती हैं।

i) पुरातात्विक अन्वेषण और

ii) पुरातात्विक उत्खनन |

i) पुरातात्विक अन्वेषण: पुरातात्विक अन्वेषण, स्थल की सतह पर पाए जाने वाले अवशेषों के आधार पर की जाती है, जिसमें पुरातत्वविदों द्वारा खुदाई की आवश्यकता नहीं होती। इसका मतलब है कि वे स्थल की सतह पर ही बिना खुदाई किए ही स्थल की जाँच करते हैं। इस प्रक्रिया का उद्देश्य अधिकांश बारिकी रूप से पुरातात्विक स्थलों की पहचान करना होता है, जो किसी क्षेत्र में पुरातात्विक महत्व रखते हैं।

पुरातत्वविद्या के क्षेत्र में विभिन्न तरीके होते हैं जिनका उपयोग स्थल की जाँच और अन्वेषण में किया जाता है। शुरुआत में, इसके लिए हवाई सर्वेक्षण का उपयोग किया जाता था, जिसमें हवाई जहाजों का सहारा लिया जाता था ताकि उच्च उपभूमि, फसलों के प्रकार, और क्षेत्र की विशेषताओं का पता लगाया जा सके। अब, इसकी जगह उपग्रहों और ग्लोबल पोजिशनिंग सिस्टम (जीपीएस) का उपयोग किया जाता है। यह तकनीक स्थलों की खोज को सुगम बनाती है और उनका स्थान सही तरीके से चित्रित करती है। पुरातत्वविदों के द्वारा इस प्रक्रिया के अंदर, स्थलों के सटीक स्थान की पहचान करने के लिए विभिन्न तरीकों का उपयोग किया जाता है। इसमें भौतिक सर्वेक्षण योजनाएं, स्थानीय ग्रामीण सर्वेक्षण, और उपमहाद्वीप भर में विभिन्न पर्यावरणों में खोज किया जाता है। ये सभी तकनीक विभिन्न प्रकार के पुरातात्विक स्थलों की खोज और उनकी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त करने में मदद करती हैं।

इस प्रक्रिया का एक और महत्वपूर्ण हिस्सा, पुरातात्विक स्थलों को नक्शे पर चित्रित करने के लिए ग्लोबल पोजिशनिंग सिस्टम (जीपीएस) का उपयोग करके किया जाता है, जिससे स्थल की विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस प्रक्रिया के बाद, उपयुक्त वैज्ञानिक तकनीकों का उपयोग करके खुदाई और उत्खनन कार्य किया जाता है, जिसमें ग्राउंड पेनेट्रेटिंग राडार (जीपीआर), विद्युत प्रतिरोधकता सर्वेक्षण, मैग्नेटोमेटरी, और अन्य तकनीकों का उपयोग किया जाता है। इन तकनीकों को 'गैर-विनाशक' भी कहा जाता है क्योंकि वे पुरातात्विक रिकॉर्ड को बिना नुकसान के प्रकट करते हैं। अंत में, पुरातात्विक अन्वेषण के द्वारा हम अतीत की बेहतर समझ पाते हैं और नए पुरातात्विक स्थलों की खोज करने में मदद करते हैं। नवीन तकनीकों का प्रयोग पुरातात्विक उत्खनन में नए संदर्भ और नए दिशानिर्देशों को खोल सकता है, जिससे पुरातात्विक अनुसंधान में नवाचार और नये ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

ii) **पुरातात्विक उत्खनन:** पुरातात्विक स्थलों के अन्वेषण और उत्खनन से अतीत के बारे में कुछ प्रश्नों के उत्तर देने में हमें मदद मिलती है। हालांकि, सतह से एकत्र किए गए पुरावशेष अपने मूल संदर्भ में नहीं पाए जाते हैं, क्योंकि सतह पर उनकी उपस्थिति उन गतिविधियों का एक परिणाम है, जिन्होंने मूल अभिसाक्ष्यों को दिग्भ्रमित किया है। उदाहरण के लिए, बारिश से कटाव, जुताई, जानवरों को दफनाने आदि के कारण सतह के पास पुरातात्विक जमाव का विस्थापन हो सकता है। इसलिए, एक स्थल के विभिन्न सांस्कृतिक चरणों व उसके संदर्भों की गहरी समझ के लिए पुरातात्विक खुदाई की जाती है। इसमें व्यवस्थित रूप से एक स्थल की खुदाई करके अतीत में मानव द्वारा बनाए गए और उपयोग की गई सामग्रियों को सावधानीपूर्वक उजागर किया जाता है।

पुरातात्विक स्थलों पर विभिन्न पुरातात्विक संस्कृतियों के अवशेष पाए जाते हैं। 1929 में वी. गॉर्डन चाइल्ड ने बर्तन, औज़ार, गहने, दाह संस्कार, घर इत्यादि अवशेषों को पुरातात्विक संस्कृति के रूप में परिभाषित किया। इस प्रकार के अवशेष समय और स्थान के अनुसार अलग-अलग तरह के होते हैं। इसलिए, उन्हें विभिन्न पुरातात्विक संस्कृतियों के रूप में पहचाना जाता है। पुरातात्विक स्थलों पर या एकल पुरातात्विक संस्कृति का आधिपत्य होता है या लंबे समय तक रहने से कई पुरातात्विक संस्कृतियाँ मिल सकती हैं। विभिन्न संस्कृतियों की क्रमिक उपस्थिति उनके कालानुक्रमिक क्रम को दर्शाती हैं। भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न पुरातात्विक संस्कृतियों में हड़प्पा संस्कृति, चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति, ज़ोरवे संस्कृति आदि शामिल हैं।

पुरातात्विक उत्खनन मुख्य रूप से विभिन्न अवधियों से संबंधित अवशेषों के कालानुक्रमिक संदर्भों को समझने के लिए स्तरविज्ञान की अवधारणा को नियुक्त करता है। भूविज्ञान से व्युत्पन्न, स्तरीकरण की अवधारणा स्तरीकरण की प्रक्रिया पर आधारित है। भूविज्ञान में तलछट परतें या जमाव बहुत धीरे-धीरे एक दूसरे पर जमा होती हैं। इस प्रक्रिया में जो परत नीचे होती है, वह पहले जमा होती है और बाद में जमा होने वाली परतें बाद के काल की होती हैं। इसे अधीक्षण के नियम के रूप में जाना जाता है। पुरातात्विक स्थलों पर पहली बसावट के लक्षण सबसे निचले स्तर पर पाए जाते हैं और जैसे-जैसे निक्षेप जमा होता है और शीर्ष तक पहुँचता है तब हम बसावट का क्रम देख सकते हैं सबसे हाल की परत सतह के पास होती है। उद्देश्यों के आधार पर उत्खनन के दो प्राथमिक तरीके हैं जिनसे पुरातात्विक स्थलों की खुदाई की जा सकती है:

1. क्षैतिज, और
2. ऊर्ध्वाधर

इसकी अंतर्निहित धारणा यह है कि, मोटे तौर पर, समकालीन गतिविधियाँ क्षैतिज स्थान पर विद्यमान होती हैं और समय-समय पर इसमें बदलाव होते रहते हैं। इसलिए, यदि हम स्थल के किसी विशेष चरण के बारे में विस्तार से जानना चाहते हैं कि लोग कैसे रहते थे, तो स्थल की क्षैतिज रूप से खुदाई की जा सकती है। क्षैतिज खुदाई में स्थल के एक बड़े हिस्से के एक विशेष चरण के समकालीन संरचनाओं और गतिविधियों को उजागर करने के लिए धीरे- धीरे खुदाई की जाती है। इसके विपरीत, ऊर्ध्वाधर खुदाई में छोटे क्षेत्रों की खुदाई की जाती है। इसमें जमाव के माध्यम से प्राकृतिक मिट्टी के उस स्तर तक खुदाई की जाती है, जहाँ उस ज़मीन पर सबसे पहले बसावट हुई थी। इस तरह ऊर्ध्वाधर खुदाई से हमें पुरातात्विक स्थलों पर हुए कालानुक्रमिक परिवर्तनों की एक झलक देखने को मिल जाती है। दूसरे शब्दों में, ऊर्ध्वाधर उत्खनन से हमें पुरातात्विक स्थलों पर हुए विभिन्न सांस्कृतिक चरणों की क्रमिक बसावट के बारे में पता चलता है। अतएव दोनों प्रकार की खुदाई की विधियों में उनकी खूबियाँ और सीमाएँ दोनों हैं।

पुरात्विक उत्खनन एक विनाशकारी प्रक्रिया है क्योंकि इसमें चीजों को उजागर करने के लिए पुरात्विक जमाव को हटाने की आवश्यकता होती है। यह एक अपरिवर्तनीय प्रक्रिया भी है, जिसमें एक बार खुदाई के बाद जमाव को पुनः ठीक नहीं किया जा सकता है। इसलिए, पुरातत्वविद् तथ्यों के विवरण और रिकॉर्डिंग में अत्यधिक सावधानी रखते हैं। खुदाई के बाद पाया गया विवरण ही अध्ययन के आगे की प्रक्रिया को जारी रखता है। उत्खनन से मिली विभिन्न प्रकार की सामग्रियों से बीते हुए युगों के बारे में पता चलता है। ये सामग्रियाँ हमें बताती हैं कि लोग किस तरह के घरों में रहते थे। इस तथ्य-संकलन से कई प्रश्न पूछे जा सकते हैं जैसे:

- पक्की ईंटें अथवा छप्पर वाले ढांचे कैसे बने थे?
- क्या उनकी बस्तियों में कुएँ, टैंक, स्नानघर, शौचालय, भंडारण स्थान, जल निकासी, धर्मस्थल या पूजा स्थल आदि थे?
- उन्होंने किस तरह के औज़ारों का इस्तेमाल किया?
- क्या वे लंबी दूरी के व्यापार में लगे थे?
- उनकी सामाजिक और राजनीतिक प्रणाली क्या रही होगी?
- उन्होंने अपने मृतकों के साथ कैसा व्यवहार किया?
- मानव द्वारा बनाई और उपयोग की गई सामग्रियाँ प्राचीन मानव जीवन के कई और पहलुओं को प्रकाशित करती हैं।

पुरातात्विक अन्वेषण और उत्खनन द्वारा इकट्ठा किए गए तथ्य हमें अतीत को समझने में मदद करते हैं और हमारी ज्ञान को विस्तार से बढ़ाते हैं। इसके अलावा, यह हमें अपनी धर्मिक, सामाजिक और आर्थिक इतिहास को समझने में भी मदद करता है और हमारे समाज के विकास के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं को प्रकाशित करता है।

1.5 नवीन पुरातत्व एवं साक्ष्यों की विश्लेषण पद्धति

नवीन पुरातत्व एवं साक्ष्यों की विश्लेषण पद्धतियाँ अद्वितीय तरीकों से पुरातात्विक संग्रहण के प्रयासों को समर्थन करने और नए जानकारी को प्राप्त करने में मदद करती हैं। इन पद्धतियों का उद्देश्य नए सूचनाओं को प्राप्त करना, पुरातात्विक संग्रहण को सुधारना, और इतिहास के विभिन्न पहलुओं को समझना है।

नवीन पुरातत्व और विश्लेषण पद्धतियों की कुछ मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

1. **ग्राउंड-पेनेट्रेटिंग रेडार (GPR): GPR** उपकरण भूमि के नीचे के स्तरों की छवि बनाने के लिए उपयोग किया जाता है। यह छवियों को तराशकर विभिन्न उपयोगियता के साथ प्रदान करता है, जैसे कि किसी पुरातात्विक स्थल के नीचे छिपी धातुकला, संरचनाएँ, और अन्य विशेषताएँ।

2. **लिडार (LIDAR):** लिडार प्रक्रिया का उपयोग विमानों या उच्चतम नक्शा करने के लिए किया जाता है। यह उच्च गुणवत्ता की छवियों बनाता है जो भूमि की विविध विशेषताओं को प्रदर्शित करती हैं, जैसे कि पुरातात्विक स्थल की संरचनाएँ और तटीय सीमाओं के नक्शे।

3. **डीएनए एनालिसिस (DNA Analysis):** डीएनए एनालिसिस अभियांत्रिकी और जीवविज्ञान का मिश्रण है जिससे इतिहास के पुरातात्विक अध्ययन के लिए जीवाणुओं, जानवरों, और मानव रिश्तों का पता लगाया जा सकता है।

4. **उच्च गुणवत्ता के वीडियो और फोटोग्राफी:** नवीन पुरातात्व उत्खनन में उच्च गुणवत्ता के वीडियो और फोटोग्राफी का उपयोग होता है जो स्थल की छवि बनाने में मदद करता है और प्राप्त जानकारी को डोक्यूमेंट करता है।

5. **डेटा विश्लेषण सॉफ़्टवेयर:** विशेषाग्र सॉफ़्टवेयर जैसे कि **Geographic Information Systems (GIS)** और **3D** मॉडलिंग प्रोग्राम्स का उपयोग डेटा को विश्लेषण और प्रस्तुत करने में किया जाता है।

6. **रेडार कैरोनोलॉजी:** यह उपयोगी टूल आर्कियोलॉजिस्ट्स को पुरातात्विक स्थल के नीचे के स्तरों की जांच करने में मदद करता है, खासकर जब खोदने के लिए उपयुक्त नहीं होता है।

7. **रोबोटिक्स और ऑटोमेशन:** रोबोट्स और ऑटोमेशन तकनीक का उपयोग खोदने के काम में किया जाता है, जिससे काम को तेजी से और सुरक्षित तरीके से किया जा सकता है।

इन पद्धतियों का उपयोग पुरातात्विक संग्रहण को सुधारने, नई जानकारी को प्राप्त करने और पुरातात्विक खोज को समर्थन करने के लिए किया जाता है। ये उपकरण और तकनीकियाँ पुरातात्विक अध्ययन को नई दिशाओं में ले जा रही हैं, जिससे हम हमारे इतिहास और धरोहर के बारे में नई जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

1.5.1 पुरातात्विक तिथिक्रम प्रणाली

पुरातात्विक तिथिक्रम प्रणाली, पुरातात्विक संग्रहण के लिए उपयोग किया जाने वाला एक महत्वपूर्ण तिथि प्रणाली है, जिसका उद्देश्य ऐतिहासिक घटनाओं और खनन के साथ-साथ खुदाई के प्रमाणों को डेटा के रूप में संग्रहण करना होता है। यह पुरातात्विक खोज और अध्ययन के प्रयासों को संरचित और आधारभूत तिथि क्रम में प्रस्तुत करने में मदद करता है। कुछ महत्वपूर्ण तत्व और नियम जो पुरातात्विक तिथिक्रम प्रणाली में शामिल होते हैं:

- **सम्पादन तिथि (Editing Date):** यह तिथि उस समय की तिथि होती है जब पुरातात्विक डेटा का संपादन या प्रकाशन किया गया था।
- **खुदाई तिथि (Excavation Date):** यह तिथि विशेष स्थल पर खुदाई के दौरान खोदे जाने वाले खदान के निमित्त की गई होती है।
- **संग्रहण तिथि (Collection Date):** यह तिथि उन वस्त्रों या आवश्यक साक्षरता के प्रमाणों की होती है जो संग्रहित किए गए हैं और उन्हें पुरातात्विक संग्रहण केंद्र में रखा गया है।
- **उपलब्धि तिथि (Discovery Date):** यह तिथि विशिष्ट पुरातात्विक आवश्यकताओं के आधार पर किसी वस्तु की प्राप्ति की तिथि होती है, जैसे कि किसी स्थल पर अवशेषों की पहचान करने की तिथि।
- **संग्रहण स्थान (Collection Location):** यह विशिष्ट स्थल की स्थिति को सूचित करता है जहां संग्रहित पुरातात्विक प्रमाण रखे जाते हैं।
- **स्थल का नाम (Site Name):** पुरातात्विक खदान स्थल का नाम यहां पर दर्ज किया जाता है।
- **संग्रहण नंबर (Catalog Number):** यह नंबर विशिष्ट प्रमाण की पहचान के लिए उपयोग होता है और उसकी संग्रहण के लिए एक अनुभवित पुरातात्विक संग्रहण केंद्र द्वारा प्रदान किया जाता है।
- **किस्म (Type):** इस खण्ड में प्रमाण के प्रकार (जैसे मानव संरचना, खिलौना, धातुकला, आदि) का उल्लेख किया जाता है।
- **स्रोत (Source):** यह खण्ड बताता है कि प्रमाण की प्राप्ति का स्रोत क्या था, जैसे कि खुदाई, खदान, खरीद, या दान।
- **महत्वपूर्ण टिप्पणियां (Significant Notes):** इस खण्ड में किसी प्रमाण के महत्वपूर्ण विशेषताओं का वर्णन किया जा सकता है, जैसे कि किसी खिलौने की स्थापना या खदान की गहनता।

पुरातात्विक तिथिक्रम प्रणाली खोदाई के परिणामों को संरचित रूप से डेट करने और डेटा को प्राप्त करने के लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण होती है जो पुरातात्विक अध्ययन में महत्वपूर्ण होती है।

1.5.2 पुरातात्विक साक्ष्यों का महत्व

नवीन पुरातात्विक साक्ष्यों का महत्व पुरातात्व और इतिहास के अध्ययन में क्रियाशीलता और ज्ञान को बढ़ावा देता है। इन साक्ष्यों का महत्व निम्नलिखित कारणों से होता है:

- **नई जानकारी का उद्घाटन**: नवीन पुरातात्विक साक्ष्य नई जानकारी और दस्तावेज़ों का स्रोत प्रदान करते हैं, जो इतिहासी और पुरातात्विक अध्ययन में पहले अज्ञात थी। यह नए तथ्यों का पता लगाने में मदद करता है और हमारे पूर्वजों की जीवनशैली, संस्कृति, और ऐतिहासिक घटनाओं के बारे में नई सूचनाएं प्रदान करता है।

- **पुरातात्विक अध्ययन में अद्यतनता**: नवीन पुरातात्विक साक्ष्य अद्यतन तकनीकों और अनुसंधान के साथ आते हैं, जिससे पुरातात्विक अध्ययन के क्षेत्र में नए उपयोगी तरीके और तंत्रिकाएं विकसित होती हैं। इससे अध्ययन के प्रयोगकर्ताओं को अधिक समृद्ध और प्रभावी तरीके से पुरातात्विक खोजने में मदद मिलती है।

- **सम्प्रेषित इतिहास का गहराई से अध्ययन**: नए साक्ष्यों का अध्ययन पुराने इतिहासिक घटनाओं और समय के लिए छिपे रहे तथ्यों की पुष्टि करता है और हमें इतिहास की गहराइयों में जाने में मदद करता है।

- **बुनावटी और सांख्यिकीय डेटा**: नवीन पुरातात्विक साक्ष्यों का विशेष महत्व बुनावटी और सांख्यिकीय डेटा प्रदान करने में होता है, जिससे हम समय के पार पुरातात्विक घटनाओं के सांख्यिकीय और सामाजिक पहलुओं की समझ पा सकते हैं।

- **नवीन दृष्टिकोण और समझ**: नवीन साक्ष्यों के प्रकट होने से अक्सर हमारा इतिहास और पुरातात्व के प्रति नया दृष्टिकोण और समझ बनता है। इससे हम अपने अद्वितीय इतिहासिक और सांस्कृतिक धरोहर को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं।

- **राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय महत्व**: नवीन पुरातात्विक साक्ष्य राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय महत्व के होते हैं, जो एक देश के इतिहास और संस्कृति को प्रमोट करने में मदद करते हैं और संस्कृति के महत्व को विश्व में प्रस्तुत करते हैं।

- **शिक्षा और अध्ययन के लिए स्रोत**: नवीन पुरातात्विक साक्ष्य शिक्षा और अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं। इन्हें स्कूल, कॉलेज, और विश्वविद्यालयों में शिक्षार्थियों के अध्ययन के लिए उपयोग किया जा सकता है, जिससे उनका ज्ञान और समझ में वृद्धि होती है।

- **सामाजिक समझदारी**: नवीन पुरातात्विक साक्ष्य सामाजिक समझदारी को बढ़ावा देते हैं, क्योंकि वे समाज के पुरातात्विक धरोहर को समझने में मदद करते हैं और लोगों के बीच साझा करने के लिए होते हैं।

इसलिए, नवीन पुरातात्विक साक्ष्यों का महत्व अत्यधिक है, क्योंकि ये हमें हमारे इतिहास और संस्कृति को बेहतर तरीके से समझने में मदद करते हैं और नए ज्ञान का स्रोत प्रदान करते हैं।

1.6 नवीन पुरातात्विक उत्खनन के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक प्रभाव

नवीन पुरातात्विक उत्खनन के सामाजिक, सांस्कृतिक, और आर्थिक प्रभाव विभिन्न हो सकते हैं और इन्हें निम्नलिखित तरीकों से समझा जा सकता है:

1. **सामाजिक प्रभाव**:

   शिक्षा और संज्ञान: पुरातात्विक उत्खनन के माध्यम से नए जानकारी का प्राप्त होने से समाज में शिक्षा और संज्ञान का स्तर बढ़ सकता है। यह विशेषकर शैक्षिक संस्थानों और छात्रों के लिए शिक्षा के क्षेत्र में नए अवसर खोल सकता है।

   समाज का आत्मगौरव: पुरातात्विक उत्खनन के द्वारा मिली जानकारी आत्मगौरव और समाज में जागरूकता को बढ़ा सकती है। समाज का आत्म-परिचय बढ़ सकता है जिसके परिणामस्वरूप समाज की सामाजिक संरचना में सुधार हो सकता है।

   सामाजिक संगठन: पुरातात्विक उत्खनन के फलस्वरूप समाज के सामाजिक संगठन में परिवर्तन हो सकता है। यह नए जानकारी के प्राप्त होने से समाज के विभिन्न समूहों को जोड़ने और सामाजिक समस्याओं का समाधान करने का माध्यम बना सकता है।

2. **सांस्कृतिक प्रभाव**:

   पुरातात्विक धरोहर का संरक्षण: नवीन पुरातात्विक उत्खनन से पुरातात्विक धरोहर का संरक्षण किया जा सकता है। यह नए संग्रहणों, म्यूजियम्स, और स्थलीय कला और संस्कृति के लिए महत्वपूर्ण हो सकता है।

   समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर: पुरातात्विक उत्खनन के माध्यम से समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर के अंशों का पता चल सकता है, जो समृद्ध सांस्कृतिक समुदायों के लिए महत्वपूर्ण हो सकता है।

3. **आर्थिक प्रभाव**:

   पर्यटन और आर्थिक विकास: पुरातात्विक स्थलों के प्रशंसकों के लिए पर्यटन का अवसर पैदा हो सकता है, जिससे स्थानीय आर्थिक विकास हो सकता है।

   उत्खनन कार्यों का स्रोत: पुरातात्विक उत्खनन कार्यों का आयोजन करने और संचालन के लिए वित्तीय स्रोत के रूप में उत्खनन के परिणामों का उपयोग किया जा सकता है।

इन प्रभावों के साथ, नवीन पुरातात्विक उत्खनन का महत्वपूर्ण योगदान सामाजिक, सांस्कृतिक, और आर्थिक दृष्टिकोण से हो सकता है और समृद्धि और समाज के विकास में मदद कर सकता है।

1.6.1 नवीन पुरातात्विक उत्खनन के अनुसंधान की आवश्यकता और संभावनाएं

नवीन पुरातात्विक उत्खनन के अनुसंधान की आवश्यकता और संभावनाएं विशिष्ट आवश्यकताओं, सामाजिक मांगों, और विज्ञान विकास के संदर्भ में अलग-अलग हो सकती हैं, लेकिन कुछ सामान्य आवश्यकताएं और संभावनाएं निम्नलिखित हो सकती हैं:

आवश्यकताएं:

अज्ञात इतिहास की खोज: पुरातात्विक उत्खनन के माध्यम से हम अज्ञात इतिहास के प्रमुख अध्ययन कर सकते हैं, जो हमारे पास विगत समय के बारे में जानकारी नहीं होती है।

प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन: नवीन पुरातात्विक उत्खनन के माध्यम से हम प्राचीन सभ्यताओं के विकास, समाज, और संस्कृति का अध्ययन कर सकते हैं, जो हमें हमारे इतिहास और मानव सभ्यता के बारे में नई जानकारी प्रदान करता है।

प्राचीन समर्थन और प्रौद्योगिकी: नवीन तकनीक और उपकरणों का उपयोग करके, हम पुरातात्विक समर्थन और प्रौद्योगिकी के स्तर को बढ़ा सकते हैं, जिससे उत्खनन की प्रक्रिया और डेटा संग्रहण को सुविधाजनक बनाया जा सकता है।

पुरातात्विक स्थलों के पर्यावरणीय प्रभावों का अध्ययन: नवीन पुरातात्विक उत्खनन के अंदरूनी और बाहरी पर्यावरणीय प्रभावों का अध्ययन करने से हम ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं कि कैसे पुरातात्विक स्थलों का प्रबंधन और संरक्षण किया जा सकता है।

संभावनाएं:

प्रौद्योगिकी और डेटा संग्रहण: नवीन पुरातात्विक उत्खनन के साथ-साथ नवाचारी प्रौद्योगिकी का उपयोग करके डेटा संग्रहण, विश्लेषण, और साझा करने की संभावना है।

जीवाशास्त्रीय अध्ययन: पुरातात्विक खोज के दौरान मृदांग, जीवों के अवशेष, और आदिकालीन प्राणियों के अध्ययन के लिए जीवाशास्त्र के तरीकों का उपयोग किया जा सकता है।

आर्कियोलॉजिकल टूल्स: नई और बेहतर खोदने के औजार और तकनीक का उपयोग करके, आर्कियोलॉजिस्ट्स खुदाई की प्रक्रिया को सरल और तेज बना सकते हैं।

सांविदानिक सहमति: स्थानीय समुदायों, सरकारी अधिकारियों, और अन्य संगठनों के साथ मिलकर काम करने के लिए सांविदानिक सहमति प्राप्त करना संभावना है, ताकि पुरातात्विक उत्खनन की प्रक्रिया को समर्थन मिल सके।

पुरातात्विक प्रबंधन: पुरातात्विक स्थलों के प्रबंधन और संरक्षण के लिए नए उपायों और नीतियों का विकास किया जा सकता है, ताकि हम इन महत्वपूर्ण स्मृतियों को सुरक्षित रख सकें।

नवीन पुरातात्विक उत्खनन का अनुसंधान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह हमें हमारे इतिहास और संस्कृति के बारे में नई जानकारी प्रदान करता है और हमारी धार्मिक और सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखने में मदद करता है।

1.6.2 नवीन पुरातात्विक उत्खनन के भविष्य के दिशानिर्देश

नवीन पुरातात्विक उत्खनन हमें भविष्य के दिशानिर्देश भी प्रदान कर सकता है, क्योंकि हम इतिहास से सिखकर पुनरावलोकन करते हैं और उससे सिखते हैं कि कैसे हम आगे बढ़ सकते हैं और अपने गलतियों से सीखते हैं। नवीन पुरातात्विक उत्खनन का प्रस्तावना हमें दिखाता है कि यह अध्ययन कितना महत्वपूर्ण और विशिष्ट है जो हमें अपने मानव सभ्यता के रूपरेखा को

समझने में मदद करता है और हमें हमारे इतिहास के मूल मूल्यों की पहचान करने में सहायक हो सकता है। नवीन पुरातात्विक उत्खनन के भविष्य के दिशानिर्देश या नीतियों को स्पष्ट करने के लिए कुछ मुख्य दिशानिर्देश हो सकते हैं:

- **स्थल का चयन**: उत्खनन करने से पहले, उत्खनन स्थल का सावधानीपूर्वक चयन करना महत्वपूर्ण है। उत्खनन करने के लिए स्थल का इतिहास, पुरातात्विक महत्व, और पुरातात्विक संकेतों के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए।
- **अनुमानित यातायात**: उत्खनन करने से पहले, यातायात के लिए सुरक्षित और सुविधाजनक पहुँच की योजना बनानी चाहिए, ताकि उत्खनन टीम स्थल पर आसानी से पहुंच सके।
- **कला और विज्ञान का संयोजन**: उत्खनन की प्रक्रिया में कला और विज्ञान के संयोजन का समर्थन करना चाहिए, ताकि पुरातात्विक आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके।
- **सुरक्षा की जिम्मेदारी**: उत्खनन करने वाले लोगों की सुरक्षा का पूरा ध्यान देना चाहिए, खासकर जब किसी पुरातात्विक स्थल को उत्खनन किया जा रहा है।
- **प्रौद्योगिकी और उपकरण**: उत्खनन के लिए उपयोग होने वाली प्रौद्योगिकियों और उपकरणों का चयन और उपयोग करने का तरीका निर्धारित करना चाहिए।
- **प्रामाणिकता की परख**: पुरातात्विक उत्खनन के परिणामों की पुष्टि करने के लिए प्रामाणिकता की परीक्षा करना महत्वपूर्ण है। इसके लिए उचित प्रमाणिक और विज्ञानिक प्रक्रियाओं का पालन किया जाना चाहिए।
- **रिपोर्टिंग और डेटा संग्रहण**: पुरातात्विक उत्खनन के परिणामों को विश्व के साथ साझा करने के लिए उचित रिपोर्टिंग और डेटा संग्रहण की योजना बनानी चाहिए।
- **सांविदानिक अनुमति**: किसी भी पुरातात्विक उत्खनन के लिए आवश्यक राज्य या स्थानीय प्राधिकृतियों की अनुमति प्राप्त करना अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है।
- **पर्यावरण का संरक्षण**: पुरातात्विक स्थल के पर्यावरण की सुरक्षा और संरक्षण का ध्यान रखना चाहिए, ताकि इसका भविष्य के लिए नुकसान न हो।
- **सामाजिक सहमति**: स्थानीय समुदायों और स्थानीय अधिकारियों के साथ मिलकर काम करना और उनकी सहमति प्राप्त करना महत्वपूर्ण है।

ये दिशानिर्देश पुरातात्विक उत्खनन के भविष्य के लिए महत्वपूर्ण हो सकते हैं, लेकिन यह निश्चित है कि वे स्थानीय संदर्भों और आवश्यकताओं के हिसाब से अनुकूलित किए जाने चाहिए।

1.7 सारांश

नवीन पुरातात्विक उत्खनन एक प्रेरणास्त्रोत और ज्ञानार्जन का माध्यम है जिसका उद्देश्य प्राचीन साक्ष्यों के माध्यम से मानव सभ्यता की विकास की अध्ययन करना होता है। इसका उद्देश्य अनुसंधान, अध्ययन, और शिक्षा के माध्यम से हमें हमारे पूर्वजों की जीवनशैली, संगठन,

सांस्कृतिक विविधता, और समाजिक परिवर्तन की समझ प्रदान करना है। इस प्रक्रिया में विभिन्न तकनीकों का प्रयोग किया जाता है जैसे कि रेडार, लिडार, साटेलाइट इमेजिंग, जियोफिजिकल तकनीकें, आइएनएच, आदि। ये तकनीकें हमें सूचनाओं की सटीकता और व्यापकता में मदद करती हैं और साक्ष्यों की पहचान और विश्लेषण में सहायक साबित होती हैं।

नवीन पुरातात्विक उत्खनन से हम विभिन्न समयों और स्थानों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध, विकास, और परिवर्तन की समझ प्राप्त करते हैं, जिससे हमारे पूर्वजों के विचारों, आदिकाल के जीवनशैली, समाज संरचना, और सांस्कृतिक अर्थव्यवस्था की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इसके साथ ही नवीन पुरातात्विक उत्खनन शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है, क्योंकि यह विद्यार्थियों को ऐतिहासिक और पुरातात्विक ज्ञान में रुचि और समझ को बढ़ावा देने के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत हो सकता है। इस अध्ययन से हम अपनी मानव सभ्यता की मूल जड़ों को समझते हैं, जिससे हमारे आत्मविश्वास को बढ़ावा मिलता है और हम अपने विकास की दिशा में सजग रह सकते हैं।

इस प्रकार नवीन पुरातात्विक उत्खनन समग्र विकास के लिए महत्वपूर्ण और जरूरी उपकरण हो सकता है जो हमें हमारे इतिहास और संस्कृति के मूल मूल्यों की पहचान करने में मदद करता है।

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

- **पुरातात्विक उत्खनन:** यह एक शाखा है जो पुराने और ऐतिहासिक साक्ष्यों की पहचान, संग्रहण, और अध्ययन के माध्यम से मानव सभ्यता की अध्ययन करती है।
- **साक्ष्य:** पुरातात्विक उत्खनन में, साक्ष्य विभिन्न प्रकार के साक्ष्यों को समझने के लिए उपयुक्त तकनीकों का प्रयोग करके प्राप्त किए गए विशेष आवश्यक सूचनाओं को सूचित करते हैं।
- **तकनीकें:** यह उन विभिन्न तकनीकों की संग्रहण करता है जिनका प्रयोग पुरातात्विक साक्ष्यों की खोज, पहचान और अध्ययन में होता है, जैसे कि रेडार, लिडार, साटेलाइट इमेजिंग, आदि।
- **ऐतिहासिक समय:** पुरातात्विक उत्खनन के माध्यम से हम विभिन्न ऐतिहासिक समयों की जानकारी प्राप्त करते हैं जो हमें मानव सभ्यता के विकास की कहानी को समझने में मदद करती है।
- **पुरातात्विक खंड:** ये विभिन्न स्थलों में प्राप्त किए गए पुरातात्विक साक्ष्य होते हैं, जैसे कि शिलालेख, मूर्तियाँ, आदि।
- **शिक्षा और संशोधन:** पुरातात्विक उत्खनन शिक्षा और संशोधन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्रोत हो सकता है, क्योंकि इससे हम विद्यार्थियों को ऐतिहासिक और पुरातात्विक ज्ञान में रुचि और समझ को बढ़ावा दे सकते हैं।
- **सांस्कृतिक परिवर्तन:** नवीन पुरातात्विक उत्खनन के माध्यम से हम समय के साथ सांस्कृतिक परिवर्तनों की समझ प्राप्त करते हैं और उनके पीछे के कारणों को समझते हैं।

- **विविधता:** पुरातात्विक उत्खनन से हम विभिन्न समयों और स्थानों की विविधता को समझ सकते हैं**,** जिससे हम यह समझ सकते हैं कि मानव सभ्यता की अनूठी और विविध प्रकृति कैसे रही है।

1.9 सन्दर्भग्रन्थ सूची

- चक्रवर्ती, डी. के. (2001) इंडिया, एन आर्कायोलॉजिकल हिस्ट्री: पैल्योलिथिक बिगनिंग्स टू अर्ली हिस्टोरिक फाउण्डेशन्स. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस |
- ड्रिवेट, पी. एल. (1999) फील्ड आर्कायोलॉजी : एन इंट्रोडक्शन. लंदन: यूसीएल प्रेस
- ग्रीन, के. (2002) आर्कोयोलॉजी: एन इंट्रोडक्शन. लंदन और न्यूयॉर्क: रूटलेज।
- रैनफ्रू, सी. एवं पी. व्हान (2012) आर्कोयोलॉजी : थ्योरीज़, मैथड्स एंड प्रैक्टिस छठवाँ संस्करण, लंदनः थेम्स और हडसन।
- पाण्डेय, जय नारायण (2023) पुरातत्त्व विमार्श, प्रयागराज, प्राच्य विद्या संस्थान।

1.10 बोध प्रश्न

1. नवीन पुरातात्विक उत्खनन क्या है? और इसका क्या महत्व है?
2. नवीन पुरातात्विक उत्खनन में कौन-कौन सी तकनीकें प्रयुक्त होती हैं और उनका क्या महत्व है?
3. पुरातात्विक साक्ष्य और उनके प्रकार क्या-क्या होते हैं?
4. नवीन पुरातात्विक उत्खनन के माध्यम से हम किस प्रकार सांस्कृतिक परिवर्तन की समझ प्राप्त कर सकते हैं?
5. नवीन पुरातात्विक उत्खनन कैसे शिक्षा और संशोधन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण हो सकता है?

इकाई 2 मृद्भाण्डों पर अंकित प्रतीक

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

मृद्भाण्डों पर अंकित प्रतीक से सम्बन्धित इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- मृद्भाण्ड का अर्थ समझ सकेंगे।
- मृद्भाण्डों पर अंकित प्रतीक के आधार पर भारतीय संस्कृति और इतिहास का पुनरावलोकन कर सकेंगे।
- अतीत के पुनर्निर्माण में मृद्भाण्ड संस्कृति के योगदान से आप अवगत हो सकेंगे।
- मृद्भाण्ड कला में प्रयुक्त तकनीक का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- भारतीय उपमहाद्वीप के प्रमुख मृद्भाण्ड संस्कृतियों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- इकाई से सम्बद्ध पारिभाषिक पदों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

प्रिय छात्रों! मृदा से निर्मित बर्तन (मृद्भाण्ड) भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रमुख स्रोतों में से एक हैं। मृद्भाण्ड विभिन्न कालों और समय-समय पर बनाए गए थे और यह पुरातात्विक अनुसंधान के माध्यम से हमें भारतीय सभ्यता के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्रदान करते हैं। पुरातत्व में मिट्टी के बर्तनों के विश्लेषण को लागू करके पुरातत्व संस्कृति का अध्ययन किया

जाता है, क्योंकि मिट्टी के बर्तन टिकाऊ होते हैं और पुरातात्विक स्थलों पर लंबे समय तक बचे रहते हैं जबकि अन्य वस्तुएं सड़ जाती या नष्ट हो जाती हैं।

सर्वप्रथम फ्लिंडर्स पेट्री (Flinders Petrie) नामक आर्कियोलॉजिस्ट ने प्रत्येक युग में निर्मित विशिष्ट मृद्भाण्ड शृंखला के महत्व को उजागर किया इसलिए इन्हें विश्व में मृद्भाण्ड का जनक कहा जाता है। भारत में मृद्भाण्ड की खोज बी.बी. लाल ने की थी इसलिए इन्हें भारत में मृद्भाण्ड का जनक कहा जाता है। मृद्भाण्डों का प्रचलन नवपाषाण काल में माना जाता है। मृद्भाण्डों को पुरातत्व की वर्णमाला कहा जाता है। मृद्भाण्डों को मनुष्य का प्रथम रासायनिक आविष्कार कहा जाता है। मृद्भाण्डों का भारत में सबसे पहला साक्ष्य चोपनी मांडो (प्रयागराज) से मिला है। भारत में सबसे ज्यादा मृद्भाण्ड हस्तिनापुर (हरियाणा) से मिले हैं।

नवपाषाण काल में निर्मित पीले रंग के मृद्भाण्ड सामाजिक और आर्थिक जीवन के पहलु को समझने में मदद करते हैं। ये मृद्भाण्ड आदिवासी समुदायों द्वारा उपयोगित होते थे जिससे उनके आर्थिक गतिविधियों का पता चलता है। हड़प्पा सभ्यता के दौरान बनाए गए लाल मृद्भाण्ड सभ्यता के वाणिज्यिक और नौका-पालन के संकेत प्रदान करते हैं। हड़प्पा से मिले मृद्भाण्ड शहरों के सामाजिक संरचना और आर्थिक व्यवस्था के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। इस काल के मृद्भाण्ड चित्रित धूसर रंग के होते हैं और ये यज्ञों और धार्मिक आयोजनों के संदर्भ में महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। मौर्यकाल में निर्मित काले मृद्भाण्ड साम्राज्य की संरचना, शासन प्रणाली, और सामाजिक व्यवस्था के बारे में जानकारी प्रदान करते हैं। इन मृद्भाण्डों के माध्यम से हम भारतीय सभ्यता, संस्कृति, आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना, और जीवनशैली की बेहद महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। ताम्र काल में निर्मित पीले गेरू रंग के मृद्भाण्ड (OCP), हड़प्पा काल के काले व लाल मृद्भाण्ड (BRW), उत्तर वैदिक काल के चित्रित धूसर मृद्भाण्ड (PGW) तथा उत्तरी काले मृद्भाण्ड (NBPW) से मौर्यकाल की पहचान की जाती है। मृद्भाण्ड देश के विभिन्न स्थलों से प्राप्त हुए हैं, जो भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को जानने व समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

2.2 मृद्भाण्ड कला का उद्भव एवं विकास

पुरातात्विक महत्त्व के स्थलों की खुदाई से प्रकाश में आये टूटे-फूटे या पूरे के पूरे मृद्भाण्ड हमारी संस्कृति की पहचान है। इनका कोई एक तरह का निर्माण काल नहीं है और यही इनकी शैलियों में एक दूसरे से भिन्नता का मूल कारण भी है। कुम्भकारों को प्राचीन विश्व का एक ऐसा शिल्पी माना जा सकता है जिनके गढ़े गये भाण्डों के उपर कभी तरह-तरह के प्रतीक चिन्हों और प्रकृति जगत की रूमानियत का प्रणवान अंकन किया गया था। प्राक् हड़प्पन काल की सस्कृतियों को प्रतिबिम्बित करनेवाला एकमात्र साक्ष्य मृदभाण्ड ही है। यह शिल्प की कलात्मकता के साथ-साथ उसकी विभिन्न शैलियों का भी द्योतक कहा जा सकता है। थोडे से परिवर्तन के साथ इन्हीं शैलियों का अनुसरण सिन्धु सभ्यता के साक्षी बने भाण्डों के निर्माण में भी किया जाना प्रमाणित होता है। संस्कतियों में अनुकरण करते रहने की प्रवृति सतत् चलती रहती है इसीलिए यदि बाद वाली संस्कृति अपने पूर्व की संस्कृति के कुछ मामलों में अनुसरण करती है तो इसे लेकर हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। निश्चय ही सिन्धु सभ्यता और संस्कृति को उसकी पूर्वगामिनी संस्कृति ने सिन्धु सभ्यता के विध्वंस के चाहे जैसे भी कारण रहे हों पर शताब्दियों से इसकी विशिष्टताओं से यह उपमहाद्वीप जगमगाता रहा है। इसका प्रसार क्षेत्र बहुत ही व्यापक रहा है। ऐसे कई स्थल भी प्रकाश में आये हैं जहाँ कभी भौतिक जीवन का आरंभ इसी के

पर्दापण के साथ हुआ था। यह भी पता चलता है कि ऐसे स्थलों पर नयी-नयी प्रौद्योगिकी का विकास कुछ शताब्दियों के अन्तराल से हुआ था।

पजाब के रोपड़ जिले में हड़प्पन संस्कृति और चित्रित घूसर भाण्ड (पी0जी0 वेयर) वाली सस्कृति के बीच एक तरह का सम्पर्क बनता हुआ दिखायी देता है। धग्गर धाटी के काली बंगन की तरह यहाँ पहले-पहल हड़प्पन संस्कृति में रचे बसे लोगों ने अपनी बस्तियाँ कायम की थीं और उनका जब लोप हुआ तभी जाकर चित्रित घूसर भाण्ड का प्रयोग करने वाले लोगों का यहाँ पर्दापण हुआ था। इन दोनों ही तरह के साक्ष्यों का निष्कर्ष यही है कि इन स्थलों पर कुछ समय के लिए हड़पपन लोग आबाद हुए थे और फिर इनका विस्थापन उनलोगों द्वारा किया गया जिन्हें चित्रित घूसर भाण्ड का प्रयोग करने वाले तथाकथित आर्य कहा जाता है। लौह प्रौद्योगिकी का विकास भी इसी संस्कृति के विभिन्न स्तरों में हुआ था। इस प्रकार एक विशिष्ट मृदभाण्ड से जुड़ी यह संस्कृति 1500-500 ई0 पू0 के बीच विद्यमान थी।

2.3 मृद्धाण्ड संस्कृतियाँ

पुरातत्व में मृद्धाण्डों का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि मृद्धाण्ड कालांतर में भी सुरक्षित बने रहते हैं। मृद्धाण्ड किसी सभ्यता के कालक्रम को निर्धारित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उदाहरणस्वरूप हड़प्पा सभ्यता के विस्तार की पहचान मृद्धाण्डों के आधार पर की गई। मृद्धाण्डों के निर्माण की प्रक्रिया मध्य पाषाण युग के अन्तिम चरण से प्रारम्भ हो गयी थी। प्रारम्भ में मृद्धाण्ड हाथ से बनाये जाते थे तथा मिट्टी को बांस की टोकरी के ऊपर रखकर उसी के अनुरूप मिट्टी को आकार देते थे और फिर उसे धूप में सुखा कर प्रयोग करते थे। नवपाषाण काल के आते-आते मृद्धाण्डों को विभिन्न आकार दिए गए, जैसे कड़ाही, मटके और खाने के बर्तन इत्यादि। लगभग चौथी सहस्राब्दी ईसा पूर्व के पश्चात हिन्द महासागर के किनारे कई नदीय सभ्यताओं का विकास हुआ; उनमें सिन्धु सभ्यता का विकास सिन्धु-सरस्वती नदियों के मध्य हुआ तथा यह संसार की सबसे अधिक क्षेत्र में फैली हुई सभ्यता थी। इस सभ्यता के समय मृद्धाण्डों का अधिकतम विकास हुआ। मृद्धाण्डों को चाक के ऊपर बनाया जाता था तथा उन्हें अतिसुन्दर रंगों से चित्रित किया जाता था। अंततः उन्हें सुखाकर आवां में पकाया जाता था।

पुरातत्व के अध्ययन की शुरुआत मृद्धाण्डों से की जाती है तथा मृद्धाण्डों के अध्ययन को पुरातत्त्व का प्रारंभिक चरण भी कहा जाता है। मानव ने जब गुफा से निकलकर नदियों, झीलों और तालाबों के किनारों को अपना आवास स्थल बनाया और भोजन इत्यादि इकट्ठा किया तो उसे कुछ ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता हुई जिससे वह भोजन को पकाकर खा सके और उसे सुरक्षित रख सके। उसकी इसी आवश्यकता ने संभवतः मिट्टी को एक आकार देने की प्रेरणा दी। फलतः मृद्धाण्ड बनाने की प्रकिया का जन्म हुआ जिसने भविष्य में मानव सभ्यता के उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

2.3.1 नवपाषाण कालीन मृद्धाण्ड संस्कृति

नवपाषाण काल में हस्त निर्मित मृद्धाण्डों का प्रचलन बहुत अधिक था। धूसर पात्र-परम्परा (grey ware), घर्षित धूसर (burnished grey ware), काली घर्षित पात्र - परम्परा (black burnished. ware) तथा लाल रंग के मृद्धाण्ड मुख्यतः प्रचलित थे। नवपाषाणकाल के प्रारम्भिक चरणों के बर्तन अच्छी तरह तैयार मिट्टी से निर्मित नहीं हैं। ये भली-भांति पके भी नहीं

हैं। इनकी पेंदी में चटाई की छाप का भी अलंकरण मिला है। कुछ पुरास्थलों से डोरी छाप मृद्धाण्ड (cord-impressed pot- tery), खुरदरे मृद्धाण्ड (rusticated ware), चमकाये मृदभाण्ड (bumished ware) मिले हैं। डोरी- छाप मृद्धाण्ड इस नए पाषाणिक संस्कृति के विशिष्ट मृद्धाण्ड प्रतीत होते हैं। इनकी बाहरी सतह पर डोरी अथवा बटी हुई रस्सी की छाप मिलती है। इस वर्ग के मृद्धाण्ड हल्के लाल रंग तथा अधिकांशतः मोटी गढ़न (thick fabric) के हैं। प्रमुख पात्र- प्रकारों में छिछले एवं गहरे कटोरे, टोंटीदार कटोरे (spouted bowls) तथा घड़े विशेष उल्लेखनीय हैं। खुरदरे मृदभाण्डों का रंग भी हल्का लाल है लेकिन इनके बाहरी भाग विशेषकर निचले हिस्से को जानबूझ कर खुरदरा बनाया गया है। इस श्रेणी के बर्तनों को आड़े-तिरछे तथा अंगुष्ठ-नख डिजाइनों से अलंकृत किया गया है। विविध प्रकार के कटोरे, छिछले तसले, तश्तरियां, चौड़े मुंह की हांडियां तथा घड़े प्रमुख पात्र प्रकार हैं। चमकाये गए मृद्धाण्ड की श्रेणी के बर्तन की भीतरी एवं बाहरी सतहों को पकाने के पूर्व किसी चीज से रगड़ कर चमकाया गया है। लाल एवं काले दोनों ही प्रकार के मृद्धाण्ड इस श्रेणी में मिलते हैं। कटोरे, तश्तरियां, तसले तथा घड़े प्रमुख पात्र प्रकार मिलते हैं। दक्षिण भारत को नवपाषाण संस्कृति के स्थलों से धूसर एवं लाल रंग के मृद्धाण्ड मिलते हैं। पकाने के बाद मिट्टी के बर्तनों पर अलंकरण भी किया जाता था। ब्रह्मगिरि, मास्की एवं पिकलीहल से चित्रकारी से युक्त मृद्धाण्ड के ठीकरे मिले हैं। चित्रित अभिप्रायों में रेखांकितियां प्रमुख है जिन्हें पकाने के बाद बैंगनी रंग से बनाते थे। सलेटी रंग के बर्तनों पर गैरिक रंग से पट्टी (band) बनाते थे। कभी-कभी बर्तन की बाहरी सतह को रगड़ कर चमकाया जाता था। प्रमुख पात्र प्रकारों में तश्तरियां, कटोरे, घड़े तथा बर्तनों के ढक्कन आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा एवं उत्तरपूर्व राज्यों के नवपाषाणिक पुरास्थलों से हस्त निर्मित एवं चाक पर बने मृद्धाण्ड मिलते हैं। प्रमुख मृद्धाण्ड लाल, सलेटी तथा कृष्ण लोहित हैं। कुछ पात्रों को पकाने के पूर्व चमकाया गया था। सलेटी एवं कृष्ण- लोहित मृद्धाण्डों में पकाने के बाद गैरिक रंग की चित्रकारी की गयी थी। अलंकरण - अभिप्रायों में पांच से सात तिरछी रेखाएं, संकेन्द्रिक अर्द्धवृत्त एवं वृत्त, लहरिया रेखाएं आदि प्रमुख हैं। चिपकवां (applique) तथा उत्कीर्ण अलंकरण बनाने की भी थी। प्रमुख पात्र प्रकारों में कटोरे, तसले, कलश, घड़े और टोंटीदार बर्तनों का उल्लेख किया जा सकता है | उत्तरपूर्व क्षेत्र में स्थित दओजली हैडिंग के उत्खनन से भूरे रंग के मृद्धाण्ड मिले हैं। इस प्रकार के मृद्धाण्डों के निर्माण में प्रयुक्त मिट्टी भली-भांति गुँथी हुई नहीं है। वनस्पतियों के रेशों (fibres) को सालन के रूप में इस्तेमाल किया गया है। बर्तन मोटे तथा मध्यम गढ़न के मिलते हैं जो भली-भांति पकाये गए नहीं प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के बर्तनों की बाह्य सतह पर डोरी या टोकरी की छाप अंकित मिलती है। लाल रंग के मृद्धाण्ड चाक पर बनाए गए हैं। इनकी मिट्टी भी अपेक्षाकृत अच्छी तरह से तैयार की गई है तथा ये ठीक से पके हुए भी हैं। लाल रंग के मृद्धाण्डों के पात्र प्रकारों के सम्बंध में निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है।

2.3.2 आद्य ऐतिहासिक मृद्धाण्ड संस्कृति

सिन्धु सभ्यता भारत में इस युग की प्रमुख संस्कृतियों में से एक है। इसके अलावा सिन्धु सभ्यता पूर्व संस्कृतियां (pre-Harappan) और सिन्धु सभ्यता पश्चात ताम्रपाषाणिक संस्कृतियां प्रमुख हैं। सर्वप्रथम सिन्धु सभ्यता पूर्व के मृद्धाण्डों की विशेषताओं का उल्लेख करते हैं:-

बीसवीं शताब्दी के मध्य दशकों में कई ऐसे पुरा- स्थलों की खोज सिन्ध, पंजाब तथा उत्तरी राजस्थान के क्षेत्रों में की गई है, जहां पर सिन्धु सभ्यता के नीचे स्थित स्तरों से एक विशिष्ट प्रकार के पुरावशेष उत्खनन के द्वारा प्राप्त हुए हैं। ऐसे पुरास्थलों में सिन्ध में कोटदीजी, पंजाब में हड़प्पा और उत्तरी राजस्थान में स्थित कालीबंगा का उल्लेख किया जा सकता है।

कोटदीजी से प्राप्त मृद्भाण्ड भली-भांति तैयार मिट्टी से बने हैं। पतले एवं सुन्दर मृद्भाण्डों की पृष्ठभूमि गुलाबी से लाल, काले, भूरे एवं सफेद रंगों से बर्तनों की बारी (rim) तथा गर्दन के पास पट्टियां बनाई गई हैं और लहरदार रेखाओं को मिलाकर पात्रों पर अलंकरण बनाए गए हैं। इन्हीं से कालान्तर में मत्स्य - शल्क (fish-scale) डिजाइन का विकास हुआ जिनका अंकन बाद में सिन्धु पात्र - परम्परा में मिलता है। प्रमुख पात्र प्रकारों में बिना बारी वाले तथा बारी युक्त घड़े, कटोरे, साधार तश्तरियां आदि प्रमुख हैं। हड़प्पा से प्राप्त इस काल के मृद्भाण्डों पर लाल या गहरे बैंगनी रंग का लेप था और ऊपरी सतह सादी थी। आड़ी-काली धारियों और लटकन के बने अलंकरण बारी के पार्श्व तक सीमित मिलते हैं। कालीबंगा से प्राप्त अधिकांश मृद्भाण्ड चाक-निर्मित एवं पतली गढ़न के हैं। इनका रंग लाल एवं गुलाबी है
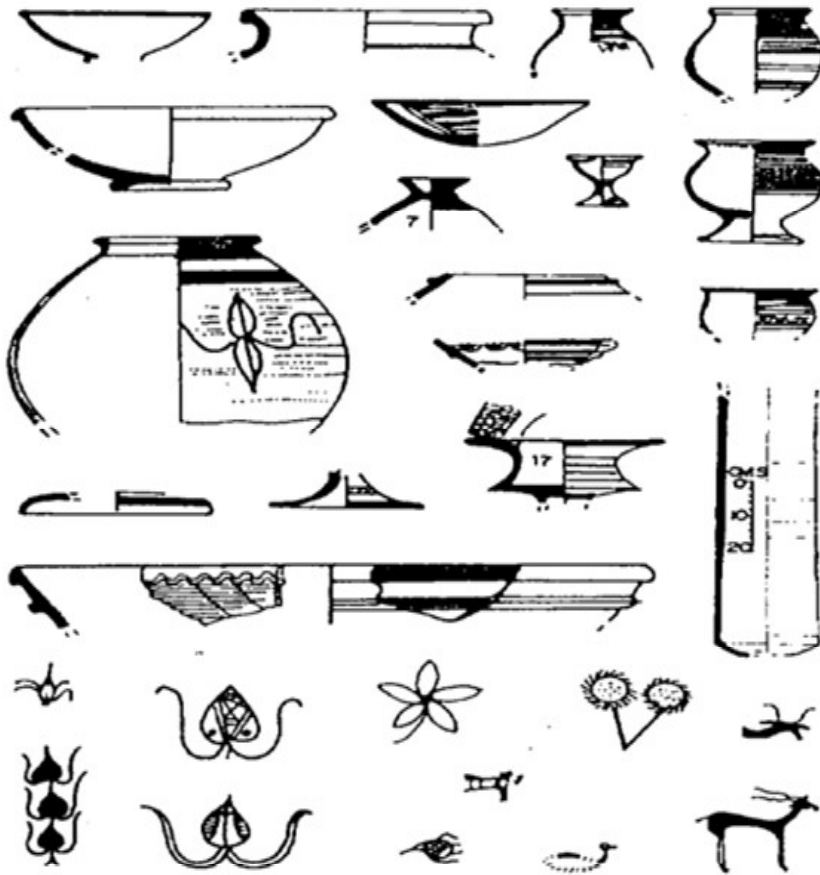
चित्र सं. 1 हड़प्पा पूर्व संस्कृति के मृद्भाण्डों पर की गई चित्रकारी

तथा इन पर काले और यदा-कदा सफेद रंग से चित्रकारी की गई है। मृद्भाण्डों पर सँजोए गए प्रमुख अलंकरण-अभिप्रायों में चौखानेदार त्रिकोण, मूँछ के आकार के द्विपट्ट, मत्स्य- शल्क, पेड़-पौधे, तितली, बिच्छू, मछली, बतख, हिरन, जंगली बकरे और सांड आदि (चित्र सं. 1) हैं। प्रमुख पात्र - प्रकारों में पेंदीदार और सँकरे मुँह के कलश, वर्तुलाकार एवं चपटी पेंदी के घड़े, छोटे तथा बड़े आकार के मटके, गहरे कटोरे, सपाट कटोरियाँ, साधार तश्तरियां, तसले, ढक्कन

आदि उल्लेखनीय हैं। कालीबंगा के सिन्धु सभ्यता पूर्व मृद्भाण्डों को उनके आकार- प्रकार एवं अलंकरण - अभिप्रायों के आधार पर पांच वर्गों में विभाजित किया गया है।

2.3.3 सिन्धु सभ्यता की मृद्भाण्ड संस्कृति

सिन्धु सभ्यता अपने समकालीन संसार की सभी सभ्यताओं से अधिक क्षेत्र में फैली हुई थी। इसका विस्तार उत्तर में मांडा (जम्मू कश्मीर) से लेकर दक्षिण में दायमाबाद (महाराष्ट्र) तक तथा पश्चिम में सुतकाजेन-डोर (पाकिस्तान) से लेकर पूर्व में आलमगीरपुर (उत्तर प्रदेश) तक फैला हुआ है। भारत में प्रमुख उत्खनित सिन्धु सभ्यता के पुरास्थलों में कालीबंगा, लोथल, धोलावीरा, सुरकोटडा, बनावली, राखीगढ़ी, रोपड़, रंगपुर, कुन्तासी, बगसरा, आलमगीरपुर और कुडाल प्रसिद्ध है। सिन्धु सभ्यता के अपनी समकालिक सभ्यताओं से व्यापारिक सम्बन्ध थे। इसकी पुष्टि मेसोपोटामिया तथा खाड़ी देशों से प्राप्त सिन्धु सभ्यता की मुहरों, मनकों एवं मृद्भाण्डों से होती है।
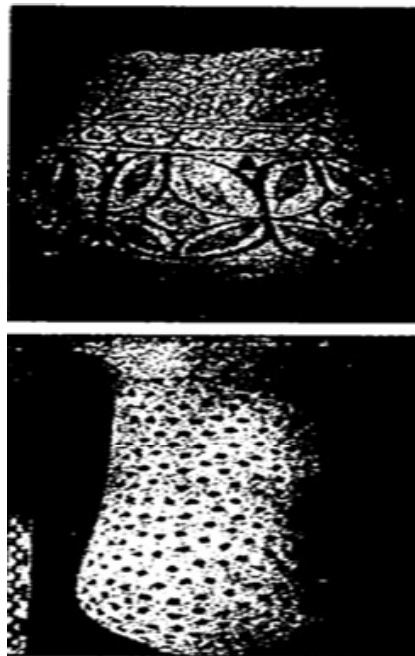
चित्र सं. 2 लोथल से प्राप्त हड़प्पा कालीन मृद्भाण्ड पर की गई चित्रकारी

इस सभ्यता के मृद्भाण्ड अच्छी तरह से तैयार की गयी मिट्टी से बने चाक-निर्मित हैं तथा अधिकांश को भली-भांति आवें में पकाया गया था। आवें सम्भवतः बस्ती के बाहर होते थे लेकिन सिन्धु सभ्यता के अन्तिम चरण में मोहनजोदड़ो में नगर के अन्दर वृत्ताकार आवें मिले हैं। मृद्भाण्ड मुख्यतः लाल अथवा गुलाबी रंग के हैं जिनके ऊपर लाल रंग का चमकदार लेप किया गया है। चित्रित एवं सादे दोनों प्रकार के पात्र मिलते हैं लेकिन अनलंकृत पात्रों का आधिक्य दृष्टिगोचर होता है। अधिकांश अलंकरण- अभिप्राय काले रंग से सँजोये गए हैं। परन्तु कभी-कभी सफेद एवं हरे रंगों का भी प्रयोग किया गया है। त्रिभुज, वृत्त, वर्ग आदि ज्यामितीय आकृतियों, वनस्पतियों और पशु-पक्षियों का मुख्यतः अंकन किया गया है। मानवाकृतियों का चित्रण अत्यल्प है। वनस्पतियों में पीपल, खजूर, ताड़, नीम और केले का अंकन मिलता है। पशुओं में वृषभ, हिरन, बारहसिंघा और पक्षियों में मोर, बतख एवं सारस के चित्र मिले हैं। जल-जीवों में मछली का चित्रण विशेष लोकप्रिय रहा है। कतिपय पात्रों की बाहरी सतह पर

ठप्पा लगाया गया है। सिन्धु लिपि के अक्षरों से मिलते-जुलते आकार इन ठप्पों की छाप में मिलते हैं। उत्कीर्ण अलंकरण अत्यल्प संख्या में मिलते हैं। प्रमुख पात्र प्रकारों में साधार तश्तरियों, बेलनाकार बहुल छिद्रित पात्र (perforated jar), नुकीले आधार वाले चषक या कुल्हड़, लम्बे आकार के मर्तबान, साधारण थालियों, हत्थेदार प्याले, कलश, घड़े, मटके, नांद, तसले, घुण्डीदार ढक्कन आदि की गणना की जा सकती है। जामदानी, छिछली थालियां, नुकीले आधार वाले चषक और छिद्रित पात्र सैंधव सभ्यता के विशिष्ट मृद्भाण्ड (चित्र सं. 2 एवं 3) हैं।

मृद्भाण्डों पर अंकित प्रतीक
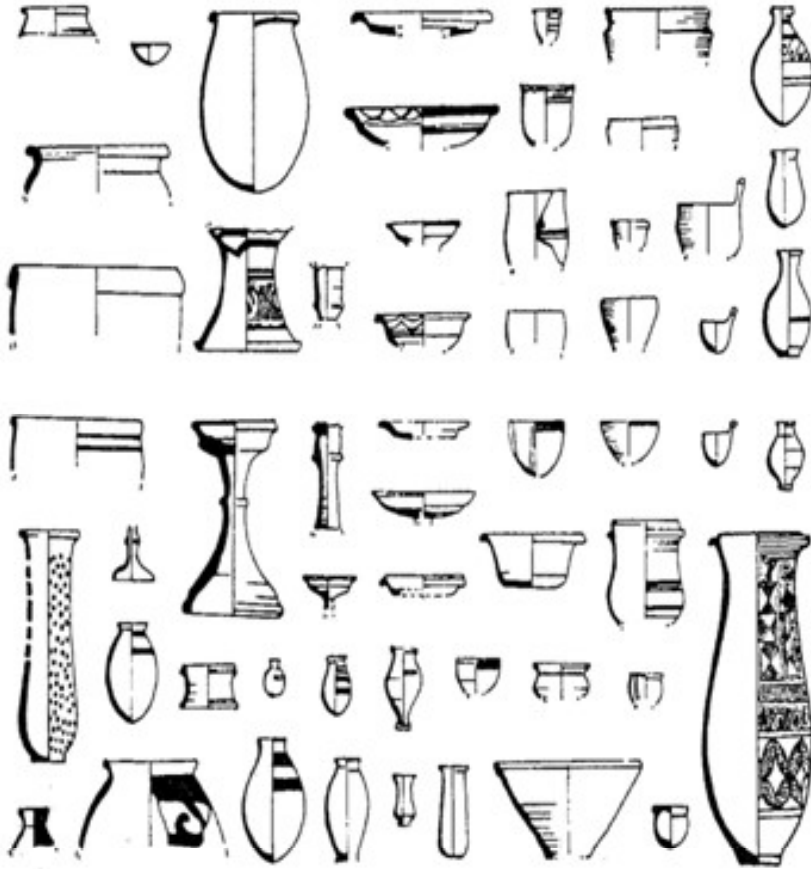
चित्र सं. 3 लोथल से प्राप्त हड़प्पा कालीन मृद्भाण्ड पर की गई चित्रकारी

इस सभ्यता की प्रमुखता यह है कि प्रत्येक पुरास्थल से एक ही तरह के मृद्भाण्ड मिलते हैं। सिन्धु सभ्यता के पतन के पश्चात गुजरात के रंगपुर, लोथल, प्रभासपाटन, रोझदी एवं सुरकोटडा आदि पुरास्थलों के उत्खनन से प्राप्त मृद्भाण्डों के ठीकरों से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में सिन्धु सभ्यता विघटित होकर चमकीले लाल रंग के मृद्भाण्डों में परिवर्तित हो गयी। सैंधव मृद्भाण्डों का प्रचलन लाल रंग के मिट्टी के इन बर्तनों के साथ-साथ किंचित काल तक चलता रहा। ऊपरी घाटी में सिन्धु सभ्यता के अन्तिम चरण में विकसित संस्कृति को प्रायः परवर्ती हड़प्पा संस्कृति कहा जाता है। इस संस्कृति के प्रमुख पुरास्थलों में पंजाब के कटपलों, नागर, दधेरी, हरियाणा के भगवानपुरा, जम्मू-कश्मीर के माण्डा, उत्तर प्रदेश के आलमगीरपुर, बड़ागांव, आमखेड़ी तथा हुलास आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इन पुरास्थलों से प्राप्त मृद्भाण्डों में साधार तश्तरियों, जामदानियों, चषकों (कुल्हड़), कलशों, मटकों आदि की गणना की जा सकती है। सिन्धु सभ्यता के बेलनाकार बहुत छिद्रित मृद्भाण्ड जो सिन्धु सभ्यता की खास

विशेषता माने जाते हैं, परवर्ती हड़प्पा संस्कृति के पुरावशेषों में नहीं मिलते हैं। भगवानपुरा में परवर्ती हड़प्पा संस्कृति एवं चित्रित धूसर पात्र - परम्परा के बीच अतिव्याप्ति मिलती है।

2.3.4 ताम्रपाषाणिक मृद्धाण्ड संस्कृति

पिछले कई वर्षों में भारतीय पुरातत्व के क्षेत्र में जो अन्वेषण तथा उत्खनन हुआ है उनके परिणामस्वरूप अनेक ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई है जिनका उदय द्वितीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व में हुआ। भारतीय ताम्र-पाषाणिक संस्कृतियां ग्राम्य-संस्कृतियां हैं। आर्थिक दृष्टि से इनमें आपस में कोई विशेष अन्तर नहीं है किन्तु प्रत्येक ताम्र-पाषाणिक संस्कृति की अपनी विशिष्ट परम्परा है। कुछ महत्वपूर्ण ताम्र-पाषाणिक संस्कृतियों की मृद्धाण्ड परम्परायें निम्नलिखित हैं।

कायथा ताम्रपाषाणिक संस्कृति के प्रमुख मृद्धाण्डों में पतली गढ़न, भूरे रंग के पात्र हैं जिनकी बारी से लेकर गर्दन तक अथवा यदा-कदा सम्पूर्ण ऊपरी सतह तक लाल अथवा भूरे रंग का गाढ़ा प्रलेप मिलता है। इसी प्रलेप के ऊपर बैंगनी रंग के रेखाचित्र बने हुए प्राप्त होते हैं। प्रमुख पात्र प्रकारों में हांडियों, तसलों, कटोरों, घड़ों तथा संग्रह के लिए प्रयुक्त मटकों का उल्लेख किया जा सकता है। अधिकतर पात्रों की पेंदी में वलयाकार आधार मिलता है। एक अन्य पात्र-परम्परा पाण्डु रंग की है जिसका निर्माण अच्छी तरह से तैयार की गयी मिट्टी से किया गया है। पात्र पतले तथा सुन्दर गढ़न के हैं। पात्रों पर लाल रंग से चित्रण - अभिप्राय सँजोए गए हैं। प्रमुख ज्यामितीय अलंकरणों में छल्ले, वंदनवार, जालीदार हीरक एवं तिरछी रेखायें आदि हैं। मध्यम आकार के लोटों के अतिरिक्त घड़े तथा तसले अन्य प्रमुख प्रकार हैं। इसके अलावा एक अन्य पात्र - परम्परा अनलंकृत लाल रंग की है। जिसमें किसी प्रकार के प्रलेप या घोल का प्रयोग नहीं किया गया है। लहरदार तथा रेखांकन युक्त सीढ़ियां, हरिक एवं त्रिअरी आदि आकृतियां बर्तनों के केवल कंधे के आस-पास आरेखित मिलती हैं। कटोरे एवं तसले प्रमुख पात्र हैं। एक अन्य ताम्रपाषाणिक संस्कृति जिसका विकास राजस्थान में हुआ, अहाड़ नाम से प्रसिद्ध है। इस संस्कृति के लोग कई तरह की पात्र परम्पराओं का प्रयोग करते थे। इनमें श्वेत रंग से चित्रित कृष्ण- लोहित पात्र - परम्परा को अहाड़ संस्कृति की विशिष्ट मृद्धाण्ड परम्परा माना जाता है जिसके पात्रों में रेखीय और ज्यामितीय आकृतियों के अलंकरण - अभिप्राय अधिकतर अंकित मिलते हैं। अन्य पात्र - परम्पराओं में पाण्डु, कृष्ण-लोहित, चमकीली धूसर पात्र - परम्परा तथा लाल रंग की मृद्धाण्ड परम्परा आदि का उल्लेख किया जा सकता है। कृष्ण-लोहित पात्र परमपरा में कटोरे सबसे अधिक मात्रा में मिलते हैं। धूसर पात्र - परम्परा में गोल आकार के घड़े, तसले, साधार तश्तरियां और ढक्कन प्रमुख पात्र- प्रकार हैं। लाल रंग की पात्र- परम्परा में घड़े, कटोरे, तश्तरियां और साधार तश्तरियां मिलती हैं। महाराष्ट्र प्रान्त में एक अन्य ताम्रपाषाणिक संस्कृति का विकास हुआ जिसे जोर्वे निवासा के नाम से जाना जाता है। इस संस्कृति की पात्र - परम्परा के अपने विशिष्ट पात्र- प्रकार चित्रण - अभिप्राय और निर्माण की एक विशिष्ट तकनीक है। पात्रों के ऊपर लाल रंग का प्रलेप मिलता है। कभी-कभी बर्तनों के ऊपर घिसकर चमकाने के भी साक्ष्य मिलते हैं। पात्रों का निर्माण अच्छी प्रकार से तैयार की गयी मिट्टी से किया गया है तथा इसमें बालू को पर्याप्त मात्रा में मिलाया गया है। अधिकांश पात्र अच्छी तरह से पके हुए हैं। सम्भवत: इन्हें पकाने के लिए एक विशेष तरह के आवें का प्रयोग किया गया होगा। इस संस्कृति के कुम्भकारों को इस बात की जानकारी अच्छी तरह से थी कि बर्तनों को अच्छी तरह पकाने के लिए कितने तापक्रम की आवश्यकता होगी। बर्तन प्रायः चाक पर बने हुए हैं लेकिन उनके कुछ हिस्सों, जैसे टोंटी आदि को हाथ से बनाया जाता था। इस पात्र - परम्परा में कई

तरह के पात्र - प्रकार मिलते हैं जिनमें टोंटीदार बर्तन (चित्र संख्या: 4) कोखदार कटोरे, छोटी तथा बड़ी गर्दन वाले बर्तन, तसले, गहरे कटोरे आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बड़े-बड़े मटकों तथा घड़ों आदि की भी गणना की जा सकती है। जोर्वे पात्रों की निष्प्रभ लाल सतह पर काले रंग में चित्रण
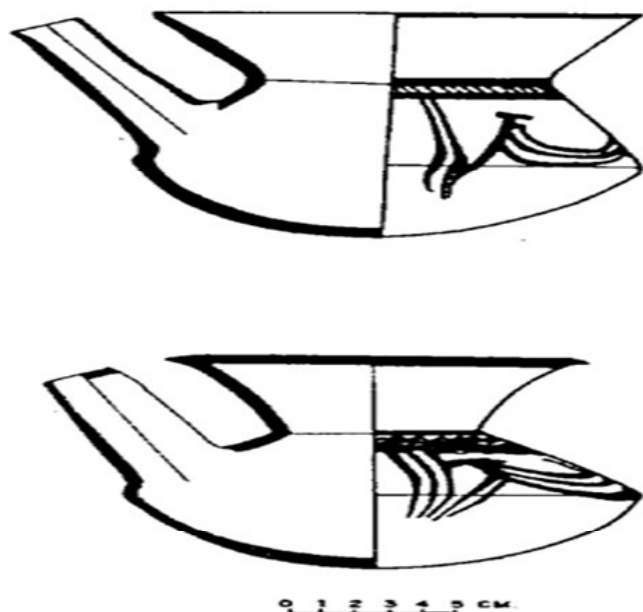
चित्र संख्या: 4 ताम्रपाषण कालीन टोंटीदार मृद्भाण्ड पर की गई चित्रकारी

सँजोये गए हैं। ये चित्रण - अभिप्राय आसानी से मिटाए नहीं जा सकते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बर्तनों के पकाने के पहले ही चित्रण - अभिप्राय सँजोये गए थे। अधिकांश चित्रण पड़ी रेखाओं के माध्यम से किए गए हैं। चतुर्भुज, टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं तथा त्रिभुज प्रमुख ज्यामितीय अलंकरण हैं। वनस्पति और फूल-पत्ती भी दिखलाई पड़ती हैं परन्तु इनकी संख्या बहुत कम है। जानवरों का भी चित्रण मिलता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों के लोगों ने मृद्भाण्ड परम्परा को उच्चतम शिखर तक पहुँचाया तथा अपनी सम्पन्नता को उच्च स्तर के मृद्भाण्डों द्वारा दर्शाने की कोशिश की।

2.3.5 लौह युग की मृद्भाण्ड संस्कृति

हाल के संशोधनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत में लोहे का ज्ञान द्वितीय सहस्राब्दी की अंतिम शताब्दियों में हुआ। इस समय कई पात्र - परम्पराओं का विकास हुआ। इनमें चित्रित धूसर पात्र - परम्परा सबसे पुरानी एवं महत्वपूर्ण है। इस पात्र - परम्परा का प्रसार पंजाब, हरियाणा, उत्तरी राजस्थान और ऊपरी गंगा घाटी में विशेष रूप से मिलता है। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड- परम्परा के पात्र सुन्दर, चिकनी मिट्टी के बने हुए प्रतीत होते हैं। बर्तन बनाने के लिए मिट्टी को अच्छी तरह गूँथकर तैयार किया जाता था। बहुसंख्यक पात्र चाक पर बने हुए हैं। प्रमुख पात्र प्रकारों में कटोरे और थालियां उल्लेखनीय हैं। पंजाब के एक पुरास्थल से प्राप्त लोटा भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकार है। इस प्रकार यह पात्र परम्परा भोजनालय से सम्बद्ध पात्र-परम्परा प्रतीत होती है। इस प्रकार के बर्तनों पर मिलने वाले चित्रण - अभिप्रायों में खड़ी तथा पड़ी रेखाएं, तिरछी रेखाएं, बिन्दु समूह, संकेन्द्रीयवृत्त, सिगमा एवं स्वास्तिक आदि प्रमुख हैं। चित्रण - अभिप्राय अधिकांशतः बर्तनों की बाहरी सतह पर मिलते हैं लेकिन यदा-कदा भीतर-

बाहर दोनों तरफ भी अलंकरण मिलते हैं। ये अलंकरण सामान्यतया हल्के रंग से बनाए गए हैं परन्तु कभी-कभी कत्थई रंग का भी प्रयोग किया गया है। बर्तनों के थोड़ा सूखने पर तथा पकाने के पहले अलंकरण सँजोए जाते थे। बर्तनों को एक विशेष प्रकार के आवें में पकाया जाता था जिसका तापमान क्रमशः कम होता जाता था। बर्तन सम तापमान पर नहीं पक पाते थे इसलिए ये प्रायः लाल रंग के न होकर धूसर रंग के हो जाते थे। इस पात्र - परम्परा के साथ-साथ धूसर पात्र - परम्परा, कृष्ण - लोहित पात्र - परम्परा तथा लाल पात्र- परम्परा के अवशेष मिलते हैं। चित्रित धूसर पात्र - परम्परा विशिष्ट एवं भोजनालय से सम्बन्धित पात्र - परम्परा थी।

दक्षिण भारत में लोहयुग की अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कृति बृहत्पाषाणिक संस्कृति के नाम से जानी जाती है। इस संस्कृति की एक महत्वपूर्ण मृद्भाण्ड परम्परा को कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड (Black and Red Ware) परम्परा कहते है। इस तरह के मृद्भाण्ड दक्षिण भारत की सभी बृहत्पाषाणिक समाधियों और इस संस्कृति से सम्बद्ध आवास-स्थलों पर मिलते हैं। इस मृद्भाण्ड परम्परा के पात्रों का सम्पूर्ण आन्तरिक भाग और गर्दन का भाग काले रंग का तथा शेष बाहरी भाग लाल रंग का होता है। इस प्रकार के मृद्भाण्ड सर्वप्रथम दक्षिण भारत की बृहत्पाषाणिक समाधियों के साथ उपलब्ध हुए थे अतएव प्रारम्भ में इन्हें बृहत्पाषाणिक कृष्ण-लोहित पात्र - परम्परा की संज्ञा दी गयी थी। इनके प्रमुख पात्र-प्रकारों में छोटे किनारे वाली छिछली थालियां, ऊंची बारी के गहरे कटोरे, घुण्डीदार ढक्कने, घड़े तथा मटके आदि हैं।

लगभग छठी शताब्दी ईसा पूर्व के समय उत्तर भारत में एक विशिष्ट प्रकार की मृद्भाण्ड परम्परा अस्तित्व में आयी जिसे उत्तरी काली चमकीली मृद्भाण्ड परम्परा (North Black Polished Ware) के नाम से जानते हैं। सर्वप्रथम इस तरह के पात्र तक्षशिला के उत्खनन से सन् 1934 में प्राप्त हुए थे। इसका प्रसार उत्तर में नेपाल में स्थित तिलौराकोट से दक्षिण में तमिलनाडु में स्थित कोरकई तक, पश्चिम में अफगानिस्तान में बेग्राम से लेकर पूर्व में बांग्लादेश में स्थित बानगढ़ तक है। इस पात्र - परम्परा के मृद्भाण्डों का निर्माण भली-भांति तैयार की गई मिट्टी से किया गया है। बर्तन समान गति से चलनेवाले चाक पर निर्मित प्रतीत होते हैं। इस परम्परा के बर्तन पतले एवं हल्के मिलते हैं, बर्तन अत्यन्त ऊँचे तापक्रम वाले आवों में पकाए गए हैं इसीलिए उनमें धातु के बने हुए बर्तनों जैसी सफाई और खनक मिलती है। इसके पात्र प्रकार सामान्य ढंग के मिलते हैं। अन्दर की ओर मुड़े हुए अथवा सीधे किनारे वाली थालियां, सीधे और उन्नतोदर कटोरे, ढक्कन सुस्पष्ट कोखवाली हांडियां तथा छोटे आकार के कलश प्रमुख पात्र प्रकार हैं। बहुसंख्यक पात्र काले रंग के मिलते हैं लेकिन सुनहले, रूपहले, चाकलेटी, गुलाबी एवं नीले रंग के ठीकरे मिलते हैं। प्रमुख अलंकरणों में पट्टी अथवा धारियां, बिन्दु समूह, रेखाएं, संकेंद्रित वृत्त, प्रतिच्छेदी वृत्त, अर्द्धवृत्त, लहरिया, पाश आदि हैं। अलंकरण काली, गुलाबी, पिंगल, गहरी भूरी तथा बादामी सतह पर मिलते हैं। ये सभी चित्रण गाढ़े काले रंग से किए गए हैं। चित्रित धूसर पात्र - परम्परा का इस परम्परा के चित्रण - अभिप्रायों पर प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इन चित्रणों के अतिरिक्त कुछ पात्र- खण्डों विशेषकर थाली एवं कलशों के अन्दर वृत्त, बिन्दु समूह, चक्र तथा वृषभ श्रृंग आदि की डिजाइनें ठप्पा लगाकर बनाई गई। उत्तर काले चमकीले मृद्भाण्ड स्पष्टतः जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त होने वाले मृद्भाण्ड नहीं थे। यह अभिजात्य वर्ग के व्यक्तियों द्वारा मुख्यतः भोजनालय में प्रयोग में लायी जाने वाली पात्र - परम्परा थी।

उपर्युक्त मृद्भाण्ड संस्कृतिओं के माध्यम से ही भारतीय इतिहास की संरचना हुई और कालक्रम का निर्धारण हुआ। इन मृद्भाण्डों की सहायता से ही प्राचीन भारत की आर्थिक परिस्थिति का

मूल्यांकन हुआ तथा दूसरे देशों से राजनैतिक एवं व्यापारिक सम्बन्धों के विषय में भी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है।

2.4 मृद्भाण्डों पर अंकित प्रतीकों का विश्लेषण

भारत में मृद्भाण्डों पर अंकित प्रतीक पुरातात्विक साक्ष्य के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण हैं। वे हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। इन प्रतीकों से हमें पता चलता है कि प्राचीन भारतीय लोग किस प्रकार के धार्मिक विश्वास रखते थे, उनके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन कैसा था? मृद्भाण्डों पर अंकित प्रतीकों से हमें प्राचीन भारतीय भाषाओं के बारे में भी जानकारी मिलती है।

भारत में मृद्भाण्ड पर अंकित प्रतीकों का सबसे पुराना साक्ष्य सिंधु घाटी सभ्यता से प्राप्त हुआ है। सिंधु घाटी सभ्यता के मृद्भाण्डों पर विभिन्न प्रकार के प्रतीकों पाए गए हैं, जिनमें से कुछ प्रतीकों का अर्थ अभी तक स्पष्ट नहीं है। हालांकि, कुछ प्रतीकों का अर्थ स्पष्ट है, जैसे कि सूर्य, चंद्रमा, तारे, पशु, पक्षी, पेड़-पौधे आदि। इन प्रतीकों से हमें पता चलता है कि सिंधु घाटी सभ्यता के लोग प्रकृति के प्रति आस्था रखते थे। वे सूर्य, चंद्रमा, तारे आदि को देवता मानते थे। वे पशुओं और पक्षियों को भी पूजते थे।

सिंधु घाटी सभ्यता के बाद भारत में कई अन्य सभ्यताओं का उदय हुआ, जिनमें से कुछ सभ्यताओं के मृद्भाण्डों पर भी प्रतीकों पाए गए हैं। इन प्रतीकों से हमें पता चलता है कि भारत में प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रकार के धार्मिक विश्वास प्रचलित थे। लोगों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी विभिन्न प्रकार के प्रतीकों का महत्व था। भारत में मृद्भाण्ड पर अंकित प्रतीकों का अध्ययन पुरातत्वविदों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इन प्रतीकों से हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। ये प्रतीक हमें प्राचीन भारतीय लोगों के धार्मिक विश्वासों, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन, भाषाओं आदि के बारे में भी महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं।

उत्तर वैदिक काल में मृद्भाण्डों का निर्माण अधिक कुशलता से किया जाने लगा। इस काल में मृद्भाण्डों को अधिक सुंदर और कलात्मक रूप दिया जाने लगा। उत्तर वैदिक काल के मृद्भाण्डों पर विभिन्न प्रकार के चित्र और प्रतीकों को उकेरा गया था। इन चित्रों और प्रतीकों से हमें इस काल के लोगों के धार्मिक विश्वासों, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के बारे में जानकारी मिलती है। उत्तर वैदिक काल के मृद्भाण्डों में सबसे प्रमुख प्रकार का मृद्भाण्ड चित्रित धूसर मृद्भाण्ड है। इस प्रकार के मृद्भाण्डों को भूरे रंग के मिट्टी से बनाया जाता था और उन पर विभिन्न प्रकार के चित्रों और प्रतीकों को उकेरा जाता था। इन चित्रों और प्रतीकों में पशु, पक्षी, पेड़-पौधे, धार्मिक प्रतीक आदि शामिल थे। चित्रित धूसर मृद्भाण्डों को उत्तर वैदिक काल के लोगों द्वारा धार्मिक और सामाजिक दोनों ही उद्देश्यों के लिए उपयोग किया जाता था।

वैदिक काल में मृद्भाण्डों का निर्माण भी किया जाता था, लेकिन इस काल के मृद्भाण्ड उत्तर वैदिक काल के मृद्भाण्डों की तुलना में कम कुशलता से बनाए जाते थे। वैदिक काल के मृद्भाण्डों पर प्रायः कोई चित्र या प्रतीक नहीं उकेरा जाता था। वे प्रायः मोटे और बेल आकार के होते थे। वैदिक काल के मृद्भाण्डों को भोजन और पानी को रखने के लिए उपयोग किया जाता था। उत्तर वैदिक काल में मृद्भाण्डों के निर्माण में हुई प्रगति से हमें इस काल के लोगों के जीवन के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। यह प्रगति इस बात का प्रमाण है कि उत्तर वैदिक

काल के लोग अधिक कुशल और समृद्ध हो गए थे।

बौद्ध काल में मृद्धाण्डों का निर्माण एक महत्वपूर्ण उद्योग बन गया था। इस काल में मृद्धाण्डों का निर्माण अधिक कुशलता से किया जाने लगा और उन पर विभिन्न प्रकार के धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीक उकेरे जाने लगे। बौद्ध काल के मृद्धाण्डों में सबसे प्रमुख प्रकार का मृद्धाण्ड धूसर मृद्धाण्ड है। इस प्रकार के मृद्धाण्डों को भूरे रंग के मिट्टी से बनाया जाता था और उन पर विभिन्न प्रकार के धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीक उकेरे जाते थे। इन प्रतीकों में बुद्ध, बोधिसत्व, देवता, पशु, पक्षी, पेड़-पौधे आदि शामिल थे। धूसर मृद्धाण्डों को बौद्ध काल के लोगों द्वारा धार्मिक और सामाजिक दोनों ही उद्देश्यों के लिए उपयोग किया जाता था। बौद्ध काल में मृद्धाण्डों के निर्माण में हुई प्रगति से हमें इस काल के लोगों के जीवन के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। यह प्रगति इस बात का प्रमाण है कि बौद्ध काल के लोग अधिक कुशल और समृद्ध हो गए थे।

2.5 सारांश

पुरातात्विक उत्खनन से **प्राप्त** मृद्धाण्ड सांस्कृतिक परिवेश के अध्ययन के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं। विद्वानों ने मृद्धाण्ड पात्रों के आधार पर विभिन्न संस्कृतियों का नामकरण किया है। नवपाषाण काल के पश्चात मृद्धाण्ड उद्योग का विकसित रूप हड़प्पा कालीन संस्कृतियों के अध्ययन से विदित होता है कि इस संस्कृति के लोग कटोरी, थालियाँ, घट, घटिका, लोटा, गिलास आदि अनेक पात्रों का प्रयोग करते थे। इन पात्रों पर विभिन्न प्रकार के अलंकरण भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें ज्यामितीय आकृतियां, पशु-पक्षियों के चित्र (वृषभ, हिरण, मोर) उल्लेखनीय हैं। वनस्पतियों में पीपल, खजूर, ताड़ व केला का अंकन पात्र - खण्डों पर दिखाई देता है। पात्र खण्डों पर बने अलंकरणों से तत्कालीन जनों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण संकेत मिलते हैं। धार्मिक कृत्यों के लिए पूजा हेतु छिद्रदार परफोरेटेड घटों का निर्माण उनकी पूजावृत्ति का द्योतक है। हड़प्पाकाल के पश्चात गैरिक मृद्धाण्डों का काल-क्रम आता है। पात्रों की बनावट से यह सूचित होता है कि यह नवीन संस्कृति हड़प्पा की तुलना में अविकसित थी। गैरिक मृणभाण्ड संस्कृति के पात्र गेरुये रंग के हैं जो भली प्रकार से पकाए गए नहीं हैं। तिथि-क्रम की दृष्टि से यह संस्कृति ऋग्वेद की तिथिक्रम से साम्य रखती है। इनके रहन-सहन के बारे में ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग यायावरीय जीवन-यापन करते थे। यह संस्कृति पूर्ववर्ती संस्कृति से निम्न स्तर की थी। इस मृद्धाण्डों के साथ कतिपय स्थलों से जो ताम्रोंपकरण प्राप्त हुए हैं वे गैरिक मृद्धाण्ड संस्कृति के स्वरूप पर रोचक प्रकाश डालते हैं।

गैरिक मृद्धाण्ड संस्कृति के पश्चात धूसर मृद्धाण्ड संस्कृति मिलती है, जिनमें चित्रित धूसर भाण्ड संस्कृति प्रमुख है। यह संस्कृति उक्त सभी संस्कृतियों से भिन्न है। इस काल के पात्रों की बनावट, उनकी चित्रकारी, मृद्धाण्ड चयन आदि सभी गुणात्मक ढंग से उन्नत है। चित्रित धूसर पात्रों के साथ सर्वप्रथम लोहा अतरंजीखेड़ा में मिला है। यह संस्कृति विशुद्ध ग्रामीण थी। इससे सम्बन्धित स्तरों में कहीं भी पकी ईंटों के नमूने प्राप्त नहीं हुए हैं। इसलिए अधिकांश विद्वानों का अनुमान है कि ये लोग मिट्टी के बने हुए कच्चे भवनों में रहते थे। कभी-कभी मकान की दीवालें जमीन में बांस बल्ली गाड़कर बनाई जाती थी। अन्दर की दीवाल मिट्टी से लेपकर चिकना व आरामदायक बनाने का प्रयास किया जाता था। उत्खनन से इस प्रकार की छपाई - लिपाई में प्रयुक्त मिट्टी के जो टुकड़े मिलते हैं उनमें सरकण्डों की छाप मिलती है। उत्खनन से प्राप्त विविध

पुरावशेषों में विभिन्न प्रकार के मृत्पात्र (घड़े, मटके, तसले, कटोरे) तथा लोहे, ताँबे के बने औजार प्रमुख हैं। चित्रित धूसर पात्र परम्परा उत्तर वैदिक आर्य संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है।

चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के पश्चात उत्तरी काली चमकीली मृद्भाण्ड संस्कृति भारतीय पुरातत्व के इतिहास में एक अत्यन्त उज्ज्वल अध्याय का सूत्रपात करती है। इस युग में मृद्भाण्ड उद्योग पात्र निर्माण की दिशा में अपनी चरमोत्कर्ष पर पहुंचता है। उत्तरी काले चमकीले मृद्भाण्ड सुनहले, रजत, चाकलेटी एवं गुलाबी अनेक प्रकार के रंगों में लेप किए हुए उपलब्ध होते हैं। इन मृद्भाण्डों की बनावट एवं डिजाइनों से यह बोध होता है कि इस समय का समाज कला-कौशल की दृष्टि से अति उन्नत था। पात्रों पर बने प्रमुख अलंकरण अभिप्रायों में धारियाँ (Bands) बिन्दु समूह रेखाएँ, अर्द्धवृत्त लहरियाँ आदि हैं। इन चित्रणों के अतिरिक्त कतिपय पात्र-खण्डों पर विशेषकर थाली एवं कलशों के अन्दर वृत्त, बिन्दु समूह चक्र, वृषभ श्रृंग आदि का ठप्पा लगाकर डिजाइनें बनाई गई हैं। ये अलंकरण तत्कालीन जनों के कलात्मक अभिरूचि की ओर इंगित करते हैं। यह काल भारतीय इतिहास में मृद्भाण्ड उद्योग का स्वर्णकाल था। इसी काल में संभवतः मुद्रा का प्रचलन हुआ। यह वह समय प्रतीत होता है जबकि पात्रों का व्यापार भी प्रारम्भ हुआ। यद्यपि पात्रों के व्यापार के स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं, किन्तु विशिष्ट पात्रों के प्राप्ति स्थलों की दूरी से ज्ञात होता है कि पात्र एक स्थान से दूसरे स्थान पर विनिमय या विक्रय के माध्यम से जाते थे। इन मृद्भाण्डों से सम्बद्ध पुरावशेष महाजनपद युग से मौर्य युग तक की भौतिक संस्कृति को उद्घाटित करते हैं। सम्बद्ध अवशेषों से संकेत मिलता है कि उत्तरी काले चमकीले मृण्भाण्ड परम्परा के लोग एक उच्चस्तरीय एवं विशिष्ट जन के रूप में अपना सामाजिक एवं आर्थिक जीवन व्यतीत करते थे। **इस प्रकार** मृद्भाण्डों **पर अंकित प्रतीकों के अध्ययन से हमें प्राचीन भारतीय लोगों के जीवन के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इन प्रतीकों से हमें पता चलता है कि प्राचीन भारतीय लोग बहुत समृद्ध संस्कृति और सभ्यता के थे। वे धार्मिक और सामाजिक रूप से उन्नत के साथ- साथ कला और शिल्प में भी बहुत कुशल थे।**

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

- **मृद्भाण्ड : मिट्टी से बने बर्तन या पात्र।**
- **प्रतीक: कोई भी चिह्न या आकृति जो किसी विशेष चीज़ या विचार का प्रतिनिधित्व करती है।**
- **उत्खनन: धरती में दबे हुए अवशेषों को खोदकर निकालने की क्रिया।**
- **पुरातत्व: प्राचीन काल के लोगों और सभ्यताओं के बारे में अध्ययन करने वाला विज्ञान।**
- **ऐतिहासिक समय:** पुरातात्विक उत्खनन के माध्यम से हम विभिन्न ऐतिहासिक समयों की जानकारी प्राप्त करते हैं जो हमें मानव सभ्यता के विकास की कहानी को समझने में मदद करती है।
- **पुरातात्विक खंड:** ये विभिन्न स्थलों में प्राप्त किए गए पुरातात्विक साक्ष्य होते हैं, जैसे कि शिलालेख, मूर्तियाँ, आदि।

- **सांस्कृतिक परिवर्तन:** नवीन पुरातात्विक उत्खनन के माध्यम से हम समय के साथ सांस्कृतिक परिवर्तनों की समझ प्राप्त करते हैं और उनके पीछे के कारणों को समझते हैं।

2.7 सन्दर्भग्रन्थ सूची

- संकलिया, 1969, प्री-हिस्ट्री एण्ड प्रोटो हिस्ट्री इन इण्डिया, एंश्येंट इण्डिया नं0 09, पृ. 96
- एंश्येंट इण्डिया, 1969, नं0 11, वॉ0 33, पृ. 11
- राय, सीताराम, 1978, दि नादर्न ब्लैक पॉलिश्ड वेयर इन बिहार, पाटरीज इन एश्येंट इंडिया, पृ० 167
- इण्डियन आर्कियोलॉजी, 1961, एरिन्यू, पृ. 57
- एंश्येंट इण्डिया, 1969, पृ. 70
- अल्तेकर एण्ड मिश्रा, 1966, एक्सकवेशन, पृ. 192 रिपोर्ट ऑन कुम्हरार
- पाण्डेय, जय नारायण (2023) पुरातत्त्व विमार्श, प्रयागराज, प्राच्य विद्या संस्थान।

2.8 बोध प्रश्न

1. **सिंधु घाटी सभ्यता के** मृद्भाण्डों **पर पाए जाने वाले प्रतीक कौन-कौन से है**?
2. मृद्भाण्ड पर **अंकित प्रतीकों का अध्ययन किस क्षेत्र के लिए महत्वपूर्ण है**?
3. मृद्भाण्ड पर **अंकित प्रतीकों का उपयोग किसके लिए किया जाता था**?
4. मृद्भाण्ड पर **अंकित प्रतीकों का क्या महत्व है**?
5. मृद्भाण्ड **संस्कृति पर एक टिप्पणी लिखिए।**

इकाई 3 अभिलेखीय स्रोतों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने पश्चात् आप निम्नलिखित के बारे में समझ सकेंगे–

- अभिलेखिक स्रोतों का परिचय
- अभिलेखों का वर्गीकरण
- अभिलेखों के महत्व
- इतिहास–निर्माण में अभिलेखों का योगदान, किस तरह अभिलेख इतिहास–निर्माण में सहायक है।
- अभिलेखों के आधार पर तिथि निर्धारण

3.1 प्रस्तावना

प्राचीन काल से ही हिन्दू समाज ने अपने महत्वपूर्णघटनाओं, संस्कृति, धर्म, राजनीति आदि को लिखित रूप से संरक्षित किया। अभिलेखशास्त्र इन्हींघटनाओं के अध्ययन की विशेष प्रविधि है। जिसके द्वारा अतीत काल के इनघटनाओं, संस्कृतियों, समाजों का अध्ययन कर सकते हैं। अभिलेख चाहे खंडित हो या सम्पूर्णएक शब्द का हो या सैकड़ों पंक्तियों का सभी अभिलेखों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करना विशेष है। इतिहास के अध्ययन के कई स्रोत है। लेकिन अभिलेखों के साथ स्थायित्व की अवधारणा जुड़ी हुई है। किसी भी अन्य माध्यम के अलावा विशेष तौर पर प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के लिए ये अधिक सुरक्षित और वस्तुनिष्ठ समझे जाते हैं। ध्यातव्य है कि अभिलेख अपने समय के समकालीन होते है और इनमें दी गई सूचनाओं को आसानी से कालबद्ध किया जा सकता है। ये भौतिक संस्कृति केघटक है, अतः इनके सम्पूर्ण पृष्ठभूमि का परीक्षण करना लाभप्रद है। साथ ही ये पाठ्यात्मक स्रोत की श्रेणी में है, जो अपनी राजनीतिक और सामाजिक सत्ता से जुड़े होते हैं। भारत में 90000 से अधिक अभिलेख अलग–अलग भाषाओं और लिपियों में प्राप्त हुए जो कि 5000 वर्षों से अधिक समय का इतिहास अपने अन्दर समेटे हुए है। यह संभव नहीं कि इन सभी अभिलेखों का समग्र अध्ययन यहाँ प्रस्तुत हो फिर भी हिन्दुओं के इतिहास निर्माण में अभिलेखों की भूमिका को समझा जा सकता है।

3.2 अभिलेख :एक परिचय

अभिलेख अंग्रेजी के दो शब्दों Epi (इपी) + Graph (ग्राफ) के योग से बना है। ये दोनों शब्द यूनानी भाषा के है जिनका अर्थ है –Epi (इपी) अर्थात् Upon (अपॉन) या On (ऑन) जिसका तात्पर्य किसी वस्तु के ऊपर है। जब कि Graph (ग्राफ) से तात्पर्यऐसे चिन्ह से है जो किसी भाषा के अर्थ को संबोधित करें। इन दोनों शब्दों के अर्थ के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि इस शब्दावली से उस वर्ग को संबोधित किया जाता है जिसमें भाषाई चयन किसी वस्तु के ऊपर उपलब्ध होते हैं।

अतः Epigraphy (इपीगॉफ्री) जिसका शब्दार्थ अभिलेखीय साक्ष्य है, अध्ययन की वह विद्या है, जिसमें लिखित उद्धरणों का अध्ययन किया जाता है। इस परिभाषा में दो पक्ष महत्वपूर्ण है –एक लेखन अर्थात् जिन अक्षरों से विवरण लिखा गया, जिसे लिपि कहा जाता है और दूसरा पक्ष लिखे हुए विवरण की सामग्री या विषयवस्तु इन दोनों पक्षों के साथ किस माध्यम पर लेख उपलब्ध हैं यह भी महत्वपूर्ण है।

प्राचीन काल में कई माध्यमों पर लेख लिखे गये जिनमें कुछ समय के साथ जल्दी नष्ट हो गए जैसे – भूर्जपत्र, ताड़पत्र, कागज, कपड़ा इत्यादि, जबकि दूसरे प्रकार के माध्यम काफी समय तक सुरक्षित रह पाए, इनमें काष्ठपट्ट, पत्थर, धातुएँ ईटें इत्यादि सम्मिलित हैं। लेखन के लिए इन माध्यमों का चयन प्रायः लेखों के विषय वस्तु के आधार पर होता था। साथ ही इन माध्यमों पर लिखे जानें की तकनीक भी माध्यम से प्रभावित होती थी। उदाहरणार्थ पाषाण के ऊपर जब अक्षर अंकित किए जाते हैं तब उनकों खोदा या कुरेदा जाता है, जब कि धातु के ऊपर अक्षरों के अंकन हेतु साँचे के प्रयोग से अक्षरों के उभार पर बल दिया जाता था। किस माध्यम पर लेख लिखा जाना है इस बात का चयन अभिलेख की विषय–वस्तु के आधार पर होता था।

भारतीय इतिहास में लेखन कला का प्रारम्भ कब हुआ? अभिलेखीय अध्ययन में यह पक्ष महत्वपूर्ण हैं। हम यह जानते है कि मानव के इतिहास में भाषा का इतिहास काफी

प्राचीन है और प्रागैतिहासिक काल तक इसकी प्राचीनता स्थापित होती है। भाषा के विकास की प्रक्रिया कई हजार वर्षो तक चलती रही। इस सम्बन्ध में प्रारम्भिक प्रमाण हमें सिंधुघाटी सभ्यता से प्राप्त होते हैं। ये प्रमाण मुहरों, मृदा पात्रों, पाषाण के पटरों पर लेखन के रूप में प्राप्य हैं। सिंधुघाटी सभ्यता की इस लिपि के अध्ययन के कई प्रयास हुए। प्रो0 बी0 बी0 लाल नेएक मृदा पात्र पर उपलब्ध लिपि को बाँए से दाहिने के रूप में लिखा माना है। लेकिन अधिकतर साक्ष्य जो मुहरों पर प्राप्त होते है, उन पर प्रत्येक पर चिह्न अलग–अलग बने हुए है। हालाँकि द्विभाषीय प्रमाणों के अभाव में इनकों पढ़ना संभव न हो सका। लेखन इतिहास का दूसरा चरण ब्राह्मी लिपि के प्रादुर्भाव के साथ लगभग 600 ई0पू0 से प्रारम्भ होता है और यह परम्परा आज तक अविछिन्न रूप से चल रही है। इस सम्बन्ध मेंएक रोचक विवरण अलबरूनी के लेखों में मिलता हैं जिसने इस बात की चर्चा की हैं कि भारतवासी जो लेखन कला की कुशलता हासिल कर चुके थे वो ये क्षमताएँ भूल गए और कई हजार वर्षो के बाद वो पुनः इस ज्ञान को प्राप्त कर पाए। पुरातात्विक साक्ष्य भी इसी ओर इशारा करते है कि हड़प्पा काल के बाद लेखन कला में व्यवधान आया।

लिपियों का अध्ययन अभिलेखों के अध्ययन काएक महत्वपूर्ण भाग है। इस अध्ययन की जो परम्परा है उसे पेलियोंग्रॉफी (Paleography) कहते हैं। प्रो0 राजबली पाण्डेय ने इसके अध्ययन का प्रयास किया कि प्राचीन भारत में कुल कितनी लिपियाँ थी? और इस निष्कर्ष पर पहुँचे की हमें कुल 64 लिपियों के प्रमाण प्राप्त होते हैं। जिसमें सबसे उल्लेखनीय ब्राह्मी है, जो अपने लम्बे ज्ञात इतिहास, अधिकाधिक लेखों की प्राप्ति तथा इससे नागरी लिपि के हुए विकास के लिए प्रसिद्ध है। हालाँकि प्रारम्भिक लिपि का श्रेय सिंधुघाटी सभ्यता की ही लिपि को है। पाणिनी की अष्टाध्यायी में पहली बार लिपि शब्द प्रयोग में आता है। प्राचीन भारत में सर्वाधिक प्राचीनतम ब्राह्मी लिपि मौर्ययुगीन मानी जाती है। ब्राह्मी लिपि में निर्गत अशोक के अभिलेख इस लिपि की विकसित स्थिति का प्रतिनिधित्व करते है। यह लिपि इस काल से राज्यशासन की भी महत्वपूर्ण लिपि बन गई। ब्राह्मी लिपि के उत्तरोत्तर अवस्थाओं का प्रमुख राजवंशों के आधार पर नामकरण किया गया है। जैसे अशोक कालीन ब्राह्मी, कुषाण ब्राह्मी तथा गुप्त ब्राह्मी। ब्राह्मी लिपि के अलावा खरोष्ठी, ग्रीक, अरामेईक, फारसी इत्यादि लिपियों का प्रचलन भी प्राचीन भारत में सीमीत अर्थों में रहा। नागरी या देवनागरी लिपि ने ब्राह्मी से ही लगभग 1000 ई0 में अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया।

अभिलेखों में प्रयुक्त इन लिपियों के साथ ही भाषा का भी अपना प्रमुख योगदान है। अशोक के अभिलेखों सहित प्राचीन ब्राह्मी अभिलेखों की भाषा प्राकृत है। कालक्रमेण अभिलेख संस्कृत और प्राकृत मिश्रित भाषा में लिखे गए। रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से अभिलेखों में संस्कृत का प्रभाव बढ़ता है। 400 से 600 ई0 के बीच संस्कृत संपूर्ण भारत में राजकीय अभिलेखों की भाषा के रूप में स्थापित हो गई। इस काल में संस्कृत न केवल भारतीय उपमहाद्वीप में बल्कि दक्षिण–पूर्वीएशियाई देशों में भी प्रमुख भाषा के रूप में प्रचलित हुई। उत्तर गुप्तकाल से संस्कृत के साथ–साथ विभिन्न प्रादेशिक भाषा और लिपियाँ अपना समानान्तर अस्तित्व बनाने लगी।

3.3 अभिलेखों के प्रकार

अभिलेखों के अध्ययन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष उसकी विषय–वस्तु है। विषय वस्तु के आधार इसे दो वर्गों में बाँटा जाता है –

1. राजकीय या आधिकरणिक

2. लौकिक या वैयक्तिक

राजकीय लेख या तो स्वयं राजाओं द्वारा या उनके सामन्तों, प्रान्तीय शासकों तथा उच्च मंत्रियों द्वारा लिखवाए जाते थे, जिन्हेंऐसा करने का अधिकार था जबकि वैयाक्तिक लेखों के लिए जनसाधारण उत्तरादायी थें।

धर्मशास्त्र के आधार पर राजकीय लेखों को चार वर्गों में विभाजित किया जाता है।

1. शासन (भू–दान संबंधित)
2. जय पत्र (व्यवहारिक निर्णय)
3. आज्ञापत्र (आदेश)
4. प्रज्ञापन पत्र (घोषणा)

शासन–पत्र प्रशासकीय कार्यों के संदर्भ में लिखवाए जाते थें। कालक्रमेण ये प्रायः ताम्रपत्र पर लिखवाए जाने लगे गए और इनका संबंध भू–दान से हो गया। कहा गया है कि भूमि दान देकर राजा को उसे आने वाले राजाओं के ज्ञान के लिए लिखित करा देना चाहिए। पुनः राजा को पट (वस्त्र) पर या ताम्रपत्र पर अपनी वंश परम्परा तथा प्रशस्ति, प्रतिग्रहीता का नाम, दान का परिमाण और भूमि–भाग की सीमाओं के वर्णन से युक्त अपनी मुद्रा से चिन्हित तथा हस्ताक्षरएवं काल देकर स्थायी करा देना चाहिए।

जयपत्र को कानून व्यवस्था से संबंधित पत्र माना जाता है। यह युद्ध आदि अवसरों पर किसी विजय आदि का उल्लेख करने वाला लेख भी है। ये पत्र जनसाधारण के सूचनार्थ लिखवाए जाते थे। जबकि आज्ञापत्र द्वारा राजा अपने अधीनस्थ सामन्तों, भृत्यों राजपालों आदि को आज्ञा देता था। प्रज्ञापन लेख में साधारणतया राजा कीघोषणाओं को सम्मिलित किया जाता है। इसी क्रम के व्यक्तिगत लेखों के भी कई वर्ण विषय हैं जिनमें कालक्रमेण विकास और विस्तार दिखाई देता है। व्यास का कथन है कि किसी प्रसिद्ध स्थान के लेखक को राजा के वंशक्रम वर्ष, मास दिवस से युक्त जनपद लेख लिखवाना चाहिए। आधार पर इन लेखों को राजकीय लेखों की नकल भी कहा जाता है। अभिलेखों के विभिन्न विषयों के विवेचन के पश्चात इनका वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकारों में किया जाता है–

3.3.1 प्रशस्ति लेख

ऐसे लेख जिसमें राजा की प्रशंसा या गुणगान किया जाए प्रशस्ति लेख कहलाते हैं। इनमें प्रायः राजाओं के गुणों का अतिशयोक्तिपूर्व वर्णन है। इन अभिलेखों में शासकों के नाम, वंशक्रम, प्रारम्भिक जीवन, राजनैतिक प्रशासनिक उपलब्धियाँ, समकालीन राज्यों से पारस्परिक संबंध, व्यक्तिगत विशेषताएँ, उदारता, दानशीलता इत्यादि का विस्तृत विवरण मिलता है। प्रशस्ति लेखों में खारवल का हाथीगुम्फा लेख, समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ लेख, रूद्रदामन प्रथम का जूनागढ़, शिला–लेख, पुलकेशिन द्वितीय काऐहोल प्रशास्ति आदि उल्लेखनीय है।

3.3.2 धार्मिक लेख

इन लेखों का उद्देश्य धर्म संबंधी प्रचार, धार्मिक संस्थाओं–संगठनों के नियमों का उल्लेख, शिक्षात्मक उपदेशों का व्यापक प्रसार हेतु बढ़ावा देना इत्यादि है। हेलियोडोरस का बेसनगर अभिलेख अशोक के कुछ लेख, धनदेव का अयोध्या लेख,

आदि इसके उदाहरण है।

3.3.3 दानात्मक लेख

दानात्मक लेखों के कई प्रकार है जैसे – पूजास्थलएवं पूण्य प्रतीकों से संबंधित, सम्पूर्ण समाज को ध्यान में रखकर किये गए दान, इमारतों के कुछ खण्डों या सम्पूर्ण संरचना का निर्माण सम्बन्धी, भूमि के दान सम्बन्धित इत्यादि। संरचनाओं के निर्माण की परंपरा हमें मौर्य काल से मिलने लगती है। मौर्य शासक दशरथ द्वारा आजीवकों के लिएएक गुफा का निर्माण कराया गया। शुंग काल में व्यापारियों के माध्यम से यह परम्परा पुष्पित हुई। कुषाण काल में हमें प्रतिमाओं के दान करने की परम्पराएं मिलने लगती है। रूद्रदामन का जूनागढ़ लेख में प्रजा के सुखार्थ सुदर्शन झील के निर्माण की सूचना है। दानात्मक लेखों में ब्राह्मणों, भिक्षुओं या अन्य को भोजन दिए जाने को भी सम्मिलित किया जाता है। ये दान अक्षयनीवि के रूप में भी होते थे। जिनमें दिए गए दान के मूलधन के ब्याज का उपयोग किया जाता था।

3.3.4 व्यापारिक लेख

इस प्रकार के अभिलेखों का मुख्य उद्देश्य व्यापारिक गतिविधियों व क्रियाओं के वर्णन और निष्पादन से है। व्यापारिक लेख तुलनात्मक रूप से कम संख्या में मिलते है। इन लेखों की परंपरा सिंधुघाटी सभ्यता से उपलब्ध मुहरों पर द्रष्टव्य हैं। हालांकि इन मुहरों की लिखावट पढ़ी नहीं जा सकी है लेकिन इनकी संरचना के आधार पर यह अनुमान जा सकता है कि व्यापार में जब वस्तुओं का विनिमिय जाता था तो इन मुहरों का प्रयोग किया जाता था। इस क्रम मेंऐतिहासिक काल से भी हमेंऐसी मुहरे मिली है जिन पर व्यापारियों के नाम भी हैं। भीतरी स्थल के उत्खनन से कई मिट्टी की मुहरों की छाप मिली है इनमें कुछ पर गुप्तकालीन ब्राह्मी में लघु लेख भी लिखे है, जो लोहे की वस्तुओं को अन्य क्षेत्रों से व्यापारिक प्रक्रिया के माध्यम से लाए जाने की सूचना देते है।

3.3.5 साहित्यिक लेख

प्राचीन भारत के कुछ अभिलेख काव्य रचनाओं तथा नाटक कृतियों के अंशों को उद्धृत करते है और इनका उद्देश्य विशुद्ध साहित्यिक है। उदाहरणार्थ – अजमेर की 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' नामक मस्जिद में पत्थरों पर 75 पंक्तियों में ललित राज विग्रह नाटक के अंश विद्यमान है। उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के महानिर्वाण स्तूप सेएक तेरह पंक्तियों का ताम्रपत्र प्राप्त हुआ जिसमें बुद्ध का उदानसुत्त लिखित है।

3.3.6 संस्मरणात्मक लेख

वह लेख जो किसी के संस्मरण में लिखे गए, इस प्रकार के अन्तर्गत आते हैं। प्रायः ये लेख किसी महात्मा या वीर–पुरूष की जीवनघटनाओं, जन्म, कोई चमत्कारिक कृति, वीरगति का उल्लेख रहते है। इस प्रकार का प्राचीनतम लेख अशोक का रूम्मिनदेई स्तंम्भ लेख है, जहाँ बुद्ध की जन्मस्थली लुम्बिनी में राज्यारोहण के 20 वर्ष बाद अशोक द्वारा प्रस्तर की विशाल भित्ति बनावाई गई। इस क्रम में भानगुप्त काऐरण लेख भी महत्वपूर्ण है जिसमें गोपराज की युद्ध भूमि में वीरगति की सूचना प्राप्त होने के बाद उसकी पत्नी के सती होने का उल्लेख मिलता है।

3.3.7 शासन पत्र

अभिलेखों के प्रकारों में सर्वाधिक संख्या शासन पत्र या शासनात्मक अभिलेखों की है। संभवतः अभिलेखों के उत्कीर्णन का मुख्य औचित्य शासकों से ही जुड़ा हुआ था। प्राचीन भारतीय इतिहास में राज्यव्यवस्था संचालन में व राज्य आदेशों को आम–जन तक पहुँचाने में इस प्रकार के अभिलेखों की महत्वपूर्ण भूमिका हुआ करती थी। अभिलेखों के उद्घोषक के रूप में राज्य की ओर से अधिकारी भी नियुक्त किए जाते थे। अशोक के अभिलेख इस कोटि में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अशोक इन लेखों के माध्यम से प्रजा से सीधा संवाद करता है औरएक सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था निर्मित करता है। जहाँ आधिकारियों को कार्य–सम्पादन हेतु आवश्यक निर्देश दिए गए थे। अशोक स्वयं किसी भी परिस्थिति में प्रशासनिक कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता देता है और कहता है कि वह कही भी हो भोजन कर रहा हो, अन्तःपुर में हों या मार्ग में हो या उद्यान में कहीं भी प्रतिवेदक मुझे प्रजा की बातें बताए। इसी क्रम में अन्य लेख भी है जैसे – सोहगौरा ताम्रपत्र, रुद्रदामन I का जूनागढ़ लेख, प्रभावती गुप्ता का पूना ताम्रपत्र लेख इत्यादि।

3.3.8 तान्त्रिक लेख

इस प्रकार के लेखों के भी प्राचीनतम नमूने सिन्धुघाटी से प्राप्त होते हैं। आजकल ताबीजों के सदृश्य पकी मिट्टी के बनी हुई मुहरें यहाँ मिली हैं जिनमें छेद भी है। इनकेएक ओर ठप्पा लगाया गया है जबकि दूसरा भाग सादा है। चूँकि इन्हें अब तक पढ़ा नहीं गया है इसलिए स्पष्टतः कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । इन्हीं मुहरों केएक तरफ लगे ठप्पे पर पशुओं की आकृतियाँ मिली है जिन्हें विभिन्न देवताओं से भी जोड़ा जाता है उदाहरणार्थ – छोटे सींगों वाला वृष भगवान शिव से, महिष को यम से इत्यादि। कालक्रमेण धातु, भूर्जपत्र तथा अन्य नाशवान पदार्थों पर तान्त्रिक मतों का लिखा जाना जारी रहा।

3.3.9 पूजात्मक अथवा समर्पणात्मक लेख

इस प्रकार के लेख धर्मों से संबंधित उपासना, आस्था आदि की सूचनाएँ देते हैं। इस प्रकार के लेखों का विषय मूर्तियों की स्थापना और मन्दिरों का निर्माण भी होता है।ऐसे लेखों का प्रारम्भिक उदाहरण पिपरहवा बौद्ध मंजुषा लेख है, जिसमें भगवान बुद्ध की अस्थि–मंजूषा का समर्पण लिखा है–

''अपने पुत्रों, भगिनियों और भार्याओं के साथ (बुद्ध के) शाक्य बन्धुओं ने भगवान बुद्ध की यह अवशेष – मंजूषा को समर्पित किया।''

अन्य उदाहरणो में कनिष्क का सारनाथ लेख, कुमारगुप्त II और बन्धुवर्मन का मन्दसोर अभिलेख को सम्मिलित किया जा सकता है।

विषयवस्तु पर आधारित उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त अन्य आधारों पर भी अभिलेखों का वर्गीकरण करते है– उदाहरणार्थ उपादान के आधार पर। उपादान पर आधारित विभाजन में प्रस्तर लेख, गुहा लेख, स्तंभ लेख, ताम्र लेख, मुहर इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। ध्यातव्य है कि ये विभाजन अध्ययन की सुविधा के लिए विषय वस्तु को केन्द्र में रखकर किए गए है, जिनमेंएक अभिलेख को विषय वस्तु के आधार पर कई वर्गों में भी रखा जा सकता है।

3.4 अभिलेखों का महत्त्व

यह तथ्य सर्वज्ञात है कि प्राचीन भारतीय इतिहास की मूल्यवान सामग्रियों में उत्कीर्ण लेख, सर्वोपरि माने जाते हैं, क्योंकि भारतीय इतिहास के विविध पक्षों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अभिलेख प्रमाणिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं, जिसके आधार पर इतिहास का निर्माण किया जाता है। इनको उत्कीर्ण कराने के विविध उद्देश्य थे। कुछ अभिलेख राजनीतिक थे तो कुछ हिन्दुओं के सामाजिक–आर्थिक इतिहास के सम्बन्ध की सूचना प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य जानकारी भी इनसे प्राप्त होती है, जो निम्नलिखित हैं–

3.4.1 राजनीतिक इतिहास

राजनीतिक इतिहास के अंतर्गत अभिलेख विभिन्न राजवंशों के वंशवृक्ष, राज्यों के पारस्परिक संबंधएवं उनकी सीमाएं, शासन–व्यवस्था इत्यादि पर प्रकाश डालते हैं। प्रशस्तियों के अध्ययन से हमें राजवंशों की वंश परम्परा का पता चलता है। 150 ई0 के जूनागढ़ अभिलेख से इसका सूत्रपात होता है और गुप्त काल तक यह अपने पूर्णता को प्राप्त कर जाता है। प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रपत्र में वाकाटक वंश, जो वाकाटक राज महिषी थी,के स्थान पर गुप्त वंशावली का उल्लेख है जिसका आशय है कि प्रभावतीगुप्त गुप्तवंश की राजकुमारी थी किन्तु रानी होकर वह गुप्तों की सहायता से शासन कर रही थी। हर्षवर्धन के बाँसखेड़ा ताम्रपत्र में नरवर्धन से लेकर हर्षवर्धन तक शासकों और उनकी रानियों के नाम मिलते हैं। इसी प्रकार चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय केऐहोल अभिलेख में तथा पाल वंशी धर्मपाल के खालिमपुर ताम्रपत्र आदि में वंशावलियों का वर्णन है। वंश वृक्ष के साथ अभिलेखों में किसी न किसी वंश के शासन की विजय यात्रा, युद्ध गाथा तथा संधियों का वर्णन रहता है। अशोक के तेरहवें शिलालेख से यह ज्ञात हो सका कि वह कलिंग में युद्ध करने के पश्चात् अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करने लगा। धनदेव के अयोध्या लेख में पुष्यमित्र शुंग को दो अश्वमेघ यज्ञ का कर्त्ता कहा गया है। इसी क्रम में खारवेल का हाथीगुम्फा लेख उसके शासन के प्रत्येक वर्ष की उपलब्धियों का सार प्रस्तुत करता है। वशिष्ठीपुत्र पुलुमावि के नासिक से प्राप्त गुहा लेखों में सातवाहन राजा गौमतीपुत्र शातकर्णि तथा शक क्षत्रप नहपान के युद्ध का वर्णन पाया जाता है। रूद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख, रूद्रदामन को उसके वंश के खोई हुई प्रतिष्ठा को वापस दिलाने वाला राजा के रूप में चित्रित करता है तो हरिषेण कृत समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की चतुर्दिक विजय अभियानों की चर्चा है।

मौर्य सम्राट अशोक के लेखों के आधार पर स्पष्ट है कि भारतवर्ष का अधिकांश भाग मौर्यों के शासन में रहा। पश्चिम में अफगानिस्तान तथा दक्षिण में कर्नाटक तक अशोक के शिलालेख पाए जाते हैं। उसके समकालीन राजवंशों में चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र, और ताम्रपर्णी का नाम आता है। इसी क्रम में कुछ विदेशी शासकों अन्तियोक मग, तुरमय, अलिकसुन्दर आदि यूनानी राजाओं के नाम मिलते हैं। इसके आधार पर उसके राज्य की सीमा निर्धारित होती है। नहपान तथा पुलमावि के नासिक गुहा लेखों के अनुशीलन से विदित होता है कि नहपान जिस भू–भाग पर शासन करता था उस पर सातवाहनों का आधिपत्य हो गया क्योंकि दोनों के लेखों में वर्णित स्थलएक ही है। इसी क्रम में कुषाणों के पूर्वी सीमा के बारे में जानकारी सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा लेख की प्राप्ति के आधार पर दिया जाता है। दो शासकों के मध्य आपस में संबंध का ज्ञान कराने वाले लेखों में उत्तर गुप्त काल के अफसढ़ अभिलेख का नाम

आता है जिसके हर्षवर्धन के साथ माधवगुप्त के सम्बन्ध का उल्लेख है।ऐहोल प्रशस्ति में हर्ष और पुलकेशिन के संबंधों का सविस्तार वर्णन है।

हम राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से कई अन्य महत्वपूर्ण सूचनाएं जैसे– शासन–प्रणाली राजाओं की उपाधियाँ, प्रशासनिक–पदाधिकारियों आदि का उल्लेख भी अभिलेख में हैं। प्राचीन हिन्दू समाज की प्रमुख शासन प्रणाली राजतंत्रात्मक थी। इसके साथ ही सम्राट और मंत्रिमण्डल के अधिकार क्षेत्र और प्रशासन तंत्र के वर्णन मिलते है।

अशोक के शिलाप्रज्ञापनों में मंत्रिमण्डल को परिषद् कहा गया है। हम देखते हैं कि आदर्श राजा सदैव प्रजाहित का ध्यान रखते थे। जिन कर्मचारियों से सम्बन्धित आज्ञा होती थी पदाधिकारियों को पदेन सम्बन्धित किया जाता था।ऐसे उल्लेख धर्ममहामात्र, रज्जुक, प्रादेशिक, युक्त, ब्रजभूमिक तथाऐसे ही राज्य के कई अन्य मंत्रियों के बारे में है। हम इन अधिकारियों साथ ही कई अन्य अधिकारियों के कार्यों के संबंध में भी विवरण प्राप्त करते हैं। अशोक के समय पाटलिपुत्र, तक्षशिला, उज्जयिनी, तोसली, सुवर्णगिरी मौर्य साम्राज्य की प्रांतीय राजधानियाँ थी। गुप्त साम्राज्य भी कई प्रान्तों में विभक्त था। शासन की अन्य प्रणाली गणतंत्रात्मक थी उत्तरी भारत में वज्जिसंघ इतिहास का प्रसिद्ध प्रजातंत्र था। मौर्यों और गुप्तों द्वारा इन गणतंत्रात्मक राज्यों को पराजित किए जाने का भी उल्लेख हैं।

शासकों के उपाधियों के क्रम में हमें यूनानी उपाधि बैसिलयस, ईरानी उपाधि शहानुशाही, हिन्दू शासकों की उपाधि महाराज, सम्राट, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि का विवरण मिलता है।

3.4.2 सामाजिक स्थिति

हिन्दू समाज प्रारम्भ से ही वर्णाश्रम व्यवस्था का पोषक रहा है। सम्पूर्ण विश्व में प्राचीन भारतीयों की प्रतिष्ठा का श्रेय इसे ही दिया जाता है। अभिलेख इस व्यवस्था का विस्तार से वर्णन देते हैं। साथ ही आश्रम व्यवस्था, सामाजिक संस्कारों, वस्त्राभूषणएवं श्रृंगार के साधनों, भोजनएवं पेय, मनोरंजन के साधन, सामाजिक उत्सव मेले, अन्धविश्वास इत्यादि का वर्णन हमें प्राप्त होता है। भारतीय अभिलेखों का उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म का वर्णन उपस्थित करना नहीं था यहाँ केवल शासन या दान के प्रसंग में दानग्राही की जाति वर्ण के नाम आदि उल्लिखित मिलते हैं। अशोक के प्रज्ञापनों में ब्राह्मणों तथा श्रमणों को दान देना श्रेयस्कर बताया गया है। ब्राह्मण अपनी विद्वता, शूद्र आचरण तथा व्यवहार कुशलता के कारण अन्य वर्गों से श्रेष्ठ माने गए हैं। ब्राह्मण अपनी आजीविका के लिए षट्कर्मों (यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान प्रतिग्रह) के अतिरिक्त जीविकोपार्जन हेतु पौरोहित्य, मंत्रितत्व, सेनापतित्व आदि के कार्य करने लगे। हमें ब्राह्मणों के गोत्र यथा पराशर, कश्यप, कौण्डिल्य, भारद्वाज तथा गौतम का भी वर्णन मिलता है। 700 ई0 के बाद पाल, चन्देल, परमार, गाहड़वाल आदि वंशों के शासन में जीविका उपार्जन हेतु ब्राह्मण बाहर से आकर बस गए।

अभिलेखों से हमें क्षत्रियों के कार्यों का भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। वे राजसत्ता के प्रतीक थे। इनके लिए राजपुत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। पूर्वमध्ययुग में क्षत्रियों के दो वर्ग प्राप्त होते हैं– शासक वर्ग तथा साधारण क्षत्रिय वर्ग। बाद में शासकों के इस वर्ग में कुछ विदेशी भी सम्मिलित हो गए। जिनका राजपरिवारों से वैवाहिक संबंध स्थापित हुआ।एक कलचुरि लेख में वर्णित है कि लक्ष्मीकर्ण का विवाह हूण राजकुमारी अवल्लदेवी से हुआ। साधारण श्रेणी के क्षत्रिय सैनिक का कार्य करते थे। शासक वर्ग

के क्षत्रियों को दी जाने वाली शिक्षा की भी सूचना मिलती है। चन्देल और गाहड़वाल लेखों से हमें सैनिकों को दी जाने वाली वृत्ति का पता चलता है।

वर्णाश्रम व्यवस्था में वैश्यों को कृषि, पशुपालन तथा व्यापार से संबंधित किया गया है। राज्य की आर्थिक समृद्धि के ये आधार थे। वणिक शब्द का प्रयोग वैश्यों के लिए अभिलेखों में प्रयुक्त हुआ है। व्यापार के अनुसार वणिक श्रेणियों में विभाजित थे। स्थानीय व्यापारी क्षेत्रीय स्तर पर व्यापार करते थे जबकि विदेशों में जाने वाले वणिक सार्थवाह थे, वे कारवाँ में चलते थे। अभिलेखों में उद्योग धन्धों से भी वैश्यों का संबंध स्थापित है। हम इसके साथ ही व्यापारियों के द्वारा प्रयुक्त व्यापार सामग्री उस पर दिए जाने वाले कर तथा आवागमन के साधन इत्यादि की भी जानकारी प्राप्त करते हैं। इसी क्रम में कायस्थों का भी उल्लेख है। जिनका नाम चारों वर्णों में नहीं मिलता। गुप्तकालीन दामोदरपुर ताम्रपत्रों में प्रथम कायस्थ अथवा ज्येष्ठ कायस्थ का नाम आता है। कालान्तर में वे जाति के रूप में परिणत हो गए। और इनका संबंध लेखक वर्ग से हो गया।

इसी क्रम में शूद्रों, चाण्डालों, दासों इत्यादि का भी उल्लेख वर्णाश्रम व्यवस्था से संबंधित है। इनका प्रमुख कार्य द्विजों की सेवा करना था। आपद्धर्म में ये अपने व्यवसाय को बदलकर वैश्यों का कार्य भी कर सकते थे। पूर्वमध्यकाल से चाण्डलों के उल्लेख मिलने लगते हैं। ये निम्न कोटि के तथा अस्पृश्य थे। चीनी यात्री उल्लेख करते हैं कि ये चाण्डाल नगर के बाहर रहते थे तथा प्याज, लहसुन, मांस, मदिरा आदि का सेवन करते थें।

वर्णाश्रम व्यवस्था के उत्थान समय के साथ हुए परिवर्तन तथा जातियों के समावेश को अभिलेखों के आधार पर चित्रित किया जा सकता है। हमेंऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जहाँ ये वर्ण आपस में संघर्षरत थे। गौतमीपुत्र शातकर्णि के नासिक गुहालेख में उसे क्षत्रियों के दर्प को चूर करने वाला कहा गया है। यह कहा जा सकता है कि गुप्तकाल के बाद वर्णाश्रम धर्म में रूढ़िवादिता आने लगी थी।

सामाजिक व्यवस्था में अन्य पक्ष जैसे आश्रम व्यवस्था का उल्लेख कलचुरी शासक कर्ण के गढ़वा ताम्रपत्र में विस्तृत रूप से मिलता है। चाहमान अभिलखों में वर्णित है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद मनुष्य गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है, उसके बाद वानप्रस्थ में। सौ वर्षों के जीवन की संकल्पना करते हुए मोक्ष को जीवन का अन्तिम उद्देश्य बताया गया है। इसके लिए कई मार्ग अलग–अलग धर्मों में सुझाए गए हैं। सेन शासक सामन्तसेन ने वृद्धावस्था में राज्य त्यागकर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया और तप के लिए जंगल में चला गया। कलचुरि नरेश गांगेयदेव ने अपनी सौ रानियों के साथ प्रयाग में आत्म विर्सजन कर दिया। इसी प्रकार चन्देल शासक धंग ने भी सौ वर्षों की आयु पूर्ण कर प्रयाग में जल समाधि ले ली।

अभिलेखों में बहुपत्नीत्व के भी साक्ष्य मिलते हैं। जिसमें राजपरिवार के लोग कई विवाह करते थे। चेदिराजा गांगेयदेव की सौ रानियाँ थी। तो गोविन्दचन्द्र गाहड़वाल की पाँच रानियाँ थी। इसी क्रम में षोडस संस्कारों का भी उल्लेख है। सातवीं सदी के बाद मुख्यतः जातकर्म, नामकर्म, विवाह, श्राद्ध इत्यादि की चर्चा है। भानुगुप्त काएरण अभिलेख सती प्रथा की भी सूचना देता है, जो 510 ई0 का है। कहा जाता है कि प्रारम्भिक मध्यकाल में यह प्रथा मध्यप्रदेश तथा राजस्थान में बहुत प्रचलित थी। अभिलेखों में गणिकाओं की भी चर्चा हमें प्राप्त होती है। मौर्यशासक अशोक ने अपने धर्म प्रशासनों में उस समाज की निन्दा की है जो संगीतमय और विलासिता का जीवन

जीता है। बारहवीं सती का चाहमान अभिलेख इस संबंध में महत्वपूर्ण है जो गणिकाओं पर कर लगाये जाने का उल्लेख करता है। गणिकाएं तत्कालीन समाज का प्रमुख अंग थी।

प्रत्येक समाज में वस्त्र तथा आभूषण सर्वाधिक प्रिय वस्तु तथा आवश्यक सामग्री समझी जाती है। अशोक के कौशाम्बी, साँची और सारनाथ स्तंभ लेखों में कहा गया है कि संघ में फूट डालने वाले पीत वस्त्रधारी भिक्षु या भिक्षुणी को श्वेतवस्त्र पहनाकर संघ के बहिष्कृत कर दिया जायेगा। क्षहरात शासक नहपान कालीन नासिक गुहालेख और वैन्यगुप्त के गुणैधर तामप्रत्र में भिक्षुओं के लिए चीवर देने का उल्लेख है। श्रृंगार के साधनों में सिंदूर तथा अंजन लगाने की सूचना मिलती है। इसी क्रम में भोजन और पेय के संबंध में गेहूँ, चावल,घी, तेल दूध, दही आदि का उल्लेख मिलते हैं। शाकाहार और मांसाहार में भेद किया गया। ब्राह्मणों तथा भिक्षुओं के भोजन हेतु ग्राम या मुद्राओं के दान की चर्चा है। इन्हें भिक्षा पर जीवनयापन करते हुए भी चित्रित किया गया है।

राजतलिक, विवाह, विषय आदि के अवसरों पर उत्सवों का आयोजन होता था। इसमें संगीत और नाटक प्रमुख थे। खारवेल के हाथी गुम्फा लेख में संगीत समाज की चर्चा है। खारवेल ने राज्यारोहण के तीसरे वर्ष में जनता के मनोविनोद के लिए उत्सव किया था। अभिलेखों में पशु मेला का भी वर्णन है। उत्सवों में दीपोत्सव, वसन्तोत्सव का उल्लेख मिलता है। समाज में कुछ अन्ध विश्वास भी प्रचलित था जो मुख्यतः पारिलौकिक जीवन से संबंधित था, जिससे स्वर्ग व नरक, राहु द्वारा सूर्य व चन्द्र को ग्रसना, भूत–प्रेत, ज्योतिष संबंधी आकड़ों की चर्चा प्राप्त होती है।

3.4.3 आर्थिक स्थिति

हिन्दू समाज के आर्थिक स्थिति का आकलन अलग–अलग कालखंडों से प्राप्त अभिलेखों के अनुशीलन से होता है। हम देखते हैं कि जनता सामान्यतया सुखी थी और राज्य लोककल्याण का प्रयास कर रहे थे। सिंचाई के साधनों का विकास उसी का उदाहरण है। भारत कृषि प्रधान देश रहा है। राज्य की अधिकाधिक जनता इसी पर निर्भर करती है। इस निमित्त नहरों का निर्माण प्रमुख था, जिसकी सूचना देने वाला रूद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख सुदर्शन झील की चर्चा करता है और उसका समग्र इतिहास देता है जो कुल 1000 वर्षों का है। मौर्यों, शकों; गुप्तों ने इस झील के निर्माण व पुनर्निर्माण में रूची दिखाई थी। खारवेल का हाथिगुम्फा लेख भी राज्यभिषेक के पांचवे वर्ष में राजधानी तक नहर लाए जाने की सूचना देता है। पूर्वमध्ययुग में तालाबों का निर्माण बहुत लोकप्रिय हुआ।

अभिलेखों में भूमि के नाप का वर्णन विस्तार से किया गया है। भूमि को दान देते समय दानकर्ता के लिए क्षेत्र की सीमा तथा उसके माप को स्पष्ट करना नितान्त आवश्यक था। माप की इकाईयों में कुल्यवाप, द्रोणवाप, हस्त, नालक इत्यादि की चर्चा है। पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों मेंएक विंशोपक के 10, 16 या 24 द्रमों में लगान निर्धारित करने के संदर्भ मिलते हैं। जो बड़े भू–खण्ड का परिचायक है।

अभिलेखों में व्यापार और व्यापारिक संस्थानों की भी चर्चा है। भारत में व्यवसायिक संघ अत्यंत प्राचीन है। बुद्ध के समय तक वे अत्यन्त विकसित हो चुके थे। कनिष्क के सारनाथ लेख में वाराणसी का नाम उल्लिखित है जो प्राचीन भारत का प्रसिद्ध नगर था। उसके महत्व को समझ कर ही जातकों में काशी के राजा ब्रह्मदत्त का नाम कई बार उल्लिखित है। द्वितीय शताब्दी के नासिक लेख में शक क्षत्रप नरेश नहपान के जमाता ने भरूकच्छ (भरौंच), दशपुर (मंदसोर, मालवा), गोवर्धन (नासिक) तथा शोर्पारक

(सौपारा) का नाम गर्व के साथ उल्लिखित किया है। ये प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे। गुप्तयुग में व्यापार चरम पर था। प्रथम कुमारगुप्त के मंदसोर लेख में लाट (गुजरात) से आने वाली तथा दशपुर (मालवा) में स्थायी रूप से बसने वाली शिल्प श्रेणी जो रेशम का कार्य करती थी, का उल्लेख है जिन्होंने सूर्य मंदिर का निर्माण करवाया। व्यापारिक संस्थाए अपने व्यापार की उन्नति पर विशेष ध्यान देती थी। व्यापार स्थल और जल मार्गों से होता था। मौर्य शासकों ने व्यापार की बड़ी उन्नति की और अच्छी सड़कों का निर्माण किया। अशोक ने संभवतः पाटलिपुत्र से पुरुषपुर तक राजमार्ग तैयार करवाया जिस मार्ग के किनारे राजगृह, काशी, प्रयाग कौशाम्बी, साकेत कन्नौज, मथुरा आदि समृद्ध नगर बसे थे। शक सातवाहन युग में उत्तर तथा दक्षिण भारत के मध्य व्यापार होता था। नालंदा, कौशाम्बी तथा वैशाली गुप्तकालीन, मुख्य व्यवसायिक केन्द्र थे। कालक्रमेण हम आन्तरिक और वाह्य मार्गो का विकास अभिलेखों के आधार पर भी चित्रित कर सकते हैं। विशिष्ट व्यापारी वर्ग राजकीय प्रशासन में आर्थिक सहायता करते थें। व्यापारिक वस्तुओं में गेहूँ, जौ, दाल, शक्कर, देशी खांड,घी, तेल, चन्दन की चर्चा मिलती है। ग्रामों में हॉटे लगती थी। अधिकतर वस्तुओं की क्रय–विक्रय यही होता थ। स्कन्दगुप्त के इंदौर ताम्रपत्र में तैलिकों की श्रेणी का वर्णन है, जिसने सूर्य मंदिर में दीपदान के निमित्त दान दिया था। ये श्रेणियाँ समय के साथ शक्तिशाली होती गई। इनके द्वारा जनहित के कार्य भी सम्पादित किये गये तथा समय के साथ इन्होंने वैधानिक, न्यायिक और सैनिक कार्य भी किए। श्रेणियाँ बैंकों की भाँति कार्य करती थीं। नासिक लेख के अनुसार पश्चिम भारत के शक क्षत्रप नहपान के जमाता ऋषभदत्त ने धार्मिक कार्य के लिए तंतुवाय श्रेणी के पास तीन हजार कार्षपण जमा किया था। इनके दो हजार कार्षापण प्रति सैकड़ा वार्षिक ब्याज की दर से जमा था औरएक हजार कार्षापण का ब्याज दर तीन चौथाई पण था।

विभिन्न प्रशस्तियों में वर्णित दान के प्रकरण में तीन प्रकार की चुंगी का उल्लेख है– बाजार में बिकने वाले सामान, कारखानों तथा मेला में क्रय विक्रय पर कर। कर निश्चित करने का कोई निश्चित नियम न था। अशोक के रूम्मिनदेई स्तंभ में उबलिके शब्द आया है, जो कर को हटाए जाने से संबंधित है। प्राचीन काल में मुख्य राजकर भूमिकर था जो उपज का छठवा भाग होता था। लेखों में तैलिकों की श्रेणी से देव मंदिर में प्रकाश हेतु तेल के रूप में कर लिए जाने का उल्लेख है। शराब बनाने वालों से भी कर लिया जाता था। राजस्थान केएक अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रति सुराभाण्ड पर आधा द्रम कर वसूल किया जाता था।

3.4.4 धार्मिक स्थिति

अभिलेखों का वर्गीकरण यह स्पष्ट करता है कि अधिकांश अभिलेख धार्मिक भावना से प्रेरित होकर लिखवाए गए। इसलिए अभिलेखों के प्रारम्भ में इष्ट देवता का उल्लेख मिलता है। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से अशोक के प्रज्ञापनों का विशेष स्थान है। इनमें व्यक्ति के दैनिक जीवन के क्रियाकलापों पर ध्यान देते हुए उसे सदाचार का मार्ग अनुसरण करने की सलाह दी गई है। अशोक कहता है कि दासों और सेवकों से भी अच्छा व्यवहार करना चाहिए। माता–पिता, गुरू, साधु इत्यादि का आदर करना चाहिए। अहिंसा के मार्ग पर अटल रहते हुए अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार में भी अपना योगदान दिया। अशोक का सारनाथ स्तंभ लेखघोषित करता है कि वह संघ मेंएकता का पक्षपाती था और विभेद डालने वाले भिक्षुओं को संघ से निष्काषित करने का आदेश दिया था। धम्म प्रसार के लिए अशोक ने लेख लिखवाए। उसने धर्म यात्राएं प्रारंभ की और विदेशों में दूत भेजे और स्तूपों व विहारों का निर्माण कराया। मौर्यों के

उत्तराधिकारी शुंग शासक वैदिक धर्म के उपासक थे तथा बौद्ध धर्म के प्रति पर्याप्त सहिष्णु थे। उत्तर पश्चिमी भारत पर शासन करने वाले यूनानी बौद्धधर्म के समर्थक थे। मिनाण्डर का स्थान उसमें सर्वोच्च है। कुषाण शासक भी बौद्ध धर्म के विकास में योगदान देते हैं। हॉलाकि अभिलेखो में प्राप्त विदेशियों के नाम और उनके द्वारा अपनाए जाने वाले विरुद भारतीय समाज में उनके सम्मिलन की सूचना देते हैं। गुप्त सम्राट वैष्णव मतानुयायी होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति उदार थे। उनके समय में बौद्धएवं जैन धर्मों का भी विकास हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सांची अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने आम्रकार्दव नामकएक बौद्ध मतावलम्बी को उच्च पद पर नियुक्त किया था। आम्रकार्दव ने साँची स्थित महाविहार को 25 दीनार दान में दिए। कुमारगुप्त का मानकुँवर लेख बुद्धों के प्रति नमस्कार से प्रारम्भ होता है। पूर्वमध्य काल में पाल शैली में बहुसंख्यक बौद्ध प्रतिमाएं मिलती हैं जिन पर लेख है। निश्चित रूप से उपर्युक्त उदाहरणों से हम प्राचीन काल के बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा को समझ सकते हैं। इसी क्रम में जैनधर्म संबंधी प्रमाण भी हमें प्राप्त होते हैं जिनका प्रारंभ अशोक के लेखों से होता है। खारवेल के हाथीगुम्फा लेख का प्रारंभ नमो अरहतो वधमानस से होता है। मथुरा से कुषाण तथा गुप्तकालीन अभिसिंचित जैन प्रतिमाएं मिली हैं। चष्टन के पौत्र रुद्रमादन के जूनागढ़ अभिलेख में जरा–मरण से मुक्त होकर कैवल्य ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है। इस उल्लेख से प्रमाणित होता है कि दूसरी शती ई0 तक गुजरात में जैन मत का व्यापक प्रसार हो गया था। गुप्त काल में भी जैन धर्म का बहुत विकास हुआ। रामगुप्त के काल में तीन जैन प्रतिमाएं बनी। स्कन्दगुप्त के कहौम अभिलेखों में अहिसोम के पौत्र, रूद्रसोम के पुत्र भद्र ने पाँच जिनेन्द्रों की प्रस्तर मूर्तियाँ स्थापित करायी। पूर्व मध्यकालीन शासकों ने भी जैन धर्म में अपनी आस्था व्यक्त की। चाहमान शासक सोमेश्वर के बिझौली प्रस्तर–अभिलेख से ज्ञात होता है कि दिगम्बर मतानुयायी लोर्लाक ने तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ केएक मंदिर का निर्माण कराया। इस अभिलेख में ऋषभनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ पार्श्वनाथ, वर्द्धमान आदि तीर्थंकरो का उल्लेख किया गया है।

बौद्ध और जैन धर्म के अतिरिक्त हिन्दू धर्म की विशद् विवेचना अभिलेखिक स्रोतों में की गई है। मौर्य युग के पश्चात् शुंग राजा पुष्यमित्र ने ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान में योगदान देते हुए दो अश्वमेध यज्ञ किए। कुषाणों ने भी इन यज्ञों के निमित्त स्तंम्भ खुदवाए। सातवाहनों, क्षहरातों, शक–क्षत्रपों,एवं इक्ष्वाकु राजाओं के अभिलेखों से ब्राह्मणों को दिए जाने वाले दानों का वर्णन प्रचुरता से मिलता है। भारतीय नरेशों के अतिरिक्त हिन्दू धर्म का प्रभाव विदेशियों पर भी था। विदेशी यूनानी राजदूत हेलियोडोरस भी भागवत धर्म का अनुयायी था। उसनेएक गरूड़ स्तंभ लेख खुदवाया। गुप्त नरेश परम वैष्णव थे जिनका वृत्तान्त लेखों में निहित है। विष्णु के वाहन गरुड़ का ध्वज उस वंश का राजचिह्न था जिसका उल्लेख प्रयाग के स्तंभ लेख में मिलता है। पूर्व मध्यकालीन लेख नमो नारायणाय, ओं नमो भगवते वासुदेवाय अथवा वासुदेव भट्टारक से प्रारम्भ होते हैं। प्रशस्तियों में विष्णु की स्तुति की गई है और उनके कई नाम मिलते हैं। गाहड़वाल नरेश के कमौली दानपत्रों में विष्णु के लिए आदि केशव नाम प्रयुक्त है।

इसी क्रम में शैव धर्म से संबंधित साक्ष्य भी विशेष है। मथुरा से प्राप्त क्षत्रपकालीनएक शिलालेख में भगवान शिव के देवकुल तथा मूर्ति निर्माण का उल्लेख है। कुषाण शासक शैवधर्म के प्रति भक्ति रखते थे। समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति तथा कुमारगुप्त प्रथम के करमदण्डा प्रस्तर अभिलेख भी शैव धर्म से संबंधित सूचनाएं देते हैं। हमें ज्ञात होता है कि गुप्त काल के लोग शिव की धर्म यात्राएँ निकालते थे। अभिलेखों का

प्रारम्भ नमो महादेवाय तथा नमो महादेवाय पादानुध्यात से हुआ है। पूर्व मध्यकाल में हर्ष के मधुबन ताम्रपत्र के हर्ष को परम माहेश्वर कहा गया है। 1059 विक्रम संवत् का खजुराहों लेख ओं नमः शिवाय की स्तुति से शुरू होता है। कलचुरि शासक शैव थे। लक्ष्मणराज द्वितीय ने अपने सामन्तों और सेना के सहित सोमनाथ पाटन के समुद्र में स्नानकर भगवान सोमेश्वर की पूजा की। भोजदेव आदि परमार शासकों ने अपने राज्य में शिव के विविध नामों पर मंदिरोंएवं बहुसंख्यक प्रतिमाओं का निर्माण करवाया। शैव धर्म उपशाखाओं, पाशुपत तथा कापालिकों का भी अभिलेखों में वर्णन है।

इन धर्मों के विकास के साथ–साथ शाक्तमत का भी बहुत प्रचार हुआ। देवियों की कल्पना देवताओं की पत्नियों और परिवार के रूप में विकसित हुई। पूर्वमध्यकालीन लेख में दुर्गापूजा का भी वर्णन है जो शक्ति की उग्ररूप मानी गई हैं। प्रतिहार लेख महिषमर्दिनी देवी की प्रार्थना से आरम्भ होता है। इस क्रम में भी सूर्य और गणेश की पूजा के साक्ष्य भी अभिलेखों से मिलता है। गुप्तकालीन अभिलेख सूर्य मंदिर के निर्माण तथा दीप प्रबन्धन की जानकारी देते हैं। वर्धनवंशी राजा सूर्य भक्त थे। कई अभिलेख गणेश वन्दना से शुरू होते हैं।

अभिलेखों के धार्मिक अनुशीलन से हम कह सकते हैं कि ये धार्मिक सहिष्णुताएवं सद्भाव का परिचय देते हैं। अशोक के अभिलेख में उचित ही कहा गया है कि हमें अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। प्राचीन भारत में विभिन्न धर्मावलम्बी साथ–साथ रहते तथा अपने धर्मों का विकास करते थे।

3.4.5 भौगोलिक सामग्री

अभिलेखों में प्रयुक्त नगरों तथा मार्गों के नाम, जनपदों की सीमाएं, राजाओं के विजय अभियान, इत्यादि से हमें भौगोलिक सामग्री प्राप्त होती है। बिहार के गया जिले में स्थित बराबर पहाड़ियों पर अशोक ने आजीवक सम्प्रदाय के लिए गुहाओं का निर्माण कराया था। कलिंग शासक खारवेल ने राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में गोरथगिरी होते हुए राजगृह परघेरा डाला था। विजय–यात्राओं का वर्णन करने वाले अभिलेखों में वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी का नासिक गुहालेख उल्लेखनीय है। इसमें गौतमीपुत्र शातकर्णि की विजयों का वर्णन करते हुए उसे विन्ध्य, ऋक्षवन्त, पारियात्र, सह्य, कृष्णगिरी, मलय, महेंद्र आदि पर्वतों का स्वामी कहा गया है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति विस्तार से उसके अभियानों पर प्रकाश डालती है। पुलकेशिन द्वितीय केऐहोल प्रशस्ति में विंध्यपर्वत का उल्लेख है। नदियों में झेलम, चिनाब, रावी, सतलज, व्यास, कावेरी, लौहित्य नदी आदि की अभिलेखों में चर्चा है। प्रयाग प्रशस्ति में गंगा नदी को शिव की जटाजूट से निकला बताया गया है। शीलादित्य सप्तम के अलीन ताम्रपत्र लेख में गंगाजल से सभी प्रकार की मुक्ति संभव बतायी गयी है। महाराज प्रवरसेन II के चमक ताम्रपत्र लेख से ज्ञात होता है कि भारशिवों ने भागीरथी नदी के पवित्र जल से अपना ललाट अभिषिक्त किया था। स्थानों में कपिलवस्तु, लुम्बिनी, कोसल के इतिहास की जानकारी हमें अभिलेखों से ज्ञात होती है। इसके अतिरिक्त कई राजधानियों छोटे–बड़े नगरों का उल्लेख है। अशोक, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त II, कुमारगुप्त आदि की सीमाओं का निर्धारण अभिलेखों के आधार पर किया जा सकता है। उत्तर भारत के मार्गों के लिए अभिलेखों में उत्तरापथ तो दक्षिण भारत में मार्गों के लिए दक्षिणापथ का प्रयोग है। खारवेल का हाथीगुम्फा लेख, अशोक का तेरहवाँ शिला प्रज्ञापन लेख, समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति, चन्द्रगुप्त के मैहरौली स्तंभ लेख, पुलेकेशिन II केऐहोल अभिलेख से इन शासकों के विजय अभियानों की सूचना मिलती है। रूद्रदामन, नहपान, समुद्रगुप्त के लेख, बन्दरगाहों की सूचना देते हैं। हमें सार्थवाहों के बड़े–बड़े

दलों की भी सूचना मिलती है। कुमारगुप्त I और बुद्धगुप्तकालीन के दामोदरपुर ताम्रपत्र में क्रमशः सार्थवाह बन्धुमित्र तथा सार्थवाह वसुमित्र का उल्लेख मिलता है। व्यापारियों द्वारा अपनाए गए मार्ग भी भूगोल के आवश्यक अंग हैं तथा इसकी भी जानकारी अभिलेखों से मिलती है।

3.4.6 सांस्कृतिक इतिहास

अभिलेख प्राचीन भारतीय इतिहास के राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक के इतर भी अनेकानेक पहलुओं पर सूचनाएं प्रदान करने में समर्थ होता है। जब हम भारतीय उपमहाद्वीप में भाषा और लिपिगत विकास व उसके क्षेत्रीय विविधताओं की बात करे तो अभिलेख सर्व उपयुक्त साक्ष्य रूप में प्रस्तुत होता है। जहाँ आरम्भिक अशोक के अभिलेखों की मुख्य भाषा प्राकृत है, वहीं पश्चिमोत्तर क्षेत्रों में यूनानी व आरमेईक भाषाओं का भी अस्तित्व बोध होता है। कालान्तर के अभिलेखों में भाषाई विकास क्रमशः प्राकृत–संस्कृत मिश्रित, विशुद्ध संस्कृत, साहित्य समरूप अलंकृत संस्कृत आदि रूपों में देखा जा सकता है। पूर्वमध्यकाल में क्षेत्रीय भाषाओं का भी अभिलेखीय प्रमाण दिखने शुरू हो जाते हैं। जिसमें पूर्वी क्षेत्रों में बांग्ला व दक्षिण में तमिल, कन्नड़, तेलूगू आदि क्षेत्रीय लिपियों का स्वरूप दिखाई देता है।

हमें अभिलेखों के तुलनात्मक अध्ययन से विभिन्न महत्वपूर्ण शासकों, प्रसिद्ध व्यक्तियों, कवि–लेखकों यहाँ तक कि उनके साहित्यों का भी काल–निर्धारण सम्भव हो पाया है। जैसे मालवा के यशोवर्मन, भारवि, कालिदास, महाभारत की कृति, हरिकेली नाटक आदि का विवरण लेखों में प्राप्त हुए हैं जिसके लिपियों के आधार पर उनके सम्भावित काल निर्धारण में सहायता हुई है।

अभिलेखों से हमें प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति व ज्ञान परम्परा के भी दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। हाथीगुम्फा लेख में विविध प्रकार के लेख, रूप, गणना, व्यवहार, धर्म आदि विद्याओं में युवराज अवस्था में खारवेल द्वारा पारंगत होने की बात कही गई है। कौशाम्बी, नालन्दा, वैशाली आदि पुरास्थलों से कई मुहरें प्राप्त हुई है जो महाविहार होने को प्रमाणित करते हैं। कनिष्क के सारनाथ, कौशाम्बी व श्रावस्ती के लेखों में 'भिक्षुबल बुद्धमित्र का त्रिपिटक के आचार्य होने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के कालान्तर में कई लेख जो प्रारम्भिक भारतीय शिक्षा पद्धति की ओर ध्यान आकृष्ट करते प्रतीत होते हैं।

भारतीय कला पक्ष को समझने में भी अभिलेख महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हमें मथुरा से प्राप्त प्राचीन जैन, बौद्ध व हिन्दू परम्परा की मूर्तियाँ जिसके आधार भाग पर अभिलेख मिलते हैं जिसके आधार पर किसी भी अवस्था में प्राप्त मूर्तियों प्रतिमाओं की पहचान सम्भव हो पाती है। माट से प्राप्त सिरविहीन कनिष्क के आदमकद मूर्ति की पहचानएकमात्र उसमें उत्कीर्णित लिपि के आधार पर की गई है। देवगढ़ के मन्दिरों से प्राप्त विभिन्न लेखों के आधार पर ही हमें सभी जैन तीर्थंकरों से सम्बद्ध यक्षिणियों का नाम ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त अयागपट्ट, दक्षिण में चोल शासकों की नामोल्लेखित मूर्तियाँ आदि कला के अध्ययन में काफी सहायक सिद्ध होती है।

अंकों के विवरण व उसके विकास को अभिलेखों के अध्ययन से समझा जा सकता है। प्रथमतः अशोक के लेखों में कुछ अंक जरूर दिखलाई पड़ते हैं पर पूर्ण रूप से सातवाहन तथा शक शासकों के अभिलेखों में 1 से 9 तक के अंक प्राप्त होते हैं। अभिलेखों में इसका प्रयोग दो प्रकार से मिलता है।एक, अंकों का योग पद्धति से प्रयोग, जैसे– कुमारगुप्त के धनदैह ताम्रपत्र में 113 के लिए 100 + 10 + 3 लिखा

गया है। जबकि दूसरा अंकों को शब्दों के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। दशमलव प्रणाली के रूप में पहली बार शून्य का प्रयोग पूर्व मध्यकाल के संवत् 933 के ग्वालियर लेख में पचास लिखने हेतु प्रयोग मिलता है। इस प्रकार वर्तमान के नागरी या देवनागरी में अंकों का स्वरूप 10वीं शताब्दी तक पूर्णता को प्राप्त कर चुका था।

3.5 अभिलेखों के आधार पर तिथि निर्धारण

अभिलेखों के आधार पर जब तिथि निर्धारण किया जाता है तो उसमें कई प्रकार के साक्ष्य महत्वपूर्ण होते हैं। जैसे – अभिलेखों की लिपि और अक्षरों के विकास का इतिहास, अभिलेखों की भाषा और व्याकरण का स्वरूप, लिखने की शैली (गद्य पद्य) या अभिव्यक्ति का तरीका। इनके अतिरिक्त इन अभिलेखों में वास्तविक तिथियाँ भी होती है। किसी भीघटना की तिथि के प्रदर्शन हेतु अभिलेखों में कई प्रकार की परम्पराएँ देखी जाती हैं। इस तरह के उदाहरणों को हम सामान्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं –एक वर्ग जिसमें लिखित रूप मेंघटना का विस्तृत विवरण है उदाहरणार्थ – सारनाथ से प्राप्त बोधिसत्त्व की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है कि कनिष्क के तीसरे वर्ष में हेमन्त मास के 22 वे वर्ष में बल भिक्षु नामक व्यक्ति ने इस प्रतिमा का दान दिया। इस उल्लेख के आधार पर इस दान के वर्ष को निर्धारित किया जा सकता है। इसी तरह काएक अन्य उदाहरण जूनागढ़ अभिलेख है जहाँ आषाढ़ के महीने में गुप्त संवत के 137 वें वर्ष में सुदर्शन झील के मरम्मत का कार्य प्रारम्भ हुआ। इस अभिलेख के क्रमानुसारघटनाओं का वर्ष सहित उल्लेख प्राप्त होता है।

इन उदाहरणों के अतिरिक्त कुछऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं जहाँ प्रत्यक्ष रूप से तोघटनाओं की तिथियों का उल्लेख नहीं होता। उदाहरणार्थ अशोक के कुछ लघु शिलालेखों में वर्णित वृत्तान्तों जैसे ये लेख बुद्ध के 256वें वर्ष के बाद लिखा जा रहा है, आदि के आधार पर बुद्ध के महापरिनिर्वाण की तिथि निर्धारित करने का प्रयास प्रो0 वी0एस0 पाठक ने किया है। माना जाता है कि इन लघुशिलालेखों को अशोक ने अपने शासन के अन्तिम दिनों में लिखवाया जिस आधार पर इन लेखों की तिथि ज्ञात होती है पुनः उसमें 256 वर्षघटाने पर बुद्ध के महापरिनिर्वाण की तिथि ज्ञात की जाती है।

अभिलेखों मेंघटनाओं के तिथि व क्रम का जिस प्रकार विवरण मिल जाता है, इतिहास के किसी अन्य स्रोत में प्रायःऐसा दिखाई नहीं देता। प्राचीन हिन्दुओं की यह विशेष उपलब्धि रही की उन्होंने अलग–अलग माध्यम से तिथियों, संवतों का प्रयोग करते हुए इतिहास का सम्पूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया। हॉलाकि अभिलेखों में प्रयुक्त इन तिथियों की हमें कोई निश्चित प्रणाली दिखाई नहीं देती है। प्रारम्भ मेंऐसे बहुत से उदाहरण प्राप्त होते है। जहाँ हमें शासकों के शासन वर्ष का उल्लेख है। अशोक के भिन्न–भिन्न लेखों में उसके राज्यारोहण के अलग–अलग वर्षों से सम्बन्धित है। उदाहरणार्थ उसका 13वाँ शिलालेख राज्याभिषेक के 8वें वर्ष का है, लुम्बिनी लेख का सम्बन्ध 20 वे वर्ष से है इत्यादि। खारवेल के हाथीगुम्फा लेख में भी राज्याभिषेक के विभिन्न वर्षों का उल्लेख है। इस परंपरा का और विकास तब दिखता है जब अभिलेखों में दिन तथा ऋतु के भी संदर्भ दिए जाने लगे गए। उदाहरणार्थ सातवाहन शासक गौतमी शातकर्णि के नासिक लेख में राज्यवर्ष के 18 वें वर्ष के साथ वर्षा पक्ष के दूसरे पक्ष के पहले दिन का उल्लेख है। हम कह सकते हैं कि प्रारम्भ में किसी जनप्रिय संवत्सर वे अभाव में इस तरह के उद्दरण लिखे जा रहे थे। हॉलाकि हिन्दुओं द्वारा अति प्राचीन काल में भी संवत्सर प्रयोग में लाए गए।ऐसा हीएक संवत्सर कलियुग संवत था, जिसका प्रचलन

3102 ई0 पू0 माना जाता है। इस संवत का विशेष प्रयोग ज्योतिष के ग्रंथों तथा पंचागों में हुआ है। धीरे–धीरे अभिलेखों में संवतों का प्रयोग बढ़ने लगा और हम देखते है कि यहाँ कई संवत प्रयोग में रहे। उदाहरणार्थ – विक्रम संवत जो 57 ई0 पू0 में प्रारम्भ हुआ, उत्तर भारत के मुख्यतया मध्यप्रदेश राजस्थान आदि क्षेत्रों में प्राचीनकाल से प्रचलित था। इसी तरह काएक महत्वपूर्ण संवत कृत संवत है, जिसका प्रयोग शकों ने किया। परन्तु जब वे मालवों से पराजित हो गए तो कृत संवत को मालव संवत के रूप में स्वीकार कर लिया गया। ये दोनों संवत भी 57 ई0पू0 में ही प्रारम्भ हुए माने जाते हैं। इस क्रम में शक संवत (78 ई0), गुप्त संवत (319 ई0), हर्ष संवत (607 ई0), का भी अभिलेखों में पर्याप्त प्रयोग हुआ। जिस आधार पर अभिलेखीय स्रोत इतिहास के क्रमबद्ध अध्ययन में सहायक हुए।

3.6 सारांश

इतिहास–निर्माण में अभिलेखों का महत्व स्वयं सिद्ध है। जब 19 वीं शताब्दी के अंत में कई प्रारंभिक भारतीय अभिलेखों की खोज हुई और उनका अध्ययन किया गया तो इनकी विशेषताएँ स्वयं प्रकाशित हुई। अभिलेखों में भाषा का विकास उसमें परिवर्तन, कालक्रम का प्रयोग इत्यादि को समझा गया। हस्तलिखित सामग्रियों की तुलना में अभिलेखों की विशेषता है कि ये लम्बे समय तक सुरक्षित रहे साथ ही अपने काल विशेष की वस्तुनिष्ठ जानकारी उपलब्ध कराते हैं। स्रोतों का कुशलएवं सूक्ष्म विश्लेषण ही इतिहास की नींव है। वस्तुनिष्ठ इतिहास तभी सम्भव है जब साहित्यिक और पुरातात्त्विक स्रोतों की तुलनात्मक अध्ययन हो। इसलिए किसी भी स्रोत की प्रमाणिकता की जाँच करना आवश्यक है कि वे किस काल–विशेष के संबंध में जानकारी प्रदान कर रहे हैं । साथ ही अन्य स्रोतों से उनकी तुलना भी की जानी चाहिए। अभिलेख इस संदर्भ में महत्वपूर्ण बन जाते हैं, क्योंकि येऐतिहासिक परिवर्तन का भी संकेत देते हैं। जहाँ इतिहास के अन्य स्रोतों से जानकारी उपलब्ध नहीं होती वहाँ भी अभिलेखों ने अपनी महत्ता को सिद्ध किया है। कहा जाता है कि सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण सामग्री में 80% से अधिक योगदान अभिलेखों का है। यह भी तथ्य है कि अभिलेखों के अध्ययन की अपनी सीमाएँ भी है, इसलिए अभिलेखों द्वारा प्रदत्त सामग्री का हमें सावधानीपूर्वक इस्तेमाल करना चाहिए। हमें यह जाँच करनी चाहिए कि कोई भी अभिलेख किस समय में लिखा गया, क्योंकि यह सम्भव है कि काल–विशेष की जानकारी प्रदान करने वाले अभिलेखों को बाद में लिखा गया हो। इसी के साथ अभिलेख लिखे जाने के उद्देश्य को गहनतापूर्वक समझना होगा जैसे अशोक के अभिलेखों का उद्देश्य धम्म को प्रचारित करना था, जबकि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति सामरिक उपलब्धियों का ज्ञान कराती है। अभिलेखों में दिए गए उल्लेख 100% सत्य नहीं होते। अन्य स्रोतों से उनकी तुलना की जानी चाहिए क्योंकि अभिलेख भी पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं होते।

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

पेलियोग्रॉफी (लिपिशास्त्र)– इतिहास के अध्ययन की वह शाखा है जिसमें प्रारम्भिक लेखन पद्धति के साथ उनके उद्ववाचन और तिथ्यांकन भी अध्ययन किया जाता है। इस शास्त्र के अन्तर्गत अलग–अलग लिपियों में हुए परिवर्तन और विकास का भी अध्ययन किया जाता है।

भूर्जपत्र : पुस्तकेंएवं लंबे–लंबे अभिलेखों को लिखने के लिए भूर्जपत्र प्राचीन भारत काएक सर्वसाधारण पदार्थ था। भूर्ज वृक्ष की यह भीतरी छाला होती थी। हिमालय

प्रदेश में इसकी प्राप्ति बहुतायत होती थी। यूनानी लेख कहता है कि सिकन्दर के भारत पर आक्रमण के समय भारतीय छाल पर लिखते थे।

काष्ठपट्ट – काष्ठपट्टो तथा बाँस की शलाकाओं का लेखन के उपकरण के रूप में प्रयोग की सूचना मिलती है। काष्ठ पट्ट भिन्न–भिन्न लकड़ियों के होते थे, जैसे– बांस, चन्दन इत्यादि, जिनका प्रयोग वर्णमाला को सीखने में होता था। आज भी गाँवों में लकड़ी के बने फलकों पर खड़िया से लिखा जाता है।

धम्म : धम्म पाली भाषा का शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ धर्म है। कलिंग युद्ध के पश्चात् अशोक के हुए ह्रदय परिवर्तन को उसने धम्म के माध्यम से उपदेशित और प्रचारित किया। यह विचारधारा सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखती थी।

प्रागैतिहासिक काल : भारतीय इतिहास के काल विभाजन का प्रारम्भिक काल प्रागैतिहासिक काल है, जिस समय के मानव के लेखन कला से हम परिचित नहीं है। हॉलाकि शैलकलाओं के माध्यम से इस काल के मानवों के मनोभावों को समझने का प्रयास किया जा रहा है। इस काल के मानव द्वारा प्रयोग में लाए गये मुख्यतः पत्थरों और हड्डियों के उपकरण हमको प्राप्त होते हैं।

ब्राह्मी लिपि : ब्राह्मी लिपि के नाम के संबंध में यह मान्यता रही है कि लिपि का अविष्कार ब्रह्मा द्वारा वेदों की सुरक्षा के लिए हुआ। हॉलाकि ब्राह्मी का उद्भव किस काल में हुआ तथा इसके सृजन के पीछे किन विशिष्ट प्रवृत्तियों ने अपनी प्रेरणा प्रदान किया है, यह विचार का विषय है। आधुनिक काल के इस लिपि के उद्वाचन का श्रेय जेम्स प्रिंसेप को दिया जाता है, जिन्होंने 1837 ई0 में इसे पढ़ा।

व्यास : गुप्त और उत्तर गुप्तकालीन हिन्दू ग्रन्थों के विशाल समूह के रचयिता को व्यास कहा जाता है। व्यास का सम्बन्ध कई रचनाओं से है, जिसमें महाभारत सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कुछ लोग व्यास कोएक पद्वी भी मानते हैं और कई व्यासों की संकल्पना प्रस्तुत करते हैं।

3.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. पाण्डेय, राजबली, (संस्करण 2012), *भारतीय पुरालिपि*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. वाजपेयी, कृष्णदत्त; अग्रवाल, कन्हैयालाल व वाजपेयी, संतोष, (1992),ऐ*तिहासिक भारतीय अभिलेख*, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर।
3. मजूमदार, आर.सी. व पुसालकर,ए.डी., (1996), *सोर्सेज ऑफ इंडियन हिस्ट्री ; द वैदिकएज*, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई।
4. सिंह, उपिंदर, (2008),ए *हिस्ट्री ऑफएंशियण्टएण्ड अर्ली मिडिवल इंडिया : फ्रग्म द स्टोनएज टू द ट्वेल्थ सेंचुरी*, पियर्सन लॉंगमैन, नई दिल्ली।
5. राय,एस0एन0, (1994), *भारतीय पुरालिपिएवं अभिलेख*, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
6. सॉलमन, रिचर्ड, (1998), *इंडियन इपीग्राफी :ए गाइड टू द स्टडी ऑफ इंसक्रिप्शन इन संस्कृत, प्राकृतएण्ड द अदर इंडो आर्यन लांग्वेजेज*, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, न्यूर्याक।
7. उपाध्याय, वासुदेव, (द्वितीय संस्करणः 1970), *प्राचीन भारतीय अभिलेख*, प्रज्ञा प्रकाशन, पटना।

3.9 बोध प्रश्न

1. अभिलेखों के प्रकारों की चर्चा करते हुए किन्हीं दो की सोदाहरण चर्चा कीजिए।
2. तिथि निर्धारण में अभिलेखों के योगदान की विवेचना कीजिए।
3. प्राचीन भारतीय इतिहास के निरूपण में अभिलेखिक स्रोतों के महत्व पर प्रकाश डालिए।
4. अभिलेख क्या है? इनमें प्रयुक्त लिपि और विषय–वस्तु से आप क्या समझते हैं?
5. राजकीय और व्यक्तिगत लेखों में अंतर स्पष्ट कीजिए।

इकाई 4 मौद्रिक साक्ष्य : मुद्रा एवं मुहर

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने पश्चात् आप निम्नलिखित के बारे में समझ सकेंगे–

- मौद्रिक स्रोतों का परिचय
- मुद्राओं का वर्गीकरण
- मुद्राओं एवं मुहरों का महत्व
- इतिहास–निर्माण में मुद्राओं एवं मुहरों की भूमिका
- मुद्रा निर्माण की तकनीकी

4.1 प्रस्तावना

मुद्राओं की उत्पत्ति दैनिक आवश्यकताओं की आपूर्ति के निमित्त, लेन–देन,क्रय विक्रय में विनिमय के सरल और और सुविधाजनक उपकरण के रूप में हुई। उनका आविष्कार जब भी हुआ और जिनके द्वारा हुआ, वें मुद्राओं के रूप मेंऐतिहासिक उपकरण प्रस्तुत कर गए, जिसने अपने समय में अपने उद्देश्य की पूर्ति तो की ही, साथ ही उनमें वे अपने जीवन, संस्कृति और अपने कार्यकलाप की अमिट छाप छोड़ गए। जब यूरोप में पुर्नजागरण काल आरम्भ हुआ, उस समय लोगों में पुरावस्तुओं के संग्रह में रुचि जाग्रत हुई, इस क्रम में सिक्कों की तरफ व्यक्तियों का ध्यान गया। वों मुद्राएँ जो प्रारम्भ में कौतुहल की वस्तु मात्र थी, धीरे–धीरे इनके अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति का विकास हुआ और मुद्राशास्त्र केएक शाखा के रूप में सामने आया।

19वी–20वीं शती के दौरान अनेक रूपों से प्राचीन मुद्राएँ सामने आयी, जिसमें सर्वेक्षणों और उत्खननों का प्रमुख योगदान था। इस क्रम में इन मुद्राओं के आन्तरिक और वाह्य पक्ष का अध्ययन किया गया और कईऐतिहासिक जानकारीयाँ प्रकाश में आई। आन्तरिक पक्ष में जहाँ धातु, धातु प्रतिशतता, तकनीकि इत्यादि का अध्ययन शामिल था, जो वैज्ञानिक पद्धतियों से ही सम्भव है, वहीं वाह्य पक्ष में मुद्राओं पर प्राप्त होने वाले विभिन्न प्रतीक और लेख थे, जो नग्न आँखों से पढ़े जा सकते थे।

प्रारम्भ में इन मुद्राओं का अध्ययन अंग्रेज अधिकारियों द्वारा ही किया गया। मुद्राओं के अध्ययन के क्रम में कई मुद्रा–अनुसुचियाँ (कैटलॉग) सामने आयी जिनमें मुद्राओं के आकार–प्रकार, धातु, भार–मान और उन पर प्राप्त प्रतीकों का विवरण होता था। कुछ ने स्वयं लिखा तो कुछ ने प्राप्त मुद्राओं को उस समय के पुरातत्ववेत्ताओं जेम्स प्रिंसेप,एलक्जेन्डर कनिंघम आदि को दे दिया। ज्यादातर मुद्राएँ अंग्रेजों द्वारा ब्रिटिश संग्रहालय कों दे दी गयी। समय के साथ मुद्राओं के अध्ययन से हम सांस्कृतिक इतिहास भी अनावृत कर सके।

4.2 मुद्रा एवं मुहर : एक परिचय

प्रारम्भिक मानव के विविध सांस्कृतिक पक्षों का उद्‌घाटन करने वाले साक्ष्य अतीत के गोद में विद्यमान हैं।ऐसे तथ्यों को पुराविद् सर्वेक्षणोंएवं उत्खनन के माध्यम से प्राप्त कर अपनी परिकल्पनाओं के माध्यम से वर्तमान में जीवन्तता प्रदान करता है। ये साक्ष्य लिखितएवं अलिखित दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं।मुद्राएँ लिखित साक्ष्य के अंतर्गत आती हैं तथा इसके अध्ययन को 'मुद्राशास्त्र' या Numismatics कहते हैं। कालान्तर में जब इन मुद्राओं के प्रचलित स्वरूप का अध्ययन किया जाने लगा तो यहएक स्वतंत्र विषय के रूप में अस्तित्व में आया। विस्तृत अर्थों में मुद्राशास्त्र के अंतर्गत उन सभी वस्तुओं का अध्ययन किया जाता है जिसका सम्बन्ध व्यापार, विनिमय से सम्बन्धित सिक्कों, मेडल या कागज के नोटो से हो। जब भी मुद्राशास्त्रएवं उसके अध्ययन की चर्चा होगी तो उसके तीन चरणों का उल्लेख आवश्यक है

1. वस्तु–विनिमय प्रणाली
2. विनियम का माध्यम
3. धात्विक अनुप्रयोग अथवा सिक्का

प्राचीन मानवीय समाज के लोगों की जैसे–जैसे इच्छाओं, आकांक्षाओं में वृद्धि हुई वैसे–वैसे उनके आपसी सम्पर्क, आवश्यकताओं का भी विकास हुआ। समाज में लोगों को अपने समान या वस्तु के बदले दूसरे की वस्तु को लेने का विचार उत्पन्न हुआ। फलतः समाज में 'वस्तुविनिमय प्रणाली' (Barter System) की प्रक्रिया का आगमन हुआ जो सिक्कों के निर्माण का प्रारम्भिक चरण माना जा सकता है। इसके प्रमाण भारतीय उपमहाद्वीप में नवपाषाण–काल से ही दृष्टिगत होने लगते हैं जिसमें, वैदूर्यएवं शीशा को व्यापार–विनिमय का माध्यम माना गया है। यद्यपि यह स्थिति अविकसित मुद्रा–प्रणाली की परिचायक है क्योंकि कालांतर में इसमें कुछ व्यावहारिक समस्याएं उत्पन्न हुई। परस्पर विनिमय करने वाले लोगों के वस्तुओं के पारस्परिक मूल्य का अंतरएक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। इसी समस्या के आलोक में मुद्रा व्यवस्था के द्वितीय चरण 'विनिमय माध्यम' (Medium of Exchange) की शुरूआत हुई।

जब किसीएक वस्तु का मूल्य विनिमय की जाने वाली वस्तु के मूल्य से कम या अधिक हो तो किसी तीसरे वस्तु को विनिमय का माध्यम बनाया जाना ही 'विनिमय का

माध्यम' कहलाता है। इस कालखण्ड में विनिमय का माध्यम अत्यंत महत्वपूर्ण सामग्री के रूप में चिह्नित रहा होगा। जैसे रोम, स्पार्टा इत्यादि स्थानों पर अनुश्रुतियोंएवं कथा कहानियों में 'चमड़े' को विनिमय माध्यम बताया गया है। वहीं, यूरोप, चीन में 'अनाज' विनिमय का माध्यम था। प्राचीन भारतीय सिंधु–सारस्वत सभ्यता की परम्परा में गुजरात, पंजाब के पुरास्थलों से विनिमय माध्यम खाद्याान्न अधिशेष ही दृष्टिगत होता है। विनिमय माध्यम की सबसे समृद्ध व्याख्या प्राचीन हिन्दू–समाज पर अवलम्बित है क्योंकि इस समय 'गाय' महत्वपूर्ण वनसम्पदा कीघोतक थी। सैकड़ों वैदिक तथा उत्तरवैदिक ऋचाएँ गायएवं उसकी महत्ता से ओत–प्रोत हैं। यद्यपि उपरोक्त विवरणों की संतुलित व्याख्या यह भी है कि हिन्दू समाज में गायें विनिमय का सशक्त साधन थी इसमें कोई दो मत नहीं है किंतु वहीएकमात्र विनिमय का आधार थी यह तथ्य संशय उत्पन्न करता है। महाभारत मेंएक स्थान पर क्षत्रियों के बीच क्रय–विक्रय के माध्यम में 'अश्व–' का भी उद्धरण प्राप्त होत है। काशिका में अश्व के बदले दासियों को क्रमशः 'प्रचांश्वा' तथा 'दशाश्वा' कहा गया है। अष्टाध्यायी में विनिमय माध्मय के रूप में वसन (वस्त्र) के बदले वासन (बर्तन) को विनिमय का आधार बनाया गया।

अनाज, पशु इत्यादि विनिमय माध्यम व्ययसाध्य था तथा उसे लम्बे समय तक संचय करके नहीं रखा जा सकता था, अतः अबएक बार फिरएक व्यावहारिक समस्या उत्पन्न हुई। इसी जटिल समस्या ने मुद्राव्यवस्था के तृतीय अवस्था को जन्म दिया जब विनिमय का माध्यम धातुएं समझी जाने लगीं। मूल्यवान होने के साथ–साथ यह अवागमन में सहज–सुलभ थी। समयानुसारएवं आवश्यकता के हिसाब से इसमें काट–छांट की जा सकती थी। आवश्यकतानुसार धातु, मात्रा, आकार–प्रकार में परिवर्तन किया जा सकता था। इसी सुविधा के कारण सिक्के सम्भवतः अनुप्रयोग में आये होंगे। मुद्राएवं सिक्के दोनों ही विनिमय का माध्यम हैं किन्तु मुद्राएँ जहाँ किसी वैधीकृत सत्ता के प्रतीक के रूप में दृष्टिगत होते हैं तो वहीं सिक्कें वैधीकृत सत्ता के अनुमोदन के साथ–साथ मानकी कृत प्राधिकरण द्वारा उनके आकार–प्रकार, स्वरूप, भारमान, इत्यादि का लांछन होता है। यह सत्य है कि प्रारम्भ में सिक्के के उद्भव में मानवएवं उसके विनिमय प्रणाली का योगदान था किंतु इसी जटिलता, मानकीकरण, लोलुपता ने राजकीय अधिग्रहण में अपनी महती भूमिका निभाई । विद्वानों द्वारा विश्व के सिक्कों की प्राचीनता सिद्ध करने की होड़ है किन्तु आकार–प्रकार निश्चित भारमानएवं शुद्धता के आधार पर भारत में सिक्के ई0पू0 800 में प्रचलित माने गये हैं। जिनका प्रचलन गांधार जनपद (तक्षशिला) रहा है तथा इनको शलाका मुद्राएँ (Best Bar Coins) कहा गया है जो रजत–धातु में निर्मित हैं। वहींएशिया माइनर में लिडिया से इलेक्ट्रम (स्वर्ण–रजत मिश्रित) धातु की मुद्राएँ प्राप्त होती हैं। जो ई0पू0 700 के माने जाते हैं। यदि इनके तिथि–निर्धारण में साहित्य का सहारा लिया जाए तो, प्राचीन हिन्दू साहित्य के आधार पर इनकी तिथि प्राचीन से प्राचीनतम हो जाएगी।

जब सिक्कों के अध्ययन की बात होती है तो इसके अंतर्गत मौद्रिक धातु, आकार–प्रकार, मापपद्धति (Metrology), निर्माण तकनीकि, मौद्रिक लिपि–भाषा, मुद्रानिधि, पुरोभाग (चित्र)– पृष्ठभाग (पट्ट), टकसाल इत्यादि की चर्चा आम विषय है। यह इसका परम्परागत तथाऐतिहासिक पक्ष है जिसे अभिव्यक्त इतिहास भी कहा जा सकता है किंतु मुद्राओं के भारत में कमी का आकलन (आपेक्षिकघनत्व), सिक्कों के रंगों में परिवर्तन, सिक्कों का रासायनिक परीक्षण, सिक्कों की सुरक्षा, सिक्कों में धात्विक प्रतिशतता परीक्षण इत्यादि इसके वैज्ञानिक पक्ष या अंतर्निहितऐतिहासिक पक्ष को भी द्योतित करती हैं। जैसे आंकिक गणना में गुप्तकाल के स्वर्ण सिक्कों की संख्या अधिक है। किंतु स्वर्ण प्रतिशतता में कुषाण शासक बेहतर प्रतीत होते हैं।ऐसे पक्षों ने

मुद्राओं की अवधारणा का सीधे इतिहास–लेखन स्तर पर प्रभावित किया है जिससे इसकी महत्ता स्वयंसिद्ध है।

इसी क्रम में मुहरें या मुद्रांक भी महत्वपूर्ण है। मुहरें साधारणतया किसी भी समाज संस्कृति और क्षेत्र की व्यवसायिक और प्रशासनिक गतिविधियों से सम्बन्धित है। आज से लगभग 5000 वर्ष पूर्व हड़प्पा सभ्यता से लेकर आधुनिक समय तक मुहरों का उपयोग राजाओं, रानियों, राजकुमारों, उच्च अधिकारियों, व्यापारिक संगठनों, सरकारों और संस्थाओं द्वारा अधिकार देने के लिए किया जाता रहा है। यहाँ तक कि मुहरों के माध्यम से दस्तावेजों को भी मान्यता दी गई और इनका महत्व हस्ताक्षर से ज्यादा था। हालांकि आधुनिक समय में इनका महत्व कम हो रहा है। मुहरें प्रायः धातु की बनी होती थी जैसे– रजत, ताम्र, कांस्य। वहीं धातु से इतर सेलखड़ी, पत्थर, मिट्टी आदि से बनी मुहरें भी प्राप्त हुई है। इनका कोई निश्चित आकार न था। इस कारण ये बेलनाकार, आयताकार, वर्गाकार, गोलाकार आदि रूपों में मिलती है।

4.3 मुद्राओं का वर्गीकरण

मुद्राशास्त्र के अंतर्गत जब मौद्रिक वर्गीकरण की बात की जाती है तो इसके कई मानक स्थापित हैं। यथा– मुद्राओं की बनावट, तकनीकी, आकार–प्रकार, धातु तथा प्रतिकांकन, भारमान इत्यादि। प्राचीन भारतीय इतिहास में सिक्कों के अलग–अलग वर्ग उपलब्ध होते हैं। इसके वर्गीकरण में प्रमुख रूप से धातु प्रमुख आधार है। यथा–

1. एक धातु की बनी मुद्रा जो मिश्रित एवं एकल धातु दोनों की हो सकती है।
2. अधात्विक मुद्रा

धात्विक वर्गीकरण के अंतर्गत कई उपवर्ग माने जा सकते हैं, यथा रजत मुद्राएं, ताम्र मुद्राएं, स्वर्ण मुद्राएं, सीसे की मुद्राएं इत्यादि। वहीं यदि मिश्रित धातु में सिक्कों के उपवर्ग में इलेक्ट्रम (स्वर्ण–रजत मिश्रित), पोटीन (तांबा तथा टीन का मिश्रण) इत्यादि को शामिल किया जा सकता है। भारतीय उपमहाद्वीप में जहाँ चाँदी की उपलब्धता कम है वहाँ प्रारम्भिक मुद्राओं के संदर्भ में, रजत मुद्राएँ प्राप्त होती हैं। शलाका मुद्राएँ (तक्षशिला) हो या प्राचीन आहत मुद्राएं यह सर्वत्र रजत धातु में ही प्राप्त होती हैं।ऐसी मान्यता है कि इनका निर्माण मध्यएशिया तथा वर्मा से प्राप्त चाँदी से किया गया था। ताँबे का संबंध तो ताम्राश्मक संस्कृति से ही प्रारम्भ हो जाता है। किंतु इसका प्रचलन रजत मुद्राओं के बाद चौथी शताब्दी ई0पू0 से माना जाता है। ताम्र मुद्राएॅ प्रमुख रूप से ढलवा तकनीकि से निर्मित हैं, जिनकी प्राप्ति राजस्थान के खेतड़ी की खानों से होती रही होगी। तृतीय धात्विक वर्गीकरण का संबंध स्वर्ण निर्मित मुद्राओं से है जो भारतीय परिप्रेक्ष्य में कुषाण काल से ही प्रारम्भ हो जाते हैं।ऐसी मान्यता है कि यह तभी सम्भव हुआ जब विदेशों और स्थानीय दोनों स्तर पर स्वर्ण की उपलब्धता हो यथा– रूस के अल्ताई क्षेत्र और भारत में कर्नाटक से स्वर्ण उपलब्ध था। जिसके वर्गीकरण से समसामयिक आर्थिक दशाएवं व्यापार का अनुमान उसके शुद्धता अशुद्धता के आधार पर लगाया जा सकता है। तत्पश्चात् शीघ्र ही सीसे की मुद्राएं भी प्राप्त होने लगती है जो सम्भवतः समुद्री व्यापार से संबंधित मानी जाती है, जैसे सातवाहनों की मुद्राएं। मिश्रित धातु की मुद्राएं यथा पोटीन तथा इलेक्ट्रम का निर्माण भी यदा–कदा प्राप्त होता रहता है। सातवाहनों द्वारा पोटीन में तो वही गुप्तोत्तर काल में इलेक्ट्रम धातु में मुद्राओं की प्राप्तिएक अलग मौद्रिक व्याख्या को प्रदर्शित करती है। वही अधातु मुद्रा के अनुप्रयोग पर यह भ्रम उत्पन्न हाता है कि इसको मुद्रा के रूप में रखा जाए

अथवा नहीं। इसमें प्रमुख रूप से कौड़ियों का उल्लेख किया जा सकता है जो प्राचीन काल से लम्बे समय तक व्यापार वाणिज्य का माध्यम रही है। यद्यपि ये मुद्राशास्त्र की परिभाषा के अंतर्गत नहीं आती है। मुद्राओं के वर्गीकरण काएक प्रमुख आधार तकनीकि को भी माना जा सकता है। इसमें सर्वप्रथम आहत (Punching) तकनीकि प्राचीनतम मानी जाती है। निर्माण प्रक्रिया के दौरान इनको आहत किया जाता था। इस आधार पर इसका नामकरण आहत मुद्राएँ हैं। इसमें रजतएवं ताम्र कीएक पतली चादर होती है, जिसको गर्म किया जाता है तथा विविध चिन्हों के ठप्पे होते हैं और उन ठप्पों से चादर पर आहत करके चिन्ह अंकित किये जाते थे। फिर इनको तौलादर्श के हिसाब से अनिश्चित आकृतियों में काट लिया जाता है। वर्गीकरण के हिसाब से निर्माण कार्य आधारित यह प्राचीनतम मौद्रिक तकनीकि मानी जाती है। इन तकनीकि से जो मुद्राएँ बनायी जाती हैं उनको वर्गीकरण के माध्यम से तुरंत पहचाना जा सकता है। द्वितीय तकनीकि का प्रचलन लगभग ई0पू0 चौथी सदी से माना जा सकता है। इस तकनीकि में मुद्राओं का निर्माण साँचे के माध्यम से होता है। यद्यपि प्राचीन भारतीय सिंधु–सारस्वत सभ्यता की कांस्य–मूर्तियाँ तथा ताम्रनिधियाँ भी कमोवेश इसी आधार पर ढाली गयी हैं। किंतु मौद्रिक निर्माण में ढलवा तकनीकि बाद की मानी जाती है। ढलवा तकनीकि से निर्मित सिक्कों की विशेषता होती है जब वह सांचों द्वारा निर्मित होंगे तो उन पर अंकित लांछन, प्रतीक उभरा हुआ रहेगा। ढलवा तकनीकि की दुरूहता, व्ययसाध्यएवं अधिक परिश्रम के कारण ठप्पा–मार तकनीकि (Die-struct technique) का विकास हुआ। सर्वप्रथम इस तकनीकि से निर्मित सिक्के सुंदर गोल, सुस्पष्ट लेख व अंकन वाले प्राप्त होते हैं। इस तकनीकि का सर्वप्रथम प्रयोग हिंद–यवनों द्वारा दृष्टिगत होता है। जिसे कुषाणों तथा गुप्तों द्वारा भी प्रयोग में लाया गया। इस तकनीकि में सर्वप्रथम पुरोभाग पर ठप्पे की आकृति उत्कीर्ण रहती थी, फिर गरम धातु को रखकर ऊपर से दबाव डालने पर सिक्के का निर्माण होता था। वही उत्पीड़ितांक तकनीकि (Repuses technique) विशेषकर, उड़ीसा के शरभपुरीयों, नलशासकों इत्यादि द्वारा इस पद्धति से मुद्रायें निर्मित की गयी। जो भारतीय स्वर्णकारों द्वारा आभूषण–निर्माण में भी प्रयोग में लायी गयी थी।

मुद्राओं के तृतीय वर्गीकरण का आधार लेखन की उपस्थिति व अनुपस्थिति माना गया है। इस वर्गीकरण में प्रमुख रूप से दो वर्ग है–

A) अलिखित मुद्राएं– (आहत मुद्राएं, लेखरहित ढलवा मुद्राएं)

B) लिखित मुद्राएं [लेखयुक्त ढलवा मुद्राएॅ (जनपदीय मुद्राएं यथा कौशाम्बी, उज्जैन इत्यादि), हिन्द–यवन मुद्राएं (द्विलिपिक), कुषाण, गुप्तएवं बाद की मुद्राएं]

इनमें सर्वाधिक महत्व लेखयुक्त मुद्राओं का है जो भारत में ई0पू0 द्वितीय शताब्दी से लेकर अभी तक चली आ रही है। जिसमें कई परिवर्तन संशोधन व परिवर्तन हुए यथाएकभाषिक से द्विभाषिक उसी तरहएकलिपिक से द्विलिपिक, त्रिलिपिक जो मौद्रिक वर्गीकरण हेतु महत्वपूर्ण है। पश्चात् उसमें जारीकर्त्ता, (शासक का नाम, जनपद का नाम) देवी–देवता का उत्कीर्णनएवं उनके नाम का अंकन वर्गीकरण प्रक्रिया के महत्वपूर्ण सोपान थे। इसके अतिरिक्त अन्य परिवर्तनों से मुद्राओं पर तिथि या संवत का उल्लेख, भी मौद्रिक वर्गीकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस वर्गीकरण का सर्वाधिक कठिन अनुप्रयोग पुनर्टंकित मुद्राओं का है जिसके लिए बहुत सावधानी की आवश्यकता है।

सिक्कों के वर्गीकरण की प्रचलित प्रकार राजवंशीय वर्गीकरण भी माना जाता है।

जिसका आरम्भ पंचमार्क मुद्राओं से हो जाता है। इनका कई आकार यथा आयताकार/वर्गाकार, गोलाकार सिक्के प्राप्त होते हैं जिसके भार को निश्चित करने के लिए उसको काटने का भी प्रमाण मिलता है। जिससे सिक्कों के संस्थागत नियंत्रण की जानकारी भी मिलती है। सर्वाधिक काट–छांट रजत सिक्कों पर है किंतु उसका सीमित प्रयोग, ताम्र–मुद्राओं पर भी दृष्टिगत होता है। महत्वपूर्ण लांछनों में राजवंशों के निर्धारण में 'पहाड़ के ऊपर अर्द्धचंद्र' का अंकन चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया जाता है। विविध प्रतीकोंएवं चिह्नों के आधार पर डॉ0 परमेश्वरीलाल गुप्त तथा टी0आर0 हार्डेकर द्वारा अहत मुद्राओं को कई श्रृंखलाओं (O-VIII Series) में बांटा गया है तथा उन श्रृंखलाओं को विभिन्न राजवंशों तथा शासकों से संबद्ध किया गया है। जैसे सूर्य–षडचक्र अंकित आहत मुद्राओं को साम्राज्यवादी मुद्राओं से जोड़कर देखा जाता है। वही कुछ सिक्के अलिखित होने के बाद भी स्थान–सूचक होते हैं यथा– शलाका मुद्राएं (तक्षशिला) गोल धंसी हुई मुद्राएं (काशी) इत्यादि। यद्यपि प्रारम्भिक वर्ग की आहत मुद्राएं मगध कोशल, अवंति, गाधांर में प्रचलित हुई। साम्राज्यवादी सिक्के जहाँ गंगाघाटी में प्रचलित हुए तो वही कुछ स्थानीय मुद्राओं का भी उद्भव हुआ क्योंकि सम्भवतः ये गंगाघाटी से दूर थे यथा गांधार जनपद से सर्वाधिक मुद्राएं जो चमन–हजुरी निधि (काबुल) से प्राप्त होते हैं। इनका प्रचलन समय 800 B.C से 100 A.D. तक था। जिसका विस्तार उत्तर–भारत से दक्षिण–भारत तक था। अलिखित ढलवा मुद्राएं जो 400 B.C. to 100 AD तक प्रचलित थी और NBPW (उत्तरी काली चमकीली मृद्भाण्ड) परम्परा के मध्य चरण से प्राप्त होती है। जिसका विस्तार क्षेत्र उत्तर में तक्षशिला से लेकर दक्षिण में दक्कन तथा पूर्व में चंद्रकेतुगढ़ से प्राप्त होते हैं। मुख्यरूपेण ये मुद्राएं हस्तिनापुर, श्रावस्ती, कौशाम्बी, गांधार से ये सिक्के प्रचलित थे। जनपदीय सिक्के ई0पू0 द्वितीय शताब्दी से तीसरी शती ई0 तक प्रचलन में बने रहे। जिसमें कौशाम्बी, त्रिपुरी, महिष्मति प्रमुख हैं। इन पर ब्राह्मी तथा खरोष्ठी में लेख भी मिलता है। यह मान्यता थी कि मौर्य साम्राज्य के विघटन के बाद कुछ प्रभावशाली व्यापारी वर्ग द्वारा व्यापार पर प्रमुख स्थापित कर नगरीय विकास किया गया। जिसमें उज्जैन, मथुरा, आहिच्छत्र, कौशाम्बी, अयोध्या इत्यादि महत्वपूर्ण हैं। इन पर प्रमुख रूप से लक्ष्मी, शिव, कार्तिकेय देव आकृतियां तथा मानवएवं पशु आकृतियां भी प्राप्त होती हैं। इस वर्ग में अगला प्रचलित प्रकार हिन्द यूनानियों का है, जिनके प्रारम्भिक सिक्के चाँदी व ताम्र के वर्गाकार, गोलाकारएवं आयताकार प्राप्त होते हैं। प्रथम बार मुद्राएँ ठप्पा–मार तकनीकि (डाई–स्ट्रक)एवं शासक का आवक्ष अंकन के साथ प्राप्त होती है। द्विभाषिक तथा द्विलिपिक मुद्रा का निर्माण होता है तथा देवी–देवताओं का भी पृष्ठभाग पर अंकन होता है। इनकी सम्पूर्ण कालावधि में 3–4 दर्जन शासकों की जानकारी प्राप्त होती है। 100 से 150 वर्ष में इतने शासकों के होने से इनकी दो वंश परम्परा की भी जानकारी मिलती है। प्रथम डिमेड्रियस वंश (गांधार क्षेत्र) तथा दूसरा यूक्रेटाइडिज वंश (बैक्ट्रिया क्षेत्र)। तत्पश्चात् कुषाण वंश की मुद्राएँ दृष्टिगत होती है, जिनकी प्रारम्भिक मुद्रा (कुजुल कैडफिसेस) पर यवन प्रभाव (हर्मेयस का) दिखाई देता है। कालांतर में विम कैडफिसेस कनिष्क हुविष्क की मुद्रा पर भारतीय लांछनएवं प्रभाव अत्यंत महत्वपूर्ण है। विम कैडफिसेस द्वारा सर्वप्रथम स्वर्ण सिक्के का प्रवर्तन किया गया। कुषाण सिक्के रोमन मुद्राओं की प्रतिकृति माने जाते हैं वहीं उसकी तकनीकि और प्रारूपकी यवन प्रभावित मानी जाती है। वासुदेव की मुद्राओं से कुषाण मुद्रा निर्माण का ह्रास प्रारम्भ होता है। यह धारणा थी कि कुषाणों द्वारा रोमन मुद्राओं को गलाकर स्वयं की मुद्रा का निर्माण किया गया। यद्यपि मध्यएशिया तथा रूस के अलताई क्षेत्र से कुषाणों की सम्भवतः स्वर्ण आवश्यकता पूर्ण हो जाती थी। देवी–देवताआं में शिव–नंदी, त्रिशूल, उमा, स्कन्द, बुद्ध इनका अंश मिलता है।

शिव–ओइशो, उमा–ओइमो बुद्ध, सकमन बोडो (शाक्यमुनि बुद्ध) इत्यादि देवताओं का भारतीयकरण दिखाई देता है। हिंद–यवन शासकों तथा कुषाण राजाओं की मुद्राओं में संयुक्त शासकों की मुद्राएं प्राप्त होती हैं। जैसे– स्ट्रेटो व अगाथाक्लिया की मुद्रा, कुजल कैडफिसेस तथा हर्मेयस की मुद्राएं इत्यादि। हिन्दू सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में आहत मुद्राओं पर भी संयुक्त आकृति अवश्य मिलती है, किंतु दुर्भाग्य से उन पर लेख नहीं मिलता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह परम्परा 'दिःक्षेम' मुद्रा (दि्दा व क्षेमगुप्त), पृथ्वीराज चौहान तथा मुहम्मद गोरी (मुहम्मद बिन साम) नामांकित प्राप्त होती है। जिसका मुद्रण स्मरण रूप में, विजेता द्वारा पराजित मुद्रा के पुनर्मुद्रण मेंएवं सहशासन या सामंतवादी परिवेश में किया गया।

कुषाण वंश के उपरांत शक–पह्लव, सातवाहनों की मुद्रा व्यवस्था प्रचलन में आयी किंतु शक–पहलवों द्वारा कुषाण अनुकारक मुद्राएँ ही ज्यादा निर्मित हुई। इस कालखण्ड की मुद्राएं पुनर्टंकित भी प्राप्त होती है जो मुद्रा–निर्माण पद्धति में सिक्कों के राज्य नियंत्रण में पुनः प्रचलन की महत्ता को बताती है। यह विशेषता किसी मुद्रा के लम्बे प्रचलन उपरांत प्रतीक चिह्नों के घिस जाने तथा मुद्रा–निर्माण में गिरावट का भी संकेत करते हैं। जोगलबम्बी से प्राप्त 13220 सिक्कों में 8000 सिक्के सातवाहनों द्वारा पुनर्मुद्रित है। सातवाहन शासकों द्वारा प्रचलित मुद्राओं में समुद्रतटीय स्थानों से प्राप्त सिक्कों पर 'मस्तुलयुक्त जहाजों का अंकन' प्राप्त होता है, जो उनके बाह्य व्यापार से संबंधित है। गुप्त शासकों द्वारा निर्मित मुद्राओं पर पूर्ण–भारतीय प्रभाव दृष्टिगत होता है। गुप्त शासकों द्वारा हिन्दू वस्त्र विन्यास, प्रा´जल संस्कृत में छंदोबद्ध लेख, स्त्री–पुरुष के अलग–अलग वस्त्र, आभूषण केश का प्रतीकांकन महत्वपूर्ण है। देवी–देवताओं का पूर्ण–भारतीय प्रतीकांकन, देशी, पशु–पक्षियों का चित्रण गुप्त काल के मौद्रिक निर्माण की विशेषता मानी जाती हैं। गुप्त–शासकों द्वारा सर्वाधिक मात्रा में विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ जारी की गयीं जिसमें मुद्रा वैविध्य भी दिखाई देता है। इन मुद्राओं से गुप्तों के वैष्णव धर्मावलम्बी होने की भी जानकारी मिलती है।

भारमान के अंतर्गत जब प्राचीन भारतीय मुद्राओं के वर्गीकरण की चर्चा की जाएगी तो उसमें चांदी की आहत मुद्राएं 56 रत्ती तथा शतमान 100 रत्ती (180 ग्रेन) कार्षापण 40–60 रत्ती के बराबर प्राप्त होती है। ये सभी भारमान हिन्दू स्मृतियों, साहित्यएवं अभिलेखों में उद्धृत है। हिन्दू भारमान पद्धति, 'कर्ष भारमान' 'पण भारमान', पुराण भारमान इत्यादि पर निर्भर है। वहीं बाह्य भारमान पद्धति 'दीनारएवं 'द्रख्म' पर निर्भर है जिनके आधार पर भारतीय मुद्राओं का निर्माण हुआ है। अतः सिक्कों के विषय मेंएवं उनका वर्गीकरण करने में भारमान या वजन की महत्वपूर्ण भूमिका है। सिक्कों का निश्चित मानकीकृत भारमान से उसके विकासक्रम को तो समझा ही जा सकता है। साथ में उनके भार में आयी आभासी कमी से उनके प्राचीनता तथा कालक्रम को भी समझा जा सकता है।

उपरोक्त विवरणों से मौद्रिक वर्गीकरण की स्पष्ट पहचान की जा सकती है। मुद्राओं का निर्माणएक स्पष्ट वैचारिक प्रोत्साहनएवं संस्थागत प्रबंधन का भी परिणाम है। जिसको प्रारम्भ से लेकर राजवंशीय प्रश्रय तक वर्गीकृत किया गया है। साथ ही उस पर वाह्यएवं स्थानीय प्रभावों का क्या–क्या स्वरूप था? यह भी सिक्कों के वर्गीकरण से पता चलता है। सिक्कों के उद्भव विकास से उसमें कब–कब क्या परिवर्तनएवं परिवर्द्धन हुआ उसके वर्गीकरण से समझा जा सकता है।

4.4 भारतीय मुद्राओं का ऐतिहासिक स्रोत के रूप में महत्त्व

इतिहास की संरचना साक्ष्यों पर आधारित होती है। अतीत के इन साक्ष्यों व अवशेषों के सहारे इतिहासकार जो कुछ भी कहता है व उसकी अपनी अवधारणा व इतिहास के इस विविध साक्ष्यों को उसने जिस दृष्टि से देखा है उसकी अपनी अभिव्यक्ति है। प्राचीन भारत का इतिहास आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार लिपिबद्ध नहीं है, फिर भी इसका अपना विशिष्ट स्थान है। प्राचीन भारतीय इतिहासकार इन बिखरी हुई सामग्रियों कोएकत्रित करके इतिहास को महत्वपूर्ण रूप से स्थापित किया है। इन सामग्रियों में पुरातात्त्विक वस्तुओं का विशिष्ट स्थान है। इन पुरातात्विक विषयक वस्तुओं में मुद्राओं का भी अपना विशिष्ट स्थान है जो इतिहास के सभी पक्षों के निर्धारणार्थ महत्वपूर्ण है। सिक्कों के मुद्राशास्त्रीय अध्ययन से अनेक प्रश्न हल हो सकते हैं।

सिक्कों के अध्ययन से किसी वंश के शासकों की संख्या बताई जा सकती है। साथ ही साथ शासन सत्ता में अन्तर्भूत क्षेत्र का निर्धारण भी मुद्राओं के आधार पर किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप कौशाम्बी से राजमुद्रा पर निम्नोक्त ब्राह्मी लिपि का उल्लेख प्राप्त होता है– ''महाराजस्य राजतिरजस्य देवपुत्रस्य कनिष्कस्य प्रयागे''। इससे दो तथ्य स्पष्ट होते हैं– प्रथम, यह कि कौशाम्बी कनिष्क के साम्राज्य के अन्तर्गत था और दूसरा, यह कि कौशाम्बी में कनिष्क की मुद्रा को राज्यव्यवहार में लाया जाता था।

यद्यपि प्राचीन समय में मुद्राओं का निर्माण अपने दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया गया था लेकिन कालान्तर में इतिहास के अनेक ज्ञात, अज्ञात पक्षों को उद्घाटित करने का काम भी मुद्रा ने किया। जब यूरोप में पुनर्जागरण काल आरम्भ हुआ उस समय लोगों की पुरावस्तुओं के संग्रह में विशेष रुचि उत्पन्न हुई। उन्हीं पुरावस्तुओं में मुद्रा भी थी, जो कि लघु रूप में प्राप्त होती है। उनको भी विद्वानों ने इतिहास निरूपण के साधन के रूप में उपयोगी माना और उनका संग्रह करना प्रारम्भ किया। अठारहवीं सदी तक आते–आते प्राचीन सिक्के गम्भीर अध्ययन के विषय बन गये।

मुद्राएँ मूक नहीं होतीं। वे बोलती हैं। वे अपने समय की सभ्यता, संस्कृति और कला की जानकारी देती हैं। सिक्के हमारे इतिहास–ज्ञान के ठोस साधन हैं। प्राचीन भारत के इतिहास के पुनर्निर्माण में मुद्राओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन मुद्राओं के अध्ययन से ही प्राचीन काल के मनुष्य जीवन के विभिन्न पक्षों की जानकारी से परिचित हुआ।

मुद्राशास्त्र के अध्ययन से सम्बन्धित विद्वानों ने मुद्राओं के आकार, प्रकार, प्रतीक, आकृतियाँ, लिपि, धातु आदि के साथ ही साथ मुद्राओं तथा मुद्रानिधियों के प्राप्ति स्थान, कालखण्ड को भी महत्वपूर्ण माना है। मुद्रानिधियों का प्राप्त होना प्राचीन समय की राजनीतिक स्थिति के स्थिरता, अव्यवस्था का द्योतक है। इस दृष्टि में बयाना से प्राप्त गुप्त कालीन मुद्राएँ उल्लेखनीय हैं, जिसमें चन्द्रगुप्त, समुद्रुप्त, चन्द्रगुप्त II, कुमारगुप्त और काँच की कतिपय मुद्राएँ शामिल हैं। इसमें स्कन्दगुप्त की केवलएक मुद्रा प्राप्त हुई है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस मुद्रानिधि को स्कन्दगुप्त के काल में किसी समय भूमि में निक्षेप किया गया था। इस मुद्रानिधि को भूगर्भ में छिपाने का कारण हूणों का आक्रमण जान पड़ता है। इस हूण आक्रमण का उल्लेख स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में भी किया गया है। सम्भवतः इस राजनीतिक अस्थिरता के कारण ही इन मुद्रानिधियों को निक्षेपित किया गया था।

इसके अलावा प्राचीन भारत में बैंकिग व्यवस्था न होने के कारण भी मुद्राओं को भूमि में छिपाया गया। इसके साथ ही साथ जाने अनजाने हमारे पूर्वज अपने पीछे इन सिक्कों को दबा छोड़ गये और किन्हीं कारणों से वे हमारे समय में प्रकाश में आने से पूर्व तक अक्षुण्ण वही दबे पड़े रहे। इन सिक्कों में कुछ तोऐसे हैं जिनकी उपयोगिता अपने समय में ही समाप्त हो गयी थी। कुछ सिक्केऐसे भी हैं जो अपने प्रचलन काल में ही अनजाने या भूल सेघर के किसी कोने में या अन्यत्र यों ही पड़े रह गये और बरसात के दिनों में प्राचीन अवशेषों के टीलों की मिट्टी पानी के बहाव से घिसकने के कारण ये मुद्राएँ प्रकाश में आई।

इस प्रकार यहाँ हम मुद्रा व उनकी प्राप्ति के आधार पर मुद्राओं के भूमिस्थ किये जाने के कारण का अध्ययन और तत्सम्बन्धी इतिहास प्रकाशित कर सकते है। प्राचीन भारत में चाहे राजनैतिक इतिहास, सामाजिक इतिहास, आर्थिक इतिहास, धार्मिक इतिहास, सांस्कृतिक इतिहास, कलानुक्रम निर्धारण आदि विषयक क्यों न हो, मुद्राशास्त्र ने इन विविध विषयों पर प्रकाश डालकर अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। कभी–कभी तो जहाँ इतिहास के विभिन्न अनुद्घाटित पक्षों को भी आलोकित करने का काम मुद्राशास्त्र ही करता है, जो निम्नलिखित है–

4.4.1 राजनीतिक इतिहास

मुद्राओं पर पाये जाने वाले विविध आकार, आकृतियों, लेख, तिथि (संवत्) आदि के माध्यम से इतिहास के राजनैतिक पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। 200 ई.पू. से 400 ई. तक के भारतीय इतिहास का राजनैतिक ज्ञान हमें मुख्य रूप से मुद्राओं के माध्यम से होता है। पश्चिमोत्तर भारत में इस काल में हिन्द यवन शासकों के आक्रमणएवं शासन की जानकारी उनके द्वारा प्रवर्तित मुद्राओं से जाना जा सकता है। भारत के पश्चिमोत्तर हिस्से में प्रचलित खरोष्ठी लिपि व ब्राह्मी लिपि में लिखित विभिन्न लेख उनकी मुद्राओं पर अंकित है जिससे यह पता चलता है कि वे भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में सम्भवतः कुछ समय तक शासन करने के स्वरूप उस क्षेत्र विशेष में प्रचलित भारतीय लिपियों को अपनी मुद्रा में स्थान दिया और इस प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन उस क्षेत्र में किया गया।

प्राचीन भारत में न केवल राजतन्त्र बल्कि गणतन्त्र का भी अस्तित्व था। यह बात सिक्कों से भी प्रमाणित होती है। इससे सम्बन्धित साक्ष्यों पर प्रकाश यौधेय, शिवि, राजन्य, औदुम्बर, अर्जुनायन, मालव, कुणिन्द आदि गणराज्यों से प्राप्त सिक्कों से पड़ता है। इसमें कुछ गणराज्यों की पुष्टि समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति से होती है। इन दोनों (मुद्रा, अभिलेख) की समतुल्यता के आधार पर यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में राजतन्त्रीय शासन के साथ ही साथ गणतन्त्रीय शासन व्यवस्था का भी प्रचलन था। तक्षशिला से 'नेगम' नाम वाले कतिपय सिक्के मिले हैं, जो सम्भवतःएक प्रकार के स्वतन्त्र नगर राज्य व्यवस्था के सूचक हैं। प्राचीन काल में स्थानीय शासन व्यवस्था की जानकारी अयोध्या, पांचाल, कौशाम्बी, मथुरा, मद्य आदि स्थानीय राजवंशों के प्राप्त सिक्कों से होती है। इन राजवंशों का इतिहास मुख्यतः मौद्रिक साक्ष्यों से ही उद्घाटित हुआ है।

पश्चिमोत्तर भारत में शासन करने वाले कुछ ही हिन्द–यवन शासकों के बारे में जानकारी साहित्यएवं अभिलेखों से मिल पाई थी। लेकिन तत्कालीन पश्चिमोत्तर भारत पर कम से कम 40 शासकों का नामोल्लेख मुद्राओं के माध्यम से ज्ञात होता है। शक पल्लव शासकों की मुद्राओं से भी उनके राजनैतिक इतिहास का पता चलता है।

कतिपय शक पल्लव मुद्राओं पर शासक के नाम के साथ–साथ उसके पुत्र अथवा भतीजे का नाम अंकित है। मुद्राओं पर अंकित यह पद्धति उनके सहशासन का भी संकेत प्रस्तुत करती है।एजेज द्वितीय और गोण्डोफर्नीज की मुद्राओं से यह इंगित होता है कि कभी–कभी उच्च प्रशासनिक अधिकारियों को भी सहशासक के रूप में नियुक्त किया जाता था। सिक्कों के आधार पर शक क्षत्रपों के शासन का पूरा वृत्तान्त उपलब्ध होता है। उज्जैन के शक शासकों की मुद्राओं पर तिथियों के उल्लेख से शकों के काल का तथा उनकी वंशावली का भी ज्ञान होता है। उनकी तिथियाँ यह बतलाती हैं कि अमुक राजा तथा उसके उत्तराधिकारी किस समय शासन करते थे। शक सिक्कों पर महाक्षत्रप तथा क्षत्रप के नाम के साथ–साथ उत्कीर्ण हैं, जिससे उनका वंशवृक्ष तैयार किया गया है। संसार में इन्हीं सिक्कों पर सर्वप्रथम तिथियाँ मिलती है। उदाहरणार्थ, राजा (महाक्षत्रप) जयदाम के पुत्र रुद्रदामन ने तीन रूप में शासन किया था। क्योंकि रुद्रदामन की मुद्रा पर राज्ञो क्षत्रपस जयदाम पुत्रस राज्ञो महाक्षत्रपस रुद्रदामन अंकित है तथा तिथि 102 अंकित है। इन सिक्कों से शासकों की वंशावली तथा तिथिक्रम दोनों का ज्ञान होता है। इसी तिथिगत रूप में शीलादित्य (हर्ष के पिता) के सिक्कों पर भी 1 से 33 तक के अंकों का अंकन कम से कम उसके 33 वर्षों तक शासनरत रहने की सूचना अवश्य देते हैं।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के बड़े भाई रामगुप्त का उल्लेख केवल कुछ ही ग्रन्थों में ही मिलता था। उसका न तो कोई सिक्का मिला था न ही किसी गुप्त प्रशस्ति में उनका नामोल्लेख था। 1948 ई. के मध्य प्रदेश के विदिशा क्षेत्र में रामगुप्त के तांबे के छह सिक्के मिले, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पहले उसके बड़े भाई रामगुप्त ने भी कुछ समय तक शासन किया था।

मुद्राओं पर प्राप्त शासकों की उपाधियाँ उनकी सम्प्रभुता, महानता का द्योतक मानी जाती है। उदाहरणस्वरूप हिन्द यवन शासकों की मुद्राओं पर बैसिलियास, बैसिलियान, मेगालॉय, सोटेरास ग्रीक लिपि व यूनानी भाषा में तथा महरजस, रजतिरजस, त्रदतस, ध्रमिकस आदि उपाधियाँ, भारतीय शासकों की मुद्राओं में, शक शासकों की मुद्रा में राज्ञो, महाक्षत्रपस उपाधि, गुप्त शासकों की मुद्राओं में अश्वमेध पराक्रम उपाधि, हर्ष की मुद्रा पर परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि आदि तत्कालिक शासकों के कर्त्तव्यपरायणताएवं प्रजावत्सलता जैसे राजत्व के आदर्शों को इंकित करता है।

मुद्राएँएक शासक के दूसरे शासक पर विजय को भी सूचित करती हैं। उदाहरणस्वरूप गौतमीपुत्र द्वारा नहपान की पुनर्टंकित मुद्रा जो जोगलथम्बी से प्राप्त हुई है, उससे पता चलता है कि सातवाहन शासक गौतमीपुत्र शतकर्णी ने नहपान को पराजित कर अपने विजय के उपलक्ष्य में इन मुद्राओं को पुनर्टंकित करवाया था। इस बात की पुष्टि वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि के 19वें वर्ष के नासिक लेख से भी होती है। इसके अलावा जय–पराजय के निमित्त संधि के रूप में गुप्त राजाओं में चन्द्रगुप्त–कुमारदेवी प्रकार की वह मुद्रा है जिसके पृष्टभाग पर ''लिच्छवयः'' लेख अंकित है जो यह प्रमाणित करती है कि चन्द्रगुप्त प्रथम के राजत्व काल में गुप्त और लिच्छवि राज्य सम्मिलित हो चुके थे। उसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय की शक–विजय की पुष्टि उसकी शक शैली में निर्मित वे मुद्राएँ थी जिनका प्रचलन पूर्व में शक शासकों द्वारा किया गया था।

मुद्राओं के माध्यम से राजपरिवार में स्त्रियों की स्थिति, व्यक्तिगत सम्बन्ध तथा सहशासन की भी जानकारी होती है। इस दृष्टि से हिन्द यवन शासकों की अगाथाक्लिया व स्ट्रेटो की संयुक्त मुद्रा, शक शासक वोनोनीज, स्पलहोर की संयुक्त मुद्राएँ, गुप्त मुद्राओं में चन्द्रगुप्त कुमार देवी की संयुक्त मुद्रा, पूर्वमध्यकालीन दिद्दा

और क्षेमगुप्त की संयुक्त मुद्राएँ आदि उल्लेख करने योग्य है। इन मुद्राओं से शासकों या शासिकाओं के व्यक्तिगत सम्बन्धों के साथ–साथ इस बात की भी पुष्टि होती है कि प्राचीन काल में राजपरिवार के स्त्रियों की स्थिति सदृढ़ थी और वे प्रशासनिक कार्यों में भी अपना योगदान देती थीं। ये मुद्राएँ सहशासन के क्रम को भी इंकित करती हैं।

सिक्कों के अध्ययन से किसी वंश के शासकों की संख्या बताई जा सकती है। प्रायः यह देखा जाता है किएक राजवंश के सिक्कों की कुछ विशेषता होती है। यदि उसी प्रकार की विशेषता से युक्त किसी अन्य के सिक्के ज्ञात होते हैं तो निर्माण शैली के आधार पर उस व्यक्ति को भी उसी वंश का माना जा सकता है। डॉ० अल्तेकर ने सिक्कों को पढ़कर व सिक्कों की सादृश्यता के आधार पर कौशाम्बी के नौ राजाओं का पता लगाया था।

कुछ स्थानों पर अन्तर्भूत क्षेत्र से प्राप्त मुद्राओं के आधार पर कौशाम्बी केघोषिताराम बिहार तथा कुषाण नरेशों के मथुरा से, गुप्त नरेशों के भारत के अन्य क्षेत्रों के साथ बयाना (राजस्थान) से प्राप्त मुद्राएँ इनके साम्राज्य विस्तार तथा इन स्थानों में इन राजवंशों की सत्ता अन्तर्निहित होने की सम्भावना को भी साकार करते है।

मुद्राओं पर अंकित शासकों तथा देवी देवताओं द्वारा धारण अस्त्र शस्त्र तथा अश्व सेना, गज सेना, पदाति सेना, रथ सेना आदि के रूप में अंकित आकृति प्राचीन समय के तद्युगीन राजनीतिक सैन्य संगठन आदि का ज्ञान हमें प्रदान करती हैं, जिससे हमें पता चलता है कि प्राचीन काल में युद्ध के लिए किन–किन आयुधों का प्रयोग किया जाता था।

इसके अलावा अन्य भी कई आकृति व प्रतीक, लिपि आदि चिह्न मुद्राओं पर पाये गये है जिससे भारत के राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से प्राचीन काल के विभिन्न राजनीतिक पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।

4.4.2 धार्मिक महत्व

भारत के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की जानकारी मुद्राओं के द्वारा होती है। भारत की प्रारम्भिक आहत मुद्राओं तथा स्थानीय मुद्राओं पर अंकित प्रतीक धार्मिक मान्यता के संवाहक है। मुद्राओं पर अंकित धार्मिक महत्व के प्रतीकों से संकेत मिलता है कि किस भौगोलिक क्षेत्र अथवा जनसमुदाय में कौन सा धार्मिक सम्प्रदाय अधिकाधिक लोकप्रिय था। मानव के तन मन में धर्म किस प्रकार बस गया था इसका प्रभाव केवल भारतीय शासकों पर ही नहीं वरन् विदेशी शासकों की मुद्रा पर भी देखा जा सकता है। हिन्द–यवन शासकों में यूनानी देवता जीयस, हेराक्लीज, अपोलो इत्यादि का अंकन है तो वहीं अगाथाक्लिज की कतिपय मुद्राओं पर भारतीय चक्रधर कृष्ण तथा बलराम का अंकन मिलता है। कुषाण शासक कनिष्क की बोड्डो लेख युक्त मुद्राओं का प्रवर्तन बौद्ध धर्म के प्रति उसकी स्वयं की आस्था को व्यक्त करता है।

भारत की प्रारम्भिक मुद्राओं (आहत मुद्राएँ) पर प्राप्त होने वाले मांगलिक प्रतीक चिन्ह, श्री वत्स, पूर्ण–कलश, कमल, स्वास्तिक, त्रिशूल, डमरू आदि का अंकन उस काल विशेष में प्रचलित जनमानस की धार्मिक भावना का द्योतक है। मुद्राओं पर अंकित कतिपय उपाधियाँ राजाओं के धार्मिक विश्वासों को अभिव्यक्त करती है। विमकैडफिसेस की मुद्रा पर ''महेश्वर'', जो शैव धर्म से सम्बन्धित है, तथा मिनेण्डर की मुद्रा पर ध्रमिकस को बौद्ध धर्म से जोड़ा जाता है। ये विविध उपाधियाँ इनके धार्मिक

विश्वासों के सूचक हैं और ये इंगित करते हैं कि भारतीय शासकों के साथ ही साथ विदेशी शासक भी भारतीय धर्म में इतना रंग चुके थे कि वे स्वयं का नाम भी भारतीय परम्परा में पूज्यनीय धर्म के साथ जोड़कर चलते थे। कुषाण नरेश 'वासुदेव' का नाम इसका प्रमाण है।

गुप्त सम्राट वैष्णवधर्मावलम्बी थे। इनका राजकीय चिह्न गरुण था। इनकी मुद्राओं पर विष्णु के आयुध, धनुष, शंख, छत्र, चक्र, गदा का चित्रण है। साथ ही इन मुद्राओं पर उनकी पत्नी लक्ष्मी को भी कमलासीन लक्ष्मी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। मकर के साथ गंगा का अंकन जहाँ इनकी मुद्राओं पर मिलता है वहीं चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वैष्णवधर्मावलम्बी के रूप में परमभागवत की उपाधि भी धारण की थी। चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्कों पर सिंहवाहिनी दुर्गा का अंकन प्राप्त होता है। इसी प्रकार गुप्तोत्तर कालीन मुद्राओं में कलचुरी, चंदेल शासकों की मुद्रा पर लक्ष्मी का अंकन मिलता है। कश्मीर व कार्कोट शासकों की मुद्राओं पर भी लक्ष्मी अंकित है।

गुप्त शासकों में कुमारगुप्त तथा यौधेय गण के शासकों ने भी अपनी मुद्राओं पर कार्तिकेय जो कि भगवान शंकर के पुत्र के रूप में पूजित हैं उनका अंकन मुद्राओं पर किया। गुप्तोत्तरकालीन शशांक तथा हर्ष की मुद्राओं पर शैव धर्म के रूप में शिव–पार्वती व नन्दी का अंकन किया गया है। गुप्तोत्तरकालीन बहुतायत शासकों–हिन्दू–शाही, परमार, चाहमान आदि शासकों की मुद्राओं पर वृषभ अंकित है। इस वृषभ का तादात्म्य शैव धर्म से जोड़ा जाता है। इसके अलावा रतनपुर के कलचुरी शासकों द्वारा उनकी मुद्राओं पर भारतीय उपदेवता के रूप में पूजित हनुमान का अंकन भी दिखाई पड़ता है।

मुद्रांकित धार्मिक प्रतीकों और देवाकृतियों के अंकन की इतनी बहुलता है कि इनके विवेचन से भारतीय धार्मिक इतिहास का बाह्य स्वरूप आसानी से ज्ञात हो सकता है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय देवमण्डल अपनी विविधता के साथ भारतीय मुद्राओं में प्रतिबिम्बित होते हुए इतिहास के स्रोत के रूप में धार्मिक जानकारी प्रदान करते हैं।

4.4.3 आर्थिक महत्व

सिक्कों का उद्भव मूलतः आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु विनिमय के साधन के रूप में हुआ। अतः मुद्राओं से आर्थिक इतिहास पर प्रकाश पड़ना स्वाभाविक है। मुद्राशास्त्र को आर्थिक इतिहास के बहुआयामी पक्षों पर प्रकाश डालने वाला मुख्य साधन माना जाता है। आर्थिक इतिहास के विषय में मुद्रा विषयक साक्ष्यों की उपादेयता पर वासुदेव शरण अग्रवाल, आर.एस शर्मा,एल.के. त्रिपाठी आदि ने अधिक उपयोगी व विश्लेषक विचार व्यक्त किए हैं। पी.एल. गुप्ता के अनुसार सिक्कों से दो प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है। पहला आन्तरिक साक्ष्य, जो सिक्कें स्वयं प्रदर्शित करते हैं तथा दूसरा बाह्य साक्ष्य, जो उनके अध्ययन के बाद प्राप्त विवरण के आधार पर निकाला जाता है। इस प्रकार मुद्राओं के निर्माण में प्रयुक्त धातु, धातुस्रोत, भारमान, धातु शुद्धता, मुद्रानिधियाँ, प्रतीक, सिक्कों की जालसाजी, उद्योग, टकसाल आदि कारकों के माध्यम से प्राचीन समय की आर्थिक स्थिति में आये उतार–चढ़ाव को स्पष्ट किया जा सकता है।

हिन्द–यवन, शक पह्लव शासकों ने मुख्य रूप से रजतएवं ताम्र धातु की मुद्रा, प्रवर्तित की। वहीं दूसरी तरफ, कुषाण शासकों द्वारा स्वर्णएवं ताम्र धातु से निर्मित मुद्रा के प्रयोग ने धातुओं के चयन में राज्य की आर्थिक सम्पन्नता धातु की सहज उपलब्धतता के साथ ही साथ व्यापार की प्रकृति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। कुषाण शासकों

द्वारा स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन यह इंगित करता है कि इनको मुद्राओं के प्रवर्तन हेतु स्वर्ण उचित मात्रा में उपल्ब्ध हो रहा था। पेरीप्लस के लेखक, प्लिनीएवं टेटीटस ने रोमन मुद्रा का प्रवाह भारत की ओर होने की बात कही है। सम्भवतः इन्हीं रोमन स्वर्ण सिक्कों को गलाकर कुषाण अपनी मुद्राओं का प्रवर्तन करते थे। मेगस्थनीज, स्ट्रेबो ने स्वर्ण व रजत की खान भारत भूमि में होने की बात कही है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अन्तर्गत भारत में 'खेतड़ी' से ताम्र की खान होने व उनसे उपकरण बनाये जाने की जानकारी प्राप्त होती है।

हिन्द—यवन शासकों की मुद्राओं पर प्राप्त 'कविषिये नगर देवता' के अंकन में कपिशा को हिन्द यवनों के टकसाल का केन्द्र माना है। द्वितीय शताब्दी ई.पू. से तृतीय शताब्दी ई. तक का काल राजैनतिक रूप से भले ही उथल—पुथल का काल था परन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से सम्भवतः वैदेशिक व्यापार के रूप में यह काल चरमोत्कर्ष का युग था। मुद्राओं की जालसाजी का प्रचार—प्रसार इसी युग में आरम्भ हुआ। इस जालसाजी व मुद्राओं के मिलावट के कारण ही स्कन्दगुप्त शासन काल से ही आर्थिक ह्रास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी। जिसका प्रभाव गुप्तोत्तर काल में भी दिखाई देता है।

4.4.4 सामाजिक व सांस्कृतिक इतिहास

सिक्कों से भारतीय इतिहास के सामाजिक व सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी में सहायता मिलती है। यह समाज के व्यक्तियों के मूल्यांकन में सहायता करता है अर्थात् मुद्राओं से समाज की उन्नति व अवनति का बोध हो जाता है। आहत मुद्राओं के आकार, प्रकार, प्राप्त चिह्नों जैसे खगोलीय, प्राकृतिक आदि से सामाजिक रूपरेखा को समझा जा सकता है। इसी क्रम में गणराज्यीय तथा जनपदीय मुद्राओं में स्वास्तिक, अभिषेक—लक्ष्मी, मानवाकृति, मयूर, कुकुट, वृषभ आदि प्रतीक चिन्हों की व्याख्या यदि सामाजिक दृष्टि से की जाये तो यह कहना अनुचित नहीं होगा किऐसे चिह्न पारिवारिक, सामाजिकएवं जनपदीय हितों की कामना से प्रेरित होकर मुद्राओं पर अंकन के लिए ग्रहण किये गये होंगे।

शासकों के सिक्कों पर धारण किए विभिन्न वेशभूषा के आधार पर तात्कालिक समाज में प्रचलित वेश—विन्यास को समझा जाता है। हिन्द यवन शासकों युक्रेटाइडिज, स्ट्रेटो इत्यादि के सिक्कों पर ऊन से बने दुपट्टे की तरह का यूनानी वस्त्र उत्कीर्ण है। कुषाण शासकों की मुद्रा में विम कडफिसस, कनिष्क इत्यादि शासकों को कुर्ता पहने तथा कभी—कभी लम्बा कोट धारण किये हुए दिखाया गया है। सातवाहन द्वारा निर्गत आवक्ष मुद्राओं का साहित्यिकएवं अभिलेखिक दोनों ही साक्ष्यों के आलोक से स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतया वे दो वस्त्र धोती तथा उत्तरीय धारण करते थे। गुप्त काल में भी शासकों को कोट, पायजामा, धोती पहने मुद्राओं पर अंकित किया गया है।

शिरोवेश के रूप में टोपी, हैट, मौक्तिक जड़ित टोपी, पगड़ी, हेलमेट आदि पहने हुए शासकों को प्रदर्शित किया गया है। यज्ञ श्री शातकर्णी को सिर पर टोपी पहने दिखाया गया है। जिसके आगे शिरोरत्न लगा रहता था। हिन्द—यवन शासकों की मुद्राओं में उन्हें जूता धारण किये हुए दिखाया गया है। इसी प्रकार स्त्रियों की वेशभूषा में उन्हें साड़ी,घाघरा, आभूषण, कमरबन्द, शिरोवेश, विभिन्न केशविन्यासों आदि के साथ प्रदर्शित किया गया है जिसके माध्यम से प्राचीन काल में समाज में प्रचलित विभिन्न वस्त्राभूषण की जानकारी ज्ञात होती है।

सातवाहन शासकों में गौतमीपुत्र शातकर्णी से लेकर अन्य सभी शासकों के सिक्कों पर उनके नाम के साथ उनकी माताओं के नाम जुड़े हैं यथा, गौतमी, वासिष्ठी, माठरी,

कौशिकी। शासकों द्वारा अपने नाम के साथ अपनी माताओं के नाम को जोड़ा जाना स्वयं को माता—कुल के रूप में जानने या कुलीन वर्ग की स्त्रियों की सुदृढ़ स्थिति को द्योतित करता है।

गुप्त मुद्राओं से तत्कालीन शासकों की आखेट प्रियता तथा उनके संगीत प्रेम पर प्रकाश पड़ता है। इनकी मुद्राओं पर शासकों के दाम्पत्य जीवन को भी प्रदर्शित किया गया है।एम.के. धवलीकर ने हिन्द—यवन, कुषाणएवं गुप्त मुद्राओं के आधार पर प्राचीन भारत के सांस्कृतिक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया है।

यदा कदा दैनिक उपयोग की वस्तुओं के रूप में मुद्राओं पर आसन, शैय्या, मोढ़ा, गद्दियाँ, तकिया, छत्र, पादपीठ आदि की आकृति भी अंकनों के रूप में प्रदर्शित की गई है। मुद्राओं से प्राप्त सामाजिक जानकारी के अन्तर्गत हमें अधिकांशतः राजकुल के परिवारों की ही सामाजिक जानकारी प्राप्त होती है न कि सामान्य जनमानस की।

4.4.5 कला तथा साहित्य

मुद्राओं पर प्राप्त होने वाले प्रतीक, आकृतियाँ उस काल के कलात्मक प्रखरता का सूचक हैं। मुद्राओं पर विविध देवी देवताओं का अंकन मिलना प्राचीन भारतीय कलाएवं प्रतिमाशास्त्र की दृष्टि से उपयोगी माना गया है। उदाहरण के लिए गुप्त काल की स्वर्ण मुद्राओं पर प्रायः आकृतियों की विविधता देखने को मिलती हें और ये मुद्राशास्त्रीय कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मानी गयी हैं।

मुद्राओं से समकालीन भाषा, लिपि पर भी प्रकाश पड़ता है। हिन्द—यवन शासकों के काल से हमें लेखयुक्त मुद्राएँ ज्ञात होती हैं जिन पर ग्रीक लिपि व प्राकृत भाषा में मुद्रा लेख अंकित है। हिन्द—यवन शासकों में ही अगाथाक्लिज व पेन्टालियान ने ब्राह्मी लिपि में भी सिक्के प्रचलित करवाये। विदेशी शासकों द्वारा भारतीय लिपि में मुद्राओं का प्रवर्तन समकालीन भाषा और लिपि पर तो प्रकाश डालता ही है साथ ही साथ विदेशी शासकों की भारतीय लिपि में अभिरुचि को भी प्रदर्शित करता है। गुप्त मुद्राएँ मुख्य रूप से ब्राह्मी लिपि व संस्कृत भाषा की लोकप्रियता के विकास को दर्शाती है। गुप्तोत्तर काल में कतिपय शासकों की मुद्राओं पर शारदा, कुटिल लिपि, नागरी लिपि में अंकित लेख मुद्राओं पर लिपि के विकास के साथ ही साथ उस काल में प्रचलित लिपि व भाषा का भी बोध कराते हैं। मुद्राओं पर अंकित काव्यमय विरूद तद्युगीन शासकों की काव्यप्रियता को प्रकट करता है।

4.4.6 मुहरों का महत्व

इसी क्रम में मुहरों का भी विशिष्ट महत्व है। इनकी प्राचीनता सिन्धु काल तक जाती है। ये विभिन्न माध्यमों की बनाई जाती थी। ताम्रधातु की मुहरें लोथल तथा देसलपुर से प्राप्त होती थी। मोहनजोदड़ो से चाँदी की मुहर मिली है। सामान्यतः सभी मुहरों से संक्षिप्त लेख प्राप्त हुए है। हमें इन मुहरों की मुद्रा—छापें मिली है। अधिकांशतः हड़प्पा काल में मुहरें राजमुद्रांक की तरह व्यवहार में थी और इनका महत्व मुख्यतः वाणिज्यिक था। मुहरों पर पीपल,एक श्रृंगी वृषभ, कूबड़दार बैल, व्याघ्र, हाथी, बारहसिंगा, मगरमच्छ, गैण्डे आदि का अंकन मिलता है। मोहनजोदड़ो से प्रसिद्ध पशुपति अंकन वाली मुहर मिली है। साथ हीएक मुहर पर नाव का अंकन है। जो जलमार्ग से व्यापार का द्योतक है। इस आधार पर सैन्धव संस्कृति के कई पक्ष उद्घाटित होते है।

सिन्धु सभ्यता के बाद भारत में मुहरों के प्राप्त होने का क्रम जारी रहा। जैसे– उत्तर प्रदेश के बस्ती जिला के गनवरिया ग्राम के समीप पिपरहवा नामक स्थान से कपिलवस्तु नामांकित मुहरें प्राप्त हुई है जो कि कपिलवस्तु की पहचान कराती है। बसाढ़ (प्राचीन वैशाली, बिहार) से प्राप्त मुहरों से गुप्त काल के उच्चाधिकारियों, उनके कार्यो, कार्यालयों तथा सबसे महत्वपूर्ण वही से प्राप्तएक ध्रुवस्वामिनी के मुहर लेख में गुप्तवंश की वंशावली की जानकारी होती है। इसी क्रम में बुद्धगुप्त, वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त III तथा विष्णुगुप्त की नालन्दा मुहरें प्रसिद्ध हे। हम शासकों का कालक्रम निर्धारित कर पाते है। साथ ही उत्खनन में प्राप्त होने से तिथिनिर्धारण भी कर सकते है।

हर्ष कीएक ताम्र से बनी मुहर हरियाणा के सोनीपत से प्राप्त हुई है। इससे उसके पूर्वजों की जानकारी प्राप्त होती है। हम यह भी पात हैं कि राजकीय ताम्रशासनों में राजा या शासकों अधिकारियों की प्रमाणिक स्वीकृति हेतु मुहरें ताम्रपत्रों के साथ ही संलग्न दिखाई पड़ती है। जिसे वाकाटको तथा हर्ष के ताम्रशासनों में देखा जा सकता है। मुहरों के साथ कालान्तर में राज्य का राजकीय चिह्न, शासकों के नाम के साथ उसका विरुद आदि का विवरण प्राप्त होने लगे है। दक्षिण भारत में चोल शासकों के ताम्रशासनों में उसके राजकीय चिह्नों के अलावा चालुक्य, पाण्ड्य, चेर के भी चिह्नों के अंकनों के साथ स्वास्तिक, शंख आयुध आदि का भी अंकन प्राप्त होने लगता है। इस क्रम में पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अलावा साहित्यों में मुहरों की खूब चर्चा है। साहित्य में मुद्रांक/मुद्रा व अपेक्षाकृत छोटी मुद्रा को अंगुलियांकम कहा गया है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् में मुद्रिका की महत्ता को शकुन्तला और दुष्यन्त के प्रेम के प्रमुख पक्ष के रूप में दर्शाया गया है। विशाखदत्त द्वारा रचित मुद्राराक्षस भी मुद्रिका/राजकीय मुद्रा की महत्ता को दर्शाता है। बाणभट्ट ने अपने विवरण में महाराजाधिराज हर्ष के गौड़ देश के अभियान में ग्रामक्षपटलिक द्वारा राज्यादेश देने की बात कही जाती है। साथ ही अपने पदाधिकारी होने की पुष्टिएक सोने की मुद्रांक (मुहर) दिखाकर करता है जिस पर कुछ अक्षर उत्कीर्ण रहते है जो कि मोनोग्राम है।

4.5 सारांश

इतिहास–निरुपण की दृष्टि से उपलब्ध साधनों और साक्ष्यों के रूप में आज जिस प्रकार के प्राचीन कालीन अवशेष उपलब्ध है उनमें सिक्कों का विशिष्ट मूल्य और महत्त्व है। वे आकार में लघु होती है, इसलिए इनसे विस्तृतऐतिहासिक जानकारी की अपेक्षा नहीं होती किन्तु जितनी भी जानकारी होती है वे तथ्यपरक और विश्वसनीय होती है। जहाँ इतिहास के अन्य स्रोत मौन है वहाँ भी इन्होंने अपनी उपयोगिकता को सिद्ध किया है। सिक्के प्रायः किसी काल विशेष में प्राप्त सूचनाओं को और पुष्ट करते है साथ ही उनमें संसोधन, परिवर्तनएवं परिवर्धन भी करते है। यह तथ्य कि मौद्रिक अध्ययनों में समय के साथ कई चुनौतियाँ भी आई, जिन्होंने इतिहास की अध्ययन की इस शाखा को प्रभावित किया। आज जो भी मौद्रिक इतिहास प्रस्तुत है, वो केवल 10 प्रतिशत मुद्राओं के उद्ववाचन के आधार पर है क्योंकि ज्यादातर मुद्राओं कोऐतिहासिक अध्ययन की परिधि मे ंलाना शेष है। यें मुद्राएँ या तो व्यक्तिगत या संग्रहालयों के संग्रह में सुरक्षित रखी हैं। मुद्राओं के अध्ययन कीएक अन्य चुनौती इन मुद्राओं की प्राप्ति है क्योंकि मूल्यवान धातु की होने के कारण प्रायः ये प्रकाश में नहीं आ पाती जिनसे इनकाऐतिहासिक महत्व गौण हो जाता है।

प्राचीन भारत में राजाओं ने राज्य की आवश्यकता के निमित्त मुद्राओं को जारी किया।

यदि पहले से जारी मुद्राएँ पर्याप्त मात्रा में बाजार में विनिमय को संतुष्ट कर रहीं थी तो प्रायः मुद्राओं को निर्गत करने से बचा गया। कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में मुद्राओं के निर्माण राष्ट्रीय महत्व का विषय समझा गया है। राज्य की निगरानी में राजकीय टकसालों में सिक्के ढलते थे। प्राचीन भारत में इस बात के उदाहरण भी है जहाँ व्यापारियों या व्यक्तियों द्वारा भी मुद्राएँ जारी की गई। हमे जाली–सिक्कों के निर्माण की भी जानकारी मिलती है जो उस समय की अर्थव्यवस्था के लिएएक चुनौती थी। आज प्राचीन मुद्राओं की जाली मुद्रा बनाकर भी धर्नाजन किया जा रहा है।

4.6 पारिभाषिक शब्दावली

शलाका मुद्रा– गांधार जनपद द्वारा निर्गत की गई मुद्राएँ जो आकार में आयताकार थी। इन मुद्राओं के दोनों किनारों पर दो अंकन होते थे तथा पृष्ठ भाग सादा होता था।

इलेक्ट्रम– स्वर्णएवं रजत कोएक निश्चित मात्रा में मिलाकर मुद्राओं का निर्माण किया जाता है, उसे इलेक्ट्रम कहते है। इन मुद्राओं में स्वर्ण और रजत का प्रतिशत बराबर होता है।

पुराविद्– प्राचीन विभिन्न वस्तुएँ जिनका प्रयोग प्राचीन मानव द्वारा किया गया पुरावशेष कहीं जाती है और इनका अध्ययन करने वाला अध्येता पुराविद् या पुरातत्त्ववेत्ता कहलाता है।

एन.बी.पी.डब्लू. (NBPW)– उत्तर भारत में प्रचलित काले रंग के चमकीले पात्रों कोएन. बी.पी.डब्लू. कहा जाता है। इसका तात्पर्य है उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा जो उत्तर वैदिक काल की संस्कृति का प्रमुखघटक है और भारतीय उपमहाद्वीप में नगरीय संस्कृति का द्योतक है।

नवपाषाणकाल– प्रागैतिहासिक काल का अन्तिम चरण में जहाँ मानव के जीवन में स्थापित्य आया और उसने कई तकनीकि विकास कर कृषि आदि की शुरुआत की, नवपाषाण काल के नाम से जाना जाता है।

अल्ताई क्षेत्र– रूस काएक पर्वतीय क्षेत्र जहाँ प्राचीन काल में स्वर्ण की खानें थी, जहाँ से स्वर्ण प्राप्त होता था।

पुरोभाग (अग्रभाग)– सिक्कों वह भाग जिस पर राजकीय चिन्ह या सत्ता स्वीकृत प्रतीक का अंकन होता है, पहचान की दृष्टि से पुरो भाग कहलाता है।

पृष्ठ भग्ग (पश्चभाग) – सिक्कों का वह भाग जिस पर राजकीय चिन्ह या शासन प्रतीक के अलावा कोई अन्य अंकन हो, पहचान की दृष्टि से पृष्ठ भाग कहलाता है।

टकसाल– वह स्थान जहाँ मुद्राओं का निर्माण किया जाता है, टकसाल कहा जाता है।

मुद्रा–निधि– दो या दो से अधिक मुद्राएँ जब किसी स्थल से सर्वेक्षण, उत्खनन या आकस्मिक रूप से प्राप्त हो, उन्हें मुद्रा–निधि या निखात कहा जाता है।

4.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गुप्त, परमेश्वरीलाल, (चतुर्थ संस्कारण : 2014), *भारत के पूर्व–कालिक सिक्के,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
2. उपाध्याय, वासुदेव, (पुनर्मुद्रण : 2009), *प्राचीन भारतीय मुद्राएँ,* मोतीलाल

बनारसदीदास, दिल्ली।

3. मुखर्जी, बी0एन0, व ली, पी0के0डी0, (द्वितीय संस्करण : 2000), टेक्नोलॉजी ऑफ इंडियन क्वायनेज, इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता।
4. सिंह, देवेन्द्र बहादुर व उपाध्याय, अमित कुमार, (प्रथम संस्करण, 2009), प्राचीन भारत में विनिमय प्रणाली (प्रारम्भ से बारहवीं शती ई0 तक), कला प्रकाशन, वाराणसी।
5. नारायण,ए0के0, (प्रथम संस्करण : 1957), द इण्डो–ग्रीक्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
6. अल्तेकर,ए0एस0, (1957), क्यावनेज ऑफ द गुप्ता इम्पायर, वाराणसी।
7. अग्रवाल, वी0एस0, (1964), वाराणसी सील्सएंड सीलींग्स, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी।
8. थपलयाल, किरन कुमार, (1972), स्टडीज, इनएंशियण्ट इंडियन सील्स :ए स्टडी ऑफ नार्थ इंडियन सील्सएण्ड सीलींग्स फ्राम थर्ड सेन्चुरी बी0सी0 टू मीड सेवन्थ सेन्चुरीए0डी0, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद, लखनऊ।

4.8 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय मुद्राओं के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।
2. प्राचीन भारतीय इतिहास–लेखन में मुद्राओं के महत्व की चर्चा कीजिए।
3. मुद्रा–निर्माण तकनीकी परएक निबन्ध लिखिए।
4. धात्विक मुद्रा–निर्माण के विकास क्रम को निरूपित कीजिए।
5. मुद्रा क्या है? मुद्राओं में प्रयुक्त लिपि और भाषा पर प्रकाश डालिए।